ॐ

परमात्मने नमः

आत्मसिद्धिशास्त्र पर प्रवचन

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

अनुवादक :

डॉ. पूर्णिमाबहन भाटिया

(आग्रा)

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

प्राप्ति स्थान :

(१) वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

५८०, जूनी माणेकवाड़ी,
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २४२३२०७

(२) श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र, सोनगढ़

(३) श्री कुन्दकुन्दकहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट

१७३/१७५, मुंबादेवी रोड़, मुंबई-४०० ००२

(४) पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट

कहान नगर, लाम रोड़
देवलाली-४२२४०१

(५) श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

`विमलांचल' हरिनगर
अलीगढ़
फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२

प्रथमावृत्ति प्रत : ७५०
द्वितीयावृत्ति : १००० (०१-११-०५, (श्री वीर निर्वाण कल्याणक दिन)
पृष्ठ संख्या : १६ + ६२८ = ६४४
लागत मूल्य : १२०/-
विक्री मूल्य : ४०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेशन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,
६, शांतिनाथ बंगलोझ,
शशीप्रभु मार्ग, रूपाणी सर्कल,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

भगवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड
बारडोलपूरा,
अहमदाबाद
फोन : ९८२५३२६२०२

प्रस्तावना

(दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित गुजराती प्रस्तावना का हिन्दी अनुवाद)

`आत्मिसिद्धिशास्त्र' के कर्ता श्रीमद् राजचंद्रजी का जन्म वि.सं. १९२४ के कार्तिक सुदी पूर्णिमा के शुभ दिन सौराष्ट्र के ववाणिया बंदर में स्थित महेता रवजीभाई पंचाण के वहाँ हुआ था। वे वीतराग के महान उपासक एवम् आत्मज्ञानी थे। बाल्यावस्था में ही जिन्हें जातिस्मरणज्ञान हुआ था। निवृत्ति की उन्हें तीव्र उत्कंठा थी। ३३ साल के अल्प आयुकाल में भी उन्होंने गुजरात-काठियावाड़ में अध्यात्म का प्रचार किया था। उनकी वैराग्य से सराबोर, तत्त्वज्ञानमय लेखनी द्वारा आज भी मुमुक्षुओं पर उनका महा उपकार वर्तता है। श्रीमद् राजचंद्रजी की ज्ञान एवं वैराग्यदशा संबंधित इन प्रवचनों में बहुत कुछ कहा गया है ही अतः यहाँ पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।

ऐसे परम पूज्य, महा उपकारी, अति अल्पसंसारी, आत्मानुभवी श्रीमद् राजचंद्रजी ने **`आत्मसिद्धिशास्त्र'** वि.सं. १९५२ के आसोज वदी एकम के दिन इसकी रचना की थी *जिसमें उन्होंने आत्मा की सिद्धि का मार्ग प्रदर्शित किया है। `आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्ता है, वह भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्ष का उपाय है' - इन छः पदों की श्रद्धा यदि जीव ज्ञानीपुरुष के अभिप्राय अनुसार करे अर्थात् ज्ञानीपुरुष जिसका `यथार्थ श्रद्धा' के रूप में स्वीकार करे, वैसी सभी ओर से अविरूद्ध श्रद्धा करे तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर - `परद्रव्य और परभावों से भिन्नता का अनुभव कर, इष्ट-अनिष्ट वृत्तियों से विराम पाकर, सर्व दुःखों से मुक्त हो जाये' - यह `आत्मसिद्धिशास्त्र' का तात्पर्य है।

पूर्वोक्त छः पदों को श्रीमद्जी ने `आत्मसिद्धिशास्त्र' में इतने ठौस न्यायपूर्वक और सरल भाषा में समझाये हैं कि, जिससे सामान्य बुद्धिधारी मुमुक्षु को भी इन पदों की स्थूल समझ तो बहुत आसानी से हो जाये। उन्होंने छः पद के अलावा, इन पदों

---

*यह `आत्मसिद्धिशास्त्र' श्रीमद् राजचंद्रजी ने उनके अंतेवासी (सायला निवासी) भाईश्री सौभाग्यभाई की प्रार्थना से उनके एवं परिणामतः सर्व मुमुक्षुओं के सद्बोधावतार हेतु नडियाद में लिखी थी।

की श्रद्धा कैसे जीव को नहीं हो सकती, कैसे जीव को होती है, ऐसी श्रद्धा होने में सद्गुरु का संग और आश्रय कैसे अनन्य उपकारी है ! ऐसे सद्गुरु को किन लक्षणों से पहचानना - इत्यादि मुख्य-मुख्य प्रयोजनभूत बाबतों को अद्भुत संकलना से स्पष्टतापूर्वक समझाया है। केवल १४२ गाथाओं में शास्त्रकर्ता ने पूरा मोक्षमार्ग समा लिया है ! सचमुच देखा जाये तो श्रीमद् राजचंद्रजी ने `आत्मसिद्धिशास्त्र' की रचना करके मुमुक्षुओं पर महान उपकार किया है।

`आत्मसिद्धिशास्त्र' की भाषा सरल होने के बावजूद भी इनमें निहित भाव बहुत गंभीर है। अतः यदि किसी ज्ञानीपुरुष द्वारा इनके अर्थों का विस्तार हो तो इनके सूक्ष्म भावों का प्रागट्य मुमुक्षुओं को विशेषतः लाभरूप साबित हो। मुमुक्षुओं के पुण्योदय से ऐसा योग वि.सं. १९९५ में हुआ। इस वर्ष के चातुर्मास में वीतरागदेव के परम भक्त, वीतराग-दर्शन के रहस्यज्ञ, स्वरूपानुभवी, जिनके संसार का अंत निकट है, अपूर्व जिनका वचनयोग है, आश्चर्यकारक जिनका प्रभावना-उदय है, अनेक बरसों से अध्यात्म का धोध बहाकर काठियावाड़ में भवछेदक ज्ञान का जो प्रचुर प्रचार कर रहे हैं, ऐसे परम पूज्य, परम उपकारी, बालब्रह्मचारी, अध्यात्मज्ञानी श्री कानजीस्वामी राजकोट में बिराजमान थे। वहाँ कुछएक भाइयों की `आत्मसिद्धिशास्त्र' पर प्रवचन करने की प्रार्थना का उन्होंने कृपा करके स्वीकार किया। तत्पश्चात् `आत्मसिद्धिशास्त्र' पर अपूर्व प्रवचनों का प्रारंभ हुआ।

सद्गुरुदेव के श्रीमुख से प्रतिदिन प्रातः एक घंटा यह अमृतप्रवाह बहता था। `आत्मसिद्धिशास्त्र' की प्रत्येक पंक्ति के विभिन्न पहलुओं को सुस्पष्ट करके इसमें निहित सूक्ष्म गंभीर आशय को सद्गुरुदेव अलौकिकरूप से व्यक्त करते थे। प्रत्येक विषय को अनेक पहलुओं से स्पष्ट करके, अनेक दृष्टांत एवं अनुभवगर्भित न्याय देकर वे परमार्थ को अत्यंत अत्यंत स्फुट करते थे। जीव के कैसे भाव रहें तब उसने आत्मा का अस्तित्व सही माना कहा जाये, कैसे भाव रहें जब उसने आत्मा का नित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, मोक्ष, मोक्ष का उपाय आदि सही माना कहा जाये, कैसे-कैसे भाव होते हैं जब सम्यग्दर्शन, समदर्शिता आदि का परिणमन हो - इत्यादि बाबतों को मनुष्य के जीवन-व्यवहार में सबको अनुभवगोचर ऐसे प्रसंगों के दृष्टांत दे देकर इतनी स्पष्ट करते थे कि मुमुक्षु को उस विषय में स्पष्ट, सूक्ष्म ज्ञानपूर्वक अपूर्व अर्थ दृष्टिगोचर होवे और अधूरी स्थिति में संतुष्ट न होकर व विशेष-विशेष पुरुषार्थ की ओर लालायित हो। इस प्रकार `आत्मसिद्धि' में निहित शास्त्रों के निष्कर्ष को अनेक प्रकार से विकसितकर - विस्तार करके, इनमें निहित गहन भावों को हृदय में चोंट लग जाये ऐसी असरकारक

भाषा में स्पष्ट समझाकर, परम पूज्य सद्‌गुरुदेव ने अपार उपकार किया है। श्रीमद्‌जी द्वारा चित्रांकित मोक्षमार्ग की सुंदर रुपरेखा में सद्‌गुरुदेव ने अलौकिक रंग भर दिये। `आत्मसिद्धि' में श्रीमद्‌जी द्वारा बोये गये अध्यात्मज्ञान के बीज ४३ साल बाद वृक्ष के रूप में पनप उठे !

`परम कृपालु सद्‌गुरुदेव के श्रीमुख से मुखरित यह अमृत यदि पुस्तकारूढ़ हो जाये तो मुमुक्षु जीवों को कितने बड़े महालाभ का कारण हो ! हाँलाकि अनुभव के जोशपूर्वक निकलती हुई ह्रदयभाव से भिगी हुई सद्‌गुरुदेव की वाणी प्रत्यक्ष श्रोता पर जो अपूर्व चमत्कृतिभरा असर पहुँचाती थी। ऐसा असर पुस्तकारुढ़ वाणी से नहीं हो सकता, फिर भी प्रत्यक्ष समागम का लाभ सतत ले पाता हो ऐसे सुपात्र जीव को पुस्तकारुढ़ वाणी भी महा अवलंबनरूप होती है।' - इस प्रकार कई भाइयों की प्रवचन प्रकाशित करने की भावना होने से, सद्‌भाग्य वश ब्रह्मचारीभाई श्री गुलाबचंदजी जैन ने सद्‌गुरुदेव की प्रवचनधारामें से यथाशक्ति जितना संभव हुआ लिख लिया था इसलिए इसे पुस्तकरूप प्रकाशित करने का हमने निर्णय किया। आज इस प्रकाशन मुमुक्षुओं के हाथ में रखते हुए हमें हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक में कोई न्यायविरुद्ध भाव न आ जाये इसकी हमने सावधानी रखी है। जिसने ये प्रवचन लिख लिये, वरना इस पुस्तक का अस्तित्व नहीं होता, उनके हम बहुत आभारी हैं।

अनादि काल से मोहाग्नि में तप्तायमान जीवों को यह ग्रंथ शीतल समाधिसुख का पंथ दिखाये ऐसी हमारी भावना है। इस ग्रंथ से भिन्न-भिन्न कोटि के सर्व मुमुक्षुओं को अपनी-अपनी पात्रता के अनुसार बहुत कुछ मिल सकेगा। समयसार आदि अनेक महान शास्त्रों के गंभीर रहस्य - वीतरागशासन के मूलभूत तत्त्वों को, सामान्य मनुष्य को भी ग्राह्य हो सके ऐसी अत्यंत-अत्यंत सुगम शैली द्वारा समझाया गया है। जो मुमुक्षु इन मोक्षदायक भावों पर विचार करेगा, वह उन भावों की श्रद्धा आत्मा की प्रत्येक पर्याय से अभेद हो जाये तब तक पुरुषार्थ करता ही रहेगा। वे अनंत दुःख के कारणभूत मोह का छेद करके अनंत समाधिसुख को प्राप्त होंगे।

‘‘कृपालुदेव तो परमेश्वरकी जगह निमित्त हैं ! अखंड मोक्षमार्गको उन्होंने जीवंत रखा है। उनके वचनोंमें ऐसा कोई जादु है, ऐसा कोई चमत्कार है (कि), जैन-अजैन कोई भी, किसी भी जगह पर कोई पात्र जीव होगा, योग्य होगा - उन जीवोंका हित हो जाये ऐसा अंदर तत्त्व पड़ा है, उसमें कोई संशय नहीं है। मोक्षमार्ग पर्यंत पहुँचनेके लिये जो तत्त्व उन्होंने दिया है, वह उनका परम उपकार है।’’

- पूज्य भाईश्री शशीभाईके श्रीमुखसे प्रवाहित परम कृपालुदेवके प्रति हृदयोद्‌गार

(जन्मस्थानभुवन - ववाणीया)

प्रकाशकीय

अध्यात्मयुगपुरुष शाश्वत सुखदर्शक वीतरागमार्गरहस्योद्घाटक **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** ने ४५ वर्षों तक अतिदीर्घकालीन प्रवचनगंगा बहायी। यह प्रवचनगंगा इस दुषमकाल में मुमुक्षुजीव के लिए मुक्तिसुख की प्राप्ति के लिए अमृत समान है। अनेक अध्यात्मग्रंथ पर हुए प्रवचनोंमें से एक विशिष्ट ग्रन्थ `**श्री आत्मसिद्धिशास्त्र**' भी समाविष्ट है।

समीप समयवर्ती आत्मज्ञ सत्पुरुष परम कृपालुदेव **श्रीमद् राजचंद्रजी** ने समीपवासी मुमुक्षुजीवों को अनेक प्रकार से आत्महितकारी मार्गदर्शन दिया है। अनेक सुपात्रजीव कृपालुदेव के समागम में आये, जिसमें हृदयसखा पूज्य **श्री सोभागभाई** एक विशिष्ट भक्तिवंतपुरुष थे। जिन्होंने कृपालुदेव के उपदेशामृत का पान करके जीवन के अंत काल में पवित्र भवछेदक ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की थी।

श्री सोभागभाई, कि जिनके सत्संग की कृपालुदेव को अहोरात्र चाहना रहती थी, ऐसे सुपात्र जीव को लक्ष में रखकर परम कृपालुदेव ने `नड़ियाद'में `**श्री आत्मसिद्धिशास्त्र**' की रचना की। यह पवित्र रचना कृपालुदेव के सातिशय असाधारण अपूर्व ज्ञान का प्रसाद-अनुग्रह है, जिसमें अखण्ड मोक्षमार्ग प्रतिपादित है।

ऐसी एक अद्वितीय रचना पर हमारे परम तारणहार परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने स्वयं की अनूठी शैली में `राजकोट' शहर में सन् १९३९ में ७२ प्रवचन किये थे, जिसकी गुजराती में दस आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

इन प्रवचनों का हिन्दी में प्रकाशन हो ऐसी भावना सिद्धांतनिष्ठ, धर्म - धर्मात्माओं के प्रति भक्तिवंत, आदरणीय **पूज्य भाईश्री शशीभाई** ने अपने प्रवचनों में बार-बार प्रदर्शित की थी। उनकी इस भावना को साकार करने हेतु इन प्रवचनों का हिन्दी में प्रकाशन करने का सुनिर्णय लिया गया। अतः इस प्रसंग पर उनके उपकार को स्मरण में लेकर उनको वन्दन करके `**आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन**' नामक इस ग्रन्थ द्वितीयावृत्ति का प्रकाशन करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। इस ग्रंथ में श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, द्वारा प्रकाशित `**आत्मसिद्धिशास्त्र**' की गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है और इस ग्रंथ के प्रकाशन पूर्व इस ट्रस्ट के द्वारा इन प्रवचनों में रही हुई त्रुटियाँ को सुधार दी गई है, जिसके लिये हम उनका आभार व्यक्त कर रहे हैं।

इन प्रवचनों का अल्प समय में अनुवाद करने के लिये हम डॉ. पूर्णिमाबहन

भाटिया के हृदयपूर्वक आभारी हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु प्राप्त हुई दानराशि अन्यत्र दी गई है, उन दाताओं के भी हम आभारी हैं। जिन-जिन मुमुक्षुओं ने इस ग्रन्थ को तैयार करने के लिए अपने समय का योगदान दिया है उन सबके भी हम आभारी हैं। ग्रन्थ के सुंदर टाइपसेटिंग के लिए `पूजा इन्प्रेशन्स' व सुंदर मुद्रण कार्य के लिए `भगवती ऑफसेट' का भी हम आभार व्यक्त करते हैं।

अंततः जो कुछ अच्छा व सुंदर है वह पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रताप से है। उन्हें पुनः पुनः कोटि-कोटि वंदन करते हैं।

सत्पुरुषों का प्रत्यक्ष योग जयवंत वर्तो ! त्रिकाल जयवंत वर्तो !

भावनगर
दि-१८-९-०५
(उत्तम क्षमावणी दिन)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का मुमुक्षु समाज अधिक लाभ लेवें इस हेतु से एक मुमुक्षु परिवार, मुंबई की ओर से विशेष आर्थिक सहयोग प्राप्त होने से इस ग्रंथ की कीमत कम रखी गई है।

प्रवचन अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	गाथा	पृष्ठ
०१.	भूमिका	०१-२३	००१-१७९
०२.	मतार्थी लक्षण	२४-३३	१८०-२१४
०३.	आत्मार्थी लक्षण	३४-४२	२१५-२४८
०४.	षट्पद नामकथन	४३-४४	२४९-२६३
०५.	आत्मा के अस्तित्व विषयक शंका	४५-४८	२६४-२७०
	`आत्मा है' - ऐसा सद्गुरुदेव का समाधान	४९-५८	२७०-२९२
०६.	`आत्मा नित्य नहीं है' - शिष्य की ऐसी शंका	५९-६१	२९३-२९५
	`आत्मा नित्य है' - ऐसा सद्गुरुदेव का समाधान	६२-७०	२९५-३१८
०७.	`आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है' - शिष्य की ऐसी शंका	७१-७३	३१८-३२४
	`आत्मा कर्म का कर्ता है' - ऐसा सद्गुरुदेव का समाधान	७४-७८	३२४-३९२
०८.	`आत्मा कर्म का भोक्ता नहीं है' - शिष्य की ऐसी शंका	७९-८१	३९२-४१३
	`आत्मा कर्म का भोक्ता है' - ऐसा सद्गुरुदेव का समाधान	८२-८६	४१४-४४९
०९.	`जीव का कर्म से मोक्ष नहीं है' - शिष्य की ऐसी शंका	८७-८८	४४९-४५१
	`जीव का कर्म से मोक्ष है' - ऐसा सद्गुरुदेव का समाधान	८९-९१	४५१-४५७
१०.	`मोक्ष का उपाय नहीं है' - शिष्य की ऐसी शंका	९२-९६	४५७-४७५
	`मोक्ष का उपाय है' - ऐसा सद्गुरुदेव का समाधान	९७-११८	४७५-५४१
११.	शिष्यबोधबीज प्राप्ति कथन	११९-१२७	५४१-५५६
१२.	उपसंहार	१२८-१४२	५५६-६२०

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के विषय में एवं आत्मसिद्धिशास्त्र के विषय में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हृदयोद्गार

अनंतकाल से आत्मा के नाम से स्वच्छंद एवं मताग्रह से बाहर का सब कुछ किया है, अतः श्रीमद् ने निष्कारण करुणा से आत्मार्थी जीवों के हित के लिये आत्मसिद्धि शास्त्र की रचना की है।

(पृष्ठ संख्या-६०)

❁

श्रीमद्जी को वर्तमान में कोई गुरु नहीं थे; पूर्वभव के संस्कार थे। वे कहते थे कि :- अहो ! वह हृदय, वह एकांत स्थल, सत्पुरुषों के वृंद, सत्समागम और वह निवृत्ति के स्थान, ज्ञानी के विहार (विचरण) के स्थान ! उनको धन्य है। प्रवृत्ति में रहते हुए भी उनको ये सब बारंबार याद आ जाता थे।

वे दुकान में नहीं बैठे थे, किन्तु आत्मा में (ज्ञान में) बैठे थे। उन्हें अपने हृदय में सत्समागम का महत् बहुमान था। (पृष्ठ संख्या-७३)

❁

सच्चा अध्यात्म क्या है ? सौराष्ट्र में इसे यथार्थ समझानेवाले यदि कोई हैं तो वे वर्तमानकाल में श्रीमद् राजचंद्र थे। ...श्रीमद्जी का विशाल हृदय व उज्जवल अंतःकरण जो समझना चाहता है उसे (पहले) अपने अंदर पात्रता प्रगट करनी होगी। (पृष्ठ संख्या-८७)

❁

श्रीमद्जी ने स्वयं ही शिष्य की जिज्ञासा की हूबहू रचना की है, और हृदय में आरपार उत्तर जाय ऐसी हृदयवेधक भाषा में संवाद की रचना की है। (पृष्ठ संख्या-२९२)

❁

श्रीमद्‌जी ने ऐसी अपूर्व घटना की रचना की है कि उसमें कोई अंग बाकी न रह जाय। इस प्रकार संक्षेप में सत् तत्त्व को जाहिर किया है। अनंत काल में अज्ञानभाव से जो भटकना हुआ, उस अज्ञानभावरूप मूल का छेदन जिस भाव से किया, उस भाव से सद्‌गुरु को नमस्कार करके मांगलिक किया है। गुजरात-सौराष्ट्र में आत्मतत्त्व की ऐसी स्पष्ट बात गुजराती भाषा में करके, अध्यात्मशास्त्र बनाया, इससे भव्य जीवों पर बहुत उपकार हुआ है। हज़ारों जीव उस कृपा-प्रसाद से आत्मशांति की भावना भाते हैं। श्रीमद्‌जी ने बालवय में पूर्वजन्म के बलवान संस्कार द्वारा आत्मा की गुंजार जाहिर की है। उनका जीवनचरित्र बहुत उत्कृष्ट था। `आत्मसिद्धि' में अध्यात्मतत्त्व का बहुत गहरा रहस्य भरा है। (पृष्ठ संख्या-३४६)

❀

उन समर्थ पवित्र आत्मा की (श्रीमद्‌जी की) देह की स्पर्शना इस भूमि से हुई है। वे अनंत भव का अभाव कर गये हैं। वह अपूर्व भाव कैसा होगा कि जिस भाव से अनंत भाव का अभाव होकर एक ही भव के बाद मोक्ष जानेवाले हैं ? (पृष्ठ संख्या-३४९)

❀

जो बात (आत्मस्वरूप का सच्चा न्याय) अनंत ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा कह गये हैं वही बात श्रीमद्‌राजचंद्रजी भी कह गये हैं। (पृष्ठ संख्या-४०६)

❀

श्रीमद् राजचंद्रजी जवाहरात की दुकान पर बैठे हुए दिख रहे थे फिर भी हर पल मोक्ष के निकट जा रहे थे। लोग बाहर से देखे तो अन्य कुछ दिखे। गृहस्थवेष में ज्ञानी को पहिचानना बाह्यदृष्टि जीवों को मुश्किल पड़ता है। (पृष्ठ संख्या-४११)

❀

जिन्होंने इस पंचमकाल में सत्धर्म की घोषणा की, और खुद ने अनंत भव का अंत करके, एक ही भव बाकी रहे ऐसी पवित्र दशा आत्मा में प्रगट की, ऐसे पवित्र पुरुष का अति-अति बहुमान होना चाहिए। उनके जन्मदिन की आज जयंति है, धन्य है उनको ! मैं निश्चितरूप से कहता हूँ कि गुजरात-काठियावाड में (सौराष्ट्र में) वर्तमान काल में मुमुक्षु जीव को परम उपकारी कोई हैं, तो वे श्रीमद् राजचंद्रजी हैं। गुजराती भाषा में 'आत्मसिद्धि' लिखकर जैनशासन की शोभा में अभिवृद्धि की है। इस काल में उनके समान महत्-पुरुष मैंने देखे नहीं हैं। उनके एक-एक वचन में गहरा रहस्य है। वह सत्समागम के बिना समझ में आये ऐसा नहीं है। (पृष्ठ संख्या-५६४)

❁

श्रीमद्जी का जीवन समझने के लिये मताग्रह से - दुराग्रह से दूर रहकर, उनके पवित्र जीवन को मध्यस्थतापूर्वक देखना चाहिए, ज्ञानी की विशाल दृष्टि के न्याय से सोचना चाहिए। उनकी भाषा में अपूर्व भाव भरे हैं, उसमें वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम सब कुछ हैं। बालक से लेकर आध्यात्मिक सत्स्वरूप की पराकाष्ठा तक की पहुँचवाले अत्यंत गहन न्याय, गंभीर अर्थ उनके लेख में हैं। ...उनके अंतर में वीतराग शासन की प्रभावना हो, सनातन जैनधर्म जयवंत रहे, इसके लिये निमित्त होने की भावना अंतर की गहराई में थी। (पृष्ठ संख्या-५६५)

❁

आजकल श्री समयसारजी परमागमशास्त्र पढ़ा जा रहा है, उसकी प्रभावना करनेवाले भी श्रीमद् राजचंद्रजी थे, अपनी मौजूदगी में ही उन्होंने परमश्रुत प्रभावक मंडल की स्थापना की। उनका उद्देश्य, महान आचार्यों के आगम-शास्त्र संशोधित करके छपवाने का था। उस मंडल ने उन्नीस वर्ष पूर्व, एक हज़ार समयसारजी शास्त्र - आचार्यवर कुंदकुंदभगवान रचित महासूत्र छपवाये। वह शास्त्र (हस्तलिखित) जब सर्व प्रथम (लींबडी नगर

में) उनके हाथ में आया, तब दो पृष्ठ पलटते ही रुपयों से भरी थाली मँगवाई, जिस प्रकार हाथ में हीरा आ जाय, उसकी परीक्षा जौहरी करे, उस प्रकार समस्त जिनशासन के रहस्यरूप श्री समयसारजी हाथ में आते ही, पूर्व के संस्कारों का अपूर्व भाव उल्लसित हुआ, और इस अपूर्व परमागम शास्त्र लानेवाले भाई को श्रीमद्जी ने अंजलि भरके रुपये दिये। यह पुस्तक छपे ऐसी उनकी खास इच्छा थी। इस प्रकार १९ वर्ष पूर्व श्री समयसारजी की प्रभावना उनके द्वारा हुई। इस परमागमशास्त्र का लाभ वर्तमान में काठियावाड (प्रदेश) में काफी मात्रा में लिया जा रहा है। इस समयसारजी के कर्ता श्री कुंदकुंदाचार्य दिगंबर (नग्न) महासमर्थ मुनि थे। वे इस काल में स्वयं महाविदेहक्षेत्र में, साक्षात् त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान सीमंधर प्रभु के पास गये थे, वहाँ उन्होंने आठ दिन तक समोवसरण (धर्मसभा) में भगवान की वाणी सुनी। वहाँ से आकर समयसारग्रंथ की श्लोकबद्ध रचना की, उस समयसार शास्त्र की इस काल में प्रथम प्रसिद्धि करनेवाले श्रीमद् राजचंद्रजी हैं, अतः उनका अनंत उपकार है। इसका लाभ वर्तमान में बहुत से भाई-बहिन ले रहे हैं, यह श्रीमद्जी का ही उपकार है। वर्तमान में उसकी दो हज़ार प्रती गुजराती में छप रही हैं। इसका लाभ लेनेवाले के लिये भी श्रीमद्जी ही उपकारी माने जायेंगे। (पृष्ठ संख्या-५६५)

❁

श्रीमद् राजचंद्रजी ने `आत्मसिद्धि' की रचना संवत १९५२ में की। उसको आज ४३ वाँ वर्ष चल रहा है। उसमें छह पद की सर्वांगता बहुत प्रकार से लेकर गुरु-शिष्य के संवादरूप अद्‌भुत रचना की है; उसमें आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण किया है। (पृष्ठ संख्या-३४६)

❁

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान के कथन का रहस्य इस प्रथम गाथा में है। अमृतस्वरूप भगवान आत्मा का अपूर्वभाव - अध्यात्म अमृतरस श्रीमद्‌जी ने १९५२ की साल में बरसाया। पूर्ण केवलज्ञान पर दृष्टि लगाके यह `आत्मसिद्धि' लिखी है। (पृष्ठ संख्या-३४९)

❁

श्रीमद्‌जी ने जो बीज बोये हैं उसका फल वर्तमान में आ रहा है। इससे बहुत-से पात्र जीव शांति-समाधि के भाव द्वारा आत्मबल प्राप्त करते हैं। यह आत्मसिद्धि मुमुक्षु के हृदय की अमृतबेल है।

(पृष्ठ संख्या-३५२)

❁

गुजराती भाषा में `आत्मसिद्धि' की अपूर्व रचना की है। सभी घरों में इसका प्रचार होना चाहिए। जो कहा गया है वह बहुत से जीवों को उपकार का निमित्त होवे ऐसा सरल है। भादों शुक्ला सातम से इसके व्याख्यान (प्रवचन) शुरू किये हैं, जिसे आज ७२ दिन हुए हैं। इसमें निष्पक्षपाततापूर्वक सब कुछ कहा गया है। लोग मध्यस्थ होकर विचारपूर्वक बारंबार इसका घोलन करे तो उन्हें आत्मख्याति (आत्मसिद्धि) हुए बिना नहीं रहे। उत्तम भोजन से भरा हुआ थाल मिले और भूखा रह जाय वह जीव दुर्भागी है। कई तरह से बात कही गई है। कुलधर्म का आग्रह इत्यादि बहुत से विरोध मिटाकर अविरोध तत्त्व को समझने की यह अपूर्व रचना निर्मित्त है। इसमें सरल भाषा में विस्तारपूर्वक बहुत कहा गया है। किसी धर्मी, पुण्यवंत आत्मार्थी जीवों के भाग्यवश यह अपूर्व योग हुआ है। (पृष्ठ संख्या-६१५)

❁

श्री सद्‌गुरुदेव स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो ! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

अहो ! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुन्दना !
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजलंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

हैयुं 'सत् सत्, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
-रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेन्द्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

नित्ये सुधाझरण चंद्र ! तने नमुं हूँ,
करुणा अकारण समुद्र ! तने नमुं हूँ;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ ! तने नमुं हूँ,
आ दासना जीवनशिल्पी ! तने नमुं हूँ।

ऊँडी ऊँडी, ऊँडेथी सुखनिधि सत्‌ना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति ! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊँडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी !

`मैं ज्ञानमात्र हूँ'

⌘

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जयते.

⌘

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्यां,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्यां.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्यां,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

⌘

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

⌘

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

⌘

ॐ

श्री सर्वज्ञदेवाय नमः

‘आत्मसिद्धिशास्त्र’

पर अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

(विक्रम सम्वत् १९९५-९६; राजकोट शहर में प्रवचन)

यह ‘श्रीआत्मसिद्धिशास्त्र’ श्रीमद् राजचन्द्रजी ने नडियाद (शहर) में वि.स. १९५२ की साल में (अश्विन वदी एकम् के दिन) लिखा था। इसमें पूर्वभव के संस्कारसहित स्वयं का अनुभव दर्शाया है। छह पद इसमें समाविष्ट हैं। ये छह पद निम्नानुसार हैं :-

१. आत्मा है। (यह न्यायपूर्वक समझाया है)।

२. जो ‘है’, वह हमेशा होता है; अतः नित्य है।

३. स्वभाव से वह ज्ञान का कर्ता है; अज्ञानवश राग-द्वेष का कर्ता है।

४. वस्तुतः स्वभाव का भोक्ता है; अज्ञानवश हर्ष-शोकादि का भोक्ता है।

५. मोक्ष है।

६. मोक्ष का उपाय भी है।

इसमें काफी जन्मों के संस्कारसहित स्वानुभव की बात कही है।

‘श्री’ माने आत्मा की ज्ञानलक्ष्मी, केवलज्ञान। इसका स्वरूप समझने पर ज्ञान

का चारित्र (स्थिरता) प्रगट होकर, ज्ञान के पुरुषार्थ से पूर्ण शुद्ध केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

शास्त्र के प्रारम्भ में श्री सद्गुरुभगवन्तों की विनय करते हैं :-

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत;
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत।।१।।

जो स्वरूप समझे बिना, पायो दुःख अनन्त।
समझायो तत्पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त।।१।।

प्रथम 'सत्' नाम आत्मा और उसे समझानेवाले गुरु, वे सद्गुरु। ऐसे सद्गुरु को नमस्कार करके कहते हैं कि मैंने एक आत्मा को ही (आत्मा के स्वरूप को ही) जाने बिना अनन्त दुःख पाये; एक आत्मा को जानने से सब कुछ जानने में आ जाता है।

'जे स्वरूप' माने आत्मस्वरूप। आत्मा स्वयं कौन है, इसे जाने बिना सारी कलाएँ व्यर्थ है। इसे समझे बिना अनन्त दुःख पाये, ऐसा कहा। जबकि ऐसा नहीं कहा है कि अमुक क्रिया या अमुक विद्या को जाने बिना भटका।

'स्व' माने अपना; अपनारूप माने स्वरूप। जीव का स्वरूप अपना अरूपी ज्ञान है। जगत के अन्य द्रव्य जड़ यानी अचेतन हैं। उनमें से पुद्गलद्रव्य के (गुण) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श हैं और आत्मतत्त्व अरूपी, निर्दोष आनन्दमूर्ति है। वह अरूपी वस्तु ज्ञानदृष्टि द्वारा दिखती है। आत्मा मन, वाणी, देह, वर्ण, गन्ध, रस से निराला है; पुण्य, पाप, राग, द्वेष और विकल्परहित है। उसका जो स्वरूप है उसे यथार्थ न्याय द्वारा समझे बिना अनादिकाल से अनन्त दुःख पाये। इसमें ऐसा आया कि सही तत्त्व को समझे बिना, उसकी (यथार्थ) जाति जाने बिना अनन्त दुःख पाये किन्तु ऐसा नहीं आया कि ब्रह्मचर्य, व्रत, तप, लौकिक नीति, ऐसा बाहर से कुछ नहीं किया, इसलिये दुःख पाया।

पूर्व अनन्त काल में निजस्वरूप को समझे बिना दुःख पाये, ऐसा कहने में

गर्भितरूप से ऐसा आया कि अनन्त काल से मैं नित्य हूँ परन्तु अतीत काल में आत्मा के सुख से (अपने से) अनजान था। अब आपकी कृपा से सच्ची समझ पायी है। पहले अनन्त दुःख पाकर अनन्त काल से टिका हुआ था, अब आत्मभानपूर्वक टिक रहा हूँ।

आत्मा अनन्त काल से है। वह किस अवस्था में टिका था ? (स्वरूपज्ञान के अभाव में) बेभानदशा में अनन्त दुःख पाये और उस अनन्त दुःख की अवस्था में टिका। 'अनन्त' शब्द, आत्मा बेहद-अपार आनन्दस्वरूप स्वाभाविक तत्त्व है, ऐसा सूचित करता है। इसे भूलकर, हे गुरु ! उस आनन्द की अनन्त विपरीतता में मैं अनादिकाल से टिका था। आत्मा अनन्त (बेहदतावाला) है; अतः दुःख का रस भी अनन्त ही भोगता है। कोई कहेगा कि अनन्त काल के दुःख इकट्ठे करके अनन्त दुःख हुए होंगे किन्तु ऐसा नहीं है; एक-एक क्षण में अनन्त दुःख की वेदना सहन की है।

इस शास्त्र में अपूर्व आह्लाद भरा है। शिष्य को अपनी स्वाधीनता गुरुगम से समझ में आयी, इसलिये स्वयं का ज्ञानभाव बेहद अपरिमित है, इसका उल्लास आया है, इसका वर्णन करते हैं।

तू क्या समझा है और क्या नहीं समझा? जड़ के संयोग में क्या रखा है और पर से भिन्नत्व, असङ्गता क्या? इसका विवेक कैसे करना, इसका विचार किया नहीं है, इसलिये अनन्त दुःख पाये हैं।

यहाँ श्री सद्गुरु को नमस्कार किया है, इसमें विनय है। निश्चय से अपने पूर्ण शुद्ध आत्मा को नमस्कार है, व्यवहार से स्वयं ने उपकारी को (जो केवलज्ञानी भगवान हो गये, जिन्होंने आत्मा का अविरोध स्वरूप समझाया है, उन परमात्मा को) पहचानकर नमन किया है। श्री सद्गुरुभगवन्त कैसे महिमावन्त हैं, उस बारे में कहा है कि -

गुरु गोविंद दोनुं खड़े, किसकुं लागुं पाय;
बलिहारी गुरुदेवकी (जिसनें) आतम दीयो बताय।।

परमात्मस्वरूप चैतन्य वीतराग भगवान और ज्ञानी दोनों समक्ष दिख रहे हैं, तब शिष्य अपना बेहद सुखस्वरूप, स्वाधीनस्वरूप समझानेवाले साधकदशा में स्थित ऐसे

सद्‌गुरु को नमस्कार करता है। अपना साधकस्वभाव खिल उठा, इसके हर्ष में अपने गुण का बहुमान, विनय करता है; अतः ज्ञानी गुरु पर उपकारीपना का आरोप करके अपने पवित्रभाव का पोषण करता है।

भूतकाल में आत्मा को समझे बिना दुःखी था; अतः सिद्ध हुआ कि पूर्व में मैं था और शक्तिरूप से आनन्दमय ज्ञानसामर्थ्यस्वरूप था। अब उसी ज्ञानशक्ति का जो अन्तरङ्ग उज्ज्वलभाव विकसित हुआ है, उस भाव से मेरा पूर्ण स्वरूप खुलनेवाला है।

अनन्त दुःख के भुगतान की अवस्था को और निरावरण, पवित्र, पूर्ण, शुद्ध आत्मसुख के भोग की अवस्था को जाननेवाला ज्ञाता भगवान आत्मा निरन्तर ज्ञानमय है; पर से भिन्न, स्वाधीन, असङ्ग, अकेला है। राग-द्वेष, अज्ञान का छेदन करके निमित्त का प्रभाव ग्रहण किये बिना निर्मल, शान्त, पवित्र आनन्दमय हूँ। इस भाव से भविष्य में पूर्ण शुद्ध होनेवाला हूँ, ऐसी भावना भाते हैं। निःशङ्क बेहद प्रतीतिस्वरूप जो स्वभाव खुलता है, जो भाव अन्तरङ्ग के ज्ञानबल के पुरुषार्थ से विकसित होता है, वह भाव पूर्ण आनन्दमय, शुद्ध स्वरूप की शक्ति में से प्रगट होता है। अवस्थादृष्टि से अभी अल्प अंश खुला है, इसलिये मलिनता, अपूर्णता है।

प्रवचनसार और समयसार में भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्य तथा अमृतचन्द्राचार्यदेव का अन्तरनाद निकलता है कि हम जैसा कहते हैं, वैसा ही है और इस सर्वज्ञ के घर की बात को (हम) स्वानुभव से कह रहे हैं। इस स्वरूप को समझने से, इसका श्रद्धान करने से एक-दो भव में अवश्य मोक्ष होता है। इस प्रकार अप्रतिहत भाव की बात की है; पीछे हटने की बात नहीं है। जो स्वरूप बेहद है, अनन्त है, स्वाधीन है, उसका यथार्थ निर्णय होने के बाद पीछे क्यूँ हटे ? जिस भाव से पूर्ण का श्रद्धान किया है, वही (अनुभव की वही जाति ही) समस्त निर्मल आत्मपद प्रगट करता है।**१.**

अब, आत्मार्थी के विचारहेतु मोक्षमार्ग अगुप्तरूप से कहते हैं :-

वर्तमान आ काळमां मोक्षमार्ग बहु लोप;
विचारवा आत्मार्थीने, भाख्यो अत्र अगोप्य।।२।।

वर्तमान इस काल में, मोक्षमार्ग अति लुप्त।
विचारने आत्मार्थी को, कहता यहाँ अगुप्त।।२।।

यह भरतक्षेत्र और वर्तमानकाल की अपेक्षा से कहा है। जिस क्षेत्र में, जिस काल में श्री सर्वज्ञ भगवान विचरण कर रहे थे, उस धर्म-क्षेत्र को, धर्म-काल को और उस समय के सन्त-धर्मात्मा-ज्ञानीपुरुषों को धन्य है। त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव की जिस काल में विद्यमानता हो, वह धर्मकाल धन्य है। **'कर्म उदय जिनराज का, भविजन को हितकर'।** उस काल में कुतर्कवादी पाखण्डियों का ज़ोर नहीं था।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि वर्तमान पञ्चम महाविदेहक्षेत्र में तीर्थङ्कर परमात्मा साक्षात् विचरण कर रहे हैं, वहाँ ज्ञानी-धर्मात्मा-सन्त-मुनियों के वृन्द हैं। साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु उस क्षेत्र से मोक्षगमन करनेवाले हैं। मुनियों में से कई तो उसी भव से मोक्ष जानेवाले हैं, कुछेक एक भव करके मोक्ष जानेवाले हैं। वर्तमान में उस धर्मक्षेत्र में साक्षात् वीतराग भगवान हैं और २४६७ वर्ष पूर्व इस क्षेत्र में भी थे।

उस क्षेत्र में तीर्थङ्कर भगवान की वीतरागदशा देखकर बड़े इन्द्र, देव, मनुष्य आदि झुक-झुककर उन्हें प्रणाम करते हैं और अनेक योग्य प्राणी आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। कोई निर्धन, हीनकुल में जन्मा हुआ प्राणी भी प्रभु के दर्शन करके, उनकी वाणी सुनकर, न्याय का विचार करके, आत्मा के पवित्र स्वाधीन आनन्दस्वरूप को समझ लेते हैं।

मोक्षमार्ग वर्तमान में बहुत लुप्त हो गया है, ऐसा कहा। इसमें ऐसा कहा कि इस क्षेत्र में वह वर्तमान में सर्वथा लुप्त नहीं है किन्तु वह पूर्व में था और भविष्य में फिर होगा।

आत्म पूर्ण है, ऐसा शुद्ध स्वरूप का भान जिस काल में रहता है, उस काल में (कोई) भेद नहीं रहता, विकल्प नहीं रहता। आत्मज्ञान होने के बाद पूर्ण होने में जो अल्पकाल बाकी रहता है, उसमें भाव की अपेक्षा से भेद नहीं है। दु:षमकाल को वे अपने लिये सुषमकाल मानते हैं।

उदायन राजा का अधिकार है। उसमें वे भावना भाते हैं कि अहो प्रभु!

धन्य वह ग्राम, नगर, सन्तमुनिजन कि जहाँ आप बिराजमान हो ! यहाँ आप पधारो तो वन्दना करुँ, बड़ा महोत्सव करुँ और अर्पणता करुँ। तीन दिन के वे उपवासी हैं और भावना भाते हैं कि मेरी नगरी के बाग में प्रभु पधारें। धन्य धन्य अवतार !! यहाँ राजा की मुमुक्षुता तैयार है, अन्तरङ्ग भी तैयारी हो गयी है। केवलज्ञान लेने की पात्रता खुद में थी और निमित्तरूप सर्वज्ञ भगवान का विचरना सहज ही हुआ। राजा के असंख्य प्रदेश में निर्मलता प्रगटकर उसी भव मोक्ष होनेवाला है। वीतराग किसी के अधीन नहीं हैं, सहज उनका विहार है। किन्तु राजा का उपादान तैयार हुआ है, इसलिये निमित्त तो मिले ही। राजा उदायन का अन्तरात्मा कर्मोदय को जीतकर जाग उठा और भावना भायी कि महावीर तीर्थङ्कर प्रभु मेरे बाग में पधारें और मैं प्रभु के चरणों में नमन करूँ।

वीतभय नगरी का राजा प्रकृति के शुभाशुभ उदय को ज्ञानबल द्वारा जीतकर चैतन्य प्रभु के पास तैयार हुआ है।

'त्रिकाल केवलज्ञान कि जो आत्मा का सामर्थ्य है, वह एकदम प्रगट हो,' इस प्रकार अन्दर का पुरुषार्थ जागने पर चिदानन्द शुद्ध ज्ञान की ऐसी गूँज उठी कि पूर्ण स्वरूप को पाकर ही अब छुटकारा है। ऐसी भावना भाते हैं और पुरुषार्थ फटा और योगानुयोग सर्वज्ञ भगवान का अपने राज्य में आगमन भी हुआ। इस तरह अपने भाव के अनुकूल निमित्त भी मिला और खुद का साधकस्वभाव भी उछला है। फिर बाकी क्या रहा? उसी भव में केवलज्ञान पाकर मोक्ष गये हैं।

श्रीमद् कहते हैं कि पूर्व में धर्मकाल था, आत्मधर्म की बहुत जीवों में वृद्धि थी लेकिन वर्तमान में बहुधा मोक्षमार्ग का लोप है फिर भी समझनेवाले जिज्ञासु, मुमुक्षु, जो पात्र हैं उनसे कहते हैं कि तू मोक्षस्वरूप हो, समझकर मोक्ष प्रगट हो सकता है। जो कोई न्याय से आत्मा का स्वरूप जैसा है, वैसा समझेगा; वह इस लोकोत्तर मार्ग की, आत्मा की विधि समझेगा। समझकर आराधना करेगा तो एक-दो भव में (आत्मा की) आराधना द्वारा स्वाधीन अनन्त सुख को प्राप्त करेगा। वर्तमानकाल में मोक्षमार्ग बहुत लुप्त हो गया है, इसलिये समझ में न आये, ऐसा नहीं है किन्तु दुर्लभता बहुत है। अज्ञान से, उलटी मान्यता से, विवेक पाना (आत्मा को विवेक पाना) दुर्लभ हो गया है। पञ्चम काल के अन्त तक - १८५०० वर्ष

तक मोक्षमार्ग रहेगा, फिर भी बहुत से लोग स्वच्छन्द, मताग्रह के अधीन रहेंगे। हालाँकि ज्ञानी को मुमुक्षु पहचान लेते हैं। जिसे आत्मा की गरज़ है, सच्चे सुख की सुरुचि है, संसार का भय लगा है, उसे ज्ञानी कहते हैं कि 'मोक्षमार्ग है, मोक्ष का उपाय है,' तू समझ। आगे चलकर आत्मार्थी के लक्षण कहेंगे।

आत्मा अविकारी, पाप-पुण्यरहित है, ऐसा निर्मल आत्मा अविनाशी है। जो आत्मा शुद्ध है, वह कितना बड़ा है ? कैसा है ? यह विचार करने हेतु आत्मार्थी के लिये सदुपदेश है।

किन्तु जिसे हित-अहित का भान नहीं है, जो अंधी दौड़ लगाकर झूठी अर्पणतापूर्वक भ्रान्ति का सेवन करते हैं, तत्त्व का विवेकविचार करते नहीं हैं, उनका तो कहना ही क्या ? परन्तु जिसे जिज्ञासा है, उससे ज्ञानी कहते हैं कि सच्चे न्याय का निर्णय कर। सत्समागम द्वारा श्रवण कर, मनन कर और तुलना कर, तो जो सर्वज्ञ भगवान के भाववचन हैं, उनका आशय समझ में आयेगा। इस प्रकार '**विचारवा आत्मार्थी ने भाख्यो अत्र अगोप्य।**' (आत्मार्थी के विचार करने हेतु यहाँ कुछ भी गोपित रखे बिना (मोक्षमार्ग) कहा गया है।)

ज्ञानी क्या कहना चाहते हैं ? यह गूढ़ आशय समझ में आ सके, ऐसा है। आत्मा अरूपी, अनन्त धर्मवाला है, ऐसा न्यायपूर्वक ज्ञानी समझाते हैं, इसे सुनकर विचार करना। प्रथम तो ऐसा भाव होना चाहिए कि वीतरागी पुरुष के वचन सत्य हैं। समझने के लिये जिज्ञासापूर्वक आशङ्का होवे, वह अलग बात है।

आगे आयेगा कि शिष्य कैसा विनयी, जिज्ञासु होना चाहिए।

'**भाख्यो अत्र अगोप्य**' – इसका अर्थ श्रीमद्जी ने एक पत्र में लिखा है कि 'शास्त्र में मार्ग कहा है, किन्तु मर्म नहीं कहा।' लेकिन यहाँ इस बात को गोपित रखे बिना (छुपाये बिना) प्रगटरूप से कह रहे हैं - जैसी है, वैसी ही कहते हैं।

शास्त्र के गुप्त रहस्य श्रीमद् ने प्रगट किये हैं। यहाँ कहा कि आत्मार्थी को बहुत विचार करना चाहिए क्योंकि मोक्षमार्ग बिलकुल लुप्तप्राय: हो गया है, फिर भी 'मोक्षमार्ग है, मोक्ष का उपाय है' – ऐसा इसका आशय है तो फिर यह लोकोत्तर मार्ग कैसा होगा ?

लोग उलझन में हैं कि अभी क्या करना ? और, कहते हैं कि आप निश्चय की बात करते हो परन्तु ज्ञान का व्यवहार हमारी समझ में नहीं आता है, इसलिये और कुछ कहिए लेकिन यह तो अभी एक का अङ्क है। जिसे केवल आत्मा स्वाधीनरूप में चाहिए, उसे अपनी भूमिका का व्यवहार व निश्चय समझना पड़ेगा और निश्चय परमार्थ का आराधन करना पड़ेगा। देह की, मन की क्रिया वह व्यवहार नहीं है; पुण्य भी व्यवहार नहीं है। व्यवहार-निश्चय आत्मा में है। बिना निश्चय का केवल व्यवहार है नहीं। इस प्रकार जो न्यायमार्ग है, उसका अनादि से अभ्यास नहीं है; अतः अन्य से लोग सन्तोष मानकर बैठ गये हैं और इस प्रकार का सन्तोष माननेवाले भी प्रमाणपत्र दे देते हैं कि अहो ! आप धर्मी हैं, संवर, प्रतिक्रमण, उपवास, सामायिक करते हो, इसलिये आपको पाँचवाँ गुणस्थान वर्तता है। किन्तु ज्ञानी इस झूठ को स्वीकार नहीं करते। कोई पैसेवाले का पुत्र हो, पढ़ने में मन लगता न हो फिर भी उसे अपने कुल की इज़्ज़त के खातिर पढ़ना पड़ता है। कुछ आता हो नहीं लेकिन शिक्षक लोग लोभी -रिश्वतखोर मिले हों, इसलिये उन्हें लुभाकर स्वयं ऊपर की कक्षा का प्रमाणपत्र पा ले। शिक्षक लोग लोभ के वश होकर प्रमाणपत्र देते चले जायें और परीक्षक भी ऐसे ही होवें। किन्तु जब किसी समय सच्चा न्यायी परीक्षक मिले, तब वह उसके द्वारा दिये गये प्रलोभनों को ठुकराकर साफ-साफ सुना देता है कि तूने जो पढ़ायी की है, वह सब गलत है; प्रथम कक्षा के लायक भी तू नहीं है। इस प्रकार सभी को समझ लेना। मोक्षमार्ग पर चलनेवालों की टोलियाँ नहीं होती, कोई विरले ही होते हैं। फिर भी सब जीवो में योग्यता - पात्रता पूरीपूरी है, लेकिन अपने सामर्थ्य को नकारके सच्चा समझना न चाहे, रुचि व परिचय न करे, तो खुद भटकने के लिये स्वतन्त्र है। समझ में न आये, इससे निराश नहीं होना; अभ्यास करना, पात्रता प्राप्त करना, सच्ची मुमुक्षुता (मोक्ष की इच्छा) होने पर सद्गुरु समागम मिलकर ही रहेगा।**२.**

दिनाङ्क - २०-९-१९३९

प्रथम गाथा में ऐसा कहा कि संसार के बन्धन से रहित मेरा शुद्ध आत्मपद जिसने समझाया, अज्ञानस्वरूप मिथ्यात्व कि जिसके कारण अनन्त दुःख पाता, उस दुःख की जड़ जिसने काट दी, ऐसे सद्गुरुदेव को नमस्कार करके फिर इस दूसरी गाथा में कहा कि वर्तमान में मोक्षमार्ग लुप्तप्रायः है। मोक्ष तो नहीं है किन्तु सच्ची श्रद्धा और अविरुद्ध न्याय को समझपूर्वक समझना भी बहुत दुर्लभ दिखता है। यह किस कारण से महँगा - दुर्लभ दिख रहा है ? – यह बात अब कहेंगे। आत्मज्ञान का मार्ग लोग जैसा समझ रहे हैं, उससे कुछ अलग और अपूर्व है। वर्तमानकाल में लोग आत्मधर्म को अन्यथा समझते हैं, ऐसी उलटी मान्यता बहुत लोगों की है। उसके कारण अब कहते हैं :-

कोई क्रियाजड थई रह्या, शुष्कज्ञानमां कोई;
माने मारग मोक्षनो, करुणा ऊपजे जोई।। ३।।

कोई क्रिया-जड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई।
माने मारग-मोक्ष का, करुणा देखत होई।।३।।

तीसरी गाथा में कहते हैं कि मोक्ष का मार्ग लुप्त हुआ क्यों दिखायी दे रहा है ? कारण यह है कि लोग मन, वचन, काया की क्रिया में धर्म मानते हैं, उसके द्वारा मोक्षमार्ग मानते हैं किन्तु आत्मा ज्ञानस्वरूप अरूपी है और इस देह आदि की क्रिया जड़ है। आत्मा पर से भिन्न है। ऐसे आत्मा की रुचि के बिना, भान के बिना, अनन्तकाल से आत्मधर्म के नाम से अन्य काम किये हैं। अनन्तबार यम, नियम, जप, तप, ध्यान, अतिशय मात्रा में किये हैं। शुभ परिणाम भी आत्मा का धर्म नहीं है क्योंकि शुभ परिणाम तो राग है और आत्मा अरागी है। क्या विजातीय कारण देने पर सजातीय कार्य हो सकता है ? हो ही नहीं सकता। जिस

भाव से बन्धन हो, उस भाव से मुक्ति नहीं हो सकती। जो कारण बन्ध का हो, उस कारण द्वारा पवित्रता, मुक्तदशा कैसे हो ?

कुछ लोग, बहिर्दृष्टि जीव, कहते हैं कि 'भगवान ने क्रिया बतायी, उसका ये अध्यात्म की बातें करनेवाले उन्मूलन करते हैं; अत: आत्मसिद्धिशास्त्र को मानना नहीं चाहिए। क्या सिर्फ आत्मा-आत्मा करने से धर्म हो जायेगा ? अत: अपने को तो क्रिया करनी' अब विचारवान, विवेकी होगा, वह तुलना करेगा कि आत्मा का गुण अरूपी ज्ञान-चैतन्य है, वह ज्ञाता-ज्ञायक ही है। ज्ञानरूप रहकर जानना, वही उसकी (आत्मा की) क्रिया है। ज्ञान के सिवा कुछ भी करने से होता हो, तो कोई बताओ।

हम कहते हैं कि ज्ञान में ही निश्चय-व्यवहार है; जड़ में नहीं। अनन्तबार नववीं ग्रैवेयक तक के स्वर्ग में आत्मभान के बिना जानेवाले भव्य जीव व अभव्य जीव हैं। भारी तप, बहुत व्रत, शुक्ल लेश्या, उज्ज्वल परिणाम द्वारा आत्मा के भान बिना जो पुण्य बँधता है, उसके फलस्वरूप अहमिन्द्रदेव अनन्तबार होवे और असंख्य अरबों वर्ष का आयुष्य भी भोगे, फिर भी आत्मा को क्या लाभ ? कुछ भी नहीं। वहाँ हीरा, माणिक और देवियों को देखकर आसक्ति में वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके एकेन्द्रिय में, तिर्यञ्चगति में, भटकता रहेगा क्योंकि आत्मा को जाना नहीं है।

कोई कहे – दया से, पुण्य से धर्म होता है परन्तु ऐसी दया का तो अनन्तबार पालन किया है किन्तु राग आत्मा का गुण नहीं है, यह बात अभी तक जँची नहीं है। शास्त्र में बहुत-सी जगह पर कहा है कि प्रत्येक जीव आत्मा के भान बिना आत्मा के नाम से ही क्रिया करके अनन्तबार नववीं ग्रैवेयक तक भी गया है।

लोग जिसे पुण्य, दया मानते हैं, वे अपनी उलटी दृष्टि के कारण मानते हैं। ज्ञानी उसके पुण्य के परिणाम, शुभभाव से कल्याण होने से इन्कार करते हैं क्योंकि वह (अज्ञानी) अन्तरङ्ग की गहराई में अपने राग की, मानादि कषाय की पुष्टि करता है। अनन्तकाल से वस्तु की जो पहचान नहीं हुई, उसका क्या कारण ? इसका विचार यथार्थरूप से नहीं किया। तत्त्व का मनन भी नहीं करते, फिर क्या

हो ? बहुत से लोग शुभ परिणाम को संवर, निर्जरा मानते हैं, तो क्या उनका आत्मा कोई दूसरी जाति का होगा ? ज्ञानीपुरुषों ने तो शुभ-अशुभ दोनों भावों से रहित शुद्धभाव की स्थिरता को संवर, निर्जरा कहा है। आत्मा के सच्चे श्रद्धान बिना, अन्तरङ्ग वेदन बिना अँधश्रद्धा से लोग देह की क्रिया को चारित्र धर्म मान बैठे हैं। श्रीमद् ने उनको क्रियाजड़ कहा है। हेयउपादेयबुद्धिरूप विवेक बिना खुद को मोक्षमार्गी मानता हैं, उसे जबरदस्ती करके कौन समझा सकता है ? जिस भाव से अनन्तबार बाह्यक्रिया करके शुभ परिणाम किये, उस भाव से अकषायी आत्मा के निजगुण संवर, निर्जरा, वीतरागदशा तो कभी नहीं होगी। लोग जिसे (धर्म) मानते हैं, उससे धर्म तो कोई अलौकिक वस्तु ही है; इसे समझने का प्रयास मध्यस्थतापूर्वक करना नहीं और अँधी अर्पणता से, ओघसंज्ञापूर्वक (देखादेखी या परम्परागत) उलटी बात को सत्य मान लेना, यह दृष्टि का विपर्यास है।

मैं चैतन्यस्वरूप का कर्ता हूँ, एक ज्ञानमात्र का कर्ता-भोक्ता हूँ; परद्रव्य, परभाव, पुण्य, पाप, राग, द्वेष का अकर्ता-अभोक्ता हूँ। इसे भूलकर मन, वाणी, देहादि की क्रिया मैं करता हूँ, इसके आधार से धर्म होगा – ऐसा माननेवाले नादान माने बचपना करनेवाले हैं, अज्ञानी हैं।

मन, वाणी, देहादि परमाणुमात्र की, जड़ की क्रिया अरूपी ज्ञाता चैतन्य कर नहीं सकता; आत्मा तीनों काल ज्ञान करता है, अन्य कुछ भी नहीं करता।

सर्वज्ञ वीतराग भगवान को बेहद ज्ञान, अनन्त वीर्य प्रगट होता है, फिर भी एक परमाणु अथवा हाथ भी वे हिला नहीं सकते। अज्ञानी भी जड़ की कोई क्रिया नहीं कर सकता। बृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा - ८ की टीका में स्पष्ट है कि हाथ हिलाने का काम चैतन्य नहीं कर सकता। तब आत्मज्ञान से अनजान अज्ञानी कहते हैं कि हम जड़ की क्रिया करते हैं परन्तु ज्ञान, दर्शन, वीतरागता कि जो आत्मा के गुण हैं, वे हम नहीं कर सकते। जो हो सकता है, उसे करने से इन्कार करता है; अतः खुद का नकार (निषेध) करता है।

लोगों को बाहर से पर का माहात्म्य लगता है। जड़ की क्रिया जो चैतन्य के बस में नहीं है, उसको करने की अज्ञानी अभिमानवश हाँ करता है। ऊपर से कहता है कि कुछ करेंगे तो पायेंगे। उसके समर्थन में **'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष :–**

इस वाक्य का सन्दर्भ देकर बोलते हैं कि बस हम ज्ञान व क्रिया साथ-साथ करते हैं लेकिन चैतन्य की क्या क्रिया है, उसका कुछ पता नहीं फिर भी आग्रह रखे, यह उसकी जड़ता है।

अनन्त भवों तक भटकने का मूल कारण विपरीत मान्यता है। जड़ क्रिया में मोक्षमार्ग मानते हैं, उन्हें क्रियाजड़ कहा है। दूसरा वर्ग शुष्क ज्ञानी का है। स्वच्छन्दपूर्वक बिना विवेक के ही शास्त्रों के शब्दों से धारणा (ज्ञान) में ले लेते हैं कि आत्मा सिद्ध समान है, अकर्ता, अभोक्ता है किन्तु उसका विचार करे नहीं और केवल पण्डिताई की बातें करके खुद में ज्ञीनीपना मानते हैं। पुनश्च, अन्तरङ्ग में वैराग्य, उपशम नहीं; क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहभाव दूर करने का पुरुषार्थ नहीं; अशुभ परिणाम का त्याग नहीं; मान-अपमान, राग-द्वेष की मन्दता नहीं, और आत्मा वीतराग है, ऐसा कहना क्या योग्य है ? ऐसे जीव विषयभोग में लोलुपता व तृष्णापूर्वक रहते हैं, उसे आत्मा, चैतन्यप्रभु की जागृति का प्रेम नहीं है, आदर नहीं है। जहाँ थोड़ा-सा अपमान होवे, निन्दा हो या प्रतिकूलता आ जाए, वहाँ जो समभाव न रखे, उसने आत्मा को जाना नहीं है।

यहाँ दो पहलू लिये हैं : (१) क्रियाजड़, और (२) शुष्कज्ञानी। अब शुष्कज्ञानी का स्वरूप कहा जा रहा है। शुष्कज्ञानी मात्र बातें करें, शास्त्र पठन करें किन्तु आत्मा को इससे क्या लाभ ? आत्मा एक अपेक्षा से शुद्ध है, इसके बजाय एकान्त निश्चय पकड़कर कहे कि आत्मा को कोई राग-द्वेष है नहीं, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि आत्मा सिद्ध समान है। वह ज्ञानी के वचन के साथ व अपने अकषायी आत्मा के साथ अन्याय कर रहा है, इसका उसे पता नहीं है। उदय-उदय करता रहे, प्रारब्ध में जो होगा वह होगा परन्तु आत्मा का क्या होता है – उसकी दरकार तो करता नहीं है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, अशुभ परिणाम में तो टिका हुआ है और माने कि हमारा मोक्ष हो जायेगा और ज़रा-सा अपमान हो, तो हृदय कम्पायमान हो उठता है। लेकिन भाई ! तू तो कहता था कि आत्मा सिद्ध समान है, राग-द्वेष रहित है, तो ऐसा क्यों ? कुछ प्रतिकूलता होवे तो द्वेष-अरुचि, और सुविधा मिले तो राग; कोई खुशामद करे, प्रशंसा करे तो खुश, और निन्दा करे तो द्वेषी; ऐसे में आत्मा मन, वाणी व देह से भिन्न है, ऐसा शुद्धभाव कहाँ आया ?

अत: शुष्कज्ञानी भी भवसागर में डूबेगा। ज्ञानी के अन्तर में कितना वैराग्य होता है, निर्मलता होती है, भोगों के प्रति अनासक्ति होती है, नम्रता और विवेक होता है ! अज्ञानी, मोही जीव अनाचार का सेवन करे और कहे कि मेरा पुरुषार्थ मन्द है, यह चारित्र-मोह का दोष है। ऊपर से उदय का बहाना सामने रख दे कि शास्त्र में ऐसा लिखा है कि चक्रवर्ती राजा को ९६००० स्त्रियाँ थी फिर भी ज्ञानी थे, अनासक्त थे; वैसे मैं भी अनासक्तिपूर्वक पुण्य के उदय को भोग रहा हूँ। इस प्रकार औरों के बहाने आगे रखकर निर्मोहता की आड़ में 'ज्ञानी हूँ' - ऐसा मान ले तो वह अनन्त ज्ञानी की अशातना है। धर्मात्मा को अल्प अस्थिरता हो जाए या राग-द्वेष हो जाए, फिर भी वे अपना वैराग्य बढाते हैं और आत्मनिन्दा करते हैं किन्तु (दोष का) आग्रह नहीं रखते। वे निर्मानी, विवेकी और सन्तोषी होते हैं परन्तु कोई स्वच्छन्द करे, नीति का त्याग करके शास्त्रपठन करे और उसका अभिमान करे, तो वह क्या पायेगा ? कोई शरीर से शास्त्रों का बोझ उठावें तो कोई कण्ठ से और कोई मन द्वारा धारणा कर लें, लेकिन (यदि) उसके मान, रागादिकषाय पतले न होवे तो उसको मुमुक्षुता होना सम्भव नहीं है। उसको संसार की ममता, पुण्य आदि की महिमा है, आग्रहबुद्धि है। विषय-कषायादि की रुचि छोड़े बिना आत्मा पर प्रेम नहीं आता। प्रथम क्रोध, मान, माया, लोभ और ममता-संसार का प्रेम कम करना चाहिए। अन्तरङ्ग में से आसक्ति का भाव कम किये बिना, ममता खतम किये बिना आत्मज्ञान के लायक पात्रता मानना, ये सब पत्थर की नाव जैसे हैं। उन्मार्ग को सन्मार्ग समझनेवाले बहुत लोग हैं। उन लोगों का व्यवहार देखकर ज्ञानी-धर्मात्मा को उन पर दया आती है; तिरस्कार नहीं आता। दोनों प्रकार के अज्ञानी देखकर ज्ञानी को करुणा आती है।

भले कोई श्रीमन्त, पैसेवाला हो परन्तु उसे उन्मार्ग में प्रवर्तन करते हुए देखकर ज्ञानी तो ऐसा कहते हैं कि वह भविष्य का रङ्क-भिखारी है। वर्तमान में वह भिखारी अन्तरङ्ग में सात भय, आठ मद से भरा हुआ है; अत: भविष्य में अनाथ अवस्थायुक्त दीन दिखनेवाला है। जगत के सारे जीव धर्म प्राप्त करें, ऐसी मैत्रीभावना ज्ञानी भाते हैं, जगत के समस्त जीवों के प्रति करुणा रखते हैं, शत्रु-मित्र प्रति समभाव होत्रे हैं।

श्री महावीरप्रभु साढ़े बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते थे। उस वक्त उन्हें ऐसे जीव मिले थे, जिन्होंने उन पर गालियाँ बरसायीं, उपसर्ग किये, फिर भी उनको तो बस क्षमा और क्षमा। सामनेवाले जीव के लिये अनुकम्पा उठती थी कि अरेरे ! इसका क्या होगा ? कहाँ जाकर खड़ा होगा ? कोई विपरीत आचरण करता हो, तो ज्ञानी जानते हैं किन्तु धैर्य रखते हैं, प्रसङ्ग आने पर उपदेश देते हैं। सामनेवाला शान्तिपूर्वक सुनने के लिये आये, तभी उसको हित की बात बताते हैं। जिस प्रकार तेल की कढ़ाई में तेल खौल रहा हो, उसमें समझदार लोग पानी नहीं डालते क्योंकि पानी स्वभाव से शीतल है, फिर भी खौलते हुए तेल में डालने से आग उठती है।उसी प्रकार ज्ञानी सुख-शान्ति के दाता हैं, फिर भी वे दुर्बुद्धि (जीव) के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विवेक करके, उसकी मोहदशा देखकर, उसकी योग्यतानुसार उपदेश देते हैं।

भगवान तीन ज्ञान के अधिपति हैं। जन्म समय व दीक्षा प्रसङ्ग पर इन्द्र महोत्सव रचाने आते हैं, फिर भी उनके प्रति राग नहीं है और घोर उपसर्ग करनेवाले के प्रति द्वेष नहीं है।

प्रश्न – ज्ञानी पापी जीवों को डाँटते नहीं क्या ?

उत्तर – जो अज्ञानी जीव दुष्ट भावों से अपने आत्मा का घात कर रहे हैं, उनको ज्ञानी रोक नहीं सकते क्योंकि वे औंधे गिरने के लिये स्वतन्त्र हैं।

पाण्डवलोग ध्यान में स्थिर थे। तब उनको लोहे के धधकते मुकुट, गहने पहनाये गये। उससे जीव और काया अलग हो गये। फिर भी उपसर्ग करनेवाले के प्रति अल्प द्वेष भी किया नहीं। अपूर्व समाधि प्राप्त करके मोक्ष गये हैं। ज्ञानी की पवित्र ज्ञानदशा बाह्यदृष्टि जीवों को समझ में नहीं आती। ज्ञानी कहते हैं कि जगत के जीव आत्मा की सँभाल न रखकर राग, द्वेष, इच्छा की सँभाल रखते हैं और फिर वे आत्मा की रुचि करने के नाम से और ही कुछ कर रहे हैं। ऐसा देखकर श्रीमद्जी कहते हैं कि **'करुणा उपजे जोई'**। इसलिये कहते हैं कि जिस प्रकार खुले दीपक की ओर पतङ्गे दौड़कर गिरते हैं, उस प्रकार जगत के जीव उन्मार्ग की ओर दौड़ रहे हैं, उन पर दया आती है।

श्रीमद्जी का एक पत्र है कि 'आत्मा की अवहेलना करनेवाले निन्दकों को

उनकी भूल का पश्चाताप करने का अवसर आने देना'। यह बात आज प्रत्यक्ष दिख रही है, आज वे निन्दक उनकी भक्ति करते हैं। त्रिकाल न्यायमार्ग ज्ञानी के हृदय में है।

किस प्रकार से क्रियाजड़ कहाये और किस प्रकार से शुष्कज्ञानी कहाये ? किस प्रकार से झूठी मान्यता और किस विधि से सच्ची मान्यता ? यह अब बतायेंगे।

बाह्य क्रियामां राचता, अंतर्भेद न कांई;
ज्ञानमार्ग निषेधता, तेह क्रियाजड आंई।।४।।

बाह्य क्रिया में मगन हैं, अन्तर भिदा न कोई।
ज्ञान-मार्ग निषेध कर, क्रिया-जड़ वह होई।।४।।

जो मात्र बाह्यक्रिया में ही रचेपचे हैं; कपड़े, वेष, सम्प्रदाय, बाह्यरूढ़िपूर्वक होनेवाली बहिरङ्ग क्रिया, मन के विकल्प आदि में ठीक-अठीक मानते हैं; कोई अपनी मान्यतानुसार व्यवहार से क्रिया करते हो, तो ठीक अन्यथा अठीक। इस प्रकार बाह्यक्रिया जो उदय अनुसार होती हैं, उस पर राग, ममता करते हैं; देहादि की क्रिया को आत्मा की क्रिया मानते हैं अथवा उससे मुझे सुख होगा; पुण्य करेंगे तो सुख पायेंगे अथवा परम्परा से (पुण्य करते-करते) मोक्ष होगा – ऐसा मानते हैं, वे सब क्रियाजड़ हैं क्योंकि मैं त्रिकाल निर्मल, पवित्र पूर्ण ज्ञानमात्र हूँ, अबन्ध हूँ, सिद्ध समान हूँ – ऐसी श्रद्धा के बिना ज्ञातापना भूलकर मिथ्यात्वमोह (का बन्ध) करते हैं। देह की क्रिया जो (स्वयं) हो जाती है, उसे मैं करता हूँ – ऐसा मानते हैं। बाह्य में व्रत-तप को मानते हैं – रोटी नहीं खाना, वह उपवास; स्त्री का सङ्ग नहीं करना, वह ब्रह्मचर्य; स्थूल राग नहीं करना, वह धर्म; जीव न मरे, वह दया; – इस प्रकार बाह्यक्रिया में मग्न हैं। ऐसे लोगों को आत्मज्ञान तो है ही नहीं।

कहीं अन्तर्भेद (जीव-अजीव के भेद का भावभासनरूप भेदज्ञान) यथार्थ दृष्टिसहित शुभपरिणाम करता होवे, तो तो पुण्य भी है। किन्तु आत्मा के भान बिना, सच्ची

श्रद्धा के बिना अन्तर में मान, सुविधा, पुण्य की भावना (मिठास) रखता हो, तो वह आत्मा का घात करनेवाला है; मोहकर्म, मिथ्यात्वकर्म के अनन्त पाप का बन्ध करता है। बाह्य चारित्र अर्थात् वचन, देहादि की क्रिया अधिक होवे या कम होवे, इससे ज्ञानी की परीक्षा नहीं होती।

द्रव्य चारित्रवाला अपने को भले महान समझे किन्तु अन्तरङ्ग समाधि-शान्ति का वेदन नहीं है; इसलिये बाह्यदृष्टि से पाँच महाव्रत, समिति, गुप्ति, तप, शील इत्यादि पुण्यपरिणाम, शुभराग करता है, वह बाह्यक्रिया को आत्मधर्म मानता है। वह धर्म की आड़ में उत्कृष्ट पुण्यपरिणाम की रुचि बढ़ाता हुआ जो क्रिया मन, वचन, काया के योग की होती है, उसे अपनी मानता है। शुभपरिणाम को उपादेय (आदरणीय) मानता है। इस प्रकार कर्मभाव को ही धर्मभाव मानता है; शुभयोग को संवर मानता है; शुभयोगरूप सामायिक, प्रत्याख्यान प्रायश्चित, व्रत आदि कर्मभाव से होनेवाले जो शुभपरिणाम, उस उदयभाव को चारित्र के खाते में डालता है। पुनश्च, देहादि जड़ की क्रिया स्वतन्त्ररूप से जड़ के आधार से होती है, उसका वह स्वामी बनता है, मन-वचन-काया की क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसा मानता है। देहादि की क्रिया को धर्म का साधन मानता है; चेतन का साधन जड़ की अवस्था में मानता है, यही बड़ा अज्ञान है।

लोगों को स्वतन्त्र तत्त्व का विचार करने का धैर्य नहीं है। इस देह में बिराजमान अरूपी, चैतन्य आत्मा की ज्ञानक्रिया और इसके साथ एक क्षेत्र में स्थित आठ कर्म, नोकर्म, मन, वाणी, देहादि की क्रिया एक साथ ज्ञान में जानने में आती है, उसे मोही जीव अपनी क्रिया, अपना स्वभाव मानकर भ्रम (भूल) में रहता है। इस भूल का नाम अज्ञान है, संसार है। यह भूल मेरा स्वभाव नहीं है अर्थात् इन शुभाशुभभावों से, कलुषता से अत्यन्त भिन्न मेरा ज्ञानस्वभाव है – ऐसा निर्णय करके शान्त, पवित्र, नित्य, अकषायी, अखण्ड ज्ञायकस्वभाव मेरा है – ऐसा अन्तरङ्ग में, ज्ञान में निर्णय करके, स्व और पर का विवेक धर्मात्मा-ज्ञानी हमेशा करते हैं। अज्ञानी मोही जीव को इस विवेक की (अन्तरङ्ग में) कहीं खुशबू तक नहीं होती है। ज्ञानी को अपने पवित्र, शान्त स्वभाव का लक्ष्य सर्वदा होता ही है। वे यदि गृहस्थवेष में हों तो भी उनको यथार्थ विवेक और अखण्ड स्वभाव का लक्ष्य

व प्रतीति रहती ही है और अगर नग्न, निर्ग्रन्थ मुनि हों, छठे-सातवें गुणस्थानक में प्रवर्तमान हों, स्वरूपस्थिरता भी हो, बाह्य उदय की क्रिया का योग अधिक न दिखता हो तो भी २८ मूलगुण तो होते ही हैं; और यदि किसी मुनि को बाह्यक्रिया का, शुभयोग का उदय ज्यादा दिखे, तो भी वे जानते हैं कि इससे मुझे लाभ नहीं है। उदय की इन क्रियाओं से धर्म नहीं है। उस उदयकर्म का स्वामित्व ज्ञानी को नहीं है; अत: वे बाह्य उदय की क्रियाओं में मग्न नहीं होते। कभी बाह्य अस्थिरता का योग बन जाए तो उसके वे ज्ञाता-साक्षी रहते हैं; उसमें तन्मय नहीं होते, अत: उस उदयकर्म की निर्जरा होती है। ज्ञानी को जब तक विशेषरूप से ज्ञान में लीनतारूप चारित्र में स्थिरता नहीं है, तब तक शुभ परिणाम हुए बिना नहीं रहते। ज्ञानी स्वयं उत्कृष्ट पुरुषार्थ को बढ़ाते हैं। इस बीच शुभ विकल्प हो जाता है, वह मन सम्बन्धित रागभाव है, उसके निमित्त से उत्कृष्ट पुण्य बन्ध सहज हो जाता है, फिर भी उस पुण्य-परिणाम का तथा पुण्य के फल का ज्ञानी को आदर (उपादेयता) नहीं है। जो क्रिया, इच्छा (शुभविकल्प) हो जाते हैं, उस कर्मभाव को ज्ञानी जानते हैं कि इच्छा मेरा स्वभाव नहीं है। 'जो मेरे स्वभाव की जाति नहीं है, उससे मुझे गुण नहीं है।' ऐसा भेदज्ञान का अनोखापन (महिमा) है।

जिसे शुद्ध व अशुद्ध क्या है, त्याग करने योग्य क्या है और ग्रहण करने योग्य क्या है ? - इसकी खबर नहीं है, वह मोही जीव अपने ही आत्मा का नकार (निषेध) करता है। ज्ञाता ज्ञानमात्र है, ऐसे आत्मधर्म का वह विरोध करेगा।

'ज्ञानमार्ग निषेधता' ज्ञानमार्ग जो कि निश्चय मोक्षमार्ग है, उसकी निन्दा करेगा और कहेगा कि आत्मा, आत्मा क्या करते हो ? मात्र आत्मा रटते रहने से कोई मोक्ष हो जायेगा ? अत: अपने को तो क्रिया ही करते रहना चाहिए, ज्ञान की वह माथापच्ची नहीं चाहिए। इस प्रकार 'क्रियाजड़' (जीवों) के उपदेश में अन्तरङ्ग ज्ञानस्वरूप मोक्षमार्ग का विरोध प्रगट दिखेगा अर्थात् सच्चे न्यायमार्ग का विरोध दिखेगा। सच्ची समझ में यानी वीतरागमार्ग में यह बाधारूप है। आत्मा क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता, उसका उसे भान नहीं है। वह कहता है कि कुछ करेंगे तो पायेंगे - **'करणी पार उतरणी;'** अत: अपने को तो शुभ काम करना, वही धर्म है। जो आत्मा की बातें करते हैं, वे सब कोरे बातूनी हैं। क्रिया

किये बिना नहीं चल सकता - ऐसा जो अन्दर में था, वह बाह्य में आया, जिसमें सत् का नकार है। अनन्त ज्ञानी कह गये हैं कि जड़ की क्रिया आत्मा नहीं करता और मन, वाणी, देहादि शुभयोग की क्रिया से आत्मा को कोई लाभ नहीं है। आत्मा पर का कर्ता नहीं है, फिर भी उसे पर का कर्ता कहना – यह मिथ्याज्ञान है, दुष्कर्म है, पाप है।

सच्चे ज्ञानमार्ग का निषेध करनेवाले क्रियाजड़ों का अर्थ बहुत विशाल है।

अधिक क्या कहना ? जिसे सच्चा सुख, सच्चा हित करना हो, उसे तो समझना पड़ेगा कि बाह्यक्रिया तो उदयकर्म का योग है; वह तो सहज हो जाती है। वे परभाव, शुभाशुभभाव करने योग्य हैं, मेरे हैं, मैं करता हूँ, पुण्यादि करने योग्य हैं – ऐसा मानता है। इसका मतलब यह हुआ कि मैं पर से, पुण्यपाप से भिन्न नहीं हूँ। उदय की जो क्रियाएँ हो जाती हैं, उसका यह स्वामी हो जाए और माने कि मैं करता हूँ, इसका मतलब यह हुआ कि जिस प्रकार बैलगाड़ी के नीचे चलनेवाला श्वान (कुत्ता) ऐसा माने कि बैलगाड़ी का भार मैं खींच रहा हूँ; इस प्रकार मोही जीव फालतू में ही परद्रव्य में, परभाव में स्वामित्व का बोझा वहन करके अहङ्कार करता है।

मन, वाणी, देहादि जड़ की क्रिया से पुण्य भी नहीं है और शुभयोग, शुभपरिणाम से स्वधर्म भी नहीं है क्योंकि कर्मभाव से धर्मभाव नहीं होता। जिस भाव से बन्ध होता है, उस भाव से मोक्ष तो नहीं होता परन्तु साधन (मोक्षमार्ग) भी नहीं होता।

अज्ञानी, बाह्य चारित्रवाले को कभी उत्कृष्ट शुभपरिणाम हो जाये तो भी पापानुबन्धी पुण्य बाँधता है और साथ में आत्मा में भूल करने में निमित्त दर्शनमोह यानी मिथ्यात्वमोह कर्म का बन्ध होता है। इसका भान नहीं होने से वह मोही जीव ऐसा मानता है कि मैंने बहुत किया, भला किया और ये शुभपरिणाम करने-जैसे हैं। इस प्रकार बन्धभाव को मोक्ष का साधन मानकर अज्ञानभाव में मिथ्या सन्तोष मानते हैं।

इस प्रकार पूर्व में अनन्त काल से स्वस्वरूप में भूल होती चली आयी है। कोई ऐसा मानेकर नीतिवान बनें, दानपुण्य करें तो गुण खिलेंगे किन्तु अपने स्वरूप का भान किये बिना उसने जो कुछ किया है, वह अज्ञानमात्र किया है। शुभपरिणाम से पुण्यबन्ध होगा परन्तु आत्मा को लाभ नहीं होता। विजातीय (पर) निमित्त से

सजातीय ज्ञानगुण की उज्ज्वलता नहीं होती क्योंकि ऐसा तो पूर्व में अनन्तबार किया है।

इस बारे में श्रीमद्राजचन्द्रजी का काव्य है कि :-

यम, नियम, संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो।

इस काव्य पर बहुत विचार करना।

यहाँ सच्चे ज्ञानमार्ग का खण्डन करनेवाले यानी जिनकी मान्यता, प्ररूपणा व वर्तन सर्वज्ञ वीतराग भगवान के लोकोत्तर मार्ग से विरुद्ध है, ऐसे उपदेशकों की बात है। न्यायवान, पवित्र पुरुषों के उपदेश में विरुद्धता नहीं होती, सच्चाई का विरोध नहीं होता। यहाँ पर जिस न्याय की बात होती है, वह बाह्यदृष्टि जीवों को नहीं जँचती। सही तुलना करनेवाले को इसका निर्णय करना पड़ेगा कि आज तक आत्मा का जैसा स्वरूप माना है, उससे भिन्न तरह का स्वरूप यहाँ कहा जा रहा है। वह आगम, न्याय, युक्ति से तथा स्वानुभव से सिद्ध हो सकता है। जिसे सत् समझना है, उसे पक्षपात, आग्रह छोड़कर यथार्थ न्याय का विचार करके सत् स्वरूप का निर्णय करना पड़ेगा।

बहुत से लोग मानते हैं कि बाह्यक्रिया, व्रत, तप आदि बाह्यचारित्र से धर्म होगा किन्तु आत्मा का धर्म क्या है? – इसका भान नहीं होने से सर्व साधन बन्धनरूप हुए। आत्मा का स्वभाव पुण्यपाप, राग के भेदरहित केवल ज्ञाता है – ज्ञायक है। इसका निषेध करने की दृष्टि रखकर, बाह्यदृष्टि से कहते हैं कि महावीरप्रभु तथा गणधर भी उपवास, व्रत, तप आदि देह की क्रिया करते थे परन्तु वे (अन्तरङ्ग में वास्तव में) क्या करते थे, उसका यथार्थ निर्णय होना चाहिए।

प्रथम तो ज्ञानी भगवन्त का स्वरूप क्या और अन्तरङ्ग ज्ञानक्रिया क्या ? इसकी अज्ञानी को कुछ खबर नहीं है। जो जड़ की क्रिया में जुड़कर अभिमान करता है, उसे सर्वज्ञ वीतराग ने क्या किया, उसका पता कैसे लगे ? राग को मिटाकर वीतरागदशा में स्थिर होने का विकल्प ज्ञानी को आता है। व्रतादि या उपवास का विकल्प आ जाता है, पर उस विकल्प का कर्ता आत्मा नहीं है।

आहार का त्याग करने में, एक आसन पर बैठ जाने में, मन में विकल्प

करने में या वस्त्र में या हड्डियों में धर्म होगा ? देहादि की क्रिया में, पुण्यपरिणाम में धर्म होगा ? नहीं, ज्ञानीपुरुष महापवित्रदशा द्वारा ज्ञानध्यान में लीन रहते हैं। बाह्यक्रिया का शुभयोग सहज होता है। राग कम होने पर राग के बाह्यनिमित्त छूट जाते हैं। बाह्ययोग की क्रिया निमित्तरूप में दिखती है। इस बाह्यक्रिया पर जिसका लक्ष्य है, ऐसे बाह्यदृष्टि जीवों को बाह्यक्रिया का माहात्म्य आता है परन्तु आत्मा क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता ? इसका निर्णय नहीं है। कोई भी जीव (आत्मा) देहादि की क्रिया कर नहीं सकता। जड़-पुद्‌गल का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। राग छूटने पर राग का निमित्त (बाह्यवस्तु) सहज छूट जाता है, त्याग हो जाता है। जड़ की क्रिया अरूपी ज्ञानघन आत्मा नहीं कर सकता। 'त्याग किया' – यह निमित्त के हटने से सम्बन्धित उपचार की व्यवहारभाषा है। देहादि जड़ की क्रिया तो व्यवहारधर्म भी नहीं है।

'मैं पूर्ण ज्ञानघन शुद्ध हूँ' – ऐसा यथार्थ निर्णय, वह निश्चय और पुरुषार्थ की कमजोरीरूप राग को ज्ञानबल के पुरुषार्थ द्वारा हटाना, वह व्यवहार; भेदज्ञान द्वारा पुरुषार्थ करना उसका नाम व्यवहार।

बाह्यदृष्टि जीव आत्मा का व्यवहार देहादि, पुण्यादि जड़ की क्रिया के खाते में डालते हैं क्योंकि पूरी जिन्दगी ऐसी उल्टी बातों की ज़हरीली पुष्टि करते रहे हैं। असत् मान्यता दृढ़ की हो, उसे ऐसा नग्न सत्य सुनने पर नया लगे और उथल-पुथल हो जाये कि अरेरे! हमारा किया हुआ समस्त पुण्य चला जायेगा ? ऐसा खुद को डर लगने से ज्ञानमार्ग की बात का निषेध करते हैं। सच्ची बात समझने की गुञ्जाइश नहीं रखते, ऐसे तत्त्व के द्वेषीजन अपने अकषायी ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ही निषेध कर रहे हैं, स्वभाव की हिंसा कर रहे हैं क्योंकि स्वसत्ता को पराधीन मानते हैं। मैं पुण्यवाला, मैं देह की और राग की क्रियावाला, मुझे इससे धर्म होगा, लाभ होगा, पर के करने से (मेरा कुछ) होता है – ऐसा माननेवाला अपने आत्मा को जड़वत् मान रहा है। आत्मा को पराया करते हैं और जड़ की क्रिया (परभाव, पुण्यपाप, रागादि) को अपना करते हैं। अतः इसमें सच्चे तत्त्व का निषेध हो जाने से ऐसे जीव को सच्चे तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। मैं ही अपना अहित करता हूँ – ऐसा भान अज्ञानी को नहीं है। अपना अज्ञान, वह

कोई बचने के लिये काम आनेवाला बहाना नहीं है।

बाह्यक्रिया में जो रचा-पचा रहता है, वह मोही जीव है। उसने परद्रव्य तथा परभाव से अपना भिन्नत्व जाना नहीं है; अतः वह सच्चे न्यायधर्म का यानी आत्मा का निषेध करता है, अपने स्वरूप पर मिथ्यात्वमोहकर्म का आवरण डालता है। अतः ऐसे जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति दुर्लभ है। **४.**

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २१-९-१९३९

अब, शुष्कज्ञानी के बारे में कहते हैं :-

बंध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणी मांहि,
वर्ते मोहावेशमां, शुष्कज्ञानी ते आंहि।।५।।

बन्ध-मोक्ष है कल्पना, कहते वाणी माहिं।
रहते मोहावश में, जो शुष्क-ज्ञानी कहाहिं।।५।।

शुष्कज्ञानी राग, द्वेष, कषायभाव में टिककर मात्र वचन में ही कहते हैं कि आत्मा तो शुद्ध ही है, बन्ध-मोक्ष नहीं है। इस प्रकार निश्चयवाक्य को मुख्य करके ज्ञान की बातें ही करते हैं। अन्तरङ्ग स्वानुभव बिना, आत्मा की सच्ची प्रतीति हुए बिना (जिस प्रकार) बाजे में (ग्रामोफोन में) रिकार्ड बजता है, उसी प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक चिल्लाते रहते हैं। अन्तर में राग, द्वेष, ममता, संसार की वासनादि भरे पड़े हैं और ज्ञान की बातें करते हैं। वे शुष्कज्ञानी हैं, उन्हें सच्चे तत्त्व का भान नहीं है; अतः वे मिथ्यादृष्टि हैं।

हालाँकि ज्ञानभाव की भावना करते हुए, परमार्थ को समझकर, अन्तरङ्ग सहज

स्वरूप का वेदन करके, राग का भाग गौण रखकर (जो) परमार्थपूर्वक कहे, उसकी बात एक न्याय से सच्ची है क्योंकि धर्मी ज्ञानीपुरुष का वचन पुरुषार्थसहित होता है। वे स्वभाव की दृष्टि से कहते हैं कि आत्मा त्रिकाल शुद्ध द्रव्य है; बन्धमोक्षवाला नहीं है।

अज्ञानी, स्वच्छन्दी को (अपने को) ज्ञानी कहलाने की, मनवाने की मिठास है। वह बातें करके अभिमान करता है और शास्त्रों को साक्षी रखकर कहता है कि आत्मा में बन्ध नहीं है; पुण्य-पाप, राग-द्वेष का कोई भेद नहीं है। इस प्रकार दूसरों पर बात रखकर स्वयं मन में सिर्फ शब्दों को धारण करके रखते हैं और वैसे राग, द्वेष और मोह के आवेग में रहते हैं। मोक्षमार्ग की समुचित पात्रता का एक अंश भी उसने प्राप्त किया नहीं है। जो कोई उदय आये, उसमें वह उतना ही (निमित्त के अनुसार ही) रागी-द्वेषी बनता है और शास्त्र के बहाने से, क्षयोपशम ज्ञान के आधार से ज्ञानीपने की बाते करते हैं किन्तु अन्तर में मोह की, कषाय की कमी नहीं है; अतः वह शुष्कज्ञानी है। ज़रा-सी भी अनुकूलता मिल जाये तो उसका रागी और प्रतिकूलता मिल जाये तो उसका द्वेषी होता है। इस प्रकार मोहावेश में रुका हुआ है और मानता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, साक्षी हूँ; वह खुद अपराधी है। अज्ञान ही पाप है।

आत्मा पूर्ण पवित्र, राग-द्वेष उपाधिरहित है। ऐसे निर्दोष अकषाय आत्मा को हे भाई! तू मानता है, चाहता है तो जरा मान, लोभरूप कषाय या निन्दा का कारण आने पर तुझे अन्तरङ्ग में डङ्क क्यों लगता है ? विषयभोग की सुविधा मिलने पर और सुन्दर, मनपसन्द मिष्टान्न-भोजन की बात सुनने पर अन्दर में मिठास आ जाती है और आहार करते समय लोलुपता भी बहुत दिखती है एवं देहादि (के) प्रति सुविधा की मिठास भी रहती है (रुचि है)। तो ये विपरीत कारण देखते हुए तुझे पवित्र आत्मा की रुचि होने की सम्भावना कहाँ है ?

संसार (के) प्रति मोह है और कहते हैं कि हम आत्मा के जाननेवाले हैं। पुनश्च, आत्मा में राग-द्वेष नहीं है। इस तरह की बातें करके स्वच्छन्दी बनकर अपने साथ ही छल करता है।

लोगों को वास्तविक पुण्यतत्त्व की पहचान नहीं है। अज्ञानभाववश जीव अनन्तबार

देवगति में, स्वर्ग में जाकर आ गया है। इस का कारण मनुष्यभव मिला, तब शुभपरिणाम, पुण्यक्रिया करके मन द्वारा कषायों को इतना मन्द कर दिया कि बाहर की अल्प अस्थिरता भी दिखायी न दें। ऐसे बाह्यचारित्र, व्रतादि पुण्यपरिणाम उत्कृष्ट शुभभाव द्वारा किये। तनिक भी अभिमान होने न दूँ, इस तरह मन मजबूत (मक्कम) करके योग की क्रिया में शुभपरिणाम किये, तब देवलोक का पुण्यबन्ध हुआ। साथ में अज्ञानभाव होने से आत्मा के गुणों का घात करनेवाला अर्थात् स्वरूप के भ्रमण करने में निमित्तरूप मोहनीय कर्म भी बाँधते हैं। इस प्रकार अनादिकाल से बन्धभाव में और मोहभाव में ही आत्मा अपने को भूला है। आत्मा की सच्ची समझ के बिना वास्तविक पुण्य भी नहीं है। अज्ञानी को पापानुबन्धी पुण्यबन्ध होता है जो कि भविष्य में अपने आत्मा का अनादर करने में निमित्त बनेगा, सत् की विराधना करने में सहायक बनेगा। अत: सबसे पहले आत्मा का स्वरूप समझें।

प्रथम तो मुमुक्षु के योग्य लक्षण होने चाहिए। अन्तर में वैराग्य, उपशमभाव बढ़ाओ तो ही सद्गुणों का रहना (टिकना) होगा। सर्व प्रथम तत्त्व समझने की सच्ची रुचि द्वारा मुमुक्षु बनने के योग्य पात्रता बने। (त्रब) तत्त्व व्यवहार से प्रथम सीढ़ी की शुरूआत कही जायेगी।

परन्तु यह जो शुष्कज्ञानी है, वह तो पात्रता की, मुमुक्षुता की बात से भी बहुत दूर है। सच्ची मुमुक्षुतारूप गुण की पात्रता और सरलता के बिना, कदाचित् बुद्धि के बल से बहुत शास्त्र जान ले, उसमें क्या ? इसे आत्मा का सत्साधन प्राप्त किया थोड़े कहेंगे ? नहीं कहेंगे। बुद्धि का क्षयोपशम ज्यादा हो, उससे आत्मज्ञान होने का कोई नियम नहीं है।

कोई जीव एकेन्द्रिय योनि में से सीधा मनुष्ययोनि में आकर जन्म ले और वर्तमान में उसकी बुद्धि का विकास बहुत दिखे, इसका कारण ? उस जीव ने पूर्व में मन्द कषाय, शुभलेश्या के परिणाम किये हैं। बुद्धि का यह ज्यादा क्षयोपशम पूर्व प्रारब्ध की पूँजी है। वह जीव बहुत बड़ा वकील हो, एक घण्टे के हजार रुपये कमा रहा हो, फिर भी उसने कुछ किया नहीं है। उल्टी दृष्टि के कारण मानता रहा कि यह सब मैं कर रहा हूँ, मैंने पुरुषार्थ किया, इसलिये मैं यह सब पढ़ पाया, इसलिये मैंने धन कमाया किन्तु वास्तव में अगर सही दृष्टि से देखा

जाये तो उसने पूर्व का उदय में आया हुआ प्रारब्ध अज्ञानभावपूर्वक जाना है। ज्ञान में विपरीत पुरुषार्थ किया है। किसी जीव ने पूर्वभव में शुभभाव द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म में मन्द रस लिया हो, उससे वर्तमान में ज्ञान का क्षयोपशम ज्यादा दिखे, हजारों पुस्तक पढ़ डाले, बड़ा वकील बन जाये, प्रधानमन्त्री बन जाये, डाक्टरी की विचित्र कला जाने ले फिर भी उसने जड़ की कोई क्रिया की नहीं, नयी खोज की नहीं है; मात्र उस प्रकार का प्रारब्ध होने से वैसा हुआ। मैने इसका ये किया, यह अहङ्कार उसने किया है। इसी प्रकार कोई धर्म -सम्बन्धी शास्त्र पढ़ डाले, मन में धारणाज्ञान रख ले तो भी आत्मधर्म की उसे गन्ध नहीं होती। कोई कहे कि इतनी सारी जानकारी (ज्ञान) उसने पायी तो वह पुरुषार्थ नहीं है ? तो ज्ञानपुरुष ना करते हैं और कहते हैं कि वह पुरुषार्थ नहीं है किन्तु पूर्व की लब्धि का विकास हुआ – इस प्रकार का उसके प्रारब्ध का उदय है।

ऐसे बहुत से जीव होते हैं कि बाहर का विस्तृत ज्ञान उनके पास है और आत्मा के नाम से नौपूर्व का शास्त्रज्ञान भी प्राप्त किया है किन्तु इससे क्या ? वह भी उदयभाव ही है। उसे अज्ञान (कुज्ञान) कहा है। मैं इतने शास्त्र जान लूँ तो ज्ञानी-पण्डित कहलाऊँगा, इस प्रकार लोगों में प्रतिष्ठा पाने के लिये अभ्यास करे तो वह पापबन्ध करता है।

शास्त्राभ्यास द्वारा धारणाज्ञान कर लेना – यह भी सच्चा पुरुषार्थ नहीं है। पुस्तकों, शास्त्रों को जानने की इच्छा से ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है, किन्तु स्वयं एकाग्रतापूर्वक अभ्यास करे तो उसमें शास्त्रादि को निमित्त कहा जाता है। अपनी योग्यतानुसार ज्ञान का जो विकास हुआ, वह तो लब्ध में जो ज्ञान था, वह प्रगट हुआ है।

ऊपर कहा, उस तरह से आत्मा का कार्य क्या ? पुरुषार्थ क्या ? यह समझना पड़ेगा।

जो कोई मुमुक्षु सच्ची समझ के लक्ष्य से, न्याय, विधिसहित शास्त्रों का विनय करता है; विवेकपूर्वक, न्यायपूर्वक गुरुआज्ञा को सन्मुख रखकर, तत्त्व का जिज्ञासु बनकर शास्त्राभ्यास करता है, उसे तो प्रारम्भ से ही लाभ दिखता है क्योंकि स्वयं मुमुक्षुता के लक्षणों को जानकर सच्ची समझ का पुरुषार्थ किस प्रकार करना ? उसकी विधि समझने का जो सच्चा प्रयत्न है, वही करता है।

मुमुक्षु किसे कहें ? जिसे संसार से, अज्ञान से छूटने का अहसास (आसार) अन्दर से आया है कि मेरा अब भवभ्रमण बाकी नहीं है, उसे (सच्चा मुमुक्षु) कहेंगे। जिसने ज्ञानी सत्पुरुष को पहचाना और आत्मा शुद्ध है, यह बात मानी, उसे अब भवभ्रमण होगा, ऐसा भय नहीं होता है। जिसे तत्त्व की सच्ची जिज्ञासा है, संसार का आदर नहीं है, ऐसे मुमुक्षु आत्मा को यह आत्मा निश्चय से त्रिकाल मोक्षस्वरूप शुद्ध ही है – ऐसी प्रथम प्रतीति करनी चाहिए। इस प्रकार के धर्म से मोक्ष है, ऐसे एक न्याय की अन्तर में से (सत्पुरुष के सान्निध्य में रहकर) 'हाँ' आयी, तो वह मोक्ष के लिये पात्र बन जाता है। उसे अन्तरङ्ग में से मोक्षस्वभाव की ऐसी 'हाँ' आती है कि 'मैं एक त्रिकाल शुद्ध, बेहद अखण्ड शान्ति का ज्ञान का पिण्ड हूँ, ज्ञायकमात्र हूँ।' ज्ञानीपुरुष जो कहते हैं, वैसा ही है, इस प्रकार से न्याय की आत्मा में से जिस जीव को सहज 'हाँ' आयी, मन के धारणाज्ञान के सहारे के बिना आत्मा में से सत् का 'हकार' (हाँ) आया, वह सुपात्र जीव भले बहुत सारे शास्त्र न जानता हो, अल्प बुद्धिवाला हो, फिर भी अन्तर में अकषायीभाव की पूर्ण पवित्रता से आत्मा त्रिकाल शुद्ध है। इस पूर्ण शुद्धता के लक्ष्य से राग का भाव टालते-टालते निर्मल होकर पूर्ण शुद्ध हो जाता है।

इस न्याय से किसी को मात्र जानपना ज्यादा हो, इससे कहे कि हम ज्ञानी हैं लेकिन बुद्धिवादियों की यह मान्यता मिथ्या सिद्ध होती है। जिन्हें आत्मस्वभाव का वेदन नहीं है, विषयकषाय में मोहावेश में प्रवर्तमान हैं और शास्त्रों की बातें करते हैं, ऐसे सभी शुष्कज्ञानियों की बुद्धि परमार्थदृष्टि से तो शून्य के बराबर है।

अज्ञानी जो कुछ बोले, उसमें असत्य होता ही है। वह एक गाथा (श्लोक) बोलने में तीन प्रकार के दोषों से बँधता है :

(१) वह ऐसा मानता है कि यह भाषा मेरे द्वारा बोली जा रही है। इसलिये ये जड़ भाषावर्गणा के रजकणों का परिणमन मैंने किया – इस प्रकार के अंहकार, ममत्व का सेवन करके पाप बन्धन करता है।

(२) मैं यह भाषा बोलना चाहूँ, तब बोल सकूँ; नहीं बोलना चाहूँ, तब न बोलूँ। पुनश्च, मैं अच्छा बोल सकता हूँ इत्यादि प्रकार से मानकषाय का सेवन करता है, जिससे पाप बन्धन होता है और उस जड़ वाणी के रजकणों का कर्ता

तथा स्वामी होता है।

(३) इस श्लोक को बोलने से मुझे पुण्यलाभ होगा, इसलिये मैं बोलता हूँ।

इस प्रकार इन तीनों में यह दोष आया कि मैं ज्ञाता नहीं, परन्तु उन शब्दों से सम्बन्धित इच्छा (राग) का व पुण्य का कर्ता हूँ। इसका सार यह है कि जिसे अपने आत्मा के बारे में अभानदशा प्रवर्तमान है, उसके जानने में, विचारने में और वर्तन में भूल (असत्यता) होगी ही। कभी कषाय की मन्दता करे, शास्त्राभ्यास करने के परिणाम करे; उस समय मन, वचन और काया से योग को शास्त्रवाचन, भक्ति इत्यादि में जोड़े और उस तत्सम्बन्धी शुभपरिणाम हो तो पापानुबन्धी पुण्यबन्ध बाँधता है। पुण्यतत्त्व के फल की इच्छा नहीं है, ऐसा भले वह कहता हो लेकिन आत्मज्ञान से अनजान जीव हमेशा असत्य का ही सेवन करते हैं। उसके वचन में भी निम्नलिखित तीन प्रकार के दोषों में से एक दोष रहता ही है :

(१) कारण विपर्यास, (२) स्वरूप विपर्यास, और (३) भेदाभेद विपर्यास।

इसका स्पष्टीकरण :

(१) कारण में भूल। मैं पर का कर्ता हूँ, मैं पर का कारण हूँ, अथवा परद्रव्य मेरा कारण है – इस प्रकार कारण विपर्यास।

(२) स्वरूप में भूल। देहादि की क्रिया में आत्मा की क्रिया मानता हो, देहात्मबुद्धि हो – इस प्रकार स्वरूप विपर्यास होता है।

(३) भेदाभेद विपर्यास। खुद को अपने गुण से भेदरूप मानता हो और पर से, जड़ पुद्गल से खुद को अभेदरूप मानता हो – यह भेदाभेद विपर्यास।

ऐसा जीव ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानता हो या खुद को पर का कर्ता माने, पर से अपने को ज्ञान हुआ माने – इत्यादि प्रकार से अपने स्वरूप को विपरीतरूप से मानता है; अतः वह २x२=४ कहे तो भी उसका गलत है।

इस तरह से तीन प्रकार से दोष कहे हैं। (जो) धर्मात्मा जीव हैं, वे शास्त्रपाठ करते हुए तथा भक्ति करते हुए निर्जरा करते हैं और उनको सहज ही पुण्यबन्ध हो जाता है क्योंकि उनके अभिप्राय में ऊपर कहे हुए दोष नहीं होते हैं।

अज्ञानी मोही जीव स्वयं को ज्ञानी मानते हैं, पर वे राग, द्वेष, विषय-कषाय की रुचि में प्रवर्तमान हैं; अतः उन्हें शुष्कज्ञानी कहा हैं। **५.**

अब, वैराग्य आदि कब सफल कहलायेंगे, उससे सम्बन्धित गाथा कहते हैं :-

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान;
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान।। ६।।

वैराग्यादि सफल हैं, यदि सह आतम-ज्ञान।
अरु वह आतम-ज्ञान की, प्राप्ति हेतु निदान।।६।।

अर्थ – त्याग वैराग्य की सफलता कब ? **'जो सह आतमज्ञान'** अर्थात् साथ में अगर आत्मज्ञान है तो। आत्मा पुण्य-पाप और राग-द्वेष रहित, मन-वाणी-देहादि से भिन्न, निर्दोष, ज्ञातादृष्टा त्रिकाल पूर्ण शुद्ध है - ऐसा यथार्थ भान, श्रद्धा और लक्ष्य करने के लिये प्रथम श्रुतज्ञान द्वारा उसका श्रवण, मनन व अभ्यास करना चाहिए। रागद्वेष, देहादि की ममता का त्याग करने की जिसे भावना है, उसे भेदज्ञान के बल के अनुसार क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, कषाय की वासना का त्याग होने पर बाह्यसंयोगों का त्याग सहज ही हो जाता है। जिसे रागरहित केवल शुद्ध आत्मा चाहिए, उसे रागादि उपाधिभाव में रुचि नहीं होती। पुनश्च, उसे त्याग, वैराग्य होता ही है, पर उस त्याग, वैराग्य की सफलता के लिये प्रथम ऐसा अभिप्राय होना चाहिए कि मैं नित्य अकषायी शुद्ध आत्मा हूँ, मेरे में परवस्तु का ग्रहणत्याग नहीं है। अरूपी ज्ञानमात्र हूँ, देहादि तथा अन्य बाह्य जड पदार्थों से पर हूँ, अक्रिय हूँ; ज्ञान ही मेरा कर्म है। (जिसे) ऐसे अविरुद्ध न्यायमार्ग की विधि समझने का अभ्यास होवे, उसे बाह्य त्याग, वैराग्य होता है और कषाय में कमी होती है, सत्समागम तथा वीतराग-धर्म की रुचि होती है और ज्ञानी सत्पुरुषों के वचनों का बहुमान होता है। हित क्या और अहित क्या? उसकी तुलना का विवेक हो तो सच्चा तत्त्व जो अनन्तकाल में पूर्व में नहीं समझ में आया है, वह समझ में आता है और जो अन्तरङ्ग त्याग, वैराग्य द्वारा रागद्वेष की कमी आत्मज्ञान हेतु करे, उसे वह साधन सफल है। रागद्वेष, कषाय से स्वगुण का घात न होने देना, यह निजस्वरूप

की अन्तरङ्ग दया और यही अपने ज्ञान की क्रिया है। तीव्र कषायों को टालकर अकषायी होने के लक्ष्य से मन्द कषाय करे और ज्ञानक्रिया से मोक्ष है, ऐसा अगर लक्ष्य हो तो ऐसा मन्द कषाय प्रारम्भ से निमित्त साधन है। अल्प भी रागद्वेष मेरे स्वभाव में नहीं है और मेरे (व्यवहार) वर्तन में दिखते हैं, यह मेरी भूल का कारण है। ऐसा विवेक जिसे है, उसे ज्ञानक्रिया सफल है। कषाय मिटाने के लिये अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन का ग्रहण व मिथ्यात्व का त्याग ही प्रथम उपाय है। रागद्वेष मिटाने के लिये आत्मा का ज्ञानवीर्य (बल) काम करता है लेकिन बाह्य देहादि की क्रिया काम नहीं कर सकती।

जड़ की क्रिया से चैतन्य को लाभ नहीं होता और जड़ की क्रिया तीन काल में कोई भी जीव कर नहीं सकता – यह बात सर्व प्रथम ही समझनी चाहिए।

'पात्रे प्रभुता प्रगटे' – इस प्रकार प्रथम सच्ची मुमुक्षुता चाहिए। जो जमीन क्षारयुक्त होती है, उसमें अन्न नहीं उगता, फिर भी उस जमीन को अच्छी बनाने की विधि होती है। रागद्वेष, ममत्व कम करने तथा देहादि (के) प्रति आसक्ति छोड़नी चाहिए। त्याग व वैराग्य द्वारा प्रथम क्षेत्रविशुद्धि करनी चाहिए किन्तु इतनी बात से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। मुमुक्षु में शास्त्राभ्यास के लिये प्रेम, विनय, विवेक सत्समागम के प्रति रुचि, शम, संवेग, वैराग्य आदि गुण होने चाहिए। यह आत्मज्ञान पाने की प्रथम भूमिका है।

मुमुक्षु अनुकूलता में राग व प्रतिकूलता में द्वेष नहीं होने देता। भूल से हो जाए, तो तुरन्त अन्तरङ्ग में समभाव टिकाने का प्रयास करे, तत्त्व की रुचि बढ़ाये तो सद्गुरु का उपदेश, सद्बोध अपने आत्मा में परिणमित हो। जिस प्रकार अपात्र अर्थात् क्षारयुक्त जमीन में बीज जल जाता है, उस प्रकार आत्मा में मिथ्या अभिप्राय, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लाभ और देहादि की तीव्र आसक्ति रहे तो मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं हो सकता। पुनश्च, जिसे वैराग्य नहीं है, उसे 'आत्मा अनादि अनन्त है, शुद्ध है, असङ्ग है, स्वाधीन है' – इस प्रकार के न्याय की समझ व श्रद्धा है नहीं; उसे तत्त्व की रुचि भी नहीं है। जिसने पाँच इन्द्रियों के विषयों की ममता, लोलुपता कम नहीं की है और जो सुविधा में ज़रा-सी बाधा उत्पन्न हो, अपमान हो, राग का निमित्त मिले, इस तरह के निमित्तों में पूरा बिक जाता है, उसे पवित्र

आत्मा कैसे समझ में आयेगा ?

मोही जीव को आत्मज्ञान की रुचि होती ही नहीं है। आत्मज्ञान बिना मन के धारणाज्ञान से बहुत सारे शास्त्रों की जानकारी कर ले तो भी वह ज्यादा जानपना ज्यादा उपाधिरूप है, अशान्ति का कारण है।

उज्ज्वल अन्तःकरण बिना, अन्तरङ्ग मानादि कषाय पतले किये बिना, ज्ञानी का और ज्ञानी के वचनों का बहुमान नहीं आता, सत् का आदर नहीं रहता। जहाँ आत्मज्ञान की रुचि नहीं है, वहाँ संसार की ही रुचि होती है।

सच्ची मुमुक्षुता के बिना, चित्त की उज्ज्वलता के बिना, सर्वज्ञ वीतराग के वचन और सच्चा परमार्थ समझ में नहीं आता। सच्ची समझ हेतु, सच्ची समझ होने के निमित्तरूप जो अन्तर में रागादि कषाय का त्याग, वैराग्य, उपशम, विनय, वीतराग-भक्ति, सरलता, विवेक इत्यादि साधन हैं, उतने शुभविकल्प तक आकर रुक जाए तो आत्मार्थ चुक जायेगा। शुभपरिणाम बहुत किये – ऐसा मानकर सन्तोष करे कि मैंने बहुत किया, तो यह ठीक नहीं है। आत्मा के लक्ष्य बिना, प्रतीति बिना, उसने आत्मा को हदवाला, पर की अपेक्षावाला माना, इसलिये उसका पुरुषार्थ उल्टा है। सच्ची पहचान बिना कभी बाह्यत्याग करे और माने कि मैंने त्याग किया, पाँच महाव्रत के शुभपरिणामरूप पुण्यक्रिया द्वारा अपनी इन्द्रियों को जीत लिया – इस प्रकार इस जड़ की क्रिया से अथवा पुण्यपरिणाम से लाभ माने तो भले माने, पर उसका आत्मा सम्बन्धित कोई फल नहीं है।

कायिकक्रिया – रोटी नहीं खाना, काया का उत्सर्ग, कायिक ब्रह्मचर्यपालन– इतने मात्र से कोई धर्म नहीं हो जाता। मन-वाणी-देह ये आत्मा नहीं हैं। देहादि की क्रिया से अगर आत्मा का धर्म होता हो, संवर-निर्जरा होते हो तो वनस्पति आदि को भी धर्म होगा। मुक्तिशिला का पत्थर एकेन्द्रिय जीव है, वह कुछ हिंसादि करता हुआ नहीं दिखता, फिर भी उसे अनन्त कषाय, तीव्र खराब लेश्या है। लोगों का बाहर का माहात्म्य दिखता है, जैसे कि आत्मा में कुछ माल (शक्ति) ही नहीं है। पूरी जिन्दगी देहादि की योग की क्रियाओं में रचेपचे रहनेवालों ने सामायिक, उपवास, व्रत, तप कर-करके पींछीयाँ घिस डाली, कितने आसन फाड़ डाले, फिर भी 'मैं कौन ? मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता ?' – इसका

भान नहीं है और दो-चार घड़ी काया को एक स्थान पर रोक रखे – उसे सामायिक माने, संवर-निर्जरा माने – ऐसी योगक्रिया से आत्मधर्म तो बहुत दूर रहा किन्तु पुण्यपरिणाम भी नहीं है। हाँ, शुभराग होवे तो पुण्यबन्ध होता है परन्तु वह आत्मज्ञान प्राप्ति का हेतु (कारण) नहीं है।

जिसे पर की क्रिया का ममत्व रहता है, मेरी पर में चलती है – ऐसा जो मानता है और मानादि कषाय में जो प्रवर्तता है, उसे तो मुमुक्षु की निम्न भूमिका भी नहीं है। सच्चे अभिप्राय (आत्मज्ञान) बिना अनन्तकाल से संसार में भटकना हुआ, त्याग-वैराग्य मन में धारण कर रखा, मान-अपमान (के) प्रति बाह्य समभाव भी बहुत रखा, कषाय नहीं करने का भाव भी मन से रखा – इससे पुण्यपरिणाम हुए किन्तु भवमुक्ति नहीं हुई क्योंकि शुभकर्तव्य मेरा है – ऐसा माना; इसलिये परभाव का कर्ता होकर उसमें रुक गया, अटक गया। पहले वह पाप में टिका हुआ था, अब वर्तमान शुभपरिणाम में टिक गया। आत्मा के लक्ष्य बिना, प्रतीति बिना पापानुबन्धी पुण्यबन्ध होता है। ऐसे पुण्यबन्ध करने की कथा तो जीव ने अनन्तबार सुनी है। यहाँ मोक्षकथा हो रही है, यानी पुण्यपापरूप संसार का (अज्ञान का) नाश करने की कथा है।

लोगों ने आसान बात में धर्म मान रखा है। संसार के प्रति द्वेष करना, तिरस्कार करना – उसको वैराग्य मानते हैं। आत्मा शुद्ध है, ऐसा जीव मन में धारण करके रखता है किन्तु आत्मा की प्रतीति नहीं है, लक्ष्य नहीं है और लोगों से कहे, 'मैं हर रोज व्रतपालन करता हूँ, सामायिक करता हूँ, रात्रि में हमेशा चउव्विहार, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, एकासनव्रत इत्यादि क्रियाएँ करता हूँ, पाखी के दिन उपवास तो कितने सालों से करता हूँ' – इस प्रकार देहादि जड़ की क्रिया से खुद सन्तोष मानता है, परन्तु वचन की, देह की क्रिया आत्मा कर नहीं सकता – इसका भान नहीं है; अतः उसे अज्ञानपूर्वक की हुई क्रिया का मिथ्या सन्तोष वर्तता है। उसे समझानेवाले उपदेशक भी उसी के जैसे मिल जाते हैं। ऐसे मोही जीवों को सच्चा सन्तोष व विश्वास तो होता नहीं है; अतः दूसरों से पूछते रहते हैं। खुद को जो सही लगा, उसी की पुष्टि माँगते फिरते हैं। इसके अनुकूल (नामधारी) मुनि के पास प्रमाणपत्र माँगते हैं। मिथ्यात्व की पुष्टि करनेवाले उसके अज्ञानभाव

का पोषण करते हैं, इससे परस्पर सन्तुष्टि अनुभव करते हैं। जो वास्तविक सत्य होता है, वह दूसरे के हकार, सहमति पर आधार नहीं रखता। मोही जीवों को जो अनुकूल होता है, उसकी वे परस्पर प्रशंसा करते हैं। मक्खन लगानेवाले कहें कि अहो ! तुमने बहुत किया, तुम बड़े धर्म करनेवाले हो। इस प्रकार बन्धभावरूप पुण्यपरिणाम में अपना हित मानते हैं लेकिन आत्मा क्या है, कैसा है, कितना बड़ा है, और क्या कर सकता है, क्या नहीं कर सकता ? – इसका भान नहीं है। धर्म व धर्मी होने के नाम से व्यर्थ अभिमान करते हैं। अज्ञानपूर्वक पुण्यबन्ध के भाव से प्रसन्न होनेवालों को इस जड़ की सूजनों का रिश्ता कब तक ? ये तो चैतन्य भगवान के ऊपर निकले हुए फोड़े हैं। नीरोगी, पवित्र आत्मा को पुण्यरूप अनित्य, विकारीप्रकृति की सूजन क्या ? ये सूजन अन्दर की तरफ फूटेगी, रोगरूप बनकर अन्दर उतरेगी, तब अन्दर लपटें (आग) महसूस होगी। बाहर की अनुकूलता में वह मोही मिथ्या सन्तोष में मन को प्रसन्न रखकर, पुण्यादि क्रिया से धर्म मानता रहा है किन्तु आत्मा में (अन्दर में) तो भय, शङ्का, अशान्ति चल रहे हैं। जब मृत्यु का प्रसङ्ग आयेगा, तब शङ्का, भय और आर्त-रौद्र ध्यान करेगा, पछतावा करेगा कि भव गँवा दिया। अब कहाँ जाके अगला जनम लेगा ? मरकर कहाँ जायेंगे ? कल क्या होगा ? इस प्रकार सात भय व आठ प्रकार के मद से घिरा हुआ, मेरा क्या होगा ? इसकी उलझन में भावमरण करता है।

आयुष्य के अन्त समय में भी कोई जीव भूल को समझे, सत् का आदर करे, सच्चा प्रायश्चित करे और समझ की रुचि करे तो इष्ट है। मैंने आज तक जैसा माना है, उससे आत्मा का धर्म कुछ अलग ही है, अपूर्व है – ऐसा विचार करे व मताग्रह, पूर्वाग्रह छोड़े तो भी उत्तम है, हित का कारण है।

अनादिकाल से मोहीजीव धर्म के नाम से अपना अहित कर रहे हैं। जिसे अधर्म में धर्मबुद्धि है, उसके लिये सर्वज्ञ वीतरागी भगवन्तों ने निष्कारण करुणापूर्वक सदुपदेश दिया है। यह जानकर ही श्रीमद्राजचन्द्रजी कहते हैं कि जिसके लक्ष्य से, जिसकी भावना भाने से राग-द्वेष-ममता टले – ऐसी ज्ञानक्रिया का प्रथम अन्तर त्यागवैराग्य द्वारा अवगाहन करो किन्तु मात्र त्याग-वैराग्य से आत्मज्ञान नहीं हो जाता। केवल त्याग-वैराग्य में रुक मत जाओ।

अकषायीस्वरूप को अकषायीदृष्टि द्वारा समझो, समझने के लिये आगे आओ, यथार्थ पात्रता प्राप्त करो।

आत्मा शुद्ध है, अविकारी है – इसके लक्ष्य से ज्ञानवीर्य (पुरुषार्थ) स्फुरित होने से राग, द्वेष, मोह चले जाते हैं।

मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, शुद्ध हूँ – ऐसा निश्चय और अंश-अंश में आत्मस्थिरता, वह उसका व्यवहार – यह ज्ञान की क्रिया का पुरुषार्थ है; अत: देह तथा पुण्यादि क्रिया के ममत्व का त्याग करके शुद्धआत्मा को शुद्धपरिणति द्वारा ग्रहण करो। ऐसा जो अनन्त ज्ञानी भगवन्त निस्पृह करुणापूर्वक कह गये हैं, उसका इन्कार मत करना, सत् का अनादर मत करना।

सत्पुरुषों के कहे हुए भाववचनों को समझो। मिथ्या अभिप्राय का त्याग करके समझो। मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप, राग, द्वेष से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा को भूलकर लोग बाह्यक्रिया से या शुभपरिणाम – पुण्यपरिणाम से धर्म मानते हैं परन्तु वास्तव में उसमें आत्मा का धर्म नहीं है। तीव्रकषाय होवे, तब तो शुभभाव भी नहीं है।

ज्ञानीपुरुष ऐसा कहते हैं कि शुभभाव की क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है तो फिर अशुभभाव से मानादि कषाय की पुष्टि करनेवाले तो मोक्षमार्ग के समीप भी कैसे होवें ?

जीव मानते हैं कि हम धर्म कर रहे हैं परन्तु मानादिकषाय, राग, द्वेष इत्यादि अनेक प्रकार से अनाचार का सेवन करते हैं और अपने आपको ठगते हैं। कषाय को कम किये बिना पुण्य नहीं है लेकिन पाप है। देह की क्रिया से पुण्य नहीं है, शुभपरिणाम भी नहीं है तो फिर आत्मधर्म तो कहाँ से होवे ? हो ही नहीं सकता।

ज्ञानी का विरोध करनेवाले जीव प्रत्येक काल में होते हैं। बाह्यदृष्टिजीव आसान (क्रियाओं) में धर्म बता देते हैं। श्रीमद्राजचन्द्रजी – जैसे पवित्र आत्मा इस लोक में थे, तब उनकी निन्दा करनेवाले भी थे और कहते थे कि हम जो मान रहे हैं, इससे नया (अलग) कहनेवाला यह कौन जाग उठा है ? महावीर भगवान ने चारित्रक्रिया की स्थापना की है, उसे धर्म मानने से ये इन्कार क्यों कर रहे हैं ? परन्तु सत्य क्या है ? उसका न्यायपूर्वक, मध्यस्थतापूर्वक विचार करने का धैर्य रखे,

तब समझ में आये कि भगवान कौन थे और कौनसी क्रिया करते थे?

इस अपूर्वतत्त्व का विचार करने के लिये प्रथम तो पात्रता चाहिए, पहले तो इसके मूल में – (शुरूआत में) ही गड़बड़ी है।

जब तक आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक मोहीजीव अनन्त ज्ञानियों की अशातना करता है, निश्चय से तो वह खुद के आत्मा की अनन्ती अशातना है।

ज्ञानी की निन्दा करे, ज्ञान की व ज्ञानी की अशातना करे, वह जीव महामोहनीयकर्म का बन्धन करता है। अनजाने में कोई व्यक्ति भूल करे तो भी अज्ञान कोई बचने का बहाना नहीं है।

सच्चाहित कौन समझाये ? अज्ञान, मोहरूप अन्धकार का नाश करने की बात, मोक्षमार्ग की बात कौन सुनाये ? सत्यमोक्षमार्ग के उपदेशक ही सच्चेहित की बात कर सकते हैं। माता का मजाक नहीं किया जाता, उसी प्रकार सच्चे मोक्षमार्ग के उपदेष्टा का अनादर नहीं करना चाहिए। लोग आत्मधर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड में दम्भ, मिथ्याआग्रह और अज्ञानवश कष्ट कर रहे हैं। इसका वर्णन करने बैठें तो पार न आये – इतना है। तीनों काल में ज्ञानी पुकार-पुकारकर कहते हैं कि **'ज्ञानक्रिया ही मोक्षमार्ग है'** आत्मा में मोक्ष है और मोक्ष का साधन आत्मा में है। बीच में उदयवश बाह्यक्रिया दिखे, ऐसे योगानुयोग से दैहिकक्रिया का निमित्त देखकर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि इस क्रिया से धर्म होता है। ऐसे मिथ्याआग्रह में बन्ध गये, सम्प्रदाय के पक्षगच्छमत के आग्रह बढ़ गये और धर्म के नाम से धर्म का अजीर्ण होने लगा। अजीर्ण (बदहजमी) सम्बन्धित एक चौभङ्गी कही है :-

१. ज्ञान का अजीर्ण = गर्व, तिरस्कार, दूसरे का अनादर करना।

२. आहार का अजीर्ण = पेट में दर्द होना।

३. तपस्या का अजीर्ण = क्रोध धधक उठना, कलुषता।

४. क्रियाकाण्ड का अजीर्ण = खुद की मानी हुई क्रिया दूसरा न करे तो उसकी निन्दा करे। मैं कुछ करता हूँ, मैं दूसरों से अच्छा हूँ और जिसकी बाहर की क्रिया दिखती नहीं है, उसे अपने से नीचा माने – इस तरह खुद को महान समझे व दूसरे को तुच्छ मानता है।

ऐसे अज्ञानभाव से आत्मा को बचाओ – ऐसा अनन्तज्ञानी निःस्पृह करुणापूर्वक पुकार करके जगत से कहते हैं। उनके अमूल्यवचनों की कौन कद्र करेगा? परीक्षकशक्ति बिना, खुद की पात्रता के बिना यथार्थ समझ कहाँ से हो ? अतः यथार्थ समझ करो।

कहने का आशय यह है कि अन्तरङ्ग में क्रोध, मान, माया, लोभ की कमी तथा त्याग, वैराग्य, वासना की कमी इत्यादि शुभपरिणाम होते हुए भी आत्मज्ञान के बिना वह वृथा है, बोझारूप है। आत्मज्ञान हो या आत्मज्ञान की प्राप्ति का पुरुषार्थ हो तो अन्तरङ्ग त्याग, वैराग्यादि का सार्थकपना है। कषायादि ममता तथा देहादि की आसक्ति के त्याग बिना, मात्र देहादि की क्रिया, तपश्चर्या, उपवास आदि क्रिया से तो पुण्य भी नहीं है। राग, द्वेष, मान, माया, लोभ व तृष्णा की कमी, सच्ची बात समझने की तीव्र जिज्ञासा, सरलता - ये गुण आत्मज्ञान की प्राप्ति में निमित्त बनते हैं।

जगत में दो प्रकार के उन्मादी जीव हैं : (१) भूत-व्यन्तरादि द्वारा पकड़े हुए, और (२) मोहनीयकर्म द्वारा प्रेरित। मोहभाव में पागल हुए लोग धर्म के नाम से बहुत क्रियाकाण्ड करें, कायाक्लेश, व्रत, तप, ब्रह्मचर्य इत्यादि जड़ क्रिया का अभिमान करें किन्तु वह अँधी दौड़ है, पागलपन है। बाह्यसाधनों द्वारा ज्ञान होता नहीं है; अतः वह विपरीत (उल्टा) पुरुषार्थ है। भूत-प्रेत के कारण पागलपन का योग तो प्रकृति के निमित्त की उपाधि है। वह पुण्य के उदय से टल जाती है, पर जो मोहभाव में मस्त, शराब पीये हुए के समान है, उसे आत्मा कैसा है, कितना बड़ा है, क्या कर सकता है ? – उसका भान नहीं है; वह अशान्ति के कारण दुःखी है। वे अपने आत्मा की अनन्ती अशातना, भावहिंसा कर रहे हैं। इस मोहभाव का त्याग होना बहुत मुश्किल है। देहादि जड़ की क्रिया मेरे करने से होती है, पुण्य मेरे हैं, पुण्यादि से धर्म होता है इत्यादि अनेक प्रकार की उल्टी मान्यताएँ होती हैं। ऐसे बाह्यदृष्टि मोहीजीवों का उन्माद खत्म होना बड़ा मुश्किल है क्योंकि उसकी उल्टी मान्यता को अन्य कोई भी जबरदस्ती छुड़ाने को समर्थ नहीं है। भूताविष्टपना तो किसी मन्त्रादि द्वारा या पुण्य के योग से टल जाता है किन्तु यह मोह से पागल हुआ, उलटा पड़ा हुआ भी स्वाधीन है क्योंकि कोई उसे जबरन

समझा नहीं सकता। जिसे परमार्थपूर्वक हित-अहित की परीक्षा नहीं है, कषाय व अकषाय का, ज्ञान व अज्ञान का विवेक नहीं है, ऐसे मोहीजीवों को कोई समर्थ ज्ञानी भी समझा नहीं सकते। इसीलिये भगवान ने कहा है कि अज्ञान के समान कोई महापाप नहीं है। मोहनीय से पागल हुए जीवों का वेदन बहुत भारी है, अनन्त दु:ख का कारण है। इस प्रकार क्रियाकाण्ड में रचे-पचे रहनेवाले जीवों से कहा कि अज्ञानपूर्वक किये गये बाह्य क्रियाकाण्डों से धर्म तो नहीं है लेकिन अगर राग, द्वेष, ममता, आसक्ति, क्रोध, मान, माया, लोभ, कम नहीं किये हैं तो उसे इस क्रियाकाण्ड के निमित्त से पुण्यबन्ध भी नहीं है; फोकट का कायाक्लेश है।

यहाँ शुष्कज्ञानी से कहा कि तुझे आत्मा की पवित्रदशा की चाहत है, फिर भी राग, द्वेष, मोह की कमी तो करता नहीं है; तृष्णा, ममता कम किये बिना मात्र बातें करनेवाला तू है, सच्चेन्याय को समझा नहीं है, आत्मज्ञान के नाम से, बातों से और मन के विकल्पों से सन्तुष्ट होकर स्वच्छन्द में रुक गया है; इसलिये भवसागर में डूबेगा। जिसे सच्चा हित करना है, उसे तो प्रारम्भ में ही मुमुक्षुता प्राप्त करनी चाहिए। स्वच्छन्द एवं मानादि का त्याग करके सच्चे अभिप्राय हेतु कषाय पतले करने चाहिए। निन्दा, स्तुति, शाता, अशाता – प्रत्येक प्रसङ्ग में समभाव रखने का पुरुषार्थ होना चाहिए। इस प्रकार की प्रथम योग्यता के बिना सच्चे सुख की गन्ध भी नहीं आ सकती। कारण के बिना कार्य कहाँ से प्रगट हो ? पात्रता के बिना प्रभुता प्रगट नहीं होती। वर्तमान पात्रता दिख नहीं रही तो आत्मज्ञान कहाँ से प्रगट होगा ? इसका कुछ आत्मा में (अन्तर में) विचार करो। आंशिकरूप में ही सही परन्तु पवित्रता तो अपने में लाओ। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने उत्तम वचन कहे हैं, समझ में उतारने की गरज किसे है ? शुद्ध अन्त:करण के बिना ज्ञानी के वचन हृदय में कैसे उतर पायेंगे ?

संसार के प्रति अत्यन्त उदासीनता व ज्ञानी के प्रति बहुमान चाहिए। आत्मा निर्मल रागरहित है। उसका प्रेम माने, दूसरी तरह से (कहें तो) संसार का प्रेम नहीं। देहादि की ममता का अभाव करने हेतु, देहाध्यास टालने का खास प्रयत्न चाहिए। संसार के विषयभोगों की अनिच्छा, उदासीनता, अन्तर वैराग्य प्रथम चाहिए। जिस आत्मा में समभाव नहीं है, वह ज़रा-सा भी कुछ सहन नहीं कर सकता।

असुविधा सही न जाए और अपने को ज्ञानी मानता है तो आत्मा का स्वभाव पवित्र ज्ञातादृष्टारूप है, ऐसी तेरी श्रद्धा झूठी है। सच्ची श्रद्धा के बिना तो स्वच्छन्द व अनाचार की ही पुष्टि होती है। इस प्रकार जगत के जीवों को स्वच्छन्द का पोषण बहुत हुआ है, इसलिये परद्रव्य व परभाव से भिन्न ममता व रागरहित तथा पवित्र सुखमय ज्ञानघन आत्मा है, उसमें रहना रुचता नहीं है क्योंकि स्वयं को तो पर में सुखबुद्धि है, इसलिये खुद का आत्मा ही खुद को जँचता (रुचता) नहीं है। बाह्यविषयों में, पराधीनता में, उपाधि में व्यर्थ झपट्टे मारना, उसमें से सन्तोष चाहता है। पुनश्च, मन में धारणा में सोचता रहे कि आत्मा शुद्ध है, आत्मा को कुछ लेना-देना नहीं है। जो कुछ है, वह देह को है। किन्तु अरे भाई ! देह को ज़रा-सी भी असुविधा लगे, अपमान होवे, नापसन्द घटना घटे – ऐसे में तेरा आत्मा तीव्र कषाय में जुड़कर खौल उठता है, इसे क्या कहेंगे ? राग-द्वेष वाले भावो में पूरा आत्मा बिक जाए, इसका भान नहीं है तो आत्मा पर से भिन्न, अविनाशी, अरागी है – यह न्याय तुझे कैसे बैठेगा ? (कैसे अन्दर उतरेगा ?) संसार के प्रति उदासीनता व वैराग्य के बिना देहादि की ममता कैसे कम होगी ? इस प्रकार शुष्कज्ञानी, क्रियाजड़ व लौकिकनीति का पालन करनेवाले – तीनों आत्मा के नाम से उन्मार्ग पर जा रहे हैं; अतः वे अँधी दौड़ लगा रहे हैं।

'पुण्य, पाप, देहादि की क्रिया से रहित पवित्र आनन्दमय हूँ, ज्ञातादृष्टा हूँ' - ऐसी सच्ची श्रद्धा और अनुभूति तथा अन्तरङ्ग स्वाधीनसुख का वेदन होने के लिये प्रथम तत्त्वविचार द्वारा विषयकषाय की रुचि का त्याग करना चाहिए और सच्ची जिज्ञासापूर्वक तत्त्व का अभ्यास सत्समागम द्वारा करना चाहिए। बहुत से जीव बाह्य क्रियारूप चारित्र व लौकिक नीति का पालन करनेवाले होते हैं, शुभपरिणामरूप समभाव रखनेवाले होते हैं, इसमें कहीं अध्यात्मशास्त्र पढ़ने मिल जाये तो बस ! हमें ज्ञान, सच्ची समझ है – ऐसा मानकर स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवर्तन करते हैं, वे भी परमार्थरहित हैं। आत्मज्ञान होने के बाद तो नीति, शील आदि गुण सहजरूप वृद्धिमान होते जाते हैं। आत्मज्ञान होने से पूर्व बाह्यचारित्र आदि गुण होवें तो आत्मज्ञान होने के पश्चात तो वे गुण सद्गुण के रूप में दृढ़ होने चाहिए। अतः ज्ञानीपुरुष स्वच्छन्दी जीवों को कहते हैं कि तुम आत्मज्ञान प्राप्त हो – ऐसा मानते हो और अशुभआचरण

को उदय-उदय कहते हो किन्तु तुम्हारे अन्तर में क्रोध, मान, कामना इत्यादि की अग्नि जल रही है, फिर तू आत्मज्ञानी किस बात का ? तू तीन काल के भोगों का इच्छुक है, इन्द्रिय के विषय व सुन्दर रूपवती स्त्री को देखकर तेरी दृष्टि मोह में डूब जाती है, इन्द्रिय के भोग के निमित्तों को देखकर अन्दर में गुदगुदी होती है, मिठास का अनुभव होता है, वहाँ आत्मज्ञान कहाँ से हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। जो तीनों काल में भोग की तथा स्वर्ग के इन्द्रादि के पुण्य की इच्छा नहीं करता, सबसे ममत्वरहित है, ऐसे मुमुक्षु धर्मात्मा ज्ञानी (गृहस्थ हो अथवा मुनि हो) साधकदशा में हो, तब तक चारित्र मोहवश उनकी अल्प अस्थिरता दिखती है परन्तु मन सम्बन्धित जो कोई विकल्प की वृत्ति उठती है, उसका उसे आदर नहीं है। पुनश्च, संसार के प्रति उसे तीव्र वैराग्य, उदासीनता रहती है। 'मैं अनन्त शान्तिमय ज्ञायक हूँ,' – ऐसी मान्यतापूर्वक अपने निर्दोष (सहज) आनन्द की मस्ती (स्वस्वरूपरमणता) का निरन्तर अनुभव करता रहता है। अत: उसे विकारी प्रलोभनों की निमित्तरूप इन्द्राणियाँ, रूपसुन्दरियाँ लुभाऐं तो भी उसके अन्तर में त्रिकाल क्षोभ न हो – ऐसे सहज आनन्द का सन्तोष उसे अपने में होता है। बाहर से संसारीवेश में गृहस्थरूप से रहना पड़ता हो, फिर भी सांसारिक प्रसङ्गों को ज़हर समान मानते हैं। फोड़े निकले हों, उसकी दवाई जबरदस्ती करे; उस प्रकार आहारपान, गृहवास इत्यादि प्रसङ्गों में वह उदासीनतापूर्वक रहता है।

पहले जो शुष्कज्ञानी व क्रियाजड़ कहें, उनकी स्वच्छन्दता बहुत है। मन्दकषाय-शुभभाव किसे कहा जाता है, उसका भी भान नहीं है और माने कि हम शुभ में ही रहते हैं, मुमुक्षु हैं तो ज्ञानी कहते हैं कि ऐसा मानना मिथ्या है।

जिसे पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि है, उसे मुमुक्षु नहीं कहते। बाहर से कदापि पुण्यादि भोगसामग्री का योग न दिखे, इसलिये तू उसे अनासक्त, नि:स्पृह मान ले तो वह गलत है। उसे अन्तरङ्ग में तो संसार सम्बन्धित आदर पड़ा है। पाँच इन्द्रियों के विषयों की वासना अव्यक्तरूप से है, उसका उसे भान नहीं है। जब तक संसार के किसी भी पदार्थ की इच्छा है, तब तक उसे तीनों काल के सभी पदार्थों की (सुषुप्त-)गुप्तरूप से इच्छा है। मलिन वासनारूप मोह क्या नहीं करता है ? जहाँ कामवासना का अग्नि प्रज्वलित है, वहाँ काष्टरूप पुण्य के निमित्तों

के मिलने पर वह अधिक धधक उठेगा; अतः मुमुक्षुपना किसे कहना, यह समझना चाहिए।

कोई कहे अथवा माने कि हम ममतारहित हैं, संसार से अनासक्त हैं, निष्कामरूप से दया, सेवा आदि परोपकार कर रहे हैं, परोपकार द्वारा हमारा कल्याण होगा, तो उनकी हर बात परमार्थरूप से तो झूठी है। 'आत्मा क्या है ?' – इसका लक्ष्य हुए बिना, सच्चीप्रतीति हुए बिना वे जीव व्यर्थ अहङ्कार, ममकार करते हैं। खुद को जिस विषय से सम्बन्धित राग है, उस राग की रुचि का वे पोषण करते हैं। वे राग को धर्म मानते हैं। 'मैं कौन हूँ ? क्या मानता हूँ ? क्या करता हूँ ?' – इसका विचार तथा निर्णय करने की धीरज व गरज किसे हैं ? कोई जिज्ञासु जीव पूर्वाग्रह छोड़कर तत्त्व पाने की सच्ची जिज्ञासापूर्वक आगे बढ़े, अन्तरङ्ग में अपने त्रिकाली स्वभाव का विचार करे, मेरे अन्दर ये सब क्या हो रहा है ? क्या दिख रहा है ? यह निरूपाधिक स्वभाव, शुभ व अशुभदशा क्या है ? – उसका विचार करे, अन्तरङ्ग परिणाम का मध्यस्थभाव से विचार करे। न्यायपूर्वक विवेक करे कि भूतकाल में मेरी अन्तरङ्ग भावना कैसी थी, वर्तमान में कैसी है, आगे कैसी होगी ? और उसे निरूपाधिक मानना या उपाधिवाली, इससे सम्बन्धित गहरा विचार करे तथा सत्समागम की रुचि करे, सत्समागम प्राप्त करे और सत्शास्त्र द्वारा अभ्यास करे तो सब कुछ समझ में आये – ऐसा है। किन्तु वर्तमान में लोगों को संसार के काम के लिये फुर्सत मिले, उसमें बहुत होशियारी दिखाये परन्तु जहाँ आत्मा से सम्बन्धित समझने की बात आये, वहाँ बुद्धि काम नहीं करती है। इसका कारण खुद को अभी सच्ची रुचि नहीं है। जो धर्म के नाम पर कुलधर्म अनुसार, देखादेखीपूर्वक क्रियाएँ करते हैं, वे शुभभाव भी करते हैं या नहीं, यह समझने लायक है। उपवास तथा वर्षीतप करनेवाले को खानेपाने की लोलुपता की हबड़तबड़ भी बड़ी भारी विचित्र होती है। आयम्बिल, तप, उपवास, चउव्विहार, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि का नकली नाटक करनेवाले को धर्म तो दूर रहा किन्तु मन्दकषाय का भी भान नहीं होता। उसके अन्तरङ्ग में तीव्रकषाय का आचरण, खानेपीने की लोलुपता, अपनी बड़ाई, दम्भ आदि विचित्र प्रकार देखते हुए, सुनते हुए विवेकी धर्मात्मा को दया आये – ऐसा है। संसार का ज़रा-सा मान मिल

रहा हो, संसार का लाभ दिख रहा है तो देव-गुरु-धर्म का अनादर करते हैं। जिसे परवस्तु में सुखबुद्धि है, संसार ठीक रखने की इच्छा है और मानादि कषाय का पोषण करने की कामना है, उसे आत्मा की रुचि नहीं है।

आत्मा में अनन्त सन्तोष, शान्ति है – इसका भान नहीं होने से परवस्तु की इच्छा, असन्तोष और अशान्ति रहते हैं। आत्मा नित्य है, इसलिये इसकी विपरीत दशा में संसारवासना का अग्नि नित्य जलता रहता है; अतः पवित्र चैतन्यभगवान स्वयं कहाँ बैठा है ? स्वभाव से वह क्या है ? मैं स्वभाव में हूँ या परभाव में हूँ ? – इसे विवेक से न्याय से समझो। सच्चा समझने की रुचि किसे है ?

प्रश्न - आत्मज्ञान होने के बाद संसार में क्यों रहे ?

उत्तर - संसार में रहने का भाव नहीं है किन्तु पूर्व प्रारब्धवश और वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण राग में जुड़ता है, यह चारित्रगुण की कमी है। अतः अपने पुरुषार्थ की कमजोरी हो, तब तक अल्पकाल तक अस्थिरता रहती है परन्तु उससे सम्बन्धित कर्तृत्वबुद्धि, ममत्वभाव नहीं है क्योंकि स्वयं त्रिकाल ज्ञायकदृष्टि पवित्रदृष्टि की जागृति में दोषरूप मलमैल के उदय को टिकने नहीं देता। जो शुभअशुभवृत्ति उठती है, उसे तुरन्त ज्ञानबल के विवेक द्वारा दूर कर देते हैं। जिसकी पवित्रदशा और निर्दोषदृष्टि है, वह वीतरागदृष्टि है; उसे संसारभाव नहीं है, मात्र वीतराग स्वभाव की पवित्रभावना भाते हैं।

ऐसी पवित्रदृष्टिवाले धर्मात्मा की अन्तरङ्ग पवित्रदशा कैसी होगी ? मोक्ष की पवित्रता कैसी होगी ? इसका विचार करनेवाले कोई विरले होते हैं।

बहुत से लोगों में ऐसी अपात्रता भरी पड़ी है कि खुद की अनन्त सुपात्रता का विचार भी नहीं आता। आत्मा पवित्र है, इसकी रुचि, प्रतीति होना भी दुर्लभ है, फिर भी संसार की रुचि का पलटा खाकर स्वतत्त्व की रुचि करे, तो समझना कठिन नहीं है। प्रथम मुमुक्षुता चाहिए। इसके बजाय ज़रा-सी भी प्रतिकूलता दिखे तो उसमें बहुत आकुलता करता है। देह की सुविधा में ज़रा-सी कमी आने पर परेशान हो जाता है, दुःखी होता है परन्तु उसे शान्ति, क्षमा, सदाचार, समभाव, विवेक के विचार नहीं आते। दूसरों के दोष नहीं देखकर अपने अन्तरङ्ग परिणामों को मध्यस्थरूप से प्रतिक्षण देखने चाहिए। खुद के विचार व व्यवहार पूर्व में कैसे

थे, वर्तमान में कैसे हैं और अब आगे चलकर भविष्य में कैसे रहेंगे ? – यह समझने की व निर्णय करने की जिसे दरकार नहीं है, वह सदाचार का पालन कैसे कर सकेगा ? वह अध्यात्मशास्त्र का बोध कैसे पचा (आत्मसात् कर) सकेगा ? कहा है कि 'पात्र के बिना वस्तु नहीं रह सकती'; अत: प्रथम पात्रता चाहिए किन्तु इतने में ही रुक जानेवाले और शुभपरिणामों में सन्तुष्ट हो जानेवाले क्रमश: अधोगति में जाते हैं।

कोई पूजा, सत्कार, लोभ आदि में आत्मार्थ चूक (भूल) जाते हैं और कोई मानता है कि पुण्य किये हों तो अच्छे साधन (संयोग) मिलें और फिर आराम से धर्म होगा किन्तु आत्मा का साधन सदा आत्मा में ही होता है। आत्मा शुद्धपवित्र ज्ञानमात्र है, इसकी सच्चीश्रद्धा के बिना बाह्यसाधनों में रुचि रहती है। पुण्यादि बाह्यजड़ साधनों की रुचि में से तो जड़ ही निकलता रहेगा और आत्मार्थ आच्छादित (आवरित) हो जायेगा। जिसमें अपने गुण की गन्ध नहीं है, उसके द्वारा मुझे लाभ होगा, हित होगा – ऐसा माननेवाले चैतन्यस्वरूप में कुछ माल नहीं है, ऐसा समझते हैं। ऐसी उलटी मान्यता के कारण उसे सब साधन बन्धन के निमित्त होते हैं। बाह्यसाधन में शान्ति नहीं है, धर्म नहीं है। जो धर्मात्मा है, उसे कभी पूर्व प्रारब्धवश नरक में, भयङ्कर दु:खमय क्षेत्र में (अति असुविधापूर्ण जगह में) जाना पड़ा हो तो भी वहाँ उसे दु:ख लगता नहीं है, बल्कि वहाँ वे धर्मात्मा आत्मानन्द की शान्ति में रहते हैं। वर्तमानकाल में श्रेणिक महाराज पहली नरक में हैं। एक भव पूरा करके भगवान तीर्थङ्कर होनेवाले हैं। अभी नरक में उन्हें बहुत असुविधापूर्ण संयोग विद्यमान हैं, फिर भी उदयकर्मानुसार दु:ख के भोक्ता नहीं बनते। स्वयं ज्ञानानन्दमय अरूपी आत्मिक सहजानन्द में आंशिकरूप से स्थिर हैं। श्रद्धा में तो ज्ञाता, साक्षीमात्र हैं; उसमें कभी भी अग्निरूप अतिउष्ण पुद्गल तथा अशातावेदनीय का योग प्रवेश नहीं कर सकता। बाहर से चाहे जैसे प्रतिकूल भयावह संयोग दिखें, फिर भी उसका असर ग्रहण करना या नहीं करना – यह तो अपने अधीन है। यह निमित्त मुझे इष्ट है या अनिष्ट है – ऐसा मानना अज्ञानभाव है। प्रारब्धवश अल्प अस्थिरता हो जाए, तीव्र अशाता का उदय दिखे, उसमें चैतन्यगुण की हानि नहीं है किन्तु उसमें अपनापन स्थापित करे, रागीद्वेषी हो जाए तो बन्ध का निमित्त बनता है।

अन्तरङ्ग परिणाम पर बन्ध व मोक्ष का आधार है, बाह्यनिमित्त कुछ करवाता नहीं है। इस लक्ष्य को सामने रखकर आत्मस्वरूप को समझने की तैयारी करनी चाहिए। प्रथम तो अपूर्व जिज्ञासापूर्वक अभ्यास, अन्तरङ्ग वैराग्य, रागादि कषाय की कमी, स्वच्छन्द का त्याग, खुद की लघुता को देखना तथा गुणी के अधिक गुणों के प्रति प्रमोद, संसारवासना का त्याग, देहादि की आसक्ति को कम करना और पूर्व पवित्रता के लक्ष्यपूर्वक संयमभाव द्वारा अशुभआचार का त्याग करना तथा मतार्थ आदि पक्षपातरहित सरल बुद्धि द्वारा परमार्थमार्ग में जुड़ जाना चाहिए। हित-अहित क्या है ? – इसका विवेक चाहिए।

उपर्युक्त गुण तो आत्मज्ञान पाने से पहले चाहिए। त्याग-वैराग्य को अन्तरङ्ग क्रिया कहा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा मन, वाणी, देहादि की क्रिया कर सकता है और परवस्तु का त्याग कर सकता है किन्तु अरूपी चिद्घन – ऐसा आत्मा मैं अरागी हूँ, पवित्र हूँ – इसके लक्ष्यपूर्वक क्रोध, मान आदि कषाय की मन्दता करता है, इसलिये त्याग-वैराग्य की भावना बढ़ती है। इसलिये प्रारम्भ से ही यह पात्रता होवे तो वह आत्मज्ञानप्राप्ति का निमित्तकारण है, फिर भी आत्मज्ञानदशा प्राप्त करे तो वह व्यवहार से कारण हुआ कहने में आता है। लोगों को कठिन लगे पर और क्या कर सकते हैं ? दूसरा उपाय तीन काल में नहीं है। इस प्रकार की विधि के बिना, न्याय समझे बिना, भवभ्रमण की अशान्ति व दुःख का अन्त नहीं है। सस्ते में सन्तोष मान लेते हैं। ऐसी विपरीत मान्यता का त्याग करना पड़ेगा। बाह्यत्याग दिखे, वह धर्म का लक्षण नहीं है। **६.**

त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान;
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान।।७।।

त्याग-विराग न चित्त में, होय न उसको ज्ञान।
अटके त्याग-विराग में, तो भूले निज-भान।।७।।

स्त्री, पुत्रादि, कुटुम्ब, पैसा, व्यवहार आदि का त्याग, वह त्याग नहीं है। उसका त्याग होना उदयाधीन है; आत्मा के अधीन नहीं है। बाह्यत्याग, वैराग्य आदि पूर्व में बहुतबार हो गये, फिर भी आत्मधर्म क्यों नहीं हुआ – यह विचार करना। यहाँ पर कोई पूछे कि क्या हमें व्यवहारधर्म नहीं करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि प्रारम्भ से ही सच्ची समझ करना। अरागी, पवित्रआत्मा के लक्ष्य से राग, द्वेष, कषाय का त्याग होता है। देहादि क्रिया के ममत्व का, कर्तृत्व का त्याग करना और उसमें जो शुभभाव होता है, वह व्यवहार से अच्छी भूमिका कही जाती है किन्तु उसी में सन्तुष्ट होकर रुक जाए और बोधबीज (सम्यक्त्व) की प्राप्ति का उपाय न करे तो आत्मार्थ का लक्ष्य चूक जायेगा और शुभपरिणाम, मन्दकषायरूप साधन व्यर्थ में बोझरूप होता है।

त्याग माने मलिन चित्त का त्याग। आत्मा निर्मल ज्ञानमात्र साक्षीरूप है और राग, द्वेष, इच्छा आदि आत्मस्वभाव में नहीं है। आत्मा देहादि की क्रिया को कर नहीं सकता, जड़ परमाणु को तथा शुभ-अशुभ कर्म की अवस्था को पकड़ नहीं सकता लेकिन अपने अज्ञानभाव को पकड़ता है। किसी परवस्तु का ग्रहणत्याग आत्मा में नहीं है। भूल करना – यह आत्मा का स्वभाव नहीं है। भूल करने का धर्म नहीं है। इस प्रकार अवस्था में जो भूल है, उसे यथार्थ जाने और अभूलभाव से भूल को दूर करे तो पुनः भूल होने नहीं देगा।

आत्मा अनादि अनन्त, पवित्र, अरागी तत्त्व है। उसे पहचानने का अभ्यास, स्वच्छन्द माने दर्शनमोह दूर करने के लिये करना चाहिए। स्वच्छन्दता दूर होने से प्रतिबन्ध दूर होता है।

धर्म के चार द्वार कहे हैं :- क्षमा, निर्लोभता, सरलता, निर्मानता। नीति द्वारा पात्रता प्रगट होती है। द्वार के बिना कमरे में प्रवेश हो नहीं सकता, उस प्रकार ये क्षमा आदि नीति के बिना व्यवहारधर्म में भी प्रवेश नहीं होता। उत्तमक्षमा, यह परमार्थस्वरूप आत्मा का सहज स्वभाव है; अतः समभाव का अभ्यास करना, आत्मा के लक्ष्य से वाञ्चनमनन होना चाहिए। आत्मज्ञानप्राप्ति की सच्ची जिज्ञासा, उत्कृष्ट रुचिपूर्वक ये सब आत्मज्ञान के लक्ष्य से स्वानुभव की प्राप्ति हेतु है – ऐसा हमेशा लक्ष्य में लेना चाहिए।

जीव आत्मज्ञान बिना परवस्तु में हितबुद्धि मानकर बैठा है; अतः सब साधन बन्धनरूप हुए हैं।

लोग आत्मा के व्यवहारनय को भूलकर एकान्त व्यवहाराभास को पकड़कर बैठे हैं, बाह्यक्रिया को चारित्र मानते हैं। लौकिकनीति होती है किन्तु इसके कारण हम धर्मी हैं। इस प्रकार मन्दकषाय में सन्तुष्ट होकर बैठा है लेकिन आत्मा पूर्णपवित्र, वीतरागी है, उसकी पवित्रशान्ति आत्मा में ही है। उसका स्वभाव क्या ? इसकी पहचान नहीं है; अतः आत्मा में बेहद सुख है, उसका वेदन (अनुभव) कहाँ से हो ? लोग अपनी कल्पना में रुक जाते हैं; ज्ञानी नहीं रुकते।

आत्मा असंयोगी, निर्मल है। उसमें पर के निमित्त से अन्तरङ्ग संयोग, उदयकर्म, राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, ममता आदि की जो शुभअशुभ विकारीभाव की वृत्ति उठती है, उसका ज्ञानभाव से नाश करना – उसे ज्ञान की क्रियारूप व्यवहार कहा है। देहादि जड़ की क्रिया में व्यवहार नहीं है। बहुत लोगों को बाह्यत्याग का माहात्म्य रहता है किन्तु अघातीकर्म के उदय से बाह्यवस्तु का संयोगवियोग होता है। उस बाह्यवस्तु को मैं लूँ, रखूँ, त्याग करूँ – यह मान्यता मिथ्या है। किसी भी जीव ने निश्चय से तो वास्तव में जड़पदार्थों को कभी ग्रहण नहीं किया तो उसका त्याग तो हो ही कैसे सकता है ? ग्रहण किया हो तो छोड़ सके न ! अघातीकर्म के उदय के निमित्त से पदार्थों का सङ्ग होनेवाला नहीं था, यानी उसका अन्तराय था, इसलिये संयोग हुआ नहीं; इसलिये वियोग चल रहा है। वास्तव में तो बाह्यसंयोग होने का निमित्त नहीं था, इसलिये उसे ऐसा विकल्प आया कि मैं त्याग करता हूँ, यह तो उदयभाव है। बाकी ज्ञानी ऐसा नहीं कहते कि तू जड़वस्तु का त्याग कर किन्तु रागद्वेष का त्याग करने का कथन आता है। मैं अकषायी हूँ तो अकषायी हो जाऊँ – ऐसे पुरुषार्थ द्वारा त्याग-वैराग्यादि निमित्त बन जाते हैं। सद्गुणों के खिलने पर सहज ही विपरीत निमित्तराग के कारण खिसक जाते हैं। उपदेश में निमित्त का कथन आये, उसका आशय, गूढ़ार्थ समझना चाहिए। आत्मज्ञान माने सम्यक् बोधबीज। उसे बोने हेतु क्षेत्रविशुद्धि चाहिए। अन्तरङ्ग में अपने मोहभाव का अर्थात् भूल का त्याग तथा अन्तर वैराग्य लाना है। उसे बाह्यदृष्टिजीव समझते नहीं हैं, इसलिये मन्दकषाय में धर्म मानते हैं। अज्ञानरूपी भैंसा शुभ परिणामरूपी

तेरे द्रव्यचारित्ररूप घास को अनन्तबार निगल गया है, इससे भव का नाश हुआ नहीं, उलटा मान बढ़ा और संसार बढ़ा। बाहर से पञ्च महाव्रत आदि क्रिया के शुभपरिणाम करे अथवा बहुत से शास्त्र पढ़े-सुने और इससे माने कि अहो...हो ! हमने बहुत किया, हमने बहुत त्याग, वैराग्य तथा समभाव रखा है, पर ये सारे अज्ञानपूर्वक होनेवाले उदयभाव को धर्म माना, इसलिये खुद के अविकारी आत्मा का अनादर किया है। अज्ञानपूर्वक त्याग, वैराग्य, व्रत, तप इत्यादि बालचेष्टा है। पुण्य से धर्म होगा, शुभयोग से संवर होगा - इस प्रकार शुभपरिणाम में सन्तुष्ट हो जाता है और आत्मा के धर्म के नाम से विपरीत मान्यता की पुष्टि करता है। कोई द्वेषपूर्वक खाल उतारकर नमक छिड़क दे, फिर भी शुभभावरूप समभाव रखे, बहुत प्रकार के परिषह सहन करे और वह बहुत पुण्यबन्ध करके कदापि देवलोक में चला जाये तो भी इससे क्या ? वहाँ से फिर नरक-निगोदादि चार गति में भटकता है। मोहकर्म के उदय के असर के वश क्षमा धारण की और माना कि मैंने बहुत क्षमा रखी है परन्तु सहजस्वभाव की बेहद क्षमा को हदवाली मानना, यह तो अज्ञानभाव है। आत्मा पर का कर्ताभोक्ता नहीं है – ऐसा अखण्डस्वभाव जाने बिना उसका समभाव, त्याग, वैराग्य सच्चा नहीं था। बेहद स्वभाव को पहचाने बिना आत्मा को मात्र इतनी मर्यादावाला माना, उदय कर्म का भोक्ता बना और उदय के निमित्त में धर्म माना। मैं दयावान हूँ – ऐसा माना, वहाँ खुद को रागरूप माना, इसलिये अपने अरागी स्वरूप को परभावरूप माना और पूर्व में **'पादोपगमन संथारो'** (समाधिमरण का एक प्रकार) करके समस्त जीवों की दया का पालन करनेरूप शुभभाव किया, फिर भी धर्म नहीं हुआ; हिलेडुले बिना मरणपर्यन्त स्थिर रहा, फिर भी स्वदया न हुई, संवर नहीं हुआ। लोग परदया की बात करते हैं, वह निमित्त से कथन है। जिसे अपने अकषायभाव की रुचि है, उसे शुभभाव का विवेक सहज होता है। सामनेवाले जीव का पुण्योदय हो और उसकी आयु शेष हो तो किसी भी मनुष्य को उसमें निमित्त बनने का विकल्प आयेगा ही। किसी की आयु को कोई घटा-बढ़ा नहीं सकता। लोकव्यवहार में पर का कर्तापना भले ही माने परन्तु है नहीं।

जिस प्रकार मलिन दर्पण में मुख नहीं दिखता, उस प्रकार जिनके चित्त मैलयुक्त हैं, उनके अन्तर में आत्मा की पवित्रता कैसे दिखे ? दिख ही नहीं सकती। प्रत्येक

जीव का आत्मा पवित्र है, फिर भी आत्मा के उपदेश का भाव समझ में नहीं आता। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार मलिन शीशे में प्रतिबिम्ब नहीं उठता, उस प्रकार अन्तर त्याग, वैराग्य व सत् की जिज्ञासा के बिना सत्बोध, उपदेशक के कहे भाववचन की छवि नहीं उठती। सच्चा न्याय उसके अन्तर में परिणमित नहीं होता। लोगों को बाहर से कुछ और करने को कहो तो पसन्द आता है क्योंकि बाह्यक्रिया का अनादिकाल से परिचय है और बाह्यक्रिया को ही कर्तव्य मानते हैं।

यहाँ पर कहा जा रहा है कि देहादि का या बाहर का कोई कर्तव्य जीव से कभी होता नहीं है, इसलिये यह बात समझने में सूक्ष्म लगती है। आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य - ये सब गुण क्या होंगे, किस तरह से होंगे ? यह सुनना तो अच्छा लगे किन्तु समझना कठिन पड़ता है क्योंकि संसार का प्रेम बहुत है; तत्त्व की रुचि नहीं है। अपनी स्वाधीनता से बेहद आनन्द सुख के स्वाद से भरे हुए निजगुण, इसकी अपूर्व महिमा जानी नहीं है। एकान्तवास पसन्द नहीं है, इसलिये तत्त्व समझना कठिन लगता है। आत्मा ज्ञातादृष्टा अखण्ड ज्ञानरस से भरा हुआ असङ्ग है। उसके अन्दर शुभाशुभ निमित्त तथा उपाधि का अंशमात्र नहीं है किन्तु अज्ञानभाव से पर को अपना माना है। तत्त्व की रुचि के बिना निवृत्ति, विचार, मनन कैसे हो ?

प्रश्न - मलिन अन्तःकरण चित्त क्यों रहा होगा ?

उत्तर - पुरुषार्थ नहीं किया – इस वजह से। संसार में घर, व्यवसाय, रुपये आदि की रुचि क्यों रहती है ? उस पर की रुचि को छोड़कर पवित्र भगवान आत्मा की उत्कृष्ट रुचि करो; मलिनता टालने का प्रयत्न करो ! जो है, वह अपने आप से ही समझ में आ सकता है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है।

प्रश्न - संसार में रहकर आत्मज्ञान कैसे हो ?

उत्तर - देहादि संयोग ये संसार नहीं है; अतः उनकी तरफ का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का लक्ष्य करे तो गृहस्थावस्था में भी आत्मज्ञान हो सकता है। गृहस्थवेश में वर्तमान में भी भगवत्स्वरूप ज्ञानी धर्मात्मा हैं, जिनके अन्तःकरण अति पवित्र हैं। सच को समझने की जिज्ञासा बढ़े तो आत्मबोध परिणमित हुए

बिना रहे नहीं। आत्मज्ञान के एक क्षण के आनन्द के साथ तीनों काल के इन्द्रलोक के सुख मिलाकर तुलना करो तो भी आत्मज्ञान के (सुख के) बराबर नहीं हो सकता। ऐसे अपूर्व वस्तु तत्त्व को पाने की विधि वर्तमान में भी है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २३-९-१९३९

सातवीं गाथा के बारे में कल कहा गया था। मैं ज्ञायक आत्मा शुद्ध, अविनाशी, रागरहित हूँ, निर्मल, अबन्ध हूँ – ऐसी श्रद्धा, अनुभव और लक्ष्य के बिना, मन के शुभपरिणाम द्वारा मन्दकषाय करे, केवल त्याग-वैराग्य में ही कृतकृत्यता मानकर सन्तुष्ट हो जाये, वह भी भवसागर में डूबेगा। त्याग-वैराग्य अज्ञानपूर्वक होने के कारण परजीव को नहीं मारना, वह दया और स्वयं के माने हुए पञ्च महाव्रत आदि शुभपरिणाम, इसी में कृतार्थता है – ऐसा मानता है किन्तु यह भाव तो रागभाव है। मन के शुभपरिणाम हैं, वे कर्मभाव हैं। इनसे आत्मा को लाभ होगा – ऐसा मानना, यह वीतरागमार्ग की अशातना है। जिसे गलत मार्ग की पकड़ नहीं करनी है, उसे सत् की जिज्ञासा बढ़ानी चाहिए। सत्समागम का योग हुए बिना आत्मज्ञान नहीं होगा।

आत्मा बिलकुल अरागी ज्ञायक है। उसकी पूर्ण पवित्रता की यथार्थ श्रद्धा होनी चाहिए। आत्मद्रव्य त्रिकाल असंयोगी है; पुण्य-पाप, रागरहित है – इसके भान के बिना, लक्ष्य के बिना, किये हुए त्याग-वैराग्य में अज्ञानभाव का और विपरीत दृष्टि का साथ है, इसलिये मैं त्यागी हूँ, मैं चारित्रवान हूँ, इत्यादि प्रकार से मन को मना लेने के भाव होते हैं और बाह्यत्याग से रहित कोई धर्मबुद्धिवाला गृहस्थ हो, उसका तिरस्कार करने के भाव करता है। इसका कारण अज्ञानभाव है, पर्यायदृष्टि है। हम पञ्च महाव्रत का पालन करते हैं, इसलिये हम चारित्र अङ्गीकार किये हुए हैं परन्तु यह गृहस्थ सिर्फ ज्ञान की बातें करता है। ज्ञानी हो तो उसे त्याग, व्रत, चारित्र इत्यादि क्यों नहीं है ? हमारे में तो हैं – इस प्रकार जड़कर्म के उदय

के सहारे अपनी पहचान बनाता है और फिर आग्रह भी ऐसा रखते हैं कि हम बालब्रह्मचारी हैं। कोई शादी करने के बाद ब्रह्मचर्य का पालन करे, त्याग करे तो उसका व्रत हमारे बराबर नहीं हो सकता, और फिर कुछ लोग दूसरे का चेहरा सुन्दर या वाणी सुन्दर न हो अथवा शरीर नीरोगी न दिखे तो उसे अपने से हलका समझते हैं – ऐसे पर्यायदृष्टि जीवों को अज्ञानी समझना और जिसे वे लोग ब्रह्मचर्य मानते है, वह तो मन, वाणी व देह का है। ब्रह्म माने ज्ञानस्वरूप आत्मा। वह कैसा है ? – इसका यथार्थ भान नहीं है तो फिर सही चारित्र कहाँ से होवे ? चक्रवर्ती राजा जो कि तीर्थङ्कर होनेवाले हैं, वे गृहस्थवेश में हों, तब हजारों स्त्रियों के योग के बावजूद भी ब्रह्मचारी ज्ञानी होते हैं क्योंकि उनको अन्तरङ्ग में पवित्र वीतरागदशा का विवेक विद्यमान रहता है। किसी ने पहले त्याग किया और दूसरे ने बाद में त्याग किया और इसलिये पहले त्याग करनेवाला माने कि मैं बालब्रह्मचारी हूँ, (तो) यह गर्व मिथ्या है। चक्रवर्ती राजा छियानबे हज़ार स्त्रियों का त्याग करके दो घड़ी में ही केवलज्ञान पाकर भगवान हुए हैं। गहराई में उतरकर न्याय से मिलान करे तो विरोध नहीं लगेगा। जिसे वस्तु की परीक्षा नहीं है, उसे परिणाम की पहचान करने का भाव नहीं है। बाह्यदृष्टि जीवों के त्याग-वैराग्य अज्ञानरूप ही होते हैं, वे अपने नजरिये से दूसरों को देखते हैं। स्वयं बाह्यक्रिया करता हो, खुद में जो त्याग-वैराग्य दिखता हो, वह दूसरे में न दिखे तो उसकी निन्दा करता है। किन्तु ज्ञानी का मार्ग न्यायी है क्योंकि कल का महापापी कसाई भले ही होवें किन्तु पाप का त्याग करके वह वर्तमान में धर्मी हो सकता है। लेकिन मिथ्यादृष्टि, परजीव की दया करनेवाला भटकता है।

तत्त्वज्ञान के जिज्ञासु को सरलतापूर्वक अनेक न्याय समझने पड़ेंगे। अगर गुण-दोष का विवेक नहीं है तो मुमुक्षुता भी नहीं है। सच्चाई समझने का जो इच्छुक है, वह विवेकी और मध्यस्थ होता है। ऐसे जो आत्मार्थी हैं, उनके आचारविचार विपरीत नहीं होते। सौ चूहे मारकर बिल्ली हज करने चली – ऐसे ताने कसने की भाषा व भाव किसी के प्रति नहीं होता। प्रत्येक जीव शक्तिरूप से परमात्मा है, वह क्षण में ज्ञानी बनता है। समन्तभद्राचार्य महाराज कहते हैं कि हीनकुल में जन्म लेनेवाला जीव कदापि आत्मज्ञान पाये तो उसे देव भी पूज्य कहते हैं क्योंकि

उस धर्मात्मा को पञ्चम गुणस्थान विद्यमान है। गणधर भी उसे देवों से उत्तम कहते हैं क्योंकि सर्वार्थसिद्धि विमान के देव से भी उसके गुणों की भूमिका अनन्तगुनी उत्तम है। बाह्यदृष्टि से अन्तर इतना कि उन देवों को पुण्य का योग है और यह धर्मात्मा कदापि लकड़ी की गठरी बेचकर जीवन निर्वाह कर रहे हों तो भी ज्ञानी की दृष्टि में देव से यह पञ्चम गुणस्थानवर्ती अधिक हैं। बाह्यदृष्टि जीव, पर्याय देखते हैं और कहते हैं कि इसके पास तो व्यापार, स्त्री, धन इत्यादि परिग्रह हैं लेकिन हमने त्याग किया है, हम चारित्रवान हैं, इसके लिये हमारा आदर करो – इस प्रकार से मानार्थी और मतार्थी बाह्यदृष्टि के बारे में कहा। ऐसे जीवों को जैनदीक्षा कि जिसे दुष्कर (कठिन) संयम कहने में आता है, उसके कठिन चारित्र की विधि, क्रियाकाण्ड, त्याग, वैराग्य होने के बावजूद भी ये सब मान बढ़ाने के लिये उन्होंने किया है। यदि आत्मज्ञान हेतु हो तो विनय, निर्मानता, विवेक, पात्रता तथा सच्ची जिज्ञासा होगी। जिसे मूलमार्ग की खबर नहीं है; अन्तरङ्ग में मन की सूक्ष्मक्रिया, राग, द्वेष क्या हो रहे हैं – उसका पता नहीं होता है; स्वभाव या परभाव का विवेक नहीं होता है; वह स्वयं क्या कर रहा है, क्या मान रहा है ? – इसका पता नहीं होता। सच्ची बात समझने का आत्मा प्रत्ययी लक्ष्य करे नहीं, अन्य लोगों की चेष्टा देखता रहे और अन्दर में कर्तृत्वभाव, रागादि, मानादि, स्वच्छन्द तरफ का झुकाव बना रहता है और स्वच्छन्द और मताग्रह की पुष्टि प्राप्त करता रहता है; अतः अपने अन्दर रहे दोष खुद जान नहीं सकता लेकिन पात्रता की रुचि बढ़ाये और सत्समागम खोजे, सत्पुरुष की चरणशरण में जाये तो उसके सारे दोष दूर होने का अपूर्व अवसर आ जाए। पुनश्च, स्वयं को समझे बिना स्वच्छन्दतापूर्वक, जिनाज्ञा के नाम से व्रत, चारित्र, ब्रह्मचर्य आदि पूर्व में अनन्तबार पालन किये किन्तु सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। शुभ-अशुभ राग, मन के सम्बन्ध का विकल्प तोड़कर वीतराग समाधि (भावचारित्र) का अंश भी प्रगट नहीं किया। मोक्षमार्ग में तो स्वरूप की यथार्थ पहचान और परधर्म से स्वधर्म की भिन्नता समझकर आत्मा में जिनदीक्षा – (जिनदशा) प्रत्यक्ष प्रगट होनी चाहिए। अन्तर की गहरायी में संसार की मिठास, तृष्णा और पुण्यादि सुविधा की (बाह्यपदार्थ की) रुचि रहती है – इस दोष को जाने, फिर दोष टालने का उपाय मात्र आत्मज्ञान है – ऐसा समझकर प्रथम आत्मज्ञान

का अभ्यास करना चाहिए।

श्रीमद्‌राजचन्द्रजी ने पात्रता पाने के लिये बहुत तरीके से कथन किया है :- इसमें एक प्रकार से कहा है कि परमार्थ की रुचिपूर्वक -

१. संसार प्रति उदासीनता,

२. विषयभोग प्रति अनासक्ति,

३. देहादि की ममता में काफी कमी,

४. मानादि कषाय की कमी - ये सब चाहिए।

और दूसरे तरीके से कहा है कि :-

१. विशालबुद्धि = पक्षपातरहित, अनेकान्त न्यायदृष्टि,

२. मध्यस्थता = उदासीनता, ममता का अभाव – ये दोनों दर्शनमोह (मिथ्यात्व) का नाश करने के उपाय हैं।

३. सरलता = निर्मानता, अपने दोष देखकर उसे मिटाना,

४. जितेन्द्रियता।

ये दोनों चारित्रमोह को मिटाने के उपाय हैं।

तीसरे प्रकार से (१) शम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकम्पा, (५) अपने सत् स्वरूप के प्रति श्रद्धा, रुचि। शास्त्र में पाँच कारण कहे हैं, जो निम्नानुसार हैं :-

(१) क्षयोपशम माने खुद का हित-अहित समझने योग्य ज्ञान का विकास,

(२) कषाय की मन्दता अथवा विशुद्धि, (३) देशना यानी सत्पुरुष का उपदेश, तत्त्वबोध, सत्पद का उपदेश, (४) प्रायोग्यलब्धि, मति की निर्मलता अथवा पक्षपात -रहित सरलबुद्धि होने के लिये पात्रता वर्धमान होने पर कर्म की स्थिति और अनुभाग का मन्द होना (कम होना), और (५) करणलब्धि यानी चारित्रगुण के परिणाम की विशुद्धि। पात्रता पाने के लिये सत्पुरुष का तत्त्वउपदेश यथार्थभाव से श्रवण करना चाहिए, सोच-विचार करके मनन करना चाहिए। जितने गुण प्रगट किये, उन्हें वर्धमान करके टिकाये रखना चाहिए। सारे दोष (चारित्र के दोष) तुरन्त नहीं टल जाते किन्तु अभिप्राय में सारे दोष शीघ्र मिटाने का लक्ष्य (मैं अकषाय हूँ, शुद्ध हूँ – ऐसा) होना चाहिए। और कहा है कि स्वच्छन्दता अथवा दर्शनमोह का त्याग यानी

'मैं कुछ जानता हूँ, मैंने जाना, वह सही है' – इस प्रकार के मिथ्याआग्रह का त्याग होना चाहिए। एक पत्र में श्रीमद् ने लिखा है कि **'मान न हो, तो मोक्ष यहीं पर है।'**

स्वच्छन्द = दर्शनमोह

प्रतिबन्ध = चारित्रमोह

ये औपाधिक कर्मभाव मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं हैं। मैं समस्त परद्रव्यों (देहादि तथा राग-क्रोधादि) से भिन्न हूँ, पवित्र हूँ; अनन्त ऐश्वर्य, सामर्थ्य से पूर्ण हूँ - इस प्रकार अभ्यास द्वारा अन्तरङ्ग विचारमनन द्वारा अभिप्राय में जिसे अधिकरूप से दृढ़ हुआ और साथ में ऐसा भी आया कि ये पुद्गलकर्म निमित्त के दोषमल मेरे नहीं हैं (मेरे स्वभाव में नहीं हैं), वह (जीव) वर्तमान में अशुद्ध अवस्था दिख रही है, उसे (समस्त दोषों को) मिटाने का प्रयत्न किये बिना रहेगा नहीं।

क्रियाजड़वादी के बारे में आगे कहा है कि शरीर को (एक जगह) रोककर रखना, रोटी नहीं खाना, योग की क्रिया का अभिमान करना – इससे तो मन्दकषाय (पुण्यपरिणाम) भी नहीं है। क्रोध, मानादि कषाय, तथा देहादि की ममता कम किये बिना शुभपरिणाम भी नहीं है।

यदि परमार्थतत्त्व के लक्ष्यसहित मन्दकषाय, अन्तर त्यागवैराग्य होवें तो वे निमित्तरूप से साधन कहे गये हैं किन्तु मन के शुभविकल्प द्वारा (पुण्यपरिणाम से) धर्म नहीं है। अकषाय के लक्ष्य से मन्दकषाय करने के प्रति झुकाव (लक्ष्य) रखे यानी कि मन के शुभपरिणाम और कषाय की मन्दता तो करे किन्तु उसे धर्म न माने – तब तो वे साधन कहे जायेंगे।

सर्वज्ञ वीतराग भगवान के अनेकान्त स्वरूप के न्याय की विधि समझे कि आत्मा ज्ञानमात्र, अविनाशी, पवित्र है; अबन्ध है; अक्रिय है; शुभाशुभ विकल्परहित अविकारी है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा आत्मा कहा है, ऐसा प्रमाण करके, पूर्वापर विरोधरहित अपना (स्वरूप) यथार्थरूप से माने तो सत्समागम द्वारा आत्मतत्त्व की प्राप्ति सुलभ है किन्तु स्वच्छन्दतापूर्वक अज्ञान द्वारा (प्राप्ति) दुर्लभ है।

शुष्कज्ञान से भी कल्याण नहीं है – ऐसा कहा है। पुण्यादि क्रिया से और देहादि द्वारा व्रत, तप, चारित्र से तथा बुद्धिबल से भी सम्यक्ज्ञान प्राप्त नहीं होता

किन्तु सर्वज्ञ द्वारा प्रमाणित न्याय से, समझपूर्वक की विधि से प्राप्त की प्राप्ति होती है। शास्त्रों की जानकारी द्वारा मन की धारणा के अनुसार अगर आत्मज्ञान की प्राप्ति होती तो अनन्तबार आचाराङ्ग आदि ग्यारह अङ्ग, जिसमें कि संख्याता करोड़ श्लोक होते हैं, उसका ज्ञान किया, फिर भी प्राप्ति क्यों नहीं हुई ? तदुपरान्त जैनधर्म की व्यवहारश्रद्धा की; चारित्र का पालन भी किया; मन की धारणारूप से व्यवहारदर्शन, ज्ञान, चारित्र का स्वीकार भी किया; व्यवहार से जिनाज्ञा भी मानी, फिर भी अभी भवभ्रमण दिख रहा है; भव का अन्त नहीं दिखता। आत्मज्ञान के अलावा सब कुछ किया परन्तु उन कर्मभावों से सत्धर्म अंशमात्र भी प्रगट नहीं हुआ। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति है, उसका वेदन हुआ नहीं है, इसलिये सत् अभी समझ में आया नहीं है। आत्मा में ही असंयोगी अतीन्द्रिय आनन्द है; मन, इन्द्रिय से भिन्न सहज आनन्दचैतन्यस्वभाव की शान्ति है; उसका अनुभव प्रगट होना चाहिए। इस प्रकार की विधि में पुरुषार्थ की स्थिरता कुछ अनोखी ही है। सत्समागम, गुरुगम व यथार्थ समझ का विवेक, पूर्वाग्रह (मतार्थ-मानार्थ) छोड़े बिना प्राप्त नहीं होगा। आत्मा को समझने की सही रुचि होने पर सत्साधन, सत्समागम, तथा सद्गुरु अवश्य मिलेंगे ही और इससे यथार्थ विवेकमय स्वभाव जागृत रहेगा। ७.

अब, आत्मार्थी के खास लक्षण कहते हैं :-

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह;
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह।।८।।

जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, समझो वहाँ वही।
वहाँ-वहाँ सो-सो आचरे, आत्मार्थी जन सही।।८।।

जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ वह यथास्थान में समझना यानी जहाँ तत्त्वदृष्टि से सम्बन्धित बात (न्याय) हो, वहाँ शुद्धद्रव्य की बात समझें। जिस-जिस अपेक्षा

(दृष्टि) से जिस जिस न्याय का प्रयोजन होवे, वहाँ वैसे ही समझें और जहाँ पुरुषार्थ द्वारा राग-द्वेष कम करने का कथन हो, वहाँ परमार्थ हेतुरूप व्यवहार यथायोग्य समझें। एकान्तदृष्टि पकड़कर नहीं रखेगा।

प्रश्न - परमार्थ से आत्मा अकषायी कहा है, फिर भी आप राग-द्वेष आदि बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने को क्यों कहते हो ? ज्ञानमात्र आत्मा में अन्य कुछ (तनिक भी उपाधि) नहीं है। पूर्व में अनन्तबार कषाय की मन्दता, त्याग, वैराग्य, चारित्र आदि किया, फिर भी उन शुभपरिणाम से आत्मज्ञान नहीं हुआ - ऐसा आपने पहले कहा था न ?

उत्तर - पुण्य द्वारा या योग की क्रिया द्वारा अकषायी आत्मा को लाभ नहीं होता, शुद्धभाव के बिना धर्म नहीं है – ऐसा शास्त्रों में भी कहा है।

कोई एकान्त से निश्चयनय का कथन पकड़कर परमार्थभूत पुरुषार्थ से रहित रहे, मुझे राग-द्वेष सर्वथा नहीं हैं – ऐसा माने और स्वच्छन्दता में प्रवर्तन करे तो अभी मन्दकषाय, अन्तरङ्ग त्याग-वैराग्य हुए बिना जायेगा कहाँ ? नरक, निगोद आदि अशुभगति में जायेगा। ज्ञानी का उपदेश अशुभपरिणाम (पाप) में जाने का नहीं होता है।

(जीव एकान्त ग्रहण करता है, उसका दृष्टान्त : किसी ने कहा कि गिरेगा तो मरेगा। इसे सुननेवाले ने क्लेश कर दिया कि मरने का क्यों कहा ? वास्तव में तो कहनेवाले ने उसको गिरने से बचाने के लिये कहा है, फिर भी वहाँ अधूरी बात समझकर एकान्त ग्रहण करे तो उसका क्या इलाज ?)

शास्त्र में मोक्षमार्ग का कथन होता है। वहाँ ऐसा ही आता है कि पुण्यपरिणाम सर्वथा हेय (त्याग करने योग्य) हैं, पाँच महाव्रत आदि समस्त शुभपरिणाम आस्रव हैं, कर्मभाव हैं; अतः छोड़ने योग्य हैं किन्तु अभी जिस जीव ने परमार्थतत्त्व को प्राप्त नहीं किया; राग-द्वेष, अज्ञानभाव में ही टिका हुआ है और मन्दकषाय का पुरुषार्थ छोड़कर स्वच्छन्दतापूर्वक अनाचार में रहता है, उसे तो मुमुक्षुता भी सम्भव नहीं है। और धर्मात्मा श्रावक को अभी चारित्र की अपूर्णता है, अभिप्राय में रागादि अस्थिरता सर्वथा हेय (त्यागने योग्य) मानता है किन्तु बीच में शुभपरिणाम व शुभनिमित्त अवश्य आयेंगे। इस शुभ का निषेध करके अशुभ में प्रवर्तन करनेवाला कुछ समझा

ही नहीं है। जो मुमुक्षु मोक्षमार्गी है, वह साधकस्वभाव का परमार्थभूतव्यवहार यानी निश्चयस्वरूप के लक्ष्य से राग को मिटाने का पुरुषार्थ करता ही है और जहाँ जैसा उचित हो, वैसे ही यथार्थरूप से समझता है। शास्त्र में बहुत से स्थानों पर कथन में कदाचित् विरोध जैसा दिखे तो उसका परमार्थ आशय, नय की अपेक्षा से समझ लेता है; कहीं भी उलझता नहीं है।

पुनश्च, शुभपरिणाम से बन्ध होता है - ऐसा शास्त्र में कहा है; अतः मुझे शुभपरिणाम (मन्दकषाय) नहीं करने हैं। देव-गुरु-धर्म की भक्तिरूप व्यवहार के विकल्प से पुण्यबन्ध है, इस प्रकार एकान्तपक्ष की पकड़ करके कहे कि मुझे तो आत्मा का ध्यान करना है, मैं विकल्प करूँ, शास्त्राभ्यास करूँ अथवा प्रभावना आदि कार्य में जुडूँगा तो मेरे ज्ञानध्यान में व्यवधान पड़ेगा किन्तु सच्चीदृष्टि का लक्ष्य तेरे में नहीं है। अन्तरस्थिरता के बिना योग की स्थिरता से तू क्या करनेवाला है ? इस सम्बन्ध में जयसेनाचार्य प्रवचनसार की टीका में कहते हैं कि तुम गृहस्थ हो, कदापि मुनि हो किन्तु यदि तुझे अपनी देह के लिये सुविधा की सावद्यवृत्ति (सावधानी) रहती हो; तुझे रोग से, क्षुधा से पीड़ा व आकुलता होती हो; कोई मेरी सेवा करे इत्यादि भाव हो तो देह पर तुझे आसक्ति प्रवर्तमान है और दूसरे मुनि की सेवा, वैयावृत्य, भक्ति में तुझे उत्साह नहीं है तो तू पापी है; धर्मात्मा नहीं है। कदापि तू वीतरागी होकर जम गया हो, तब तो व्यवहार का कोई सवाल नहीं रहता किन्तु जो राग में उलझा हुआ है, फिर भी विवेकहीन होकर देव-गुरु-धर्म तथा मुनि आदि परपदार्थ हैं, पुण्य से बन्ध होता है; अतः वह हेय है - ऐसा मानता है और शुभनिमित्त को हटाकर अशुभ में प्रवर्तन करता है - वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसे वीतरागी धर्म का बहुमान नहीं है। जब तक खुद की सुविधा (अनुकूलता) बनी रहे, इस प्रकार के विषयकषाय के संसारभाव विद्यमान हैं, तब तक जिनशासन में टिके रहो; देव, गुरु, धर्म, सत्स्वरूप जयवन्त रहो - ऐसे अपूर्व भाव तथा इष्टनिमित्त की भक्ति का उत्साह रहना ही चाहिए। स्त्री, घर, कुटुम्ब व्यापार आदि में रागबुद्धि है, वह पापबुद्धि है। उससे निवृत्त होकर सच्चे देव-गुरु-धर्म की भक्ति, सुपात्र को दान, वीतरागी शासन की प्रभावना, जिनपूजा, भक्ति और वैयावृत्य के योग्य साधर्मी आत्मा की सेवा करने के भाव जिन्हें नहीं हैं, वे अधर्मी हैं। देहादि, स्त्री, पुत्रादि

में प्रेम है लेकिन परमार्थनिमित्त में प्रेम-आदर नहीं है – उन्हें धर्म की रुचि नहीं है; पाप की रुचि की पुष्टि करते हैं। पवित्र भावना की पुष्टि करनेवाले सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति आदर नहीं है। वह जीव धर्मस्नेह व प्रशस्त राग का निषेध पाप में स्थित होकर कर रहा है। सत्धर्म की उन्नति चाहता नहीं है; अतः वह पापी जीव है। जो मुमुक्षु है, उसे यथायोग्य विवेक होता है। परमार्थ एवं परमार्थभूत व्यवहार तथा निमित्तभूत व्यवहार आदि जिस प्रकार से है, उस प्रकार से (यथार्थ) जानता है। हित-अहित, हेय-उपादेय बराबर समझता है और भक्ति, विनय, सत्समागम, वैराग्य आदि जहाँ जैसे उचित हो, उस प्रकार से विवेक रखकर करता है। वीतरागी पवित्रतत्त्व की दृष्टि होवे, वहाँ दुष्टराग की (संसार की) दिशा, राग की रुचि न पलटे – ऐसा कैसे सम्भव है ? जब तक निर्ग्रन्थ मुनिदशा व ज्ञान की स्थिरदशा नहीं है, तब तक आत्मधर्म की उन्नति में इष्टनिमित्त की भक्ति, प्रभावना इत्यादि शुभप्रसङ्ग पाने के प्रति प्रेम आये बिना नहीं रहता। यदि परमार्थ को प्राप्त कर लिया है तो आत्मा की पवित्र वीतरागदशा में स्थिर होजा किन्तु जब तक अप्रशस्त रागसंसार का प्रेम है, तब तक सच्चेपरमार्थ के अनुकूल निमित्त का अनादर (अनुत्साह) रखे तो वह महाअज्ञानता है। कोई एकान्तदृष्टि को पकड़कर देहादि के क्रियाकाण्ड में रुके हुए हैं तो कोई सच्चे निमित्त का निषेध करने में, निन्दा करने में या फिर कोई मन की धारणा में – (इस तरह विविध) कर्मभाव में अटक गये हैं। लोगों को भटकने के स्थान अत्र-तत्र बहुत हैं। अनादि की उल्टी दृष्टि, ज्ञान की (सत्स्वरूप की) विराधना, और सच्ची परीक्षादृष्टि का अभाव होने के कारण धर्मान्ध जीवों को उल्टी पट्टी पढ़ानेवाले का योग जगह-जगह मिल जाता है।

अपनी सुविधा रखनी है, अपनी निन्दा होना सुहाता नहीं है तो फिर सुपात्र मुनि या किसी साधर्मीभाई की सेवा क्यों रुचती नहीं है तथा वीतरागधर्म की प्रभावना की निन्दा होती हुई कैसे रुचती है ? धर्म की रुचि होवे, वहाँ संसार का या देहादि का अशुभराग छोड़ने के लिये शुभपरिणाम करने का मना नहीं किया है क्योंकि सत् की रुचिवाले को प्रशस्तराग हुए बिना रहेगा नहीं, फिर भी वह राग का राग नहीं है। परमार्थमोक्षमार्ग में शुभभाव का (पुण्यपरिणाम का) निषेध है किन्तु कब ? आत्मज्ञानसहित के पुरुषार्थ द्वारा अन्तरङ्ग अभिप्राय में से शुभ-अशुभ दोनों

विकारीभावों के निषेधरूप अबन्धभाव विद्यमान हो तब ञक और धर्मात्मा के चारित्र की अपूर्णता है तब तक। निश्चयस्वरूप के लक्ष्य से धर्म की प्रभावना के भाव होते हैं किन्तु शुभपरिणाम से तथा देह की क्रिया से धर्म होना वह नहीं मानता। अकषाय के लक्ष्य से तीव्रकषाय मिटाने का पुरुषार्थ अकषाय में जाने का निमित्त है – ऐसा वह जानता है। तदुपरान्त निश्चयस्वरूप के अनुभव बिना कोई मात्र देव, गुरु, धर्म की भक्ति, देहादि की क्रिया आदि व्यवहारधर्म को ही उपादेय माने, योग की क्रिया को साधन माने, और पुण्यपरिणाम में रुक जाए तो सच्चापुरुषार्थ नहीं है। निश्चय के लक्ष्य के बिना मन्दकषाय करना – वह वास्तविक मन्दकषाय (यानी प्रशस्त राग) नहीं है। तथापि जिसे स्वानुभवदशा प्राप्त नहीं हुई है, उसे इस शुभभाव को छोड़कर अशुभ में जाना – ऐसा किसी शास्त्र में कहा नहीं है। देव, गुरु, धर्म – ये तीनों वीतरागस्वरूप में हैं। उसका परमार्थ ग्रहण करके स्वतत्त्व सम्बन्धित रुचि बढ़ाये। सच्चा समझने का पुरुषार्थ होने पर शुभपरिणाम, विकल्प व शुभनिमित्त भी साथ में आयेगा ही। जो उसका निषेध करे और संसार के अशुभरागादि में प्रवर्तमान रहे, उसे पात्रता पाने की इच्छा नहीं है। अशुभ आचार का आदर करके जायेगा कहाँ ? उसे पवित्रधर्म की रुचि ही नहीं है किन्तु देहादि संसार बनाये रखने की रुचि है। रु. २५,००० का मकान बनवाना हो तो व्यवस्था बराबर रखने के भाव करे, समय की चिन्ता रखे और बराबर नज़र रखे कि मजदूर आदि क्या कर रहे हैं, गिट्टी ठीक है कि नहीं, चूना ठीक से चीकना नहीं होगा तो यह हजीरा (मकान) जल्दी गिर जायेगा, उसकी नींव मजबूत व गहरी करनी चाहिए इत्यादि पूरी-पूरी दरकार (रुचि) रखता है किन्तु मेरे सत्स्वरूप की श्रद्धा की नींव का क्या ? पवित्र देव, गुरु, धर्म की भक्ति या प्रभावना में भक्ति द्वारा आदर किया नहीं है तो मरकर कहाँ जायेगा ? सत् देव, सद्गुरु, सत् धर्म की प्रभावना के निमित्त पाने के प्रति अरुचि रखनेवाले आरम्भसमारम्भ (नहीं करना चाहिए, ऐसे) बहाने बताते हैं लेकिन अपने घर शादी आदि प्रसङ्गों में वे रुचि रखते हैं – इसका मतलब यह है कि उन्हें दुष्टराग की रुचि है। इष्टनिमित्तों की शोभा, देव, गुरु, धर्म की प्रभावना, भक्ति – ये प्रशस्तराग हैं। यह परमार्थ से हेय है किन्तु मैं कौन हूँ, कितना हूँ ? – इसका जिसे ज्ञान नहीं है, वह शुभ का निषेध

करके कहाँ जायेगा? जिसे स्वरूप की दृष्टि हो, उसके राग की दिशा बदले बिना नहीं रहेगी क्योंकि साधकदशा है, तब तक राग हो जाता है। पवित्र जिनशासन की शोभा, जिनप्रतिमा की भक्ति व देव, गुरु, धर्म का बहुमान हो – ऐसी भावना होनी चाहिए। यदि मन की वृत्तियाँ टूटकर वीतरागदशा में स्थिर हो गया हो तो उसे कोई नहीं कहता कि तू विवेक रख।

पुनश्च, जिसे सच्चीदृष्टि है, वह नित्य शास्त्र वांचन, मनन, श्रवण अथवा ज्ञान -ध्यान और सत्पुरुष की भक्ति में, जिन आज्ञा में प्रवर्तमान रहता ही है; उसे जहाँ -जहाँ जो-जो परमार्थ से योग्य है, उसकी समझ व विवेक होता ही है।

अन्तरङ्ग अभिप्राय में यह समझे कि मैं पूर्णशुद्ध वीतराग हूँ; राग का अंशमात्र मेरे में नहीं है – ऐसी परमार्थदृष्टि में स्थिर होते समय तो शुभविकल्प का भी निषेध रहता है किन्तु स्थिरता का पुरुषार्थ (राग मिटाने का पुरुषार्थ) करने में मन्दकषाय (शुभभाव) हो जाता है। अशुभ में ही खड़ा रहकर शुभ का निषेध करे तो वह आत्मार्थी नहीं है।

गृहस्थी के प्रसङ्गों में घरबार, बच्चों की शादी इत्यादि प्रसङ्गों में बहुत सम्भाल रखने की वृत्ति रखता है। संसार में अच्छा दिखाने की इच्छा है और पवित्र वीतरागमार्ग की शोभा, जिनशासन की उन्नति के लिये तन, मन, धन खर्च करने में सङ्कोच करे, उसे सत् का अनादर है। कदापि तू ऐसा कहे कि आत्मा शुद्ध है, अकषायी है तो उसे ज्ञानी कहते हैं कि तेरे लिये वह नहीं है क्योंकि पवित्रज्ञायकभाव रहे, तब तो ठीक है लेकिन जहाँ-जहाँ धर्मप्रभावना, भक्ति के निमित्तों की जरूरत दिखे, वहाँ लोभकषाय कम करना ही चाहिए। इसके बजाय कोई लोभ बढ़ाये और कहे कि क्या करें ? हम संसार के व्यवहार में बैठे हैं, हमें घरव्यवहार में तो धन व्यय करना ही चाहिए – इस प्रकार धर्मप्रभावना प्रति दुर्लक्ष करनेवाले को आत्मरुचि नहीं है।

आत्मज्ञानदशा प्राप्त हो, वे भी जब निर्विकल्प, स्थिर उपयोग में नहीं टिक सकते हैं, तब शास्त्राभ्यास, स्वाध्याय, देव, गुरु, धर्म की भक्ति का परमार्थ के लक्ष्यपूर्वक अवलम्बन लेते हैं; धर्म की प्रभावना के लिये यथाशक्ति सब कुछ करते हैं। खुद को अकषाय (पूर्ण पवित्र) स्वभाव में जाना है, इसलिये (उस लक्ष्य से)

कषाय कम करने के निमित्त पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करेंगे। धर्मसाधना में धन खर्च करके अथवा खुद का वीतरागी (देव, गुरु, धर्म) के प्रति प्रेम बढ़ाकर भी धर्म की प्रभावना करेंगे। आत्मार्थी अपना पुरुषार्थ (शक्ति) गोपित नहीं रखेगा, शुभ से डरेगा नहीं। वर्तमान में बहुत लोग निश्चयाभास में रहते हैं, अशुभ में प्रवर्तन करते हैं। वे कभी धर्म की बातें भले ही करते हों, उन्हें उसे संसार सुहाता है, मोक्षस्वभाव की रुचि नहीं है क्योंकि वे पुण्य की रुचि रखकर ऐसा मानते हैं कि हम पुण्य को संसार का फल मानते हैं। पुण्य से धर्म नहीं है किन्तु भाई रे ! रुक जा, विचारकर कि मैं कहाँ खड़ा हूँ ? किस तरफ मेरा झुकाव है ? किसकी रुचि है ? इसका विवेक (समझ अथवा भेदज्ञान) होना चाहिए। धर्म जीव के लिये ज्ञानी का उपदेश है कि आत्मा को पहचानो। परमार्थ के लक्ष्यपूर्वक विषयकषाय कम करो। ज्ञायकस्वभाव की महिमा जानो और धर्म की रुचि बढ़ाने के निमित्त से देव, गुरु, धर्म की भक्ति, प्रभावना करो। तीव्रकषाय कम करके मन्दकषाय का पुरुषार्थ करने के लिये शुभ का उपदेश भी दे लेकिन आत्मार्थी जहाँ जो निमित्त दिखे, उसका परमार्थ ग्रहण कर लेता है। द्रव्य जो है, वह स्वभाव से तो शुद्ध, अबन्ध, निरपेक्ष है – ऐसा ही माने। अनेकान्त न्यायदृष्टि को यथास्थान में समझे, पुरुषार्थ की उत्थापना (खण्डन) न करे। पुरुषार्थ हेतु व्यवहार का उपदेश भी परमार्थ के लक्ष्यपूर्वक प्रेम से सुने। नित्य स्वाध्याय, बारहभावना, वांचन, मनन तथा सत्स्वरूप की भावना द्वारा राग, द्वेष, प्रमाद को मिटाने का उपदेश ग्रहण करता है। मैं अकषायी हूँ; असंयोगी हूँ; परधर्म से भिन्न, अखण्ड ज्ञानमात्र हूँ। उसमें स्थिर रहने के लिये वर्तमान अवस्था में रागादिकषाय कम करने का पुरुषार्थ जब तक पूर्ण वीतराग न हो जाये, तब तक रहता है।

चार ज्ञान के स्वामी गणधरदेव तथा ज्ञानी धर्मात्मा भी वीतरागदेव का उपदेश सुनते हैं। उपदेश में निमित्त की भाषा आये कि राग-द्वेष-प्रमाद का नाश करो, अल्प प्रमाद भी मत करो। अभिप्राय में जानता है कि परमार्थ से मेरे स्वभाव में राग, द्वेष, प्रमाद है नहीं, किन्तु अभी वर्तमान में अधूरी अवस्था है, उसकी परलक्ष्य से मलिनता हो जाती है। इस प्रकार निश्चय व व्यवहार – दोनों न्याय, धर्मात्मा जहाँ जैसा उचित हो, वहाँ वैसा समझते हैं। परमार्थ के लक्ष्यपूर्वक एक को मुख्य

व दूसरे को गौण – इस प्रकार यथास्थान में विवेक किये बिना कौन पुरुषार्थ कर सकता है ? सारी समझ स्वयं को ही करनी पड़ेगी।

पण्डित शादी करवा दे किन्तु संसार (गृहस्थी) नहीं चला देता। इस प्रकार श्रीगुरु सच्चे परमार्थ की दिशा बताते हैं किन्तु किसी जीव या अजीव को परिणमित नहीं करा सकते क्योंकि शास्त्र में मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा। गुरुगम का माहात्म्य अपनी समझ में उतारना चाहिए। परभाव का त्याग, संसारपरिग्रह से तथा देहादि विषयों से वैराग्य – यह त्याग-वैराग्य का पुरुषार्थ परमार्थ के लक्ष्यपूर्वक होना चाहिए। अन्तरङ्गज्ञान की स्थिरता का पुरुषार्थ वीतरागदृष्टि की दृढ़ता हेतु होना चाहिए। उसमें पात्रता व सत्समागम का बल चाहिए।

शास्त्र में अनेक अपेक्षाओं से कथन होता है। उसे कोई स्वच्छन्द द्वारा समझना चाहे तो समझ नहीं सकेगा। जो मतार्थी होता है, मानार्थी होता है, वह अपने आग्रह की पुष्टि करता है; उल्टी खतौनी करता है और सच्चेपरमार्थ का तथा पुरुषार्थ का निषेध करता है।

मतार्थी माने धर्म के नाम से पक्षपात में अटका हुआ जीव मानता है कि यही सच्चाधर्म है, हमारा कुलपरम्परा का धर्म है, वह मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ? इस तरह के मतार्थी जीव मताग्रह देखते हैं, आत्मा को नहीं देखते।

और, जो मानार्थी है, उसे मान ही जँचता है (रुचता है)। अपनी दीनता व दूसरे का बड़प्पन वह देख नहीं सकता। तदुपरान्त बहुत से जीव शास्त्र के शब्दों को धारणा में रखते हैं किन्तु ज्ञानी के वचनों का आशय और परमार्थ को जानते नहीं हैं; केवल अपने सम्प्रदाय का आग्रह रखते हैं। किसी को देव, गुरु, धर्म की भक्ति, जिनशासन की सेवा आदि शुभप्रसङ्ग में निमित्त होने में आपत्ति लगती है। उसका कारण खुद का देहाध्यास है, धन तथा शरीर की ममता है।

कोई बुद्धिबल द्वारा शास्त्रों की जानकारी करके, कहनेमात्र में तत्त्व का (कोरा) विचार करने में व चर्चा करने में ही ज्ञानीपन मानते हैं। वे भी परमार्थ व व्यवहाररहित हैं, पुरुषार्थरहित हैं क्योंकि एकान्त मान्यता के आग्रह में रुके हुए हैं। कोई ऐसा माने कि आत्मा शुद्ध ही है, ज्ञाता, साक्षीमात्र ही है, अक्रिय है; अतः मैं ऐसा करूँगा तो कर्तापना आ जायेगा, ममत्व का दोष हो जायेगा; किसी की सेवा, दान,

पुण्य में निमित्त होने पर रागद्वेष होगा; ऐसा बोलने से ऐसा दोष होगा; देव, गुरु, धर्म की भक्ति करने से निमित्ताधीनपना हो जायेगा, इत्यादि कल्पनाओं में रुका रहे तो वह पुरुषार्थ छोड़कर स्वच्छन्दता में प्रवर्तन कर रहा है। अकर्ता की भाषा को सुनने में तत्त्व को भूलकर पोथीपंडित में तथा वादविवाद में अटक जाता है और सच्चे परमार्थ के पोषक जो इष्टनिमित्त - सत् देव, गुरु, धर्म, उसकी रुचि, आदर, बहुमान, भक्ति का उपेक्षक होकर अन्य बहाने आगे धर देता है। इसका कारण निश्चयाभास दृष्टि है, देहादिसंसार की ममता है। शास्त्र पढ़कर एकान्तनिश्चय के शब्द मन में धारण कर लिये हैं और तत्सम्बन्धित राग में रुक जाता है और पुरुषार्थरहित होकर स्वच्छन्द में वर्तता है और कहता यह है कि मन्दकषाय (शुभपरिणाम) तो उदयकर्म की अवस्था है; आत्मा की नहीं। आत्मा (तो) अकर्ता, अभोक्ता है किन्तु इस पवित्रपरमार्थदशा को प्रगट तो कर ! मैं अखण्ड ज्ञायकसाक्षी हूँ – ऐसा परमार्थ और इस प्रकार का बल तो आया नहीं है, इसलिये मात्र बातें करता है और कषाय कम करने के इष्ट निमित्त (देव, गुरु, धर्म) का अनादर करनेरूप स्वच्छन्दता में प्रवर्तन करता है। जीव स्वयं जो भूल करता है, उस भूल को दूर करने के लिये श्रीमद्राजचन्द्रजी ने सत्समागम में सत्शास्त्र का अभ्यास, देव, गुरु, धर्म की भक्ति तथा सद्गुरु के समागम की खास सिखावन दी है। मैं कुछ जानता हूँ – इत्यादि प्रकार के स्वच्छन्द-प्रतिबन्धवान जीव प्रारम्भ के साधन भी ग्रहण नहीं कर पाता है और अन्य कल्पना में प्रवर्तन करता है; अत: आत्मार्थ प्राप्त नहीं कर पाता।

गाथा ६-७ का अर्थ बहुत विशाल है। उसमें महत् आशय समाया हुआ है। शुष्कज्ञानी से कहा कि अभी कषाय-ममता में कमी नहीं है, नीचे (की भूमिका)से ऊपर उठा नहीं है और यदि ऐसा मानने लगा कि मैं ज्ञानी हूँ तो आगे बढ़ने का मौका ही नहीं है। अनन्तकाल से स्वच्छन्दता के कारण ही भटकना हुआ है। जैसा है, वैसा मध्यस्थ रहकर, सर्वज्ञवीतराग की आज्ञा समझने का यथार्थ उपाय सत्समागम तथा पात्रता द्वारा अभ्यास करे तो समझ में आये – ऐसा है।

अनन्तकाल से आत्मा के नाम से स्वच्छन्दता एवं मताग्रह से बाहर का सब कुछ किया है; अत: श्रीमद् ने निष्कारण करुणा से आत्मार्थी जीवों के हित के

लिये आत्मसिद्धि शास्त्र की रचना की है।

जिसका आत्मा साधकस्वभाव में है, वह जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य हो, वहाँ-वहाँ वही कार्य विवेकसहित करता है। कोई जीव खुद को धर्मी मानता हो, वह लड़के की या स्त्री, परिवार की कोई निन्दा करे तो उसके साथ लड़ने को तैयार हो जाए किन्तु जिस समय धर्मात्मा की निन्दा हो; देव, गुरु, धर्म की अवहेलना हो, उस समय कहे कि हमें मध्यस्थ रहना चाहिए, धर्मात्मा को समभाव रहता है, शासन तो टिकनेवाला ही है तो वह औंधा वीतरागी है। पर में कुछ किया नहीं जा सकता, इसलिये हमें समभाव रखना चाहिए – ऐसा कहनेवाले दुर्बुद्धि सच्चे निमित्त की अवहेलना करते हैं। धर्मप्रभावना के काम में तो उदासीन रहना है और घर में, संसार में, निभा लेने की दरकार करनी है – वह विपरीत दृष्टिवाला है। उसे आत्मा का आदर नहीं है, प्रेम नहीं है। कोई कहे कि देव, गुरु, धर्म तो वीतराग हैं, इसलिये धर्म के बहाने राग नहीं करना चाहिए – यह बात परमार्थ से तो सत्य है लेकिन घरगृहस्थी और शुभविकल्पों से भी एकान्तरूप से स्थिर हो जा। जैसे सिद्ध भगवान को, शासन कैसे चलेगा ? – यह विकल्प नहीं है, वैसा तू भी हो जा ! तो फिर वह दृष्टि और प्रवर्तन मोक्ष का कारण है किन्तु पहले भूमिका तो तैयार कर।

सिद्ध भगवान व वीतरागदशा की बातें स्थिर होने के लिये हैं, मात्र कोई बातें करने के लिये नहीं हैं। तत्त्वदृष्टि के यथार्थ अभिप्राय के भानसहित जहाँ-जहाँ जो -जो योग्य है, उस-उस न्याय को यथार्थ समझे और आचरण करे। मुमुक्षु जीव को धर्मप्रभावना आदि शुभप्रसङ्गों में बहुमान, विनय, भक्ति आये बिना नहीं रहती। जहाँ पुरुषार्थ का प्रयोजन है, ज्ञानी की माने वीतराग भगवान की आज्ञा का आराधन हो, वहाँ नम्रता व विवेक होता ही है।

जिसने मताग्रहपूर्वक अभिप्राय बनाकर पकड़ रखा है, वह अपने अनुकूल युक्ति मिले – ऐसी बात आने पर एकदम सवार हो जाता है।

जिसको साधकस्वभाव का विकास हुआ है, वह जीव यथास्थान में यथार्थ न्याय का विचार करके समझता है और इस प्रकार समझने की जिसे कामना है, जो अविरोध न्याय समझने का इच्छुक है और जो यथार्थ है, वैसा ही आचरण

करने का कामी है, वही आत्मार्थी कहा जाता है।

श्रीमद्जी ने कहा है कि जगत के अभिप्राय की ओर देखकर जीव ने अब तक पदार्थ का बोध प्राप्त किया है किन्तु उस तरफ लक्ष्य नहीं करके ज्ञानी के अभिप्राय की ओर देखकर आत्मा का लक्ष्य करे तो आत्मधर्म सहज प्राप्त होता है।

मैं कुछ जानता हूँ, मेरे में तुलनात्मक शक्ति है - ऐसे मिथ्या बड़प्पन द्वारा कई जीव, अनन्तज्ञानी महापुरुष हो गये, उनके अतीन्द्रिय न्याय की तुलना नहीं करते हैं; कहाँ स्वच्छन्दता का पोषण हो रहा है, उसके प्रति दुर्लक्ष्य करते हैं; उन्हें अपूर्व लोकोत्तरमार्ग कैसे समझ में आयेगा ? इसके लिये तो सत्पुरुष की उपासना, विनय, सत्समागम करने का बताया है।

जहाँ-जहाँ समझना चाहिए, वहाँ-वहाँ यथार्थ समझे और जो-जो (यथार्थ) आचरण करना चाहिए, वही करे यानी धर्मात्मा ज्ञानी के मार्ग पर चलने की जिसे कामना है और सत्पुरुष जो समझे हैं, जैसा आचरण करते हैं, वही मुझे समझना है, वैसा ही आचरण मुझे करना है – ऐसी सच्ची जिज्ञासा जिसे है, वह आत्मार्थी है। **८.**

अब, देव, गुरु, धर्म की भक्ति और सच्चे सद्गुरु की सेवा करने के विषय में कहते हैं क्योंकि जीव अनन्तबार बाह्यत्याग, वैराग्य में अटका है। आत्मा का भान हुआ नहीं है। इसका कारण यथार्थ विवेक का व तुलनात्मक शक्ति का अभाव है। आदरणीय क्या और त्यागने योग्य क्या ? – इसे यथार्थ समझने का उपाय कौन बता सकता है – यह आगे की गाथा में कहेंगे :-

सेवे सद्गुरुचरणने, त्यागी दई निजपक्ष;
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष।।९।।

सेवे सद्गुरु के चरण, त्याग कर निज-पक्ष।
पावे वह परमार्थ को, निजपद का ले लक्ष।।९।।

प्रथम पद में आया कि -

'जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत;
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्‌गुरु भगवंत'

जो पद कहा, वह पद तुझे समझ में नहीं आया। उसका कारण स्वच्छन्दता व प्रतिबन्ध है। उसे दूर करने की विधि अपने आपसे समझ न सके, इसलिये जिन्होंने यथार्थ तत्त्व समझ लिया है, ऐसे सद्‌गुरु के पास अपना विवेक समझने के लिये, अपना मत, आग्रह, मानादि पक्ष छोड़कर सरलभाव से, सद्‌गुरु के चरणों का सेवन करना। अपनी पवित्रता के बल से इष्टनिमित्त प्राप्त होगा ही। अपनी स्वच्छन्दता, प्रतिबन्ध का त्याग किया, इसलिये खुद को सच्चे मार्ग की और ज्ञानी सत्पुरुष की पहचान होनेवाली ही है। वह निर्मानी (निरभिमानी) होकर सद्‌गुरु का चरणसेवन करता है।

'हड्डियों की सेवा नहीं किन्तु आज्ञा की आराधना।' सद्‌गुरु के लक्षण पहचान कर उनकी चरणोपासना करना माने विनयसहित सदबोध ग्रहण करना और सच्ची अर्पणता करना।

कोई कहे कि हमने बहुत साधु देखे हैं, हमने दस वर्ष तक समागम किया है, धर्मकथा श्रवण की है – उससे पूछते हैं कि ऐसा करके तेरा क्या दारिद्र मिटा ? (तुझे क्या लाभ हुआ ?) जिस प्रकार ज़ङ्ग लगी हुई लोहे की डिब्बी में पारसमणि (रत्न) लाख वर्ष तक पड़ा रहे तो किस मतलब का ? मार्ग की विधि, न्याय समझे बिना अँधी दौड़ किस काम की ? निजपक्ष छोड़कर सच्ची पहचान द्वारा जिनआज्ञा का सेवन करे तो ही आत्मार्थ को प्राप्त होगा। आत्मा का जिस प्रकार से धर्म है, वस्तुस्वभाव है, उस प्रकार से समझे, श्रद्धा करे और उस रूप का आचरण करे (प्रवर्तन करे), तो सहज आनन्दस्वरूप का वेदन होवे।

सम्यक्‌श्रद्धा को विपरीत अभिप्राय से रहित होकर समझे, आचरण करे, स्वसन्मुख ज्ञान को ज्ञानरूप समझे, आचरण करे और आत्मा का चारित्र यथार्थ चारित्ररूप से समझे और आचरण करे। जिसे वह यथार्थरूप से समझ में नहीं आया है, वह यथार्थ समझने की सच्ची जिज्ञासा रखे, प्रयत्न करे तो वह आत्मार्थी है।

'त्यागी दई निजपक्ष' यानी अपने पक्ष का पूर्वाग्रह, उल्टी मान्यताओं का सर्वथा

त्याग करने को कहा है। खुद की दृष्टि में जो निर्णय हुआ, उसमें सर्वस्व की कल्पना करके अपनी मान्यता का, स्वच्छन्दता का पोषण करे और कहे कि हमें आत्मा का तेजबिम्ब दिखता है, देव दिखायी देते हैं अथवा कहे कि मुझे पूर्वजन्म के संस्कार हैं – इत्यादि अनेक कल्पनाओं द्वारा अपनी दृष्टि से उल्टी मान्यता की है। वह अपनी स्वच्छन्दता, मान्यता, आग्रह छोड़कर सत्पुरुष को खोजे और उनके प्रति अर्पणता करे तो परमार्थ को प्राप्त कर लेगा। परीक्षाशक्ति नहीं है तो विनयपूर्वक पात्रता विकसित कर ! किन्तु अँधीदौड़ से तुझे कोई लाभ नहीं होगा।

सेठ का दृष्टान्त : एक लक्षाधिपति गृहस्थ के पास एक गरीब आदमी नौकरी के लिये गया। खुद में बहुत होशियारी है – ऐसा वह मानता था। सेठ ने उससे कुछेक सवाल किये। उसमें एक बात पूछी कि तुझे पूर्णविराम करना आता है ? उसने उत्तर दिया कि वह क्या है, मुझे उसका पता नहीं है। तो सेठ ने कहा कि तुझे दस हज़ार रुपये मैं सौंप दूँ, तू उसे व्यापार में तो लगा दे किन्तु फिर उसे समेटना (पूर्ण विराम करना) नहीं जानता हो तो मुझे तेरा कोई काम नहीं है।

इस प्रकार यदि सद्गुरु की सेवा करनी हो तो अपनी स्वच्छन्दता से अपने आप जो-जो मान्यता (कल्पना) की है, उस पर चौकड़ी लगा दो। लोग कैसी-कैसी कल्पनाओं में धर्म मान बैठे हैं। सेवा में धर्म माना हो, दानपुण्य में धर्म माना हो, भक्ति से धर्म माना हो, पूर्वाग्रह में पड़ा हो, खुद का पक्ष निश्चित कर लिया हो तो इन सभी मान्यताओं के फैलावे का पक्ष छोड़ दे यानी उन्हें समेटकर निकाल दे तो ही सत्पुरुष की पहचान एवं सेवा हो सकती है।

क्रियाजड़ एवं शुष्कज्ञानी जगत में क्यों भटक रहे हैं ? सभी को मोक्षसुख की इच्छा है, फिर भी क्यों भटक रहे हैं? – इस *आशङ्का का यहाँ पर उत्तर देते हैं : मतदर्शन इत्यादि की अनेक विचित्र मान्यताएँ, खुद का आग्रह, मत, पक्ष

शङ्का तथा आशङ्का का अर्थ :-

* शङ्का - आपकी बात में मुझे शङ्का होरही है – ऐसा कहनेवाले को कोई जबरदस्ती समझा नहीं सकता।

* आशङ्का - आपकी बात सही है, किन्तु मुझे समझ में नहीं आरही, इसलिये समझाइए।

इत्यादि छोड़कर सत्पुरुषों की शरण को यानी प्रमाणरूप सच्चीआज्ञा का आराधन करे तो अपने परमपवित्र ज्ञाताभगवान को यानी अपने आत्मा को प्राप्त करे।

'पामे ते परमार्थने' जड़द्रव्य एवं चैतनद्रव्य - ये दोनों पदार्थ क्या हैं? उनके द्रव्य, गुण, पर्याय क्या हैं ? – इस प्रकार स्वद्रव्य, परद्रव्य की भिन्नता इत्यादि का यथार्थज्ञान सद्गुरु की आज्ञा की उपासना करने पर सच्ची तरह से समझ में आता है। पदार्थ का बोध होने से सच्चीसमझ होती है कि जड़ से भिन्न और कलुषिततारूप अशुद्धता से भिन्न; पवित्र, अविनाशी, बन्धरहित, सहज आनन्दमय, शुद्ध आत्मा है।

आत्मस्वभाव का लक्ष्य न बने और अपने स्वच्छन्द आग्रह से निवर्तन न हो तो दीर्घकाल पर्यन्त बहुत सारे शास्त्र पढ़े या पुण्य करे तो भी सम्यक्श्रद्धा व अविरोध न्यायमार्ग की समझ नहीं होती किन्तु पात्रता पाकर सत्पुरुष को पहचाने, उनकी आज्ञा की उपासना करे तो कल्याण होगा।

मुमुक्षु को सत्पुरुष की न्याययुक्तिवाणी समझ में आने पर सत्पुरुष का जो बहुमान आता है, उसमें स्वतत्त्व का बहुमान शामिल है। सत्पुरुष के वचन के आशय में एकाग्र होता हुआ मुमुक्षु अपने स्वरूप का विचार करता है और निजस्वरूप का बोध जैसा है, वैसा प्रगट करता है।

अनन्तकाल गया, फिर भी जीव को धर्म क्यों प्राप्त नहीं हुआ ? उसके कारण दर्शाते हैं : बहुत लोगों को ऐसी मान्यता वर्तती है कि मन, वचन, काया से व पुण्यादि से धर्म होता है। इसका कारण यह है कि असद्गुरु कि जो आत्मज्ञान व आत्मज्ञान के साधनों को जानते नहीं हैं; आत्मा निर्विकार, निर्विकल्प, पापपुण्यरहित, सिद्ध समान है; उसका लक्ष्य, अनुभव व प्रतीति नहीं है और उस प्रकार के सत्साधन तथा वीतरागमार्ग की विधि भी जो जानते नहीं है - ऐसे असद्गुरु का जीव को अनेक जगह पर योग बनता है। स्वच्छन्दी जीवों को सच्चीपरीक्षा नहीं होने से, जहाँ-जहाँ अन्धत्त्वभरी अर्पणता, श्रद्धा करते हैं, वे कायाक्लेश व्रत, तप द्वारा अपनी मान्यता का (श्रद्धा का) प्रयोजन साधते हैं।

अज्ञानभाव से परद्रव्य में धर्म माना गया है। जड़ की आराधना से जड़ फलता है। मन के शुभपरिणामों से भी पार अतीन्द्रिय आत्मधर्म है, उसकी (गन्ध) तक नहीं है। कुगुरु ऐसे दिमाग में घुसा देते हैं कि परम्परा से भी इससे धर्म होगा।

हम भी यही करते हैं। जो कुलधर्म, रूढ़िवादितवाला धर्म है, उसे दृढ़ करवाते हैं। आचार्य कहते हैं कि जो-जो जीव, जिस कुल में स्वयं ने जन्म लिया है, उस कुल में जिस गुरु का उन्हें बारम्बार परिचय रहता है, उसका आग्रह रखते हैं कि ये हमारे बापदादा के गुरु हैं। हमारा कर्तव्य है कि हमें उनकी आज्ञा माननी चाहिए - ऐसे जीव कुलादि में मूर्छित हुए हैं। राग-द्वेष रहित वीतराग सर्वज्ञभगवान के हितवचन क्या हैं ? आत्मा कैसा है ? उसके परिणमन, अन्तरवेदन की तो कुछ खबर नहीं है। इस प्रकार एक अँधा दूसरे अँधे को उँगली पकड़कर रास्ता दिखाये – ऐसा हुआ।

लोगों को सच्चीबात सुनने पर दुःख लगे, ऐसा काल वर्त रहा है। मन के शुभपरिणाम से भी धर्म नहीं होता – ऐसी बात सुनने में और समझने में पसीना छूट जाता है, उलझन लगती है। उपदेशक गुरु भी ऐसे मिले कि लोगों को रास्ता (आसान) दिखा दिया। इसे ठीक (अच्छा) कहकर मनानेवाले भी बहुत मिल जाते हैं।

करोड़ सोना मोहर का प्रतिदिन दान करे किन्तु उससे एक सामायिक का फल अनन्तगुना है। किन्तु वह कौन-सी सामायिक ? आत्मा शुद्ध, अविकारी, वीतरागी है; पुण्य, पाप, विकल्परहित, अरागी है – ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और ऐसे अभेदस्वरूप में स्थिरता रहना, यही सच्ची सामायिक है। इस सामायिक के फल की तुलना अनन्त मन सोने के दान के फल के साथ भी नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों की जात अलग है। जिसे कुछ यथार्थअभ्यास नहीं है और अपना आग्रह छोड़ना नहीं है, ऐसे जीवों को सच्ची सामायिक कहाँ से होवे ?

यहाँ ऐसा कहना है कि अपने झूठे मताग्रह से, गलत उपदेश द्वारा मिली पुष्टी से हठाग्रही हुए जीवों से सच्चे धर्म के सन्मुख हुआ नहीं जाता। शुभभाव को संवर मानते हैं और इससे निर्जरा और धर्म होना मानते हैं। पुनश्च, अन्तरङ्ग से (मन में) पूर्वाग्रह हटता नहीं है, ऐसा जीव आत्मधर्म प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि उसने सच्चे सद्गुरु का आश्रय किया नहीं है और शुष्कज्ञानी अथवा क्रियाजड़ नामधारी धर्मी मिले हैं, उनका सङ्गप्रसङ्ग रहा करता है। खुदने जो मान रखा है, उससे अन्यथा आये तो उसकी न्यायपूर्वक तुलना करनी नहीं है और सच्चे का

निषेध करता रहता है। ऐसों को कभी सच्चे धर्मात्मा का योग प्राप्त भी होगा तो भी अशातना करेगा।

पुनश्च, अपने स्वच्छन्द का पोषण करने हेतु अध्यात्मग्रन्थ पढ़े हो, ऐसे स्वच्छन्दी शुष्कज्ञानियों ने एकान्त से निर्णय किया हुआ होता है कि खुद ज्ञानी हैं और उन्होंने ऐसा भी माना है कि बन्ध और मोक्ष कल्पना है और अनन्तकाल शुभकार्य किये, क्रियाकाण्ड किये किन्तु उससे धर्म नहीं है; अतः हमें तो आत्मज्ञान जो कि सच्चा मोक्षमार्ग है, उसमें मगन रहना है। इस प्रकार मात्र शब्दों के धारणाज्ञान से स्वच्छन्द में मग्न रहता है।

जिस अभिप्राय में अनन्तबार व्रत, तप, क्रिया की और नौ पूर्व का अथाहज्ञान किया, फिर भी आत्मा का जो अतीन्द्रिय अनन्त पुरुषार्थ है, उसकी जो जाति है, उसकी प्रगटदशा हुए बिना, मात्र शास्त्र के वाचन से या कुगुरु के कहे अभिप्राय अनुसार अपना अभिप्राय भी बदल गया है – ऐसा बहुत लोग मानते हैं। उस पर वजन नहीं जाना चाहिए। श्रीमद्‌जी ने कहा है कि जीव ने जगत के अभिप्राय की ओर देखकर पदार्थ का बोध प्राप्त किया है किन्तु ज्ञानी के अभिप्राय की ओर देखकर आत्मपदार्थ का बोध, स्वधर्म प्राप्त नहीं किया है। अतः, ज्ञानी की आज्ञानुसार आत्मा जैसा है, वैसा समझ में आये तो जहाँ जैसा उचित है, वैसा पुरुषार्थ हुए बिना रहे नहीं। जिस वस्तु की कीमत समझ में आये, जरूरत / गरज लगे, उस वस्तु की प्राप्ति किसी भी कीमत पर कर लेता है। मोहवश चाहे जितना नुकसान उठाकर भी इष्टचीज के लिये, जलते हुए घर में भी अपने बच्चे को बचाने के लिये अग्नि में कूद पड़ता है तो आत्मा अनन्त काल में अनन्त प्रकार के उद्यम से प्राप्त हुआ नहीं है – ऐसा परम आत्मतत्त्व जैसा है, वैसा अन्दर में जम जाये; उसकी रुचि हो जाये; पहचान हो जाये, तो जगत की सभी सुविधा का राग, ममता छोड़कर उसके अभ्यास की प्रवृत्ति क्यों न हो ?

अनन्त सामर्थ्य द्वारा जो पद प्रगट होता है, वह मुफ्त में, धारणा में लेनेमात्र से प्राप्त हो जाता तो सब लोग धर्म पा गये होते। जगत में खुद को ज्ञानी मनवाने का मान पड़ा है; उसी में मिठास है, उसी का पक्ष रहा है किन्तु मात्र चातुर्यभरी बातों से धर्म नहीं होता।

कोई निमित्त पर वज़न दे रहा हो कि ऐसा निमित्त हो, तभी धर्म हो सकता है; वह भी पूर्वाग्रह की कल्पना से सत्पुरुष जो कि सच्चानिमित्त है, उसकी पहचान बिना, सच्ची जिज्ञासा के बिना, बाह्यदृष्टि के कारण सच्चे का निषेध करेगा और झूठे का आदर करेगा। 'कोई उपादान का नाम लेकर, निमित्त का त्याग (अनादर) करता है' - यह सूचित करता है कि कथनमात्र से; कोरी बातों से; शास्त्रज्ञान की धारणा से; ज्ञानीपना मानता हो, वह भी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा।

अभी प्रथम भूमिका की तो खबर नहीं है और एकान्त पकड़कर बैठ जाए कि निश्चय से आत्मा ही आत्मा का गुरु है और वर्तमान में कुगुरु बहुत हैं; अतः अन्दर से ही ज्ञान प्रगट होगा – इस प्रकार खुद का माहात्म्य (जरूरत / भूमिका से) ज्यादा करके अध्यात्मग्रन्थ पढ़े और ऐसे-वैसे निर्णय कर ले कि पुण्य से बन्ध है, पाप से भी बन्ध है। शास्त्र में कहा है कि आत्मा परमार्थ से अबन्ध है; अतः हमें तो बन्ध नहीं है। बन्ध-मोक्ष तो कल्पना है। जीव को अनादि से जो भ्रम हुआ था, वह भ्रम अब आत्मा में नहीं है – ऐसा हमने निश्चितरूप से माना है और राग, द्वेष, पुण्य, पाप जीव के नहीं हैं; अतः मैं (शुद्ध) ही हूँ। किन्तु भाई ! तू अपनी वर्तमान अवस्था (के) प्रति तो निगाह कर !

पुनश्च, किसी विशेष कारण से शास्त्र में दान, दया की विशेषता कही है तथा देव, गुरु, धर्म की भक्ति आदि पुण्य के परिणाम हैं – ऐसा कहा है। उसका प्रयोजन, अन्तरङ्ग आशय समझे बिना, अपनी मानी हुई पुण्यप्रवृत्ति का पक्ष करके जगत का तिरस्कार करने में, टीका करने में वह मानादि का पोषण करता है।

यदि कोई ऐसा माने कि आत्मा बिल्कुल शुद्ध, पवित्र ही है, तीनों काल में (अपनी कोई) भूल नहीं है; मात्र भ्रम हो गया था। विषय के परिणाम पाप के हैं और विषयादि का भोग नहीं करने के परिणाम पुण्य के हैं। वे मेरे नहीं हैं। मैं अन्तरङ्ग में पूर्ण वीतरागी, अरागी हूँ तो यह बात परमार्थ से सत्य है; ऐसे स्वभाव का किसी निमित्त से सम्बन्ध नहीं है किन्तु ऐसी स्थिर अन्तरङ्गदशा हुए बिना राग की रुचिवाला ज्ञान किस काम का ? क्योंकि अन्दर में मानादि की कामना है; संसार की वासना, मोह, राग, द्वेष प्रवर्तमान है। उनको बहुत से शास्त्रज्ञान की निरर्थकता है तथा बहुत से शुभपरिणाम, क्रियाकाण्ड का निरर्थकपना है। आत्मा

के भान बिना अनन्त बार नौ पूर्व तक का अभ्यास किया, फिर भी आत्मा के नाम से अन्य कुछ ही हुआ है। अभव्यजीव एवं भव्यजीवों को बहुत से पुण्यपरिणाम से ऐसी लब्धि, सिद्धि प्रगट होती है कि मेरुपर्वत को देखते हैं, स्वर्ग-नरक भी देखते हैं, और उनकी बुद्धि की धारणाशक्ति बढ़कर इतनी तीक्ष्ण हो जाती है, करोड़ों ग्रन्थ, शास्त्र याद रह जाते हैं; फिर भी आत्मार्थ प्राप्त नहीं कर सका तो (यह विचारना चाहिए कि) वह अलौकिकमार्ग कैसा होगा? – जो सद्गुरु आज्ञा से सहज मिल जाता है।

शास्त्र की जानकारी होने के बावजूद भी जीव स्वच्छन्दता में रत रहकर मूढ़ता को प्राप्त हुआ है; अतः उसे हित-अहित का विचार करने की गुञ्जाइश नहीं है। मैं कहाँ खड़ा हूँ ? क्या मानता हूँ ? क्या मनवाता हूँ ? – इसका भान नहीं है और अन्तर में जो वेदन चाहिए, वह नहीं है। आत्मा ज्ञाता, अविकारी, चिदानन्द, शुद्ध, पवित्र है; जड़ की क्रिया का अकर्ता है; निर्विकल्प है, अखण्ड ज्ञाता है – उसका भान नहीं है, उसकी पहचान नहीं है और जिसे आत्मज्ञान वर्तता है, उनके शरण का आश्रय नहीं है तो ऐसे जीव आत्मा के नाम से अनन्तभव में अनन्तबार अनन्त शास्त्र पढ़ लें, पुण्यक्रिया करके मर जायें, फिर भी सच्चासुख या आत्मज्ञान नहीं पायेगा। यदि सद्गुरु के चरण का सेवन किया होता तो शुष्कज्ञान और जड़क्रियारूप दो तरह के आग्रहों में डूब जाने का समय नहीं आता और राग-द्वेष रहित ज्ञान के साधन को प्राप्त होता।

शुष्कज्ञान व क्रियाजड़त्व का त्याग करने से और यथार्थ ज्ञानसाधन से आत्मा में स्वसन्मुखवृत्ति होती है। सद्गुरु की आज्ञानुसार चलने से अनन्ता जीवों ने सम्यक्ज्ञान प्राप्त किया है, प्राप्त कर रहे हैं और प्राप्त करेंगे। सत्समागम की बलवत्तरता ऐसी बतायी है कि निरन्तर सत्समागम में रहने की भावनावाला आत्मार्थी सद्गुरु से अलग नहीं होगा।

श्रीमद्जी ने धर्मात्मा के लक्षण आगे बताये हैं। कोई आत्मार्थी जीव दृढ़ आत्मार्थ को प्राप्त नहीं हुआ है। वह यदि स्वच्छन्दता से चलते हुए ज़रा अकेला चलेगा तो कुतर्कवादी लोग उसे भ्रम में डाल देंगे। अतः आत्मार्थी जीव को निरन्तर सत्समागम, सद्गुरु का सेवन करना चाहिए।

शास्त्र में खगपक्षी का व बालपक्षी का दृष्टान्त है कि बालपक्षी को अकेला उड़ता हुआ देखकर खगपक्षी उसके उड़ने के पंख तोड़ देता है। उस प्रकार आत्मार्थी को आत्मविकास करता हुआ देखकर कुतर्कीलोग उसके साधकभाव को तोड़ डालते हैं। अतः, शास्त्र में जगह-जगह सद्गुरु का परिचय बनाये रखने का और उनकी आज्ञानुसार वर्तने का उपदेश दिया है। सद्गुरु के समागम से मानादि दोष टलते हैं और अधिक आत्महित होता है। कदाचित् क्षेत्र से अलग हो गया हो तो भी भाव से अलग नहीं होता। गुरुआज्ञा शिरोधार्य करके आज्ञा में ही रहता है। वह जानता है कि सद्गुरु मेरे से ज्यादा अनुभवी हैं।

मुख्यमार्ग, गुरुगम व सद्गुरु का विनय है – यह बात सत्य है। उसका परमार्थ इस प्रकार है कि यथार्थ आत्मज्ञान का आनन्द जो स्वाधीन अनुभव, स्वभाव तथा परभाव से भिन्नता का जो विवेक है, वह अतीन्द्रिय है, सहज है; स्वयं से भिन्न न हो सके – ऐसा है। जिसे आत्मज्ञान का लक्ष्य रहता है, वह संसार के अन्य किसी धर्म की इच्छा नहीं करता; इसका झूठा समन्वय भी नहीं करेगा। वीतराग का जो यथार्थमार्ग है, उससे कोई किञ्चित् भी विपरीत कहे तो उसे वह नहीं मानता एवं यथार्थमार्ग का निषेध भी नहीं करता। कोई ऐसा माने कि चाहे जैसे धर्मगुरु हो किन्तु उसके पास यदि शास्त्रों की जानकारी है तो उनसे धर्म पाया जा सकता है, तो वह भूल है। आत्मा का अनुभव न हो, उसे गुरु मानकर उससे कल्याण हो जायेगा –ऐसा मानना, यह जिनेन्द्रभगवान की आज्ञा का उत्थापन है।

ज़हर खाने से अमृत की प्राप्ति नहीं होती। धर्मात्मा गलत को गलत कहते हैं, असत्य को असत्य कहते हैं, इसमें द्वेष नहीं है। साकर की मिठास व अफीम की कड़वाहट का जो स्वभाव जैसा है, वैसा कहा जायेगा। किसी को (सत्य बात) न जँचे तो उसकी मान्यता उसे मुबारक। अनन्त ज्ञानियों का जो यथार्थ न्यायमार्ग है, उससे विरुद्ध है, वह अयथार्थ है, इतना समझ लेना चाहिए। जो अपने पक्ष का त्याग करके सद्गुरु के चरणों का सेवन करे, वह परमार्थ को प्राप्त करता है – ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अपनी सहजदशा में निष्कारण करूणापूर्वक कहा है।

सच्चे सद्गुरु के बिना कोई आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। कोई कहे

कि चाहे जैसे गुरु हों किन्तु वे शास्त्रों के जानकर हैं तो उनसे आत्मज्ञान होगा। मगर ऐसा नहीं होता। जिसके स्वयं के पास चक्षु नहीं है, वह अन्ध दूसरे चक्षुविहीन अन्धे को डोर के नहीं ले जा सकता। जिसके चक्षु दोषरहित निर्मल हैं, वही दूसरे को डोर सकता है। उस प्रकार जो स्वयं सत्पुरुष है, वही दूसरे जीवों को धर्म पाने में निमित्त हो सकता है। चौभङ्गी इस प्रकार है कि

(१) स्वयं तर गये किन्तु दूसरों को न तारे यानी अपना ज्ञायकभाव प्रगट करके शीघ्र केवलज्ञान दशा प्राप्त की और भवान्त किया किन्तु अन्य जीवों को निमित्त नहीं बने। (जैसे कि सामान्य मूककेवली)।

(२) उपदेशक स्वयं उस भव में अपने भव का अन्त नहीं कर पाये किन्तु अन्य जीव, श्रोता (सुननेवाले) जिज्ञासु मुमुक्षु, अपने तीव्रपुरुषार्थ द्वारा उसी भव में मोक्ष गये। इसमें उपदेशक अज्ञानी थे – ऐसा अर्थ नहीं है। लोग मनमाने अर्थ करके कहे कि कुगुरु से भी कल्याण होता है – ऐसा माननेवाले को आत्मस्वरूप की महिमा आयी नहीं है। मूलजाति में (उपादान में) अचिन्त्य वीर्यसामर्थ्य है। इसका लक्ष्य जिस आत्मार्थी को वर्तता है, उसे सद्गुरु सत्समागम का महत् आदर (बहुमान) आयेगा ही। वह देव, गुरु, धर्म की आज्ञा का विनय गाता ही रहेगा। यहाँ सद्गुरु की सेवा (आश्रय) का माहात्म्य है। कुगुरु से तीन काल में धर्मलाभ नहीं हो सकता। सत्पुरुष को पहचानकर सद्गुरु का बहुमान करनेवाला निश्चय से स्वयं का बहुमान करता है। समझा हुआ तत्त्वज्ञानी ही दूसरे को निमित्त हो सकता है; अज्ञानी दूसरे को निमित्त बन ही नहीं सकता।

(३) उपदेशक अपने जन्म, जरा, मरण का अन्त करता है और अपना सङ्ग करनेवाले मोक्षार्थी को परमार्थ का साधन बता देता है। (निमित्त बनता है)।

(४) जो अपना (अपने आत्मा का) भला नहीं कर सकता है और दूसरों को भी उपकारी नहीं बन सकता – ऐसा वर्ग संसार में बहुत है।

कोई अगर ऐसा सिद्धान्त स्थापित करना चाहे कि अभव्य अथवा मिथ्यादृष्टि गुरु हो और उसे शास्त्र की जानकारी हो तो उसके द्वारा भी तिर जायेंगे तो इसमें वदतोव्याघात दोष है। किन्तु कोई पूर्व के संस्कारयुक्त जिज्ञासु जीव जिन्होंने पूर्व में ज्ञानियों के पास से सच्ची बात सुनकर धारणा तो कर ली है, वे किसी तरह

अभव्य उपदेशक के निमित्त से अन्तरविचार में गहरा उतर जाए और स्वयं ही अन्तरङ्ग में वीर्य की जागृति करे और सत्य-असत्य का विवेक करे कि आत्मा पूर्ण, पवित्र, कृतकृत्य है; अक्रिय है, ज्ञानमय है – यह बात ऐसी ही है और इस उपदेशक का भाव यथार्थ नहीं है – ऐसा जानकर स्वविचार से स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शनज्ञान को प्राप्त करे और आत्मस्वरूप में स्थिरता बढ़ाकर तिर सकता है किन्तु इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अभव्य से या कुगुरु के निमित्त से वह तिर गया। सद्गुरु के बिना ज्ञान नहीं – ऐसा सिद्धान्त त्रिकाल सत्य है।

श्रीमद्जी ने 'श्री सद्गुरु कृपा माहात्म्य' नाम के काव्य में कहा है कि -

बुझी चहत जो प्यासको, है बुझनकी रीत;
पावे नहीं गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित। २

अर्थात्, निश्चय नियम है कि एक बार इस भव में या पूर्वभव में प्रत्यक्ष सद्गुरु का बोध पाना चाहिए – ऐसा सद्गुरु का माहात्म्य है।

सत्पुरुष का बोधरूप टाँका लगे बिना, अन्तर में स्पर्श हुए बिना जीव का वीर्य धधक नहीं उठता – ऐसा देशनालब्धि का प्रभाव है। चैतन्य की अन्तरजागृति में यथार्थ सत्पुरुष के उपदेश का, बोधवचन का भावपूर्वक श्रवण होना चाहिए। जो प्रगट दीपक होता है, वही दूसरे दीपक को प्रज्ज्वलित करता है; बुझा हुआ दीपक कैसे (दूसरे को) प्रज्ज्वलित कर सकता है ? यह कोई परावलम्बी बनने के लिये नहीं कहा है; जैसा है, वैसा न्यायपूर्वक समझने के लिये कहा है।

एक बार सच्चे निमित्त का आदर, बहुमान तो लाओ ! करना तो सब कुछ स्वयं को ही है। सद्गुरु कोई दूसरे की शुद्धता को खोल नहीं देते। सद्गुरु के माहात्म्य में अपने भाव का जिसे परम आदर है, उसे पात्रता की व विनय की प्रतीति है। इसमें पराधीनता नहीं है किन्तु अनन्त आत्मार्थियों द्वारा स्वीकार किया हुआ न्यायमार्ग है। जिसकी स्वतन्त्रदशा खिल गयी है, उसकी श्रद्धा व उसके प्रति अर्पणता में बेहद सुख है। कोई कहे कि हमें तो इसमें पराधीनता – जैसा लगता है। सत्समागम के बिना आत्मा प्राप्त न हो तो जीव का सामर्थ्य कहाँ रहा ? लेकिन वह औंधी दृष्टि द्वारा देख रहा है। खुद को मार्ग की खबर नहीं है। अनादि से तत्त्व का अनाभ्यास है, तो इस मार्ग को पाने की सच्ची विधि जो

जानते हों, उनके पास जाना पड़ेगा। स्वयं की स्वकल्पित मान्यता का त्याग करके, कुछ परीक्षा करके और बाकी सबका विश्वास करके – इस प्रकार श्रद्धा में अर्पित हो जाना चाहिए। जो समाज में बड़प्पन चाहता है, आगे बढ़ना (इज़्ज़त) चाहता है, वह सर्वप्रथम बचपन में माँ-बाप के प्रति विनय रखता है, फिर स्कूल में पढ़ने जाता है। वहाँ भी विश्वास रखकर पढ़ता है और पढ़ायी में प्रेम रखता है। इस प्रकार सद्‌गुरु में भी श्रद्धा रखकर उनका समागम करना चाहिए और फिर उनका सदुपदेश प्रेमपूर्वक सुनकर आत्मकल्याण करना चाहिए। दृष्टान्त पर से प्रयोजन समझ लेना है कि सच्चे निमित्त का अनादर वास्तव में सत्तत्त्व का अनादर है। जो स्वयं आगे बढ़ा नहीं है, जिसने परमार्थ को प्राप्त किया नहीं है, उसे प्रथम सद्‌गुरु में विश्वास रखना। परमार्थ गुरुगम तो अन्दर से फटेगा किन्तु पुरुषार्थ बढ़ने पर इष्टनिमित्त आये बिना नहीं रहेंगे। अपने उपादान की तैयारी, पात्रता होने पर सद्‌गुरु मिलेंगे ही। यदि कोई कहे कि आत्मज्ञानी न हो तो भी तिरा जा सकता है, उसका अर्थ यह हुआ कि सत्पुरुष के बिना ही आत्मज्ञान होगा। ऐसा माननेवाले ने अपने आपका ही अनादर किया है क्योंकि जो अनादिस्थित नियम है, उसे वह समझा नहीं है और इसलिये उसने अपना ही अनादर किया है।

जिसने पूर्वभव में पुरुषार्थपूर्वक सद्‌गुरु का उपदेश सुनकर ज्ञान के अपहरण को टाल दिया है, उसे वर्तमान भव में उपदेश नहीं मिला हो, फिर भी अन्दर से स्मृति जागृत होगी। वह अन्तरङ्ग से भावपूर्वक सुनता है, विचार करते हुए स्थिर हो जाता है और श्रेणी लगाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे अशोच्याकेवली कहते हैं। आत्मा का स्पर्श करके जो भान होता है, ऐसी अपूर्व देशनालब्धि लेकर जीव आये हैं; इसलिये ऐसे पुरुषों को भी (पूर्व में) सत्पुरुष का निमित्त होने की बात निश्चित हो गयी।

सत्पुरुष के उपदेश से देशनालब्धि प्राप्त हुई हो, यानी प्रत्यक्षज्ञानी का स्वीकार हुआ हो तो ही आत्मज्ञान होता है - यह अनादि-अनन्त नियत नियम है, किन्तु कोई जिज्ञासु, आत्मार्थी हो, उसे वर्तमान में प्रत्यक्ष सत्पुरुष का योग न हो तो निराश होकर पीछे नहीं हटना है। पहले कहे, वे दोष-आग्रह हटाकर ज्ञानी के वचनों पर खूब विचार करना क्योंकि जीव अनन्तकाल से है; अत: अन्दर विचार में गहरे

उतरकर आत्मा के सामर्थ्य को जगाना तो जो पूर्वसंस्कार होंगे, वे अवश्य जागृत होंगे। यदि तेरे अन्दर आत्मबल होगा, सच्ची जिज्ञासा होगी तो अवश्य पूरी होगी किन्तु उसमें सद्गुरु की और सद्गुरु के विनय की मुख्यता रहती है। इस प्रकार अनेकान्तन्याय से जो स्वरूप है, उस स्वरूप को ज्ञानी भगवन्तों ने जैसा है, वैसा दर्शाया है। सत्पुरुष के वचनामृत व प्रत्यक्षगुरुगम की जरूरत नहीं है – ऐसा नहीं मानना। पुनश्च, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मुझे गुरु के बिना आत्मज्ञान हुआ है क्योंकि ऐसा कहना तो शाश्वत मोक्षमार्ग की मर्यादा का लोप करने के बराबर है।

श्रीमद्जी ने भी बहुत जगह अत्यन्त भारपूर्वक कहा है कि किसी भी सत्पुरुष को खोजो, उनके किसी भी वचन द्वारा तत्त्व समझो। अज्ञान से विवेक पाना असम्भव है; अतः सत्समागम द्वारा, सत्पुरुष के आश्रय द्वारा, तत्त्व को पहचानो। इस प्रकार जहाँ देखो, वहाँ गुरुमहिमा दृष्टिगोचर होता है।

किसी तीव्र आत्मार्थी को आत्मज्ञान पाने की तीव्र आकांक्षा हो – मैं कौन हूँ, कितना बड़ा (महान) हूँ? – इस प्रकार निजविचार में गहरे उतरने से और आत्मार्थ में तीव्रतापूर्वक लगे रहने से और अचिन्त्य सहजस्वभाव के वास्तविक अभ्यास से अन्दर ज्ञान की खिलवट होवे तो वह कभी भी अनन्त ज्ञानी और सद्गुरु की उपेक्षा नहीं करता किन्तु आदर रखता है। जो सत्पुरुष हो चुके हैं, उनके वचन हमारे लिये प्रमाण है; उनका अनन्त उपकार है। ऐसे बहुमान से उत्साहित जीव ज्ञानी के एक -एक वचन पर आफरीन हो जाता है।

श्रीमद्जी को वर्तमान में कोई गुरु नहीं थे, पूर्वभव के संस्कार थे। वे कहते थे कि अहो ! वह हृदय, वह एकान्त स्थल, सत्पुरुषों के वृन्द, सत्समागम और वह निवृत्ति के स्थान, ज्ञानी के विहार (विचरण) के स्थान ! उनको धन्य है। प्रवृत्ति में रहते हुए भी उनको ये सब बारम्बार याद आ जाते थे।

वे दुकान में नहीं बैठे थे किन्तु आत्मा में (ज्ञान में) बैठे थे। उन्हें अपने हृदय में सत्समागम का महत् बहुमान था। अतः किसी भी जिज्ञासु या धर्मी को न्यायविरुद्ध कथन नहीं करना चाहिए। मुझे सद्गुरु से ज्ञान मिला नहीं है, मुझे अपनेआप ही ज्ञान हुआ है – ऐसे अविवेकी शब्द नहीं बोलने चाहिए।

भाषा में भी ज्ञानीपुरुषों के प्रति बहुमान व विनय होना चाहिए, उनके वचन का आदर होना चाहिए। जिसको सच्ची परीक्षाशक्ति विकसित नहीं हुई, उसे प्रथम सत्समागम द्वारा ज्ञानीपुरुषों के वचनामृतों का अभ्यास करना जरूरी है। अपना पक्ष छोड़कर निर्मानी हो जाए, तो विवेक का मार्ग मिले।

पाटणशहर से सफेद मूँछोंवाले पाँच नगरसेठ, ७५ से १०० साल की उम्र के, बैलगाड़ी में बैठकर सिद्धपुर जाने को निकल पड़े हैं। पाटण से सिद्धपुर जानेवाले रास्ते की उन्हें खबर नहीं है। अन्य बहुत सारे ग्रामनगर में भ्रमण कर चुके हैं किन्तु सिद्धपुर जानेवाले मार्ग का पता नहीं होने से रास्ते में जो चौराहा है, वहाँ बैलगाड़ी खड़ी करके सोच रहे हैं कि कौनसे रास्ते पर चलें ? पास में ही भङ्गी का छह साल का लड़का खड़ा है किन्तु उससे कैसे पूछे ? – ऐसे वे सोचते हैं। स्वयं ने अत्यन्त विचक्षणतापूर्वक संसार चलाया है, बुद्धि के बड़े धनी हैं किन्तु उनकी बुद्धिमत्ता रास्ते की जानकारी के लिये नहीं चल रही है। तो या तो बैलगाड़ी में बैठे रहें या तो फिर चाहे जैसे उल्टे रास्ते पर भटक जाऐं। उस भङ्गी के बालक को, उसके पिता रोज टोकरे बेचने के लिये सिद्धपुर जाते हैं, इसलिये उस मार्ग की और रास्ते में मिलनेवाली निशानी की खबर है। ये बड़े लोग सोचते हैं कि हम इतने बुज़ुर्ग और वह छह साल का छोकरा, उससे कैसे पूछें ? हम तो नागर और वह भङ्गी; हम तो बैलगाड़ी में बैठे हुए; हम तो इज़्ज़तदार और वह सड़कों पर भटकनेवाला; ऊपर से सफेद मूँछें, सफेद कपड़े और सफेद चमड़ी है; अत: ऐसा मानें कि हम तो पुण्यशाली हैं; इसलिये हमें तो कोई दिक्कत आनेवाली नहीं है तो वे भी उल्टे रास्ते पर पहुँच जाऐं। यदि मान छोड़कर उससे पूछ लें कि सिद्धपुर का रास्ता कौनसा है ? तो सच्चा रास्ता मिले। वे जब ग्रीष्मऋतु की धूप से अकुला उठे, तब नीचे उतरकर वह बालक खेल रहा था। उससे प्रेमपूर्वक पूछा कि भाई ! तुझे सिद्धपुर के रास्ते का पता है ? उसने कहा : हाँ, देखो – इस दिशा में बाड़ी है, उसमें रहँट चलता है, वहाँ से आगे चलने पर एकसाथ तीन बाड़ी आती हैं। उनके बगल से आगे निकल जाना। इस प्रकार यदि कोई सद्गुरु के चरणों का सेवन न करे तो या (तो) धूप में बैठा रहेगा या फिर उन्मार्ग में जायेगा। ऐसा नहीं करना हो तो भङ्गी अर्थात् जड़ व चेतन का भङ्ग करनेवाले

(भेदज्ञान करनेवाले) ज्ञानी के पास पूछने जाना पड़ेगा और वे समझायेंगे कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप निशानियाँ इस प्रकार से हैं।

पूरी ज़िन्दगी धर्म के नाम से गुजारी हो, बहुत सारी पुस्तकों का अभ्यास किया हो, बड़ी उम्र हो, पाँच लोगों में उसका नाम हो, मन की धारणापूर्वक बहुत कुछ याद कर लिया हो, – फिर भी परमार्थ अतीन्द्रिय न्यायमार्ग को न जानता हो, उसे जो न्यायमार्ग का जानकर हो, उससे पूछने के लिये जाना पड़ेगा। जिस प्रकार भङ्गी के बच्चे को पूछने के लिये जाना पड़ा था, उस प्रकार। उस लड़के ने जिस प्रकार मार्ग का भिन्नत्व करके समझाया, उस प्रकार ज्ञानी इतनी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी) निशानी वैसी ही (स्पष्ट) बताते हैं। उसे (ज्ञानी को) पता है कि मेरे पिताश्री सिद्धपुर (मोक्ष) पधारे हैं और मैं भी जानेवाला हूँ। परन्तु ये बुद्धिचातुर्यवाले लोग अभिमान करे कि हम बड़े, इसलिये हम कैसे पूछे ? तो उसे क्या लाभ होगा ? लोगों में कहावत है कि **'पूछणा सो भूलणा नहीं'।**

स्वयं बड़ा होशियार दिखता हो और मानता हो कि मुझे सब पता है और जिस प्रकार अन्य लाखों ग्रामों में घूम चुका हो किन्तु अनजाने गाँव में ही जाना पड़े और खुद को जाने के अलावा दूसरा कोई उपाय न हो तो प्रेमभाव लाकर जो मार्ग का जानकर हो, उससे विनयपूर्वक पूछते रहना चाहिए। इस प्रकार अनन्तकाल से जीव (अपने) मान और बड़प्पन के कारण भटका है। मध्यस्थता, नम्रता और सच्ची परीक्षा के बिना अनेक सत्पुरुष मिले, परन्तु किसी का लाभ नहीं ले पाया। जहाँ गया, वहाँ खुद का स्वच्छन्द व पक्ष आड़े आ गया और इसलिये अनन्तभव में भटकना हुआ; तो अब क्या बाकी रहा ? इसके लिये श्रीमद्जी ने **'हे प्रभु ! हे प्रभु ! शुं कहूँ'** (के बीस दोहे में) तथा **'यम, नियम, संयम आप कियो'** – इस पाठ के पदों में समझने का क्या है ? – यह बतलाया है। उसमें बहुत रहस्य समाया हुआ है; अतः मुमुक्षुओं को उन पदों का वाचनविचार करना चाहिए।

लौकिक में और व्यवहार में भी प्रत्यक्ष है कि जिसने जिस विषय के बारे में कुछ जाना न हो अथवा जो कुछ समझा न हो, (तो) वह उसके जानकार के पास जाकर विनयपूर्वक पूछता है और उनकी सलाह लेता है; उस प्रकार संसार बन्धन से छूटने के कामी जीवों को सच्चे हित हेतु अपने ही सुख के लिये सत्समागम

अर्थात् धर्मात्मा का सङ्ग (परिचय) करना चाहिए। जो आत्मार्थी जीव हो गये, उन्होंने ऐसा परिचय बारम्बार किया है और ज्ञानी के वचनों का माहात्म्य सत्समागम में समझने की भावना की है। सद्गुरु की आज्ञा से ही कल्याण होगा; इसलिये ऐसा निश्चित हुआ कि सत्समागम के बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

शास्त्र में पाठ है कि '**चत्तारि परम अंगाणि दुल्लहाणि**' – इसमें सच्चेगुरु का उपदेश, भाव से श्रवण होना दुर्लभ है – ऐसा बताया है। अतः सत्पुरुषों के वचन सत्समागम में श्रवण करने, समझने चाहिए।

यहाँ पर किसी को ऐसी आशंका हो कि पूर्व में सद्गुरु का योग तो अनन्तबार हुआ, फिर भी जीव का कल्याण हुआ नहीं; अतः सद्गुरु के उपदेश की कोई खास विशेषता दिखती नहीं है तो उसका समाधान कहा है कि –

'सेवे सद्गुरु चरणने, त्यागी दई निजपक्ष;
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष।'

जीव ने सद्गुरु को पहचाना नहीं। अपना स्वच्छन्द, मताग्रह छोड़ा नहीं, अपनी दृष्टि से देखा कि कहाँ बराबर (खुद के अभिप्राय की पुष्टि करनेवाली) बात आती है किन्तु मध्यस्थरूप से न्याय की दृष्टि से क्या बात सही है ? – इसका विरोध दूर करके समझना चाहिए। इस प्रकार सच्ची समझ के लिये यथार्थ पुरुषार्थ किया नहीं, सत् की रुचि नहीं, उसके प्रति झुकाव नहीं। ऐसे में सत्पुरुष की पहचान कैसे होगी? नहीं हो सकती। पूर्व में सद्गुरु कई बार मिले हैं किन्तु ये सद्गुरु आत्मा को समझनेवाले और समझानेवाले हैं, ये सही पुरुष हैं, इसलिये मेरा हित करनेवाले हैं – ऐसे पहचान करके जीव ने सद्गुरु को जाना नहीं है; खुद ने पहचाना नहीं है; प्रतीति की नहीं है; अन्दर में आह्लाद, रुचि आयी नहीं, तो कैसे समझ में आये और सद्गुरु को पहचाने बिना, समझे बिना क्या उपकार हो ?

सत्पुरुष को पहचानकर उनका बहुमान आया तो अवश्य अपने सत्स्वरूप की प्राप्ति होगी ही। किन्तु जीव ने खुद का मत और मान तो छोड़ा नहीं है और इसीलिये सद्गुरु का उपदेश अन्तर में परिणमित हुआ नहीं और परमार्थ की प्राप्ति हुई नहीं। यदि मान और मत छोड़ दिये होते तो स्वयं भी ज्ञानी सत्पुरुष जैसा

हो जाता। किन्तु हमारे कुल की परम्परा और हमारे गुरु ऐसा कहते हैं, इसलिये हमें किसी और की बात नहीं माननी है; इस प्रकार मत और स्वच्छन्दता अनादि काल से जीव के आड़े आते हैं। यदि स्वच्छन्दता और मताग्रह दूर करके सत् व सदुपदेश ग्रहण करने का इच्छुक हुआ होता तो अवश्य परमार्थ को प्राप्त करता। पूर्व में अनन्तबार धर्म के नाम से स्वच्छन्दता रखकर केवल शब्दों में ही अर्पणता की है। गहरायी में तो गर्भितरूप से मान व मताग्रह का ही पोषण किया है; इसलिये जो सत् का परिणामस्वरूप सम्यग्दर्शन है, उसे नहीं पाया। ज्ञानी के आशय के अनुसार उसका झुकाव (जमना) हुआ नहीं; अत: परमार्थ की प्राप्ति हुई नहीं।

अपने मान की खातिर जीव सद्गुरु की सेवा करे तो भी वह परमार्थ को प्राप्त नहीं करेगा। जिस प्रकार ज़ङ्ग लगी हुई लोहे की डिब्बी में यदि पारसमणि रखा हो तो उसका कुछ भी परिणाम नहीं आता। पारसमणि और सत्पुरुष में फ़र्क है। यह बात निम्नलिखित कविता से समझ में आयेगी।

पारसमणि अरु संत में, बड़ो आंतरो जान,
वह लोहा कंचन करे, वह करे आप समान।

हृदय में से जिसने मान व मताग्रहरूप ज़ङ्ग निकालकर (ज्ञानी का) सङ्ग नहीं किया है, उसने मात्र (ज्ञानी की) हड्डियों का सङ्ग किया है; ज्ञानी का यानी सत्पुरुष का सङ्ग नहीं किया है। हड्डियों की सेवा - वह गुरु की सेवा नहीं है अथवा सत्समागम नहीं है। किन्तु 'मैं समझता हूँ' 'मैं जानता हूँ' - इत्यादि मिथ्याअभिमान, स्वच्छन्दता व पूर्वाग्रह यानी कुलधर्म का आग्रह मिटाकर, यदि सत्पुरुष का समागम करे तो अवश्य आत्मार्थ पायेगा - यह शर्त है। नौकरी करनी हो तो शर्त का पालन करना पड़ेगा। (ज्ञानी की चरणसेवा करनी हो तो भूतकाल की सारी मान्यता पर चौकड़ी लगाओ।) अन्तर में सत् की रुचि तीव्र जिज्ञासापूर्वक आयी हो तो एक सेकण्ड में यथार्थ हाँ आयेगी; अन्दर से प्रतीति हुए बिना रहेगी नहीं।

यहाँ असद्गुरु के द्वारा दृढ़ की हुई दुर्बोधिता से, मानादि की तीव्रइच्छा से जीवों को ऐसा दृढ़ आग्रह हो जाता है कि सद्गुरु के चरणसेवन के बिना ही अपना कल्याण हो जायेगा। वे मानते हैं कि भले सद्गुरु की प्राप्ति न होवे या असद्गुरु को भले भी मार्ग की प्राप्ति न हो किन्तु वे दूसरों को धर्मप्राप्ति करवा

सकते हैं अर्थात् दूसरे जीव आत्मधर्म की प्रतीति कुगुरु का उपदेश सुनकर भी करेंगे – ऐसा मानते हैं, किन्तु यह भूल है। सद्गुरु की शरण में आये बिना और सन्तचरण के आश्रय बिना परमार्थ की प्राप्ति हो नहीं सकती।

पुनश्च, जिसे सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रेम से अधिक प्रेम संसार व देहादि प्रति रहता है, उसके अन्दर अनन्त भवभ्रमण के अनन्त दु:ख पाने के भाव गर्भित पड़े हैं क्योंकि झूठे का आदर है, वहाँ सत् का अनादर है – यही हिंसा है।

जिसे आत्मधर्म (सच्चासुख) पाने की जिज्ञासा होगी, वह अपना पक्ष, आग्रह व मानादि का त्याग करके सद्गुरु के चरण का आश्रय ले तो परमार्थ पायेगा। इस गाथा पर श्रीमद्जी ने, खुद ने पीठिका की रचना करके टीका की है और खास भारपूर्वक कहा है क्योंकि मार्ग अनादि से अटपटा रहा है। स्वच्छन्द-प्रतिबन्ध हो, वहाँ सच्चे सद्गुरु का योग होवे तो भी उसका लक्ष्य व प्रतीत नहीं होता। प्रतीति नहीं होने का कारण स्वच्छन्दता तथा मताग्रह है – ऐसा समझना।

लोग अनेक प्रकार की अन्यथा कल्पनाओं में तथा विविध मान्यताओं में रचे-पचे रहते हैं और असद्गुरुओं के द्वारा दृढ़ किये हुए मिथ्याआग्रहों द्वारा तथा अपनी दुर्बोधिता से ही धर्म मान लेते हैं। हम जानते हैं, इत्यादि मानादिरूप मान्यताओं की कामना से आत्मा के नाम से अन्यथा मान लेते हैं; (वैसा) करते हैं तथा ऐसा भी कहते हैं कि सद्गुरु के प्रति शास्त्रकारों ने बहुत भार देकर बातें कही हैं, वह तो बालबुद्धि जीवों के लिये है; अपने लिये ऐसा आग्रह नहीं है। हम तो चाहे किसी विद्वान से समझ सकते हैं, थोड़ा बहुत तो जानते भी हैं। कुगुरु से भी ज्ञान होता है – ऐसा माननेवाला, कहनेवाला सच्चे सद्गुरु का, सच्चे निमित्त का निषेध करते हैं और साथ में अपने आत्मा का भी अनादर करते हैं। इस तरह अनेक प्रकार से जीवों को विपरीत मान्यताएँ होती हैं। अत: अपना पक्ष, मान और मत को छोड़कर सद्गुरु का आश्रय लेने के लिये कहा है।

पुनश्च, कोई ऐसा भी मानते हैं कि भेष और क्रिया देखकर झुकना चाहिए क्योंकि उसने त्याग किया है। भेष देखकर भी झुकना चाहिए। इस पर एक दृष्टान्त है कि एक राजा को धर्म की ऐसी धुन चढ़ी थी कि किसी भी भेषधारी बाबा, जोगी, साधु या कोई भी हो किन्तु हम तो उस भेष को वन्दन जरूर करेंगे; उसमें

रहे गुण-दोष से हमें कोई मतलब नहीं। एक दिन भिखारी की जाति का रावलिया गधे को ले जा रहा था। उस गधे की पीठ पर छाला हुआ था, इसलिये उस छाले पर भगवा रङ्ग की पट्टी बाँधी थी। उसे देखकर राजा ने उस गधे को दण्डवत् प्रणाम किया। यह देखकर सन्त तुलसीदासजी ने कहा अरे ! तू किसे नमस्कार करता है ? उसका संवाद निम्नलिखित कविता में दिया है।

'बाना देखी नमणां, नहीं करणीशुं काम,
तरुवरमां काँटा भर्यां, छायामां विश्राम।'

तुलसीदास ने जवाब दिया कि -

'बाना है बहु भातका, उरमें है एक मरम;
सब ही छाया बेसीए, न बेसीए मीणा हरम।
मीणा पर पक्षी मरे, वाकुं वरसे केर;
तुलसी कहे बाना लिया, बाने बाने फेर।'

आशय यह है कि मूढ़ ! सही-गलत की कुछ परीक्षा करना तो समझ। निर्धन की सेवा करें तो क्या वह लक्ष्मी देगा ? शक्कर की जगह गलती से ज़हर खा लिया जाये तो क्या जीवन जी सकेंगे ? इस प्रकार मोक्ष की इच्छा होने पर भी आत्मा के नाम से झूठे का आदर करनेवाला, सच्चे देव-गुरु-धर्म को नहीं समझनेवाला मोक्ष कैसे पायेगा ? वह तो जिस प्रकार अनादि से भटक रहा है, वैसे ही भटकेगा। सब अपनी कल्पना से धर्म मानकर बैठ गये हैं। धर्म अगर जहाँ-तहाँ बिकता होता, तो तो सभी का मोक्ष हो जाता किन्तु ऐसा नहीं है। अत: प्रथम सही समझने की जिज्ञासा बढ़ाकर, सद्गुरु की पहचान करनी, परीक्षाशक्ति बढ़ानी। कोई माने कि स्वयं गुरु हो सकते हैं; अत: हमें गुरु की जरूरत नहीं है अथवा कोई भी गुरु से धर्म की प्राप्ति होगी तो वह बात सर्वथा झूठी है।

किसी जगह शास्त्र में कहा है कि अन्तर में सही विचार करने से कई जीवों को बोध हो गया है किन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं होता कि कुगुरु से किसी ने बोधप्राप्ति की है अथवा पूर्व में सद्गुरु का योग नहीं था या तो अब जीव का सद्गुरु की आज्ञा से कल्याण नहीं होगा – (ऐसा नहीं)। इसका अर्थ यह है कि वर्तमान में जिसे सद्गुरु का योग नहीं है, ऐसे जीव आत्मज्ञान पाकर मोक्ष गये।

इसका यह मतलब नहीं है कि स्वच्छन्दपूर्वक भी उन्हें धर्मप्राप्ति हो गयी है। उन धर्मात्माओं ने पूर्व में सद्गुरु की सेवा, आज्ञा की उपासना (अवश्य) की है। इसलिये इस भव में वर्तमान में सद्गुरु मिले नहीं हैं, फिर भी पूर्व जन्म में सत्पुरुष को पहचानकर सत्समागम में उन जीवों ने अपनी (स्व की) ओर झुकाव किया है। आत्मा अक्रिय, ज्ञाता, अविनाशी, पवित्र है – ऐसा स्वात्मबोध तो उन्हें प्राप्त हुआ था किन्तु पुरुषार्थ की मन्दता के कारण उस भव में केवलज्ञान नहीं पाया; आत्मज्ञान पाया। उसमें ऐसा नहीं आया कि उन्होंने गुरुआज्ञा की प्रतीति नहीं की है। वे भी अपने गुणों के बहुमान हेतु सद्गुरु का माहात्म्य मुख्य रखते ही हैं।

पुनश्च, कई केवलज्ञानी व तीर्थङ्करों ने इस भव में अपने आप बोध प्राप्त किया। यह पूर्व के बलवान संस्कार की सिद्धि है। उन्होंने अपने आप बोध प्राप्त किया, इसलिये स्वयंबुद्ध कहे जाते हैं। इससे यह नहीं समझ लेना कि सद्गुरु से धर्मलाभ नहीं होता अथवा उन्होंने पूर्व में किसी भव में सद्गुरु का समागम नहीं किया। कई तीर्थङ्करों द्वारा तो अपने पूर्व भव में साक्षात् सर्वज्ञ, वीतराग भगवान के पास धर्मसभा में क्षायिकसमकितरूप आत्मबोध प्राप्त किया होता है; अतः ऐसा मानना कि हर एक धर्मात्मा सद्गुरु का बहुमान करते हैं। खुद के आत्मा का बहुमान आनेपर सद्गुरु, सत्धर्म का बहुमान हुए बिना रहेगा नहीं।

जो सद्गुरु की सेवा, शरण व आश्रय का निषेध करता है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। देव, गुरु, धर्म, वीतराग हैं – इसलिये वे जिस स्वरूप में हैं, उसकी यथार्थ श्रद्धा के बिना सम्यक्त्व सम्भव नहीं है।

यदि असद्गुरु व असत् समागम से कल्याण होता तो राग, द्वेष, अज्ञान से कल्याण होता। अतः यह सिद्धान्त विचार करने योग्य है। गद्दी और भेष को नमन करना चाहिए – ऐसा माननेवाले भी पहचान के बिना अपने अनन्त अज्ञान की पुष्टि करते हैं। वे भक्ति भी करें तो भी वह ज्ञानी की भक्ति नहीं है किन्तु राग की भक्ति है। ऐसी अनेक भूलें मिटाने के लिये सद्गुरु का सङ्ग, सत्समागम से ही कल्याण होता है – ऐसा उपदेश है।

मैं अन्य क्षेत्र से इस क्षेत्र में किस कारण से आया ? माता की कोख में किस कारण से आना हुआ ? मैं पूर्व में किसी अन्य क्षेत्र में था तो वहाँ भी

कर्मबन्धन के आवरणसहित था। देह की पराधीनता में अज्ञानवश बैठा हुआ था। इसी प्रकार वर्तमान में भी मुझे राग, ममता आदि के कारण देहादि का सम्बन्ध दिख रहा है। तत्सम्बन्धित जो उपाधिभाव है, उसे तोड़ने का विवेक नहीं है। मैं कहाँ से आया? इत्यादि का भान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

पुनश्च, राग-द्वेष-अज्ञान के भावों के कारण रागादि अध्यवसान होने से कर्मबन्धन मैंने किया है – ऐसी प्रवृत्ति मैंने अपने आप की, करवायी और अनुमोदना की। अनन्तकाल से इन सब (प्रपञ्चों) में मैं हूँ और बन्धभावों के कारण जगत में विशाल क्षेत्रों का मैंने सेवन किया। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव – इन पाँच प्रकार के परावर्तनरूप संसार में शुभ-अशुभ भाव से परिभ्रमण किया है – ऐसा जिसने जाना और पूर्वजन्म व सुख-दु:ख के कारण जिसने जाने तथा देहादि व रागादि सभी उपाधियों से रहित अक्रिय ज्ञानघन हूँ – इस प्रकार जिस विचारवान जीव ने ज्ञान में सही निर्णय किया और जिसने प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणपूर्वक वस्तुतत्त्व का जैसा है, वैसा यथावत् ज्ञान किया – वह सम्यग्दृष्टि है।

ऐसा ज्ञान कौन से कारण से हो ? इसका उत्तर –

१. ज्ञानी से सच्चे उपदेश का ग्रहण व धारण अपूर्वता से करने से,

२. इस प्रकार के जातिस्मरणज्ञान से,

३. सत्समागम से,

४. यथार्थ विचारपूर्वक।

पूर्वभव में सत्समागम द्वारा सद्गुरु का आश्रय किया हो तो उसके पवित्र संस्कार जाग उठने से पूर्वभव के संस्कारों की सन्धि वर्तमान समझ से मिलाकर विचारश्रेणी में स्थिर होनेपर आत्मा का भान होता है। दृष्टान्त : मृगापुत्र महल के झरोखे में खड़े थे, वहाँ से उन्होंने मुनिराज को देखा। विचार आया कि अहो ! ऐसा रूप मैंने कहीं देखा है ? जैसे मेरे हृदय की बात है ! मेरी परिचित बात होनी चाहिए ! हाँ, मैं भी पूर्व में सन्तमुनिराजों के पवित्रवृन्द में था, मुनि था; इस प्रकार जातिस्मरण ज्ञान होने पर आत्मज्ञान हुआ।

सत्समागम द्वारा या किसी युगप्रधान पुरुष या तीर्थङ्कर भगवान की धर्मसभा में अनेक लोग पात्रता द्वारा सद्बोध प्राप्त करते हैं।

पूर्वभव में सन्तचरण का आश्रय किया था। उस संस्कार की जागृतिपूर्वक खुद को आत्मज्ञान हो। इन तीन कारणों के अलावा अन्य किसी कारण से किसी को आत्मज्ञान नहीं हो सकता। इसमें सद्गुरु का ही माहात्म्य है।

जिसे जातिस्मरण से या अपनी जागृतिपूर्वक ज्ञान हुआ, उसमें भी श्रीगुरु के आश्रय का निषेध नहीं है।

आत्मा का अविरोध महाधर्म जैसा है, वैसा सर्वज्ञ की आज्ञासहित सच्चेआत्मधर्म को सन्मुख करके, सच्चे सद्गुरु के अभिप्राय अनुसार जो अनुसरण करते हैं, वे संसाररूपी महासमुद्र तिर जाते हैं। अत: इसका यह मतलब नहीं हुआ कि आत्मज्ञानी सद्गुरु के बिना कुगुरु से भी मोक्ष होता है।

धर्मजिज्ञासु जीव विचार करते हैं कि कब मुझे अपना सत्स्नेही मिलेगा ? जिस प्रकार भयङ्कर बीमारीवाले को वैद्य के बिना चैन न पड़े, उस प्रकार हमें सन्तों के समागम के बिना क्षणभर रहना भी पसन्द नहीं है। उन सन्तों का, केवली भगवन्तों का इस वर्तमानकाल में विरह हुआ। उन सत्पुरुषों के अलावा हमें अन्य किसी का सङ्ग पसन्द नहीं आता।

श्रीमद्जी स्वयं भी एक पत्र में लिखते हैं कि इस काल में सत्समागम की दुर्लभता है। ऐसा आत्मनिवेदन, अन्तरङ्ग की प्रेरणा किसे कहें ? कब कोई धर्मात्मा मिलेंगे कि जिससे हम हृदय की बात कहें ? सच्ची बात व तत्त्व क्या है, इसे समझनेवाले सुननेवाले इस काल में कोई न मिले किन्तु तुम जैसे मार्गेच्छुक के प्रति अन्तर की भावना रहा करती है। हमें सत्पुरुष का वियोग बहुत खलता है। सद्गुरु का नित्य विचार करते हुए, स्वविचार में प्रेरित होकर, सर्वविचार की प्रेरणा के बल से जैसे-तैसे मार्ग काट रहे हैं किन्तु प्रत्यक्ष सत्पुरुष का योग होता तो हमें इतना परिश्रम नहीं करना पड़ता। इस प्रकार ज्ञानीपुरुष भी सत्समागम की भावना भाते हैं तो फिर जिसे प्राप्ति नहीं हुई, वह सत्समागम और सद्गुरु की उपेक्षा कैसे कर सकता है ? जिसने स्वच्छन्दता का त्याग करके सद्गुरु के समक्ष अपने मान व मत का समर्पण नहीं किया है, उसे धर्मप्राप्ति नहीं हो सकती।

जहाँ पर सच्चे धर्मात्मा की उपेक्षा वर्तती है, वहाँ पर अहङ्कार विद्यमान है। जैसे कि हम जानते हैं, इत्यादि। जिसे अपने आत्मा का लक्ष्य हुआ है, वह स्वविचार

प्राप्त करके ज्ञानी का अति आदर करता है। जिसे धर्मात्मा के प्रति बहुमान है, उसे अपना विनय है। अत: सत्स्वभाव को समझने की उसे प्रेरणा होती है।

मान है, वह आत्मा के सच्चे गुणों का घात करनेवाला है। धर्मात्मा में ऐसा नियम है कि जिसने प्रथम धर्मप्राप्ति की है, अन्तर में जिसकी परमपवित्र दशा विकसित हुई है, ऐसे प्रथम दीक्षित को नये दीक्षाधारी मुनि प्रणाम करते हैं। लकड़ी बेचनेवाला लकड़हारा हो, फिर भी आत्मज्ञान में मस्त मुनि बन सकता है। आत्मज्ञान की स्थिरता में अडोल, परम पवित्र दशा में स्थित – ऐसे मुनि को (पूर्व में चाहे जो हो, फिर भी) बड़े-बड़े चक्रवर्ती भी नमन करते हैं। यदि ज़रा-सा भी अभिमान करे तो वह चक्रवर्ती धर्मात्मा नहीं है। भरत चक्रवर्ती राजा जब सर्वज्ञ भगवान को वन्दन करने जाते हैं, तब रास्ते में सभी को खबर करते हैं कि मुझे राजा समझकर कोई वन्दन नहीं करना। (ऐसा निर्मानीपना होता है)। बाहुबलीजी बड़े गुणवन्त महातपस्वी थे। बारह माह तक एक ही स्थान पर बिना आहार के ध्यानस्थ खड़े थे। बेलें शरीर से लिपट गई थी। सारे गुणों की योग्यता होने के बावजूद भी एक मामूली-सी बात में मान रह जाने से केवलज्ञान रुका हुआ था। इस प्रकार मान के कारण आत्मगुण का विकास रुका हुआ था। जैसे ही मान निकल गया कि चैतन्यभगवान की पूर्ण पवित्र केवलज्ञानदशा प्रगट हुई। जो कार्य बारह माह में तनिक भी नहीं हो पाया, वह मान जाने पर क्षणमात्र में ही हो गया। पूर्ण स्वरूप का विकास होकर, आत्मा की पूर्ण पवित्र केवलज्ञानदशा, पूर्णवीतरागता प्रगट हुई; इस प्रकार मानरहित होने की महिमा है। एक मान के कारण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य रुक गया था। जब उन्हें उस मानदोष का भान किया तथा वह दोष दूर किया, तब केवलज्ञान हुआ। बारह माह निरतिचाररूप से, एक लक्ष्यपूर्वक, एक आसन पर, अभेदरूप से आत्मविचार में रहनेवाले ऐसे महानपुरुष को एक अल्प मान ने उनकी बारह-बारह माह की मेहनत सफल नहीं होने दी अर्थात् उस दशा के सहारे से मान नहीं छूटा और जब वह मान मिट गया, तब कार्य सफल हुआ।

पूरा आत्मधर्म ज्ञानी की आज्ञा में ही समाविष्ट है - ऐसा शास्त्रों में बारम्बार कहा है।

दिनाङ्क - २७-९-१९३९

(श्रीमद्‌राजचन्द्र समाधिमन्दिर, राजकोट - आज प्रवचन में श्रीमहात्मा गाँधी आये थे)
(गाथा-९ चालू है)

जिन कारणों से आत्मज्ञान पाया जा सकता है, उनसे विपरीत कारणों से संसार में भटकना होता है। तो सच्चा साधन क्या ? यह समझने के लिये, उसकी प्राप्ति हेतु यह गाथा कही है।

अपने माने हुए स्वच्छन्द का अभिप्राय, मान व मत का त्याग करने के लिये कहा है। खुद का स्वरूप समझे बिना जीव अनादि से दुःख भोग रहा है; अतः इस शास्त्र के प्रथम पद में ही कहा है कि –

'जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत;
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्‌गुरु भगवंत'

आत्मा अनादि अनन्त है – यह समझे बिना ही आत्मा की अनादि से स्थिति है, उसमें अनन्त दुःख है। मैंने पूर्व में अनन्त दुःख भोगे, यह दुःखदोषरूप मेरा स्वभाव नहीं है – ऐसा जानकर जो अपने सुखस्वरूप को सद्‌गुरु माहात्म्य से समझा, वह कहता है कि –

'समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्‌गुरु भगवंत'

उस गाथा का इस नववीं गाथा के साथ सम्बन्ध है। स्वरूप समझे बिना दुःखदशा पायी, यानी विकारीदशा में, अज्ञानदशा में अनन्त दुःख पाया। वह दुःखरहित सुखस्वरूप सद्‌गुरु ने समझाया, अर्थात् मैं सद्‌गुरु द्वारा उसे समझ पाया, इस बात को कबूल किया। मेरा स्वरूप मेरे द्वारा नहीं समझा गया – ऐसा नहीं आया। क्योंकि यदि मेरे से न समझा जा सके, ऐसा मेरा तत्त्व (स्वरूप) होता तो मैं कभी नहीं समझ सकता किन्तु यहाँ प्रथम पद में ही बताया है कि मेरी नासमझी के कारण अनन्त दुःख मैंने पाये हैं। इस भूल को मिटाने में उपादान मेरी जिज्ञासा और निमित्त सद्‌गुरु हुए।

किसी भी कार्य के होने में दो कारण होते हैं : (१) मूलकारण (उपादान), और (२) सहायक कारण (निमित्त)। अनन्तकाल से जो नहीं समझ में आया, उसे

समझनेवाला मैं स्वाधीन और उपकारी गुरु को भी मैंने माना; यानी अनन्तकाल से स्वयं को नहीं समझने के मूलभूतकारण में भी मैं स्वयं और नहीं समझने के निमित्तकारणों में कुगुरु का सङ्ग – इस प्रकार नहीं समझने में ये दो कारण हैं और समझा, उसके दो कारण भी ऊपर बता दिये गये हैं। उसमें सद्गुरु का माहात्म्य मुख्यरूप से है।

मैं अनन्तकाल से अपना शाश्वत सुखपद नहीं समझ पाया – ऐसा समझनेवाले को अपूर्वतत्त्व समझना है। उसे समझने के लिये खुद की पात्रता चाहिए। (जिसे) वह पात्रता हो, उसे अपनी योग्यतानुसार, अपने उपादान के अनुसार, अपने पुरुषार्थ के अनुसार, बाहर के सहयोगी कारण आ मिलते हैं। अपनी शुद्धता प्रगट करने के लिये अपनी सहजशक्ति प्रत्येक क्षण शक्तिरूप में उपस्थित है; स्वयं का मोक्षस्वरूप समझने की तीव्रजिज्ञासा होने पर सद्गुरु के प्रति विनय जागृत होता है और सद्गुरु मिलते हैं।

खुद को स्वयं अपने आत्मा द्वारा समझा है, फिर भी नम्रतापूर्वक विनयवन्त होकर स्वतन्त्र रहकर कहता है कि -

'समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत'

समझा तो अपनी पात्रता से। उसमें निमित्तकारण सद्गुरु उस पद को समझानेवाले हैं। उसमें खुद का पुरुषार्थ (करनेवाला) विनयवन्त है, स्वच्छन्दी नहीं है; इस प्रकार अपनी सहज स्वतन्त्रशक्ति से खुद ने अपनी पात्रता पायी, फिर भी सद्गुरु का बहुमान करता है। यही सत्पात्रता की निशानी है।

यह परमपद नहीं पा सकने के कारण पहले बता चुके हैं। बाह्यक्रिया व मोह से उत्पन्न होनेवाला शुभभाव भी विकार है; निजगुण नहीं हैं, फिर भी उसे कोई साधन मानता है। पुण्यादि बन्धभाव आत्मा को लाभ करनेवाले नहीं है। उसमें सुख की मान्यतावाला कोई क्रियाजड़ और स्वेच्छाचारी जिनेश्वर भगवान की आज्ञा के बजाय रागादि कषाय की उपासना करता है और इससे विपरीत शुष्कज्ञानी शास्त्र के शब्द मन में धारण करके रखते हैं; कषाय, प्रमाद और रागादि आसक्ति की कमी तो करते नहीं हैं। ऐसे स्वच्छन्दी स्वयं को मोक्षमार्ग में स्थित मानते हैं, इनका भी यहाँ निषेध किया है। यहाँ पर श्रीमद्राजचन्द्रजी ने सद्गुरु की आज्ञा का आराधन

करने को खास वज़न देकर ऐसा कहा है कि मोक्षमार्ग का रहस्य ज्ञानी की आज्ञा में ही समाहित है –

प्रत्येक आत्मा पूर्ण, पवित्र, असङ्ग व सर्वज्ञस्वभाव में शक्तिरूप से टिका हुआ है। सर्वज्ञप्रभु त्रिकालज्ञानी भगवान ने आत्मा जिस स्वभावरूप है, उसरूप उसे जानकर आज्ञा की है। उस आज्ञा में ही मेरा धर्म है, यह प्रधान कथन है। वीतराग की आज्ञा ही मेरा धर्म है, वही तप है। इस लोक में अनन्त ज्ञानियों द्वारा सम्मत किया गया जो न्याय है, वह सर्वज्ञ तीर्थङ्करदेव का अपूर्व भाववचन है। जीव अपना स्वरूप जैसा है, वैसा जाने बिना अनादिकाल से स्वच्छन्दन्ना और मान के कारण भटकता है। अत: जिसने शुद्ध आत्मस्वरूप जाना है, वैसे ज्ञानीपुरुष की आज्ञा क्या है ? – यह जानकर उसका आश्रय करना, यही हित का मार्ग है। अब वीतराग भगवान की आज्ञा क्या है ? – यह तुझे जानना पड़ेगा, परीक्षा करनी पड़ेगी क्योंकि बहुत से लोग कहते हैं कि हम सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा ही बता रहे हैं, उसी की उपासना करते हैं; अत: हमारी मान्यता बिल्कुल सही है। सही परीक्षा द्वारा सच्चे सद्गुरु को पहचानने से भगवान की सच्ची आज्ञा समझ में आती है। अत: श्रीमद्जी कहते हैं कि किसी एक सत्पुरुष को खोज और उनकी चाहे जैसी आज्ञा में समर्पित हो जा। उन्हें शिरसावंद्य मानो, आदर करो, फिर यदि मोक्ष न मिले, तो मुझ से लेना। यानी उसे फिर ज्ञानी के सत्सङ्ग के बिना कहीं रुचेगा ही नहीं और मोक्ष का स्वरूप समझ में आ गया; इसलिये किसी से पूछने जाना नहीं पड़ेगा, स्वस्वरूप में शङ्का नहीं होगी। आत्मसिद्धिशास्त्र की पहली गाथा व नववीं गाथा बहुत लोगों ने पढ़ी होगी किन्तु इसके अन्दर जो गम्भीर, महान, विशाल भावार्थ समाया हुआ है, उसका विचार, मनन करने के लिये कभी प्रयत्न किया है ? ज्ञानीपुरुषों ने जो कुछ कहा है, वह (तेरे) हित के लिये कहा है।

जगत के समस्त भाव जिसने जाने देखे हैं – ऐसे जो तीर्थङ्कर भगवान, उन्होंने ऐसा कहा है कि हे भव्य जीवों ! सत्पुरुष जिस प्रकार से आत्मस्वरूप बताना चाहते हैं, उसे अभी तक आत्मा की रुचिपूर्वक, अर्पणतापूर्वक सुना भी नहीं है। आनन्दस्वरूप आत्मा क्या है? – यह बात तुमने पूर्व में अनन्तकाल तक सुनी नहीं है। धर्मात्मा ज्ञानी का जो कहना है, उसका अनुसरण करके, उनकी आज्ञा का अनुसरण

करके आत्मा के हित व स्वाधीनता की प्रामाणिक बात तुमने सुनी नहीं है।

कदाचित् आत्मा की बात कहनेवाले ज्ञानी पुरुष मिले और वह बात सुनने को मिली किन्तु उस बात को यथातथ्य समझकर प्रतीति की नहीं है, अमलीकरण नहीं किया। शास्त्र में भी कहा है कि केवली समक्ष भी रह गया कोरा....!

सर्वज्ञ भगवन्तों ने, ज्ञानीपुरुषों ने जिस मूलभाव व आशय से आत्मा की बात कही है, उस भाव व आशय से तुमने उसे जाना नहीं, सुना नहीं; विरोध या पक्षपात को मिटाकर प्रतीति की नहीं और उस अपूर्वभाव का आदर आया नहीं।

जो लायक जीव, ज्ञानी की आज्ञा की उपासना करता है, उसे ज्ञानी-मुनियों ने सामायिक कहा है। इस आत्मा का स्वरूप ही सामायिक है। सम = आत्मा अविकारी है, पुण्य-पाप रहित है – ऐसा समतास्वरूप पूर्व में जाना नहीं था। सद्गुरुआज्ञा की उपासना द्वारा आत्मा को पहचानकर, सारे विरोध मिटाकर उस आज्ञा में, ज्ञान में, अय = जाना। यानी आत्मा में एकत्वरूप से समा जाना – ऐसा परम गम्भीर अर्थ संक्षेप में होता है।

जिसने आत्मा को जाना, उसने सब जाना। तीनों लोक के त्रिकालभाव आत्मा के यथार्थभान में, सहजस्वरूपी ज्ञायक के सामर्थ्य में जानने में आ जाते हैं और परम सन्तोष प्रगट होता है।

सच्चा अध्यात्म क्या है ? **सौराष्ट्र में इसे यथार्थ समझानेवाले यदि कोई हैं तो वे वर्तमानकाल में श्रीमद्राजचन्द्र थे।**

पन्थ या सम्प्रदाय का पक्षपात छोड़कर मध्यस्थतापूर्वक व सरलतापूर्वक कोई सोचेगा तो उसमें विरोध नहीं दिखेगा। पुनश्च, उनको ज्ञानी कहने में अन्य कोई ज्ञानी हो तो उनका निषेध नहीं है। **श्रीमद्जी का विशाल हृदय व उज्ज्वल अन्तःकरण जो समझना चाहता है, उसे (पहले) अपने अन्दर पात्रता प्रगट करनी होगी।**

धैर्यपूर्वक सुनना चाहे, सच्ची जिज्ञासा बढ़ाये और पक्षपात का त्याग करे तो अनन्तकाल से भटकना पड़ा, उसका कारण क्या ? – यह समझ में आ सके, ऐसा है। जिस भाव के कारण आत्मा का विस्मरण हुआ है, उससे विलक्षण (अपूर्व) ऐसा निर्दोष भाव जरूर बहुत कीमती और दुर्लभ होना चाहिए। यह समझे बिना

भव का अन्त नहीं आ सकता। वह अपूर्वभाव मुझ में है किन्तु उसे प्राप्त करने की विधि ज्ञानकला की मुझे कुछ खबर नहीं है। इसकी कबूलात करके पक्ष का आग्रह छोड़कर सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए। **९.**

तब यह प्रश्न उठेगा कि सद्गुरु किसे कहें ? उनकी प्रामाणिकता के निर्दोष लक्षण क्या हैं? – यह अब कहते हैं –

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग,
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।। १०।।

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय-प्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।।१०।।

प्रथम पद विशेष उत्तम कहा है कि जिनमें परम अध्यात्मदशा प्रत्यक्ष है, वे परम उपकारी हैं। लेकिन जिसे आत्मज्ञान नहीं है, वह दूसरों को क्या समझा सकता है ? यह तो अरूपी अतीन्द्रिय लोकोत्तर मार्ग है। आत्मा अनन्त आनन्द की खान, बेहद सुखस्वरूप है – ऐसा जिसने जाना व वेदन किया नहीं है, ऐसा अन्धव्यक्ति दूसरे को क्या डोर सकेगा ? इसलिये कहा है कि आत्मज्ञान में जिनकी स्थिति है व शुभ, अशुभ, राग, द्वेष, ममता, परिग्रहादि परभाव की इच्छा से जो रहित हैं; पुण्य, पाप, राग, द्वेष, देहादि की प्रतिकूलता, अनुकूलता के प्रति जिन्हें समभाव वर्तता है – उनको अन्तर के स्वभाव से अन्दर में पवित्र, निर्दोष ज्ञानज्योति प्रगट होती है और हमेशा निर्दोष आनन्द में, आत्मज्ञान में रहते हैं। यह प्रथम लक्षण है।

शास्त्र का, अमुक जाति का इतना ज्ञान होना चाहिए, इतना अभ्यास होना चाहिए, इतनी उम्र होनी चाहिए और इतनी क्रियावाला, इतना पुण्यशाली होना चाहिए (तो) – इससे आत्मधर्म होगा, ऐसा नहीं कहा किन्तु ज्ञानस्वरूप समझ का तत्त्व जो कि असहाय स्वाधीन ज्ञाता है, उस पूर्ण ज्ञानस्वरूप की समझ, जो शक्तिस्वरूप

है उसका भान होने पर आत्मा जैसा है, वैसा समझ में आता है (और) उसे समझानेवाले आत्मज्ञानी हैं – ऐसा कहा।

पूर्व में अज्ञान द्वारा परभावों से, परनिमित्त से कल्याण होगा – ऐसा माना था जो कि भव का कारण बन गया। ऐसे अज्ञान को सद्गुरु की आज्ञापालन द्वारा क्षणमात्र में मिटाकर आत्मज्ञानदशा प्रगट की जा सकती है। परनिमित्त से ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है किन्तु दीपक के द्वारा दीपक प्रज्ज्वलित होता है, इस न्याय से आत्मा अपने प्रगट पुरुषार्थ द्वारा और ज्ञानी के निमित्त से स्वयं आत्मज्ञान प्रगट करता है। इसमें कोई पक्ष की बात नहीं आयी कि इसी से प्रगट होगा किन्तु सद्गुरु की आज्ञा को सहीरूप से पहचानकर; पूर्ण अखण्डपद, सर्वज्ञपरमात्मा, वीतरागस्वरूप देव, गुरु, धर्म है, उनका यथार्थस्वरूप जो जानता है, वह अपना स्वरूप जानता है। अतः वहाँ शुभाशुभ क्रिया, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, शाता-अशाता – इन सब विभावों की नास्ति है, ऐसी ज्ञानी की महिमा है। आत्मज्ञान की पवित्रदशा की जहाँ प्राप्ति है, वहाँ परभाव की, पराधीनता की नास्ति है, यानी निषेध है। मैं पर से भिन्न पूर्ण आनन्दस्वरूप कृतकृत्य हूँ, अतीन्द्रिय ज्ञाता हूँ – ऐसा निर्णय करने पर, उसके सिवा जो अन्य रागादिभाव, पुण्य, पाप तथा देहादि की क्रिया, उन सबका उसमें अभाव हुआ, सहज अनादर हुआ। सहज स्वतन्त्र ज्ञानगुण की अस्ति माने, आवश्यकरूप से परभाव की नास्ति।

आत्मा ज्ञानमूर्ति है, ऐसा भान होने पर निन्दा-स्तुति, शत्रु-मित्र, हर्ष-शोक, इष्ट-अनिष्ट के जो दो पहलू पूर्व में थे, वे मिट गये। जब तक स्वयं पूर्ण वीतराग हुआ नहीं है, तब तक विनय-भक्ति के कारण धर्मात्मा के गुणों के प्रति राग हो जाता है। देव-गुरु-धर्म का बहुमान होता है, फिर भी मानता है कि मेरा पूर्ण अरागी स्वरूप ही एक उपादेय है। आत्मा की यथार्थश्रद्धा के ज्ञानसहित जो समभाव है, वही वास्तविक समभाव है। आत्मभान बिना मन द्वारा अनन्तबार कषाय की मन्दता करके शुभभावरूप समभाव बहुत रखा है। व्रत, तप, क्रिया, योग, समाधि, चारित्र इत्यादि, अन्य सब कुछ किया। इस सम्बन्ध में श्रीमद्जी ने एक काव्य कहा है कि –

`यम, नियम, संयम आप कियो,

पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुख मौन रह्यो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।'

मौनव्रत आदि सब किया किन्तु जो अपना सहजस्वरूप है, उसका भान नहीं किया। ऐसा कहकर गुरुगम का माहात्म्य बताया है।

सद्गुरु वास्तव में आत्मार्थी जीवों के हृदयकमल का विकास करने में सूर्य समान हैं। आत्मज्ञान में जिनकी स्थिति है; विषय, मान, कामना, पूजादि इच्छाओं से जो रहित हैं; मात्र पूर्व में उत्पन्न हुए मन, वचन, काया के योग से और पूर्वकर्म के उदय अनुसार जिनका विचरण है; आहार-पान आदि क्रियाएँ बाहर से दिखती हैं किन्तु अन्तरङ्ग में जिन्हें इच्छा नहीं है – ममता नहीं है – उनकी अपूर्व वाणी मुमुक्षु आत्मा को छू जाती है, उनकी अपूर्वदेशना भव्यआत्मा को समझा सकती है। यहाँ पर वाणीयोगवाले सद्गुरु की व्याख्या की है। इससे जिन ज्ञानी के पास वाणीयोग न हो, ऐसे धर्मात्मा के साथ अन्याय करने की बात नहीं है। यहाँ पर मुख्यरूप से अपूर्व वाणीवाले सद्गुरु की बात की है कि जिनकी वाणी अज्ञानी की वाणी से स्पष्टरूप से भिन्न मालूम पड़ती है। जिस भाव से भटकना हो, ऐसे उल्टे भाववाली वाणी के मुकाबले, भव से मुक्त करानेवाले परमप्रभावक सत्पुरुष की वाणी कुछ और ही होती है।

नववीं गाथा में ऐसा कहा था कि खुद का आत्मस्वरूप क्या है ? उसके क्या – क्या लक्षण हैं ? – यह समझने के लिये मताग्रह व मान छोड़कर सद्गुरु की शरण ले तो परमार्थ को पायेगा। अनादि से बाह्यलक्षण, परभाव के मिश्रणवाले लक्षण से आत्मा को अज्ञानरूप माना है; इसलिये निजस्वरूप जैसा है, वैसा जाना नहीं है। अतः परद्रव्य, परभावों से भिन्न निर्बाधरूप से आत्मा का सच्चा लक्षण गुरुगम से समझना चाहिए। निर्दोषलक्षण उसे कहें कि जो पदार्थ में तीनों काल अभिन्नरूप से प्रवर्तमान रहे, अन्य द्रव्य से भिन्नत्त्व को प्रकाशित करे और लक्ष्य को अभेदरूप से धारण करके रखे। आत्मस्वरूप का निर्दोषलक्षण सद्गुरु द्वारा जाना जा सकता है; अतः सद्गुरु के लक्षण इस दसवीं गाथा में कहे हैं।

शास्त्र में त्रिकाल अबाधित वस्तु, पदार्थ के असाधारण जाति अनुसार लक्षण

बताये हैं। जीवपदार्थ और अजीवपदार्थ - इस प्रकार दो जाति के पदार्थ हैं।

जीव यानी आत्मा लक्ष्य है और चेतना उसका लक्षण है। जीव ने निर्बाधपना जिस प्रकार से है, उस प्रकार से जाना नहीं है। अत: अनादि से स्वयं को अज्ञानवश राग, द्वेष और मोहभावमय विपरीत गुणवाला माना है किन्तु उसे उस भूल का पता नहीं है। सच्चे तत्त्वस्वरूप को भूलकर विपरीतलक्षण माना था, वह सद्‌गुरु द्वारा समझ में आया – ऐसा प्रथम गाथा में आया था।

जिस प्रकार आत्मा को चेतनालक्षण द्वारा अन्य सर्व पदार्थों से भिन्न किया जा सकता है, उस प्रकार सद्‌गुरु के लक्षण जानने से उनकी पहचान हो सकती है; अत: उनके लक्षण इस गाथा में कहे हैं। इनमें प्रथम लक्षण आत्मज्ञान कहा है। आत्मज्ञान माने सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान माने राग-द्वेष, इच्छा, ममतारहित होकर वस्तु का (अपना) तथा समस्त पदार्थों का ज्ञान जैसा है, वैसा यथार्थ जानना। राग-द्वेष, हर्ष-शोक को अपना न जानकर, अपने ज्ञानस्वरूप का बोध होना – यह है। प्रथम परज्ञेयों में एकत्वपना होता था, उससे छूटकर हर्ष-शोक रहित अरागीरूपपूर्वक स्वस्वरूप में स्वसन्मुख होना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान।

अज्ञानभाव को मिटाकर सुज्ञान का व अपने सहज आनन्द का भोग करता है, परभाव की इच्छा से रहित है, ऐसे ज्ञानी सत्पुरुष सद्‌गुरु कहे जाते हैं – यह निर्दोष लक्षण है।

पुण्य, पाप, संसार, विषयादि में ममत्व नहीं है, इच्छा नहीं है, क्षोभ नहीं है, आत्मा राग-द्वेष का कर्ता नहीं है, हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं है – ऐसी निर्दोषता, वही समदर्शिता है। जब अपने स्वरूप में स्थिर हुआ, स्वभाव में टिका, तब परभाव के प्रति राग रहितपना सहज हुआ।

समदर्शिता का मतलब यह नहीं है कि गलत को गलत न कहे किन्तु सत्य-असत्य का यथार्थ विवेक करे। गलत का निषेध करे, हित-अहित को बराबर जाने और जैसा है, वैसा कहे – उसमें समदर्शिता है, उसमें राग-द्वेष नहीं है।

लोग अनादिकाल से ज्ञानी का विरोध करते आये हैं। वे चाहे जैसा कहें, ज्ञानी को उनकी पड़ी नहीं है। लोग उल्टे न्याय के साथ सच्चे न्यायधर्म का समन्वय करते हैं – वह उल्टी दृष्टि है। सही व गलत तीन काल में कभी एक नहीं

हो सकते। जिसकी बुद्धि पक्षपातवाली है, उसके शास्त्र में, उसके कथन में दोष होंगे ही किन्तु ज्ञानी यथार्थरूप से निर्बाध न्यायपूर्वक वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा जानते हैं व कहते हैं।

ज्ञानी बेधड़क सत्य की प्ररूपणा करते हैं। जगत को पसन्द न आये, इसलिये वे कोई उल्टी बात नहीं कहते। वे ज्ञानी को ज्ञानी ही कहेंगे और अज्ञानी (दोषवाले जीव को) को दोषवान कहेंगे। किसी जीव की निन्दा नहीं करते किन्तु जैसा है, वैसा कहते हैं। उसमें कोई क्लेश (विसंवाद) खड़ा हो जाए, ऐसा हो तो समय देखकर क्वचित् मौन रहते हैं। असत्य मान्यता, कुतर्क, कुदेव, कुधर्म, कुशास्त्र को झूठे कहकर निषेध करना - यह ज्ञानी का दोष नहीं है।

कोई कहे कि दृष्टिविष खत्म हो जाने पर सब कुछ समान दिखता है - यह बात गलत है। ज्ञानी सत्य-असत्य, ज़हर-अमृत, परभाव-स्वभाव, अकषाय-कषाय- इन सबको एक समान नहीं मानते किन्तु जैसा है, वैसा मानते हैं; वैसा ही कहते हैं, असत्य का निषेध करते हैं। कुज्ञानी सत्य को नहीं पहचान सकने के कारण ज्ञान का, सत्य का निषेध करते हैं।

जिस मार्ग से संसार फलता है, उस मार्ग से मोक्ष नहीं फलता। ज्ञानी आत्मधर्मोपदेशक सत्य का स्थापन तथा झूठी मान्यता तथा झूठी प्ररूपणा का निषेध करते हैं। इसमें (बाह्यदृष्टि से) अल्प कषाय दिखें किन्तु उसमें सच्चे न्याय की पुष्टि है। उन्हें व्यक्ति का द्वेष नहीं है किन्तु वे वीतरागस्वरूप का जैसा है, वैसा स्थापन करते हैं। अल्पकषाय होने के बावजूद भी निर्जरा होती है और लोकोत्तर पुण्य सहज बँध जाता है।

यदि कोई गलत न्याय से वस्तुधर्म सिद्ध कर रहा हो तो उसका न्याय प्रमाण से निषेध करने के लिये, धर्मात्मा ज्ञानी उपदेशक हो या गृहस्थ हो, उसे कारणवशात् सही न्याय समझाने का वेग भी आ जाये, फिर भी उनको अन्तरङ्ग में किसी के प्रति द्वेष नहीं है। निर्दोष एवं सच्चे धर्म का समर्थन करने में धर्मात्मा कभी पीछे नहीं हटते। जो सातवें गुणस्थान में एवं ऊपर की भूमिका में हैं, उन्हें ऐसा कुछ नहीं होता। यहाँ यूँ कहना है कि लोग केवल बाह्यप्रवृत्ति के योग को ही देखते हैं किन्तु अन्तरङ्ग गुणों की परीक्षा करते नहीं। इसलिये अभी तक सच्चे

सद्गुरु की पहचान बिना भटकना हुआ है। खुद की पात्रता के बिना ही कदापि ओघसंज्ञा से सत्पुरुष हैं – ऐसा जाना तो भी इससे स्वयं को ज्ञानी के मिलने से होनेवाला लाभ नहीं हुआ।

कोई जीव साक्षात्, सर्वज्ञ भगवान की धर्मसभा में जाकर कोरा का कोरा वापस आ जाए। बाहर आकर सत्य का निषेध करे और कहे कि सर्वज्ञ ऐसे नहीं होते क्योंकि उसने जो धारणा की थी, वैसा उनमें नहीं दिखा।

इस प्रकार जीव ने अपनी कल्पनानुसार सत्पुरुष की तुलना की है। स्वयं में यथार्थ जानकारी नहीं होने के कारण सत्पुरुष का निषेध करने की अज्ञानबुद्धिवश विपरीतरूप से प्रवर्तन करता है। अन्तर में सत् का उल्लास आदर नहीं रहता।

यहाँ पर सद्गुरु के लक्षण में प्रथम लक्षण आत्मज्ञानीपना और दूसरा लक्षण समदर्शिता कहा है। तीसरा लक्षण पूर्व कर्म के उदयानुसार योग का प्रवर्तन तथा सहज स्वरूपस्थितदशा में आत्मा का स्थिर रहना और चौथा लक्षण वाणी कहा है।

अज्ञानी की वाणी के मुकाबले आत्मस्वरूप के ज्ञाता और अक्रिय निर्मल ज्ञानस्वरूप में रमण करनेवाले ज्ञानी की वाणी प्रत्यक्ष भिन्न मालूम पड़ती है; इसीलिए उसे अपूर्व कहा है। अज्ञानी की वाणी में परभाव का स्थापन होता है, जबकि ज्ञानी की वाणी में अनेक न्यायसहित अविरोध स्याद्वाद (सापेक्षता) होती है, निर्दोषता होती है।

श्रीमद्जी ने इस गाथा का अर्थ समझाते हुए एक ऐसी पंक्ति रची है कि–

'स्वरूपस्थित इच्छारहित, विचरे पूर्वप्रयोग,
अपूर्व वाणी, परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।'

आत्मस्वरूप में उनकी स्थिति है, इसलिये रागादि में प्रवर्तन नहीं है; विषयकषाय, मान-अपमान से रहित हैं; मात्र पूर्व में उत्पन्न हुए कर्मों के प्रयोग से विचरण करते हैं; बोलने की, चलने की, खाने की, पीने की भी इच्छा नहीं है; अन्दर में प्रकृति के उदयवश जो विकल्प आते हैं, उनका विवेक है; पूर्वकर्म अनुसार उनके देह का प्रवर्तन रहता है; पूर्वकर्म के आवरण की निर्जरा होनेलायक सहज पवित्र उनकी ज्ञानदशा है।

यहाँ पर 'स्वरूपस्थितदशा' कही। इसका मतलब सम्पूर्ण स्थिरदशा नहीं है किन्तु

अभी साधकस्वभाव है, अर्थात् ज्ञानदशा (की बात) कही है। १३वें गुणस्थानक में सर्वज्ञ होने के बाद तो आत्मा के गुणों को आवरित करनेवाला कोई घातीकर्म नहीं है, फिर भी वहाँ देह है और वाणी का योग क्वचित् होता है किन्तु यहाँ पर आंशिक स्थिरता कही है। इस सद्गुरु में चारित्रदशा है, उसमें इच्छारहितपना है और मान, अपमान, तृष्णा, परिग्रह नहीं है। (यहाँ पर मुख्यतया छठा गुणस्थान है; चौथी-पाँचवीं भूमिका में सर्व विरतिदशा नहीं है, इसलिये उसमें सामान्यत: उपदेशकपना नहीं कहा जाता)। इच्छा नहीं है तथा पूर्व प्रारब्ध के उदय को पूरा करने के लिये ही जिनका विचरण (आहार, विहार) आदि देह का योग है, उनकी वाणी में अपूर्वता कही है। इसका कारण यह है कि पुण्य के अतिशयवाला वाणीयोग जिनके नहीं है, उन्हें सद्गुरु नहीं कहा जायेगा – ऐसा नहीं है, किन्तु यहाँ तो मुख्यतया उपदेशक गुरु के लक्षण कहे हैं।

यहाँ एक दृष्टान्त है कि शिवभूति मुनि थे। उनकी प्रज्ञा बहुत मन्द थी, फिर भी आत्मभान पूरा-पूरा था। उनको गुरु ने उपदेश दिया था कि **'मा तुष'** (किसी से सन्तुष्ट नहीं होना) **'मा रुष'** (किसी के प्रति द्वेष नहीं करना)। गुरु के उस उपदेश का भाव यह था कि विकल्प भी नहीं करना, यानी शुभाशुभराग की वृत्ति में भी नहीं जुड़ना। पूर्ण कृतकृत्य शुद्ध अविकारीस्वरूप से तनिक कम का लक्ष्य भी नहीं करना, यानी उपाधिभाव में सन्तुष्ट नहीं होना। यह बात वे ठीक प्रकार से समझे हुए थे, इसलिये अन्दर में अविकारी, पवित्र, सहज आनन्ददशा हुई थी, फिर भी **'मा तुष मा रुष'** – ऐसे दो शब्द गुरु ने दिये थे, वे भी याद नहीं रहे।

उनके पास वाणी का योग नहीं था, जिससे कि आत्मा का अनेकान्त स्वरूप दूसरों को समझा सके। उनके पास उस प्रकार की वाणी का उदय नहीं था, फिर भी कोई विपरीत तत्त्व का प्रतिपादन करे तो उसे न माने। किसी भी प्रकार के कर्म संयोग में क्षोभित नहीं होते थे। ऐसी पवित्र व नि:शङ्क स्थिरता अभिप्राय में थी। उन्हें भी सत्पुरुष ही कहेंगे।

ऐसा नहीं समझना कि सुन्दर देह, सुन्दर वाणी आदि बाहर से पुण्यप्रकृति अच्छी हो तो ही ज्ञानी कहे जायेंगे। ज्ञानी के पास ऐसा योग नहीं भी हो, घड़े में दीपक

रखा हो तो अन्य लोग उसका लाभ न ले सकें किन्तु घड़े में छेद हो तो समीप आनेवाला दीपक का लाभ ले सकता है। इस प्रकार जिस ज्ञानी सत्पुरुष को वाणी का योग रहता है, उनके निमित्त से बहुत से आत्मार्थी जीवों पर आत्मबोध का उपकार होता है, इसलिये अपूर्व वाणीयोगवाले सद्गुरु को लक्ष्य में रखकर यहाँ पर कहा है। वचन का अतिशय होना, यह पुण्ययोग है। वाणी मधुर हो और भाषाशैली क्रमबद्ध चले, यह पुण्यप्रकृति के कारण से होता है। इसमें भी उत्कृष्ट अतिशय जिनकी वाणी में होता है, ऐसा अलौकिक पुण्यप्रभाव श्री तीर्थङ्कर केवलीभगवान को ही होता है। किन्तु इस पुण्यप्रभाव की आत्मागुण के खाते में खतौनी नहीं कर सकते।

शेर पास में आकर बैठे और पुण्य तथा आयुष्य न होवे तो निर्दोष साधु को भी फाड़कर खा जाता है। अतः बाहर से पुण्य अधिक होवे तो उससे परीक्षा नहीं होती, किन्तु गुण से परीक्षा होती है। खुद की प्रज्ञाविशेष से स्व के प्रति विशेषभाव हुआ तो वह पुरुषार्थ का कारण है।

श्रीगुरु के बोध को समझनेवाले जीव को उपकार होता है, तब निश्चय से (उसका) स्वयं का पुरुषार्थ है। वचन का योग मिलना, यह तो पूर्वप्रारब्ध है।

ज्ञानी का उपकार माननेवाला उपचार से अपने गुणों के प्रति बहुमान का निक्षेप ज्ञानी में करता है। **'एक होय त्रणकालमां, परमार्थ का पंथ,'** - ज्ञानी का हेतु आत्मा को विरोधरहित समझने का है। पुण्य से आत्मगुण की पहचान नहीं हो सकती।

पूर्णज्ञान हुआ नहीं है और ज्ञानमयदशा प्रवर्तती है, फिर भी बाहर से पुण्यकर्म का योग किसी ज्ञानी को न दिखे तो इसके कारण अन्तर से भी किसी ज्ञानी का अनादर न हो जाए - यह लक्ष्य में रखना चाहिए।

पुण्य पूज्य नहीं है किन्तु गुण पूज्य हैं, फिर भी वाणी को उपकारी कहा है। आत्मा का अनन्त सामर्थ्य समझानेवाले सद्गुरु के वाणीयोग के पीछे छिपा हुआ (आत्मभाव) - वह लायकजीवों को उपकारी होता है। इसलिये यहाँ पर वचन अतिशयवाले सद्गुरु का वर्णन किया है। वाणी द्वारा गुण का भान होता है; अतः वह उपकार में निमित्तरूप होने से उपचार से उसको (कारण) कहा जाता है।

लायक जीव स्व-पर के भेदविज्ञान से वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा समझते हैं।

धर्मदेशना (वाणी) कानों में पड़ना – वह पुण्य का योग है। किन्तु केवल उससे (सुननेमात्र से) लाभ नहीं होता, लेकिन अन्तरङ्ग में विचार करके भाव समझने का प्रयत्न करे तो उससे लाभ है।

संसार में कमायी करने की अथवा खानेपीने की इच्छा करता है। उसकी जगह श्रवण की जिज्ञासा हुई तो वहाँ नया पुण्यबन्ध होता है किन्तु धर्म नहीं होता। अपना उपकार अपने से ही हो सकता है – ऐसा समझे, निर्णय करे और सद्गुरु उपदेश की यथार्थवाणी द्वारा अपने गुणों को ग्रहण करे। यानी प्रसन्नचित्त से आत्मा की बात अन्दर में बैठ जाए और बिना धारणा के सहज ही अन्तर में प्रतीति होकर हाँ आ जाए तो अपूर्ववाणी का लाभ उस समझनेवाले मुमुक्षु को हो जाए।

पाँचवाँ परमश्रुत लक्षण कहा। उसमें षट् दर्शनों (सांख्य, योग, बौद्ध, मीमांसक, चार्वाक व जैनदर्शन – छहों दर्शनों) का (मतवादियों का) क्या कहना है, उनके एकान्त कथनों को जैसा है, वैसा जो जानता है; अनेक पक्षों की विद्यमानता किस कारण से है और क्या है ? – उसकी परीक्षा करके, उन-उन पक्षों के जो जानकार हैं, वे प्रामाणिक गुरु हैं। किन्तु केवल घोखकर बड़ी पण्डिताई प्राप्त की हो लेकिन अविरोधन्याय की खबर नहीं है तथा आत्मतत्त्व का अविरोधपना यथार्थरूप से जैसा है, वैसा जाना नहीं है, वे गुरु नहीं कहलाते। आत्मज्ञान के बिना काफी न्यायशास्त्र जान लिये हो तो वे वृथा हैं।

जगत में भले बहुत सारे धर्म हों, सबका समन्वय करनेवाले हों किन्तु ज्ञानी को उसका प्रयोजन नहीं है; वे तो जो सत्य है, उसे ही अपना मानते हैं।

बहुत लोग कहते हैं कि हम ज्ञानी की बात समझ नहीं सकते, हम निर्णय नहीं कर सकते कि क्या सही होगा ? हम तो जो कर रहे हैं, वही करते रहें। इस प्रकार शङ्का में, भ्रमणा में पड़े हों, वे दूसरों को क्या समझा सकेंगे ? ज्ञानी के वचन रट लिये हों, फिर भी अन्तर में निःसन्देह भूमिका के बिना, सहज आनन्ददशा प्रगट हुए बिना आत्मधर्म की यथार्थप्ररूपणा (उपदेश) वे नहीं कर सकेंगे। स्वयं शङ्काग्रस्त होते हुए भी निःशङ्कता माने, मनवाये किन्तु स्वभाव के वेदन बिना, आत्मा

में पुरुषार्थ किये बिना, वह स्व-पर का विवेक समझा नहीं सकता। पक्षी के उड़ने की ताकत पंख में है किन्तु वह पक्षी रुई के ढेर पर बैठकर नहीं उड़ सकता क्योंकि जमीन सख्त चाहिए। उस प्रकार आत्मा की भूमिका वज्रसमान निःसन्देह न हुई हो तो पंख में, यानी ज्ञान व स्थिरता में उड़ने की शक्ति है तो सही परन्तु व्यक्त न करे, तब तक मार्ग के स्वरूप को मान नहीं सकता और स्वाधीन पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता।

श्रुतज्ञान की विशेषता और पुण्यवान योग का अतिशय महिमावन्तपना जिनको है, ऐसे सद्गुरु के लक्षण यहाँ कहे हैं।

आशङ्का - वर्तमानकाल में पूर्णतया स्वरूपस्थिरता यानी पूर्ण पवित्रदशावाले सद्गुरु का योग नहीं है।

समाधान - इस भरतक्षेत्र में वर्तमानकाल में ऐसा कहना तो कदाचित् सम्भव है कि पूर्ण केवलज्ञानदशा नहीं होती किन्तु छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती धर्मात्मा का अभाव तो नहीं कहा। छठे गुणस्थानक की भूमिका में स्थित तथा इन पाँच लक्षणोंवाले सत्पुरुष इस काल में, इस क्षेत्र में हो सकते हैं – उन्हें पहचाननेवाले सुपात्र जीव चाहिए।

प्रश्न - इस क्षेत्र में, इस काल में सर्वज्ञ हो सकते हैं ?

उत्तर - पञ्च महाविदेहक्षेत्र के छठे गुणस्थानवर्ती मुनि को कोई देव वहाँ से उठाकर इस भरतक्षेत्र में छोड़ जाए और इस क्षेत्र में क्षपकश्रेणी में आरुढ़ होकर १३वाँ गुणस्थान प्राप्त करें, केवलज्ञान प्राप्त करके आकाशमार्ग में विचरण करें – ये सामान्य केवली कहलाते हैं। ऐसा कोई काल में बनता है तथापि अनन्तबार ऐसा भी बन चुका है। शास्त्रों में जिसे संहरण कहते हैं, ऐसे अपवाद को छोड़कर पाँचवे आरे (काल) के इस क्षेत्र में जन्मे हुए जीव को इस काल में केवलज्ञान नहीं होता किन्तु आत्मज्ञान नहीं हो सकता – ऐसा नहीं कहा है।

दिनाङ्क - २९-९-१९३९

अनन्तकाल का अनजाना मार्ग सत्सङ्ग एवं सद्गुरु की सेवा के बिना प्राप्त दुर्लभ है। इसके लिये जिस सद्गुरु में आत्मज्ञान, अपूर्व वाणी इत्यादि लक्षण हैं – ऐसे सत्पुरुष, पात्र जीवों को उपकारी होते हैं।

यहाँ पर शिष्य ने शङ्का की है कि – शास्त्र में कहा है कि वर्तमान में स्वरूपस्थित -दशा, केवलज्ञानदशा नहीं है, यानी मोक्षपद की प्राप्ति इस काल में नहीं है; अतः (वर्तमान में) सत्पुरुष नहीं हो सकते। उसका समाधान – वर्तमान में पूर्ण मोक्ष नहीं है, उसका यह मतलब नहीं है कि इस काल में एकावतारीपना नहीं हो सकता। वर्तमान में भी साधकस्वभाव से पवित्रदशा में प्रवर्तमान सद्गुरु हो सकते हैं। लोग सुल्टा पुरुषार्थ करते नहीं हैं और कहते हैं कि काललब्धि पकेगी, तब पुरुषार्थ जागेगा; ज्ञानी ने देखा होगा, वैसा होगा; इस प्रकार पुरुषार्थहीन वाक्य बोलनेवालों को ऐसा भी कहा जाता है कि इस काल में भी मोक्ष है, (जिसका) मिथ्यात्व छूटा, उसे परमार्थ से वर्तमान में ही मोक्ष है।

आत्मा पूर्ण, पवित्र, अविनाशी, कृतकृत्य है - ऐसे निःसन्देह अभिप्रायसहित, 'राग है, वह मैं नहीं' – इस प्रकार ज्ञान के बल द्वारा मलिनता मिटाकर पुरुषार्थ उठाये और अन्तर में ऐसे भानसहित आत्मलक्ष्य हुआ तो वह अनन्त संसार का नाश करके एकाध भव में मोक्ष होना प्रत्यक्ष देखता है। उसका हर क्षण, हर पल मोक्ष होता जाता है।

जिस प्रकार बैलगाड़ी के रास्ते से भावनगर जाने को निकला। उसमें रास्ते में बैल थक गये और रात हो गयी। बीच में धर्मशाला में रात रुकना पड़ा। वह रुकने के लिये नहीं, किन्तु अधिक बल पाने के लिये (थकान उतारने के लिये) और ताजगी पाकर जल्दी भावनगर पहुँचने के लिये है। उस प्रकार आत्मज्ञान में रमण करते-करते ज़रा थकान लगी, उस बीच एकाध भव स्वर्ग का हो जाए, उससे कोई मोक्षमार्ग से बाहर नहीं हो जाता।

इस काल में, इस क्षेत्र से मोक्ष नहीं है; अपना नक्की किया हुआ होगा

नहीं, ऐसे पुरुषार्थहीन वाक्य कई जीव कहते हैं और कहते हैं कि हम तो अल्पज्ञप्राणी हैं; ढके हुए कर्मों का हमें कैसे पता चले ? केवलीभगवान का क्या कहना है ? – इसका हमें पता नहीं लगता किन्तु हमें तो राग-द्वेष कम करना; व्रत, तप, आदि देह की क्रिया, बाह्यचारित्र का पालन करते हैं और पुण्य द्वारा मोक्ष होता है, इतना जानते हैं; कुछ करेंगे, तो कुछ पायेंगे; आत्मा की बात हमें समझ में नहीं आ सकती – ऐसा कहनेवाला व माननेवाला निःसन्देह धर्म कभी प्राप्त नहीं कर पायेगा।

ज्ञान की यथार्थता स्वयं में है। स्वयं अपने आप को न समझ सके तो और कौन समझ सकता है ? निर्भय, निःशङ्क ऐसा चैतन्यभगवान जागृत है; इसलिये उलझन नहीं होती। मैं स्वाधीन हूँ या नहीं – ऐसी शङ्का नहीं रहती। पुण्य, पाप, राग, द्वेष और अन्तरङ्ग कषाय क्या है ? आत्मा का अकषायपना उससे भिन्न है कि नहीं ? – इत्यादि उलझन वर्तमान में ही मिट सकती है और शुद्धता प्रगट हो सकती है। जिसे अन्तर की गहरायी से भान (सूझ) आता है, वह आत्मा के ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता है। मति व श्रुतज्ञान द्वारा सम्यग्ज्ञानी जीव, केवलज्ञानी जो भाव जानते हैं, उस प्रकार के भावों का अपने से अपना निर्णय कर सकते हैं और उसमें भूल नहीं होती; उसे केवलीभगवान से पूछने के लिये नहीं जाना पड़ता। केवलीभगवान सर्वभाव प्रत्यक्ष जानते हैं और मतिश्रुतज्ञानी आंशिकरूप से प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकार से जानते हैं क्योंकि उनका उपयोग क्रमपूर्वक है किन्तु उनके भाव में, समझ में, निर्णय में भूल नहीं पड़ती। लोगों को संसार का निर्णय करना हो तो निःसन्देह निर्णय करते हैं किन्तु आत्मा के स्वभाव का निर्णय नहीं करते और फिर भी मानते हैं कि हम धर्मी हैं। आत्मा के पवित्र सर्वज्ञस्वभाव में शङ्का करे और सही समझने की रुचि न करे, वह कभी निःसंदेह हो नहीं सकता।

श्रीमद्जी कहते हैं कि :-

'जेम जेम मति अल्पता अने मोह उद्योत;
तेम तेम भवशंकना अपात्र अंतर ज्योत।'

मति की निर्मलता की जितनी-जितनी कमी (अल्पता), उतनी-उतनी भव शङ्का

बढ़ती जाती है। जिसके अन्दर भवरहित होने की पात्रता नहीं है, उसे शङ्का होती रहती है और मोह के उदय में जुड़ता है। स्वरूप में जो नि:सन्देह है, उसे एक-दो भव में मेरा मोक्ष होनेवाला है, ऐसी प्रत्यक्ष साक्षी अपने अनुभव से वर्तमान में हो सकती है।

यहाँ पर सद्गुरु के जो-जो लक्षण कहे, उसके द्वारा सद्गुरु को पहचान सकने की खुद की पात्रता चाहिए। सर्वज्ञ वीतराग क्या कहते हैं ? – उसके न्याय की समझ बिना कोई बाह्यदृष्टिवाला कहता है कि यह पञ्चम काल है, इस समय धर्म का परिणाम (फल) नहीं दिखता क्योंकि जैनशास्त्र में वर्तमानकाल में मोक्षदशा प्राप्त नहीं होती – ऐसा लिखा है। आत्मज्ञान नहीं होता; अत: हमें अभी आत्मज्ञान नहीं पाना है किन्तु व्रत, तप, भक्ति, ब्रह्मचर्य इत्यादि पुण्यक्रिया करेंगे तो उसका फल दूसरे भव में मिलेगा। इस भव में करेंगे, तो अगले भव में पायेंगे – इस प्रकार गलत मार्ग द्वारा सच्चे फल की आशा रखता है।

सान रखनेवाला (हथियार की धार तेज करनेवाला) हथियार को घिसता है और ज़ंग छुटकर (जो) उज्ज्वलता आती है, उसकी तरफ देखता है। जितना मैं दबाव देता हूँ, उसके अनुपात में उज्ज्वलता आ रही है – ऐसा वह जानता है और देखता है। उसने उस प्रकार की कला प्राप्त की है। जिस प्रकार लोहे के हथियार की धार तेज करनेवाला जो कार्य होता है, उसे तुरन्त जानता है; उस प्रकार अन्तर की सच्ची ज्ञानकला वर्तमान में प्राप्त करके, उसका फल तुरन्त प्रत्यक्ष जाना जा सकता है। फिर भी तू शङ्का करता है कि इस काल में मोक्ष नहीं हो सकता, इसलिये आत्मज्ञान भी नहीं हो सकता तो यह बात बिल्कुल गलत है। इस क्षेत्र में जन्म लेनेवाले का इस काल में मोक्ष नहीं है किन्तु एक भवतारीपने का, सम्यग्दर्शन का, ज्ञानीपने का निषेध नहीं है। एक भवतारीपना, आत्मज्ञान के बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

आशङ्का - आत्मज्ञान के बिना, त्याग-वैराग्य की उत्कृष्टता द्वारा एक भवतारीपना कहा होगा ? अथवा आत्मानुभव बिना कषाय की मन्दता, दया, ब्रह्मचर्य, व्रत, शील त्याग, वैराग्य, इत्यादि बहुत पुरुषार्थ द्वारा बहुत सरलता, समता इत्यादि रखे, ऐसे जीव को एकावतारी कहा हो तो ? ऐसी शङ्कावाला अपने नाप से भगवान का नाप

निकालता है, या (फिर) आत्मज्ञान बिना भी मन्दकषाय से मोक्ष हो जाता हो तो ?

उत्तर - आत्मा के भान बिना किये त्याग-वैराग्य परमार्थ नहीं कहे जाते। ऐसी क्रिया से एकावतारीपना नहीं होता है। इतना ही नहीं बल्कि एक भव भी कम नहीं होता।

राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ आदि मलिनपरिणाम मेरे नहीं हैं; मैं त्रिकाल उनसे भिन्न हूँ – उसका वर्तमान में प्रत्यक्ष भान-अनुभव किये बिना आत्मज्ञान का अंश भी प्रगट नहीं होता। क्रोध, मान, माया, लोभ का अंश भी मेरा है – ऐसा मानना, यह औंधी दृष्टि है। कुज्ञान का वीर्य सुल्टे पुरुषार्थ के लिये काम नहीं करता क्योंकि पुरुषार्थ ही उल्टा है।

आत्मज्ञान के बिना शुभपरिणाम, त्याग-वैराग्य सब-कुछ बोझारूप यानी उपाधि के समान हैं। आत्मा शुद्ध, चिदानन्द, निर्मल है; पुण्य-पाप, राग-द्वेष तथा बन्धनरहित है, अतीन्द्रिय है, अविनाशी है – ऐसे लक्ष्यपूर्वक निर्दोषदृष्टि द्वारा अविरोधज्ञान की जागृति द्वारा राग-द्वेष, अज्ञान के भाव मिटाकर (छेद करके), आत्मा का अनुभव करे तो अकषायपना, असंयोगीपना, निर्मलपना, साक्षीपना प्रगट पुरुषार्थसहित रहता है।

शुभाशुभ क्रिया व शुभ का राग आंशिकरूप से भी मेरा नहीं है और आदरणीय नहीं है – ऐसा पुरुषार्थ व निःसन्देह निर्णय जब जीव करता है, तब उसे आगे की भूमिका नज़र आती है। पुण्यपरिणाम मैं करता हूँ, राग-द्वेष मैं करता हूँ, ये मेरे स्वभाव में से निकलते हैं - ऐसा मानना यह मिथ्यात्व है। इस भ्रान्ति का कारण यह है कि अन्तरङ्ग में उसे दर्शनमोहकर्म का प्रतिक्षण उदय है और उसके निमित्त के साथ जुड़ने से उसे भ्रान्ति उत्पन्न होती है। शुभाशुभभाव व राग-द्वेष की वृत्ति होने में पुद्गल के अनन्त जड़परमाणुओं का, शुभाशुभकर्म का निमित्त है; परभावरूप पुण्य-पाप-रागादि की वृत्ति का छेदन करने का पुरुषार्थ स्वसन्मुख होने में है। सर्व परभावों से मैं रहित हूँ – ऐसे ज्ञानबल द्वारा परभाव के नाश का निर्णय करके, आत्मभान पाया जा सकता है। सर्वज्ञ वीतराग के अविरोध न्याय द्वारा तत्त्व जैसा है, वैसा जानकर आत्मभान पाया जा सकता है। मन की विचारणा, कल्पना या धारणा से नहीं, किन्तु अतीन्द्रियज्ञान द्वारा निःशङ्क स्वभाव प्राप्त होता

है।

कोई माने कि हमारे परिणाम बहुत पवित्र हैं, हम निष्पापी हैं किन्तु उससे क्या ? ऐसे शुभ, सरल परिणाम उसके हो जाए कि जिससे बाहर में बहुत उत्कृष्ट वैराग्य दिखे, मन्दकषाय दिखे, फिर भी उसे देहदृष्टि होने के कारण वह राग में रुकता है; अतः भव नहीं कटते। पापानुबन्धी पुण्य बाँधकर संसार में भटकेगा क्योंकि जिस भाव से संसार फलता हो, उस भाव से संसार का (भव का) अभाव कैसे होगा ? जब तक अन्तरङ्ग में भूल समझ में न आये, तब तक अभिप्राय की भूल समझ में आ नहीं सकती और मिट नहीं सकती।

आत्मा त्रिकाल ज्ञायक, शुद्ध, अविनाशी है; पुण्य-पापरहित है; मन, वाणी, देह की क्रिया से रहित है; उसमें रागादि अशान्ति का अंशमात्र नहीं है। ज्ञानबल द्वारा ऐसा स्वसन्मुख निःशङ्कभाव प्रगट करे, ऐसे अन्तरवीर्य के सामर्थ्य से भव के अभाव का अपूर्वभाव जिसे प्रगट हुआ है, उसका सच्चा पुरुषार्थ है। नित्य का आश्रय ग्रहण करके ज्ञानभाव में निर्दोषतापूर्वक टिके रहने का जो पुरुषार्थ करता है और अकषायपने के लक्ष्यपूर्वक कषाय की मन्दता और वैराग्यता बढ़ाते हुए उच्चभूमिका में चढ़े, वह अन्तरस्थिरता में आगे बढ़ता है।

आत्मा आनन्दस्वरूप पुण्य-पाप, राग-द्वेष रहित है – ऐसा भान तो इस काल में भी होता है। उसे चौथा गुणस्थान विद्यमान है। आत्मा का भान होने के बाद कषाय की विशेष मन्दता करते हुए पुरुषार्थ की अन्तरङ्ग स्थिरता होने पर, गुण की आंशिक वृद्धि हुई, उसे देशविरति नाम का पञ्चम गुणस्थानक कहते हैं। छठे गुणस्थान में गुणों की बहुत उज्ज्वलता और सर्वविरतिपना यानी अन्तरङ्ग ज्ञान की स्वरूपस्थिरता काफी मात्रा में होती है। धर्मात्मा मुनियों में महासमर्थ, जिनकी बहुत पवित्रदशा थी – ऐसे पूज्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य आदि छठी-सातवीं भूमिका में झूलते थे।

समयसार की छठी गाथा में कहा है कि आत्मा त्रिकाल ज्ञायक एकरूप है। उसमें प्रमत-अप्रमत के दो भेद पड़े – ऐसा आत्मा नहीं है। ऐसा कहनेवाले महामुनिवर आचार्यमहाराज आत्मज्ञान की स्थिरता में रहते थे।

क्वचित् पूर्वकर्म के उदय में जुड़ने से अस्थिर होकर मन्दराग में जुड़कर

छठे गुणस्थान में आयें और वापस स्थिर अप्रमत्त होने पर सातवें गुणस्थान में पहुँच जाए, ऐसी परम अद्भुत चारित्रदशा में स्थिर हों – वे सद्गुरु कहलाते हैं। जब मुनि छठे गुणस्थानक में होते हैं, तब (पुरुषार्थ की) कमजोरी की वज़ह से अल्प अस्थिरता हो जाती है और प्रशस्तराग की वृत्ति उठती है, गुरुउपदेश श्रवण करना अथवा शिष्यों को उपदेश देना, आहार-विहार आदि शुभप्रवृत्ति होती हैं। ऐसी दशा को प्रमत्त गुणस्थान (छठा) कहते हैं। फिर भी वह अल्प अस्थिरता आत्मज्ञान की रोधक नहीं है और स्वरूपस्थिरता में विशेष बाधक नहीं है। कोई मात्र कषाय की मन्दता, वैराग्य व बाह्यत्याग करके साधुपना मानकर-मनवाकर बैठ गया हो और आत्मा के भान बिना गुरुपद धारण कर लिया हो – ऐसे गुरु को सद्गुरु नहीं कहा।

आत्मज्ञान के बिना बाह्य त्याग-वैराग्य, वास्तविक शुभपरिणाम या पुण्य नहीं है। आत्मज्ञान के बिना उसका पुण्य दोषवाला व संसार बढ़ानेवाला पापानुबन्धी पुण्य होता है।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि छठे गुणस्थानक में प्रमाद है और स्वरूपस्थिरता, इच्छारहितपना – ऐसा सद्गुरु का पद कहा किन्तु पूर्णस्वरूप, स्थितपद तो १३वें गुणस्थानक में ही सम्भावित है न ?

उसका समाधान यहाँ कारण देकर किया जा रहा है। भाई रे ! तू रुक जा। तेरा कहना एक दृष्टि से असङ्गत है। स्वरूपस्थिति की पराकाष्ठा तो १४वें गुणस्थानक के अन्त में होती है क्योंकि आयुष्य, नाम, गोत्र व वेदनीयकर्म का १३वें गुणस्थानक में निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध है। आत्मा में अल्प भी कमजोरी है, तब तक १३वाँ गुणस्थान है। अत: वहाँ सम्पूर्ण स्वरूपस्थिति नहीं है किन्तु सम्पूर्ण वीतरागपद है और मोह आदि चार कर्मों का सर्वथा क्षय होता है। अनन्त सुखस्वरूप दशा की अपेक्षा से १३वें गुणस्थानक में भी सम्पूर्ण स्वरूपस्थिरता कहलायेगी।

आत्मा जिस स्वरूप से है, उसकी सम्यग्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वर्तमान में प्रगट हो, उसी क्षण पूर्ण स्वरूप खुल नहीं जाता क्योंकि जिस समय सम्यक्ज्ञान उत्पन्न हुआ, उस समय से अंशत:कार्य व कारण अपूर्व उपजता है किन्तु पवित्र, उत्कृष्टदशा तो १४वें गुणस्थानक के आखरी समय पर होती है।

आत्मा की केवलज्ञानदशा पूर्ण होने के बावजूद, वेदनीय आदि चार कर्म १३वें गुणस्थानक में थे, बाकी रह जाते हैं। अतः भाई रे ! १३ वें गुणस्थानक में द्रव्यमोक्ष नहीं है, फिर भी पूर्ण स्वरूपस्थिति है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य प्रगट हुए हैं; अतः सर्वज्ञकेवली जिनभगवान को सम्पूर्ण स्वरूपस्थिरता भी अपेक्षा समझकर अविरोधरूप से कही जा सकती है। पहले ना कही, बाद में हाँ कही। कोई एकान्तपक्ष करे, तो उसका कथन गलत सिद्ध होता है।

आत्मा जैसा शुद्ध स्वरूप है, (ऐसा) उसका ज्ञान होने पर आंशिकरूप से स्वरूपस्थिरता प्रगट होती है और पुरुषार्थ बढ़ने पर, स्थिरता बढ़ने पर मोहकर्म का सर्वथा अभाव होने से अनन्तसुख प्रगट होता है; इस प्रकार देह के रहते हुए भी पूर्णरूप से स्वरूपस्थिरता १३वें गुणस्थानक में है – ऐसा विरोध दूर करके कहा।

यहाँ पर शिष्य ने कहा कि - गुरु ! अन्तरङ्ग घातिकर्म तो खत्म हो गये हैं किन्तु बाह्यसंयोग अभी यथावत् हैं। योगगुण की अशुद्धदशा के कारण शाता-अशाता के एक समयवर्ती परमाणु आते हैं और जाते हैं; अतः अव्याबाधस्थिति नहीं कही जाती। अतः आपने १३वें गुणस्थान पर स्वरूपस्थिरता पूर्णरूप से कही, वह ठीक नहीं है किन्तु १४ वें गुणस्थान के आखरी समय पर पूर्णरूप से स्वरूपस्थिरता कहो। इस शङ्का के अन्दर कुछेक गर्भित विपरीत अज्ञानभरी मान्यताएँ हैं। उनके बारे में कहते हैं कि -

कई लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मज्ञान होने के साथ ही देह व देह के साथ रहे कर्मआवरण (पूर्वप्रारब्ध) सर्वथा मिट जाते हैं किन्तु ऐसा नहीं है। दूसरी मान्यता है कि आत्मज्ञान हुआ, उसे रागद्वेष, अस्थिरता नहीं होती; वह मान्यता भी गलत है।

आत्मा शुद्ध, निर्मल है – ऐसा भान हुआ, फिर भी साधकदशा की आंशिकपवित्रता है और बाधकदशा की अल्प अस्थिरता दिखे, फिर भी अन्तरङ्गस्वरूप को कोई बाधा नहीं है। अन्तरङ्ग अभिप्राय में से मिथ्यामान्यता का, राग-द्वेष-मोह का अभाव (अज्ञान यानी भ्रमणा का अभाव) हुआ है; अन्तरङ्ग में क्षोभरहित है। इस साधकस्वभाव का स्वरूप समझने में बहुत गम्भीर न्याय समा जाता है। उसमें बहुत ही गहरा आशय है। लोग कुछ गहरायी से विचारमनन करें, अभ्यास करें तो सब कुछ

जैसा है, वैसा यथार्थ समझ में आ जाये।

मैं सिर्फ ज्ञानमात्र हूँ, यानी पररूप नहीं हूँ – ऐसा निःसन्देह भेदविज्ञान आत्मा को सदा परधर्मों से असङ्ग जानता है। निर्दोष अभिप्राय, राग के सम्बन्ध बिना का ज्ञान, अतीन्द्रिय अनुभवसहित प्रतीति, जिसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है – ऐसी सुपात्रदशा गृहस्थवेष में भी होती है।

सम्यग्दर्शन होने पर आत्मस्वभाव का अनुभव प्रगटरूप है। एक अंश से तो शुद्धता की विद्यमानता है। शक्तिरूप से पूर्णता थी। ज्ञान के पुरुषार्थ द्वारा आंशिक स्वरूपस्थिरता होती है, फिर भी तीन कषाय के बराबर दोष होता है; अतः पुरुषार्थ अभी मन्द है। सम्यक् अभिप्राय में बाधा नहीं है क्योंकि वहाँ अनन्तानुबन्धी कषायों – क्रोध, मान, माया, लोभ – का अभाव किया है। जो अनन्तानुबन्धी कषाय अज्ञानदशा में औंधी मान्यता का साथ देकर संसार बन्धन में निमित्त होता था, उसका सच्चे ज्ञानबल द्वारा अभाव किया है।

अब, दूसरी कषाय पाँचवें गुणस्थानक में टलती है। विषय-कषाय की वृत्ति आये, उसे ज्ञानबल की अधिक स्थिरता से मिटाते हैं और राग का अंश मिटाकर, पुरुषार्थ बढ़ाते हैं – उसे पाँचवाँ गुणस्थानक कहते हैं। स्वानुभव के बल द्वारा छठे गुणस्थानक में तीन प्रकार के कषायों के अभावपूर्वक सकलचारित्र का प्रगटपना है। अधिक बलवानदशा प्रगटरूप से होने के कारण क्षण में छठा गुणस्थान और क्षण में सातवाँ गुणस्थान आता है। सातवें में ज्ञान की अभेद स्थिरता व छठे में किञ्चित् प्रमत्तदशा यानी अस्थिरता रहती है। ऐसी प्रमत्तदशा हो, उसे सर्वविरति (मुनि) कहे जाते हैं। अतः स्वरूपस्थिरता कहने में विरोध नहीं है।

कहने का प्रयोजन यह है कि लोगों में स्वच्छन्दता और सच्ची समझ का अभाव है। भव से पार लगानेवाली नाव के समान सच्चा सत्समागम किसे कहें? अनन्त काल से भटकना पड़ा, वह सत् की परीक्षा के अभान की वज़ह से ही। यहाँ पर श्रीमद्जी ने बहुत बारीकी से सत्पुरुष ज्ञानी का वर्णन करते हुए कहा है और उसमें सत्पुरुष के लक्षण स्वयं ने लिखे हैं कि स्वरूपस्थित, इच्छारहितता, मात्र ज्ञायकता – ये आत्मा के लक्षण हैं। धर्म व धर्मी का वास्तविकपना तो स्वाधीनरूप से अपनेआप में टिकने में है। उसमें मन, वाणी, देह की क्रिया, पुण्य, पाप, आदि

कुछ करने में नहीं आया एवं जगत का भूगोल जानना, इतने शास्त्र जानना, इतनी क्रिया करना – ऐसा भी नहीं आया।

प्रथम गाथा में आया था कि **'जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनन्त;'** अर्थात् खुद का स्वरूप जैसा है, वैसा नहीं समझा; इसलिये अनन्त दुःख पाये; और समझा वह भी अपनी पात्रता से, अपनी स्वच्छन्दता छोड़कर गुरु आज्ञा द्वारा समझा। इस प्रकार श्रीगुरु का विनय किया है।

यहाँ पर ऐसा कहना है कि मिथ्यात्व टालने पर आत्मशक्ति का जो तिरोभावपना था, उसका आविर्भूतपना हुआ – यह चौथी भूमिका कहने में आती है। उस भूमिका में राग, द्वेष, विषय, इच्छा का अभाव होनेरूप आंशिक स्थिरता (ज्ञान की) बढ़ी, उसे देशविरति स्वरूपाचरण नाम का पञ्चम गुणस्थानक कहा जाता है।

आत्मा स्वरूप से सिद्धसमान है; अनादि अनन्त, स्वतन्त्र ज्ञाता है; बेहद ज्ञानगुण से पूर्ण ज्ञानमात्र है; उसमें परद्रव्य की क्रिया, राग का अंशमात्र नहीं है। 'केवल ज्ञाता हूँ' – ऐसी प्रतीति जहाँ की, वहीं मिथ्यात्व का नाश होता है और जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का उदय आत्मस्वरूप में स्थिरता होने में विघ्नरूप था, उसका अभाव किया, यानी उस अस्थिरता का नाश किया।

जिस भाव से भव टूटे और जिस भाव से भव न टूटे – उसकी समझ के बिना कोई कहे कि त्याग व वैराग्य की उत्कृष्टता से एकावतारीपना हो जायेगा तो वह मिथ्या है। जिसे ठीक करना है, उसे अठीकपना हटे नहीं, तब तक सच्चा धर्म हो नहीं सकता। सम्यक् (ठीकपना) उसका नाम है कि जो आने पर टलता नहीं है। सद्गुरु के लक्षण की सच्ची पहचान बिना और आत्मज्ञान में क्या स्थिति है ? स्वरूपस्थिति क्या है ? स्वस्वरूप क्या है ? – उसके भान बिना आत्मज्ञान नहीं होता और आत्मज्ञान बिना एकावतारीपना नहीं होता।

यदि कोई कहे कि हम उत्कृष्ट त्याग व वैराग्यपूर्वक धर्मक्रिया करते हैं, उससे मुक्ति मिलेगी किन्तु वर्तमान में अपूर्ण विवेकज्ञान के बिना चाहे जितना त्याग, वैराग्य करे तो भी भव कम नहीं होते, इतना निश्चित है।

(अब, आगे की बात कही जा रही है)। आत्मज्ञान के विकास की चौदह भूमिका हैं। मोह व योग टलने की अपेक्षा से चौदह प्रकार की भूमिका कही

जाती हैं। उसमें चौथे गुणस्थानक में आत्मभान की पवित्रभूमिका अन्तरङ्ग में प्रगट होती है; उससे अधिक स्वरूपस्थिति पाँचवीं भूमिका में है; उससे ऊपर छठी, सातवीं भूमिका में नग्न-निर्ग्रन्थ मुनिपद कहलाता है, वहाँ स्वरूपस्थिति विशेष है। सातवें गुणस्थानक में विशेष हो, वहाँ से प्रमादवश अस्थिरता होकर छठे गुणस्थानक में आते हैं, तब शिष्य को उपदेश, धर्म की प्रभावना, देव-गुरु-धर्म की भक्ति; बारह अनुप्रेक्षा (भावना), चार भावना आदि शुभविकल्प होते हैं। उपदेश में झूठे देव, गुरु, शास्त्र, जैनाभास आदि का निषेध भी करते हैं, उसमें द्वेष नहीं है। आहार-विहार की वृत्ति भी उठती है, फिर भी आत्मस्थिरता में बाधा नहीं है। यहाँ पर उपदेशकपना होता है – ऐसा कहना चाहते हैं।

चौथे व तेरहवें गुणस्थानक की (जीवनमुक्तदशा की) नि:शङ्क प्रतीति समान है। फिर भी स्थिरता व ज्ञान की रमणता में तारतम्यता का भेद पड़ता है। चौथे गुणस्थानक में श्रेणिक – जैसे धर्मात्मा के बेहद अभेद सामर्थ्य की प्रतीति ऐसी निर्मल है कि जिस प्रकार की प्रतीति केवलज्ञानी जीवनमुक्त परमात्मा की होती है। फिर भी पूर्वभव में आत्मवीर्य को उल्टा मोड़ा था, इसलिये शीघ्र पुरुषार्थ उठाकर पूर्ण होने के कामी – ऐसे धर्मात्मा इस संसार के संयोग में थोड़े काल तक रुके रहते हैं। विषयभोग का निमित्त होता है, फिर भी अभक्ष्य आहार व अनाचार नहीं होता। उन्हें अन्दर में बिना अन्तराल की (धाराप्रवाहरूप), त्रिकालशुद्ध स्वरूप की ऐसी सम्यक्श्रद्धा है कि मैं सिद्ध समान शुद्ध ही हूँ – ऐसी दृढ़प्रतीति से ज़ोर से एक भव में केवलज्ञान, पूर्ण पवित्रदशा प्राप्त करके मोक्ष जा सकते हैं। श्रेणिक धर्मात्मा जैसे अनन्त जीव एकावतारी हो गये। वर्तमान में भी गृहस्थवेश में (ऐसे धर्मात्मा) हो सकते हैं। **श्रीमद् राजचन्द्रजी ज्ञानदशा में स्थित थे।** देह की अन्तिम अवस्था के समय वे कह गये हैं कि **'जो स्वरूप है, वह अन्यथा नहीं होता; मैं सिद्धसमान निर्दोष हूँ'** – ऐसी नि:शङ्कदृष्टि का सम्यक्त्व, अभिप्राय का निर्भयपना, निर्दोषपना, नि:शङ्कपना वर्तमानकाल में भी होता है। स्वरूपप्राप्ति का वेदन अन्तरङ्ग में उन्हें कभी खिसकता नहीं है।

यहाँ पर यों कहा है कि यदि चौथे गुणस्थानक में स्वरूपस्थिति आंशिकरूप से भी न होवे तो मिथ्यात्व जाने का फल क्या हुआ ? कुछ भी नहीं। अत:

भाई रे ! यदि यथार्थ स्वरूपस्थिति व सम्यक्अभिप्राय की निःशङ्कता न होवे तो श्रेणिक आदि को एकावतारीपना कैसे प्राप्त हो ? एक भी व्रत या प्रत्याख्यान नहीं था, फिर भी अगले जन्म में तीर्थङ्कर होंगे। ८४०००वर्ष पूरे होने पर इस भरतक्षेत्र में जगत्गुरु तीर्थङ्करदेव होंगे। सौ इन्द्र उनकी भक्ति करेंगे। छह महीने तो उन तीर्थङ्कर की माताजी की स्तुति करने हेतु इन्द्र स्वर्ग से आयेंगे और कहेंगे कि '**धन्य माता ! रत्नकुक्षिधारिणी। आपकी कुक्षि में त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर भगवान छह महीने बाद पधारेंगे !**' और रत्नों की वर्षा होती है – ऐसी अपूर्व महिमा है। उपचार से इसे आत्मा की महिमा समझो, ऐसा कह रहे हैं। लोगों को ऐसी अलौकिक बातें सुनकर ज़रा आश्चर्य लगे किन्तु ऐसा ही है। खुद को संसार की बातें ठीक लगती हों उसका, वर्तमान जीवन का, आयुष्य का व्यर्थ में विचार करता है किन्तु आत्मा के अद्‌भुत ज्ञान ऐश्वर्य की, सम्यग्ज्ञान की अपूर्वमहिमा सुनी नहीं है; इसलिये आत्मा का सामर्थ्य क्या हो सकता है ? – इसका विचार नहीं आता।

वर्तमान आयुष्य व उसके जो-जो संयोग आनेवाले हैं, वे पूर्व में निश्चितरूप से निर्णीत हो चुके हैं, फिर भी उसमें बाहर से ठीक करने के विचारवाले पूर्वभव का ख्याल नहीं करते। पिछले काल के जिस भाव के कारण मैं वर्तमान में मनुष्य आयुष्य लेकर आया, इसका कारण – जो जीव जिस भाव के कारण तिर्यञ्चपन को प्राप्त हुए हैं, उनसे मेरे भाव भिन्न थे – वह है। इस प्रकार विचार नहीं करता है और अब मैं वर्तमान में कैसा जीवन जी रहा हूँ कि जिससे भविष्य का मेरा जीवन कैसा होगा ? उसका सही विचार नहीं आता। मैं अनादि अनन्त हूँ, मेरा भला-बुरा करनेवाला मैं ही हूँ, उसमें और किसी का अधिकार नहीं है। शुभराग से भी सुख मिल सके – ऐसा नहीं है। इसका सम्यक् विचार नहीं है। पूर्व में जिस भाव से मैंने मनुष्यपना पाया, वह भाव भी यदि मैं निर्दोषरूप से टिकाये रखूँ तो मनुष्यपना भी मिलेगा – ऐसा विचार भी नहीं करता। किन्तु वर्तमान संसार सम्बन्धित ही लक्ष्य, रुचि और आदर रखकर, अज्ञानभाव से प्रवर्तन करता है; अतः उसे जीव का नित्यपना भासित नहीं होता। अमुक खास-खास गुण होने पर ही फिर से मनुष्यपना मिलेगा, इस बात का पता होते हुए भी अन्यथा आचरण करके भव गँवा देता है – यह भी आश्चर्य है। आत्म क्या है ? ज्ञान क्या है ? वह क्या

कर सकता है ? क्या नहीं कर सकता ? – इसकी कुछ खबर नहीं। ऐसे लोग श्रेणिक राजा की बात सुनकर ही भड़क उठते हैं अथवा उनके नाम की आड़ में स्वच्छन्दता का सेवन करते हैं। श्रेणिक राजा संसार में, राज्य में राजसिंहासन पर नहीं बैठे थे किन्तु आत्मा में बैठे थे – ऐसा निर्दोषभाव कैसा होगा ? – इसका कभी अभ्यास या परिचय किया है ?

सच्ची बात जिसे सुनने मिले, उसे उसका रुचिपूर्वक बहुत घोलन व मनन करना चाहिए। आत्मज्ञान की प्राप्ति से एकावतारीपना कैसे प्राप्त हो ? – यह सोचना चाहिए। एकावतारीपना प्राप्त होने का कारण अपने स्वरूप की श्रद्धा की निःशङ्कता थी। श्रेणिक राजा को चारित्र में अस्थिरता का दोष था, फिर भी अन्तरङ्ग में ज्ञान की बेहद श्रद्धा दृढ़तर थी, निःशङ्क सम्यक् अभिप्राय की हयाति थी। जो सद्‌गुरु आत्मज्ञान की स्थिरता में छठे-सातवें गुणस्थानक में रहते हैं, उसमें छठे गुणस्थानक में उपदेशक हो सकते हैं। उपदेशकत्व प्रधानतया तो छठे गुणस्थानकवर्ती को हो सकता है।

आगे शिष्य ने प्रश्न किया था कि ऐसे सद्‌गुरु व उपदेशक मुख्यरूप से किस गुणस्थानक में हो सकते हैं और समदर्शिता क्या है ? – इसका खुलासा ऊपर हो गया।

बाह्यदृष्टि लोग समन्वय करने में समभाव मानते हैं, वह तो मूढ़ता है। वास्तविक समभाव आत्मज्ञान के बिना है ही नहीं। झूठे मत को झूठा कहना – वह द्वेष और सच्चे को सच्चा कहना – यह राग – ऐसा नहीं है। ज्ञानी समभाव में रहते हैं, फिर भी जैसा है, वैसा जानते हैं, कहते हैं, बोध देते हैं और उपदेश द्वारा असत्य तथा मिथ्याभावों का निषेध करते हैं।

धर्मात्मा अनन्ते हो गये, वे अपना काम कर गये; यहाँ तो धर्मोपदेशक, सच्चे धर्मगुरु के लक्षण की व्याख्या करनी है। सच्चा लक्षण उसे कहें जो कि निर्दोष हो। अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव इन तीन दोषों से रहित होवें। जैसे कि जीव का लक्षण चेतना – इस गुण के द्वारा जीव को अन्य द्रव्यभावों से स्पष्ट भिन्न जाना जा सकता है।

ये लक्षण दोषरहित हैं – ऐसा अब बताने में आ रहा है :-

(१) जीव का लक्षण पूर्णज्ञान, केवलज्ञान है। ऐसा कहने पर अव्याप्तिदोष आयेगा क्योंकि बहुत से जीवों को अल्पज्ञान, अपूर्णज्ञान है।

(२) जीव का लक्षण अरूपी कहें तो अतिव्याप्तिदोष आये क्योंकि दूसरे चार जड़द्रव्य भी अरूपी हैं।

(३) जीव का लक्षण जड़ कहें तो असम्भवदोष आये क्योंकि जीव की चेतनपर्याय कभी जड़ हो नहीं सकती।

इस प्रकार श्रीमद्जी ने श्रीगुरु का विशेष लक्षण यहाँ पर यह कहा है कि जो मोक्षमार्ग के प्रकाशक हों, मार्ग के सच्चे उपदेशक हों। उपदेशक की भूमिका मुख्यत: तो १३वें गुणस्थानक की है यानी साक्षात् तीर्थङ्कर आदि केवली सर्वज्ञभगवान हैं, वे ही सर्वगुणसम्पन्न आप्तपुरुष हैं, उनके अन्दर सत्पुरुष के सम्पूर्ण लक्षण हैं। इससे नीचे की भूमिका, यानी बीच के ७वें गुणस्थानक से १२वें गुणस्थानक तक वंद्य वन्दकभाव या विकल्प भी नहीं है, बिल्कुल एकपना यानी ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञानरूप निजस्वरूप का एकत्व रहता है; अत: वहाँ उपदेशकत्व नहीं है किन्तु उससे नीचे की भूमिका में छठे गुणस्थानवर्ती मुनि यथार्थमोक्षमार्ग के उपदेशक हो सकते हैं। वे गुरुपरम्परा से सर्वज्ञ के न्याय को पूर्वापर अविरोधरूप से जानते हैं; अत: उपदेश दे सकते हैं। अन्य जीवों को धर्मप्राप्ति में निमित्त हैं और उनको मुख्यतया मार्गोपदेशकत्व है।

परम सद्गुरु श्रीसर्वज्ञ तीर्थङ्करदेव १३वें गुणस्थानक में विराजमान हैं। वे सम्पूर्ण वीतराग व केवलज्ञानसम्पन्न परमात्मा पूर्णशुद्ध स्वरूपस्थित हैं। ऐसे श्रीतीर्थङ्कर आदि में परम सद्गुरुपना योग्य है और छठे गुणस्थानवर्ती मुनि सम्पूर्ण वीतरागता और केवलपद, मोक्षदशा के उपदेशक हैं और उस दशा हेतु ही उनकी प्रवर्तना (पुरुषार्थ) है। जो परम सद्गुरु तीर्थङ्कर आदि आप्तपुरुष के आशय व परम्परा से उस दशा को प्राप्त करने की विधि जानते हैं, उनको परम श्रुतपद होना उचित है। ऊपर तीर्थङ्करादि कहने का कारण यह है कि किसी सामान्य केवली भगवान को भी उपदेशकत्व का योग होता है। आज तो बहुत से जीवों को सर्वज्ञ के त्रिकाल गोचरज्ञान की श्रद्धा में भी बहुत उलझन रहती है। उसे तो आत्मा के भीतर का सामर्थ्य क्या होगा ? – उसका निर्णय भी नहीं करना है। अपने स्वभाव में जैसे कुछ दम ही

नहीं हो और परवस्तु द्वारा अथवा पर के जानने से ही ज्ञान की कीमत हो ! इस प्रकार लोग व्यवहार में बहुत बह गये हैं। एक समय में तीनों काल को जाने, लोकालोक को जाने, उसी में जैसे केवलज्ञान की महिमा हो, आत्मा का ऐश्वर्य हो – इस प्रकार व्यवहार में बहुत बह गये हैं। उनके समझने हेतु निश्चय से अर्थ कहा है कि –

'केवल निज स्वभावनुं अखंड वर्ते ज्ञान,
कहीए केवलज्ञान ते, देह छतां निर्वाण।'
(भावमुक्ति है)

निश्चय को पहचाने बिना व्यवहार नहीं होता। निश्चय को पहचाने बिना व्यवहार, उपचार क्या ? – यह समझ नहीं सकते। स्वपरप्रकाशक ज्ञान, निश्चयज्ञान है। ज्ञान का एक समय का अनन्त और सहज ऐसा बेहद सामर्थ्य है कि लोकालोक सहज ही जानने में आ जाते हैं। पर को जानना, वह व्यवहार है क्योंकि पर में तन्मय होकर नहीं जानता।

यहाँ उपदेशकत्व मुख्यरूप से छठे गुणस्थानक में कहा है क्योंकि आत्मा के पूर्णस्वभाव को शीघ्र प्रगट करनेवाले तो नग्नमुनि, निर्ग्रन्थपद हैं। आत्मगुण के घातक दर्शनमोहसहित तीन कषाय का जिन्हें अभाव है, ऐसे धर्मात्मा ज्ञानी को सर्वविरतिपना है। मुनिदशा में स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ का ज़ोर बढ़ाकर वीतरागभाव इस हद तक पहुँच जाता है कि एक देहमात्र का ही परिग्रह होता है। अत: देह को वस्त्र से ढकने का राग भी मुनि को नहीं होता। वे ही जैनमुनि हैं।

आयुष्य पूर्ण हुए बिना देह छूटती नहीं है किन्तु राग का मुख्यभाग टूट जाने से राग का निमित्त, वस्त्र का एक तानाबना भी साधु के पास नहीं होता – ऐसा त्रिकाल सनातन् निर्ग्रन्थमार्ग है। वर्तमान पञ्च महाविदेहक्षेत्र में ऐसे सन्तमुनि धर्मात्मा के समूह वृन्द हैं। वर्तमान पञ्च महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् सर्वज्ञदेव तीर्थङ्करभगवान श्रीसीमन्धरप्रभु विराजमान हैं। वहाँ त्रिकाल एक ही निर्ग्रन्थ मुनिमार्ग है। छठे-सातवें गुणस्थान में विद्यमान ऐसे मुनि सम्पूर्ण वीतराग और कैवल्यदशा के उपासक हैं। उस दशा के लिये उनका पुरुषार्थ है। हालाँकि वीतरागदशा को सम्पूर्णरूप से प्राप्त नहीं की है, फिर भी वे सम्पूर्ण वीतरागदशा पानेवाले हैं। श्रीतीर्थङ्करादि (सातिशय

केवलीभगवान जिनको वाणीयोग, उपदेशकत्व उदयमान हो, वे भी) आप्तपुरुष हैं। उन्हें आहार, निद्रा आदि अठारह दोष नहीं हैं। ऐसे परमपुरुष की सच्ची पहचान द्वारा जिसने आत्मधर्म जाना है, प्रतीति की है, आत्मामय अनुभवदशा वर्तती है, और इस मार्ग की उपासना में जिनकी साधकदशा उत्तरोत्तर अधिक-अधिक प्रगट होती जाती है – ऐसे मुनि पल में छठे गुणस्थान में व पल में सातवें गुणस्थान में तीव्र ज्ञानदशा की एकाग्रता में, सहजज्ञान की रमणता में झूलते हैं। मैं सिद्धभगवान सरीखा ही हूँ – ऐसी अन्दर में उनको प्रतीति रहती है। शुद्ध आत्मा की जाति को जानते हैं और स्वरूपस्थितदशा की उपासना से जिनकी वह पवित्रदशा क्रमशः विशेषरूप से साध्य होती जाती है – ऐसे छठे गुणस्थानवर्ती मुनि, आचार्य, उपाध्याय आदि आत्मधर्म के उपदेशक होते हैं। उनके निमित्त से इन सद्गुरु के आश्रय से जिनेश्वर तीर्थङ्कर तथा केवलीजिन परमगुरु की तथा उनके शुद्धआत्मस्वरूप की पहचान होती है। गुरुगम से खुद को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान जिनके निमित्त से होता है, उन सद्गुरु को भी मोक्षमार्ग का उपदेशकपना अविरोधरूप से है क्योंकि वे विरतिमुनि हैं और नीचे पाँचवें-चौथे गुणस्थानक में मार्ग का उपदेशकपना प्रायः नहीं होता है। प्रसङ्गोपात् उपदेश दें किन्तु गृहस्थपना होने से बाह्य में अविरति का प्रसङ्ग है; अतः वहाँ निर्ग्रन्थमार्ग का उपदेश देने में लोगों को अप्रतीति (अविश्वास) रहने की सम्भावना है। यहाँ अनेकान्तपना नहीं छोड़ा क्योंकि जैसा है, वैसा कहना है। चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती धर्मोपदेश नहीं दे सकते – ऐसा नहीं कहा। किन्तु बाह्यव्यवहार में लोगों में विरोध न हो, तदर्थ विवेक रखने को कहा है। किन्तु जिसे आत्मधर्म की प्रतीति नहीं हो या वेषधारीपना है या मात्र शब्दज्ञान है, ऐसे उपदेशक दूसरों को परमार्थलाभ का निमित्त नहीं होते। जहाँ आत्मानुभवदशा, चौथा गुणस्थानक सम्यग्दर्शन भी नहीं है, वहाँ सच्ची समझ भी नहीं है, सम्यक् विरतिपना नहीं है। फिर भी धर्मीपना मानना, धर्म का उपदेश देना – यह प्रगट कुगुरुपना है; वह महामिथ्यात्व है।

कोई माने कि श्रीमद्जी ने निन्दा की है लेकिन उन्होंने निन्दा नहीं की बल्कि सच्चे मार्ग की प्रभावना की है। सच्ची बात कहने को निन्दा नहीं कहते किन्तु उसमें सत्य मार्ग की दृढ़ता व प्रभावना का ज़ोर है। सम्यग्दृष्टि, झूठी दृष्टिवाले

का बराबर निषेध करे, वही उनकी सच्ची प्रामाणिकता है। व्यक्ति का निषेध नहीं है किन्तु गलत मान्यता का निषेध है। धर्मात्मा गलत का निषेध करते हैं, फिर भी उन्हें सम्यक् समभाव रहता है।

आगे आयेगा कि –

'मुखथी ज्ञान कथे अने अंतर छूट्यो न मोह;
ते पामर प्राणी करे मात्र ज्ञानीनो द्रोह।'

आत्मज्ञान हुए बिना ज्ञान की बातें करना और दूसरों को मनाना कि हम धर्मी हैं, हम चारित्रवाले हैं तो ऐसा उपदेशकपना औंधा है।

श्रीमद्जी एक पत्र में लिखते हैं कि जो गुण खुद में नहीं है, वह गुण मेरे में है – ऐसा जो मानता है, मनवाता है, वह जीव क्षणमात्र में भववृद्धि करता है, स्वयं अपने आप को ठगता है। जो जीव अपनी स्वच्छन्दता न छोड़े और कहे कि मैं जानता हूँ और उल्टी दृष्टि व उल्टी मान्यता में मिथ्या सन्तोष मानकर बैठ जाए, उसको कभी भी सच्ची बात समझने का अवसर नहीं आता। भटकने के चक्र से बाहर निकलने का मौका ही नहीं है। वह चाहे जैसी ऊँची लौकिकनीति का पालन करता हो, पाँच महाव्रत का पालन करता हो और हजारों शास्त्रों की जानकारी रखता हो किन्तु भूल कहाँ हो रही है ? – वह जब तक पकड़ नहीं सकता, तब तक उसका परिभ्रमण चालू ही है। इसलिये श्रीमद्जी ने सत्समागम, सद्गुरु की सच्ची पहचान व उनका आश्रय करने को कहा है। अपनी होशियारी से अनादिकाल में सब कुछ अनन्तबार कर चुका है, फिर भी सन्मार्ग समझ नहीं पाया। किन्तु यदि सही मार्ग समझना चाहे, सच्चा प्रेम लाये, गलत अभिप्राय को छोड़कर अपना यथार्थपना समझना चाहे तो वह सहज है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १-१०-१९३९

यह आत्मसिद्धिशास्त्र है। यह आत्मस्वरूप की, सच्चेसुख की प्राप्ति कैसे हो ? – इस विषय में कहता है।

आत्मा का जैसा स्वरूप है, वह स्वरूप समझ में आये तो सुख की प्राप्ति हो। आने के बाद कभी चला न जाए – ऐसा सुख सच्चे उपाय से प्राप्त होता है। आत्मा नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप होते हुए भी, उसकी वर्तमानदशा में बन्ध-मोक्ष किस प्रकार है ? – यह बतानेवाले छह पदों द्वारा सिद्ध आत्मपद बताया है। उसका उपाय करने से साध्य की सिद्धि होती है।

जिसे राग हुआ हो, वह उसके चिकित्सक कुशल वैद्य के पास जाता है किन्तु यही वैद्य प्रामाणिक है – ऐसा निर्णय खुद को ही करना पड़ता है। वैद्य की तो परीक्षा करके श्रद्धा करता है किन्तु धर्म में कुछ परीक्षा नहीं करता; यह कैसी मूर्खता !

जिसे कस्तूरी चाहिए, वह जीव सब्जीमण्डी में जाए और कोई उसे सस्ती चीज द्वारा लाभ बताये अथवा गाँजा या दारू का अमल बताये तो इससे उसे कस्तूरी नहीं मिलेगी। खुद को परीक्षा नहीं है; इसलिये अनादि से जो भूलवाली विपरीत मान्यता है, इसे अनुकूल करवानेवाले मिल जाते हैं। उसमें शङ्का किये बिना अन्धाविश्वास करता है किन्तु पता नहीं है कि मैं ही अपनी भूल से पागल हुआ हूँ। स्वयं अपनी उल्टी मान्यता में आनन्द मानता है। कहाँ कस्तूरी का गुण और कहाँ दारू का गुण ? मोहभाव में रक्त नशे में पड़ा हुआ मनुष्य माँ, बहिन और बेटी का विवेक (पहचान) भी भूल जाता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव सच्ची वस्तु को भूलकर पुण्य व राग की रुचि द्वारा जड़भाव का कर्ता होता है। उसे जबरन् कौन समझा सके ?

वैद्य की पहचान करनेवाला सारी दुकाने छोड़कर, जो वैद्य प्रामाणिक है, उसकी दुकान पर जाकर खड़ा रहता है और उसकी सलाह लेता है। इस प्रकार आत्मज्ञान

की प्राप्ति के लिये जिस समझ की जरूरत है, उसके लिये सद्गुरु की पहचान (प्रतीति) और उनके आश्रय की जरूरत रहती है। इसमें पराधीनता नहीं है किन्तु पात्रता, स्वाधीनता है। समझ करना – यह अपने ज्ञान की समझ है। इसमें ऐसा नहीं कहा कि अमुक भेष, अमुक व्रत, चारित्र, क्रिया नहीं किये, इसलिये नहीं समझा। अपना स्वरूप जैसा है, वैसी समझ नहीं करने के बारे में कहा कि -

'सेवे सद्गुरु चरणने, त्यागी दई निजपक्ष;
पामे ते परमार्थने, निज पदनो ले लक्ष।'

इसमें एक बात यह कही कि सद्गुरु का आश्रय करना क्योंकि आत्मा, आत्मा द्वारा जाना जाता है। जिसके पास लक्ष्मी है, उस धनवान को पहचानकर उसकी सेवा करे तो धन की प्राप्ति होती है। इस दृष्टान्त के अनुसार जिस सत्पुरुष के पास आत्मलक्ष्मी है, उनके आश्रय से ही अज्ञान का नाश होकर आत्मज्ञान प्रगट होता है।

यहाँ यों कहना है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति कौन करवा सकता है और कौन प्राप्त कर सकता है ?

इसके उत्तर में ऐसा कहा कि जो कोई यथार्थ अविरोधी ज्ञानी हो, वह आत्मज्ञान की प्राप्ति करवा सकता है। उनके पास से (गुरुआज्ञा से) जीव आत्मतत्त्व माने द्रव्य, गुण, पर्याय जैसे हैं, वैसे जानकर, अपना आनन्द (जो शक्तिरूप है, उसमें से) अपने बल (पुरुषार्थ) द्वारा प्रगट करता है। मोक्षमार्ग का उपदेशक कौन हो सकता है ? – इसके बारे में पहले कह चुके हैं। यहाँ पर ऐसा कहना है कि चौथा गुणस्थानक यानी आत्मज्ञान की दशा बिना तो उपदेशकत्व उचित ही नहीं है। आत्मा की अविरोध श्रद्धा या ज्ञान के बिना कोई धर्मोपदेशक होकर जगत को आत्मा का उपदेश दे तो स्वयं ही अपना अहित करनेवाला है और अन्य आत्मा का अहित होने में निमित्त बनता है।

आत्मा का पूर्ण शुद्धस्वरूप क्या ? साधकदशा क्या ? ज्ञानदशा में निर्दोषता क्या ? – इसके भान बिना आत्मधर्म के उपदेश की प्ररूपणा करना – यह प्रत्यक्ष कुगुरुपना है। कई जीव आत्मा के नाम से तरह-तरह की झूठी श्रद्धा में सन्तोष मानकर बैठ जाते हैं। मन के योग की समता में आत्मधर्म मानकर बैठे रहते

हैं। मन की साधारण स्थिरता हुई कि स्वयं को मार्ग प्राप्ति हुई है – ऐसा मानकर बैठ जाते हैं और उन्मार्ग में, अज्ञान में रुके रहते हैं। कुछ बाहर का – स्त्री, परिवार आदि परिग्रह का – त्याग किया; ब्रह्मचर्य का पालन किया; उत्कृष्ट त्याग-वैराग्य रखा या अपनी मान्यता अनुसार त्याग, वैराग्य, ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता रखी, फिर भी आत्मज्ञान की दिशा, सच्चे मार्ग के अंश का भी भान नहीं हो सकता। (जो) अपनी स्वच्छन्दतापूर्वक ज्ञानीपना मानकर बैठा हो, वह वर्तमान में कोई प्रत्यक्षज्ञानी होने पर भी उसे पहचान नहीं सकता और (जो) अन्दर गहरायी में उपेक्षाबुद्धि रखता है, वह अनजाने में ही अपने आत्मा की अनन्ती अशातना कर रहा है क्योंकि वह निश्चय से सद्गुरु-देव-धर्म का अनादर करनेवाला है। ज्ञानी सद्गुरु की जिसे पहचान नहीं है, उसे अपनी अधिकता भासित होती है। अनेक प्रकार के स्वच्छन्द को स्थिरता मानता है किन्तु शुद्ध आत्मा की स्थिरतारूप सम्यक् विरतिरूप प्रत्याख्यान किसे कहें ? – उसकी समझ सद्गुरु के आश्रय बिना नहीं आ सकती।

जिसने प्रारम्भ व बाद का (शुरूआत व पूर्ण) जाना नहीं है, वह मध्यम कहाँ से जानेगा? बाधकपना, साधकपना व सिद्धपना – इस प्रकार साधक-बाधकपना व आत्मा की पूर्ण पवित्रदशा – जो सिद्धपना है, उसकी जिसे खबर नहीं है, उसे एक भी भूमिका का भान नहीं है। पूर्ण स्वरूप क्या है, वहाँ तक कैसे पहुँचा जा सकता है, वह पूर्ण स्वरूप स्वतन्त्र है और कैसा है, कितना बड़ा है, उसके श्रद्धा, ज्ञान, विवेक के बिना वह अन्ध जायेगा कहाँ ? पुनश्च, जो अपनी कल्पना से मार्ग निश्चित करता है, वह सच्चे निमित्त का, सत्पुरुष का, अनन्त ज्ञानियों का उपेक्षक है; उनका अनादर करता है।

शास्त्रोक्त व्रत, तप, समिति इत्यादि की सारी क्रियाएँ करता हो परन्तु यदि निमित्त की, बाहर की, शुभराग की, तथा देह की क्रिया का कर्ता बनता हो तो वह जड़ –जैसा है। आत्मा पर का अकर्ता व स्व का ज्ञाता कैसे है, किस प्रकार से है, कितना बड़ा है? – उसके भान बिना वह अनिवार्यरूप से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य व अब्रह्म का सेवन कर रहा है। कदापि पुण्यबन्ध करता है तो उसके साथ मिथ्यात्वमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध करता ही है।

किन्तु लेना, रखना, मन, वाणी, देहादि की क्रिया खुद की नहीं है, फिर भी उसका वह मालिक और कर्ता बनता है। धर्मात्मा के द्वारा जैसी धर्मप्रभावना होती है, विनय-विवेक होता है, वैसा (अगर) अज्ञानी धनवान तो भी उसके द्वारा नहीं होता। अज्ञानी जो कुछ करता है, वह अज्ञान की पुष्टि के लिये है; अतः वह पापानुबन्धी पुण्यबन्ध करता है। जिसे आत्मा का भान वर्तता है, उसका निमित्त आत्मार्थी को हितकर हो सकता है। यहाँ आत्मज्ञान के लक्ष्य में बात की है। चौथे-पाँचवें गुणस्थानक में आत्मज्ञानदशा है, फिर भी आत्मा की स्वरूपस्थिति आंशिकरूप से है। पाँचवें गुणस्थानक में अधिक विरति है तथापि सर्वविरति के बराबर वहाँ विशुद्धि नहीं है। अब, आत्मज्ञान, समदर्शिता के बारे में कहते हैं। स्वरूपस्थिति, शुद्ध आत्मज्ञानस्थिति और समदर्शिता आदि जो लक्षण बताये, वे साधक भूमिका के कहे जाते हैं।

यहाँ जो छठे गुणस्थानवर्ती मुनि सर्वविरति कहे, उनका बाह्य-अभ्यन्तर विरतिपना, स्वरूप की साधना अन्तरस्वरूप से है और अनन्त ज्ञानी, सर्वज्ञ का अन्तरङ्ग स्वरूप जानकर उस मार्ग में प्रवर्तन करते हैं। बाह्यक्रिया द्वारा मन की स्थिरता करने का उनका लक्ष्य नहीं होता। लोग केवल बाहर से देखते हैं किन्तु ज्ञानी तो अन्तरङ्ग ज्ञान की रमणता, सर्वज्ञस्वरूप की श्रद्धा और उपरोक्त सर्वज्ञ के ज्ञान की जाति का अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। लोग कहते हैं कि हम भी स्थिरता कर सकते हैं किन्तु आत्मा की पहचान के बिना मन की स्थिरता द्वारा ध्यान करे तो उससे स्थिरता नहीं होती; वह आत्मा का गुण नहीं है। यह नीम का खम्भा स्थिर दिखता है, उसको कोई विकल्प या विकार नहीं दिखता।

कोई अपने आप को सत्यवादी माने, ब्रह्मचारी माने, चारित्रवान माने किन्तु उससे आत्मा को क्या ? कोई कहे कि मैं इन्द्राणी से भी विचलित नहीं हुआ किन्तु जिस प्रकार लाखों इन्द्राणियाँ कूदें, फिर भी यह लकड़ी हिलती नहीं है; उस प्रकार आत्मा की जाति क्या, निर्दोष ज्ञानदशा क्या, सम्यग्दर्शन क्या ? – ऐसे अन्तरवेदन बिना मन के योग की समता में, हठयोग में रुके हुए अज्ञानी जीव चाहे जितनी समता माने, समभाव, वैराग्य रखे; ब्रह्मचर्य, सत्य, नीति आदि का पालन करे, फिर भी वह जड़भाव में जड़वत् बैठा है। अनन्त काल तक ऐसा करे और

पुण्यबन्ध करे, फिर भी आत्मा को लाभ नहीं होता। हाँ, पापानुबन्धी पुण्य बाँधता है, वहाँ से देव हो जाए, जानवर हो जाए, वहाँ से बगला होकर मछली खाये और निगोद में जाए। यहाँ पवित्र वीतरागदशा साधक संयति धर्मस्थित को मुख्यरूप से उपदेशकपना कहा गया है।

सं = सम्यक् प्रकार से, और यति = यत्ना, जयणा; संयति = पवित्रज्ञान की यत्ना, सावधानी में रहे, वह संयति है। संयति, शुद्ध आत्मस्वरूप की स्थिरता में, सहजदशा में रहते हैं। बाहर की वृत्ति शुभयोग की हो जाए, उसमें आहार, उपदेश आदि की वृत्ति होती है, फिर भी अन्तरस्थिरता में बाधा नहीं है। ऐसे मुनि आत्मस्वरूप की उत्कृष्ट साधकदशा में प्रवर्तमान रहते हैं; अतः उनको आत्मज्ञान व समदर्शिता विद्यमान है, जिससे वे उपदेशक हो सकते हैं।

छठे गुणस्थानक से कोई नीचे उतर जाए, तो वह भी उपदेशक के लायक नहीं है। ऐसा भी कहा क्योंकि दृष्टि (विपरीत) हो जाने पर तत्त्व का भान नहीं रहता। साधकमुनि छठे-सातवें गुणस्थानक में विद्यमान हैं। अभी छठे गुणस्थानक में पूर्णरूप से समदर्शिता नहीं है। सर्वोत्कृष्ट वीतरागदशा, कैवल्यसम्पन्न सर्वज्ञ भगवानपना १३वें गुणस्थानक में होता है। वे सयोगीकेवली जिनेश्वर कहलाते हैं; उनको वाणीयोग है। उनको परमसद्गुरुदेव कहे हैं, माने आत्मा की उत्कृष्टशक्ति का पूर्णरूप से विकास हुआ है, ऐसे जीवनमुक्त हैं, पूर्ण वीतराग हुए हैं, अर्हन्त हैं, जिन्होंने स्वयं के पुरुषार्थ से समस्त राग-द्वेष का नाश किया है। पुनश्च, तीर्थङ्कर नामकर्म की पुण्यप्रकृति है; अतः उनके निमित्त से जगत के अनेक लायक जीव आत्मधर्म प्राप्त करते हैं। स्वयं भेदज्ञान से प्राप्त करे, तभी दूसरे को निमित्त कहा जाता है।

वाणी के धर्म से परमगुरु कहे हैं क्योंकि धर्म के उपदेशक हैं। उनको सम्पूर्ण समदर्शिता अर्थात् इच्छारहितपना रहता है। वह उनकी वीतराग चारित्रदशा है। वह अपायागमातिशय बताया है अर्थात् अनर्थरूप राग-द्वेष का नाश किया है। पुनश्च, सम्पूर्णतया इच्छारहित होने के कारण विचरण आदि की क्रिया, वचनकाययोग की क्रिया पूर्व प्रारब्ध भुगत लेने तक ही सीमित है; देह की आयु पर्यन्त ही सीमित है। अतः **'विचरे उदय प्रयोग'** कहा है। सम्पूर्ण निज अनुभवरूप उनकी वाणी अज्ञानी की वाणी से विलक्षण है और एकान्तरूप से आत्महित की बोधक है।

देव-गुरु-धर्म वीतराग हैं। शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायरूप सर्वज्ञ पद है। वह पूर्णता को साधनेवाले साधकपने की पहचान के बिना व्यवहारधर्म की भी सत्य श्रद्धा नहीं है। सर्वज्ञभगवान तीर्थङ्करदेव की वाणी में अपूर्व अतिशयपना है। एकान्त आत्मार्थबोधक है। (एकान्त माने केवल आत्महित होवे, संसार का अभाव होवे)। यह भगवान का वचन अतिशय है। इसमें वीतराग की महिमा बतानी है। श्रीगुरु का एक लक्षण 'परमश्रुत' कहा-

केवलज्ञानी को श्रुतज्ञान नहीं है, फिर भी यहाँ उपचार से परमश्रुतपना कहा है। उनकी वाणी को परमश्रुत इसलिये कहा कि सुननेवाले लायक जीव को भावश्रुतज्ञानदशा होने में निमित्त होती है।

भगवान की वाणी कैसी है ? किसी भी नय या अपेक्षा की अवहेलना न हो जाए, ऐसी अविरोध न्यायगर्भित वह वाणी है। उस वाणी को जिनागम, शास्त्र कहते हैं।

एक योजन में धर्मसभा होती है। उसमें कदापि अनन्त जीव धर्मश्रवण हेतु आयें, तो भी समा जाए – ऐसा पुण्य का अतिशय है और ऐसा उत्कृष्ट परमप्रभावक वाणीयोग है कि अनन्ते जीव यदि पात्रता लेकर आयें तो समस्त जीव आत्मा का अपूर्व धर्म प्राप्त कर ले क्योंकि उनमें पूर्णपवित्र बेहद ज्ञानशक्ति प्रगट विद्यमान है। पूर्व में भावना भायी थी कि सभी जीवों को धर्मप्राप्ति कराऊँ, मैं वृद्धि को प्राप्त करूँ, यानी मेरा आत्मा शीघ्र पूर्णता को (शुद्धदशा को) प्राप्त हो। इसमें बेहदपना, अमर्यादितपना चाहा था, इसलिये सभी जीव धर्म पा सके – ऐसा अद्‌भुत वाणीयोग होता है। उनका परमश्रुतयोग अनेक लायक जीवों को परम हितकारी है। ऐसा परमश्रुत जिनको विद्यमान है, वे पूजने लायक होने से उनका पूजा अतिशय बताया है और ये श्रीजिनअरिहन्त तीर्थङ्कर परमसद्‌गुरु को भी पहचाननेवाले प्रत्यक्ष विद्यमान (उपस्थित) सर्वविरति सद्‌गुरु हैं; अतः छठे-सातवें गुणस्थानक में विद्यमान सद्‌गुरु के लक्ष्य से ये गुण व आत्मधर्म का उपदेशकत्व मुख्यता से इस दसवीं गाथा में बताया है।

समदर्शिता माने चारित्रगुण, वीतरागता का वर्णन किया है।

आत्मा मन, वाणी, देह आदि का स्वामी नहीं है, कर्ता नहीं है और राग-द्वेष रहित निर्मल है – इस अभिप्राय के साथ राग-द्वेष के योग से रहित शुद्ध वीतरागता,

यही समदर्शिता है।

समदर्शिता ऐसी नहीं होती कि सत्य-असत्य, सार-असार, हित-अहित एक-समान हैं – ऐसा जाने। माँस व रोटी की अवस्था को जैसा है, वैसा विवेकपूर्वक जाने; स्त्री पुरुष, माता, बहिन जैसे हैं, वैसे उस अवस्थारूप जाने, अन्यथा न जाने; झूठी मान्यतावाले को झूठा माने (जाने)। ऐसे बलवान विवेकवान समदर्शी धर्मात्मा होते हैं। **'सर्व जीव है सिद्ध समान'** – माने सभी आत्मा द्रव्यस्वभाव से शुद्ध हैं – ऐसा माने किन्तु अवस्था से शुद्ध है – ऐसा न माने। कोई जीव रागी, द्वेषी व मूर्ख हो, उसे ज्ञानी सिद्धभगवान समान नहीं जानते। क्रोध, मान इत्यादि कषाय जैसे हैं, वैसे उसके अवगुण की अवस्था को जाने किन्तु किसी का तिरस्कार न करें। गलत को गलत कहने में द्वेष नहीं है किन्तु जैसा है, वैसा मानने में ही समदर्शिता यानी समभाव है। किन्तु राग-द्वेष, मान-अपमान को समान मानना – यह समभाव नहीं है।

बालक छोटी उम्र का हो, वह गाली दे अथवा लात मारे, फिर भी उस पर द्वेष नहीं आता। जानता है कि वह बालक है, उसने खेल-खेल में लात मारी है किन्तु मारने के लिये (गलत आशय से) नहीं मारी।

इस प्रकार सांसारिक समझदारीवाले लोग भी विवेकपूर्वक जानते हैं तो जो आत्मज्ञानी है, वे सच्चाविवेक क्यों न करें ? अवगुणी को अवगुणी जानें; जिस भाव से वह वस्तु है और उस वस्तु की वर्तमान अवस्था जिस भाव से है, उस प्रकार से जानें, मानें और प्रसङ्गोंपात् बतायें लेकिन जानने में द्वेष नहीं होता। धर्मात्मा उपदेशक हो तो सामान्यतया सामनेवाले के अवगुण बताये, फिर भी सामनेवाले जीव पर अथवा किसी पदार्थ पर इष्ट-अनिष्टपना, ममता नहीं करते। ज्ञानी सब कुछ जाने और विवेक रखे – इससे इष्टअनिष्टपना नहीं आता; ज़हर व अमृत का विवेक भिन्नत्व बराबर जाने व कहे।

आत्मा का स्वभाव जानना, देखना है। जानने में दोष नहीं है। ज्ञानी ज़ेयपदार्थ व उसकी अवस्था को जैसी है, वैसी यथार्थ प्रकार से जाने किन्तु नरक के जीव को सिद्धदशावाला नहीं मानते। ज्ञान में जो–जो पदार्थ जानने में आते हैं, उसमें किसी भी पदार्थ को देखकर, उसकी अवस्था को देखकर तन्मयता, राग नहीं

करते। ममता, राग-द्वेषवाली बुद्धि नहीं करते। अज्ञानी परपदार्थ में राग, द्वेष, ममता करते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि आत्मा का अनन्तज्ञान खुल जाए, इसके बाद जगत में भेद नहीं दिखता; सभी को सिद्ध समान जाने। कारण यों बताते हैं कि यदि भेद को देखे तो उसकी दृष्टि में द्वैतपना आता है; ऐसे जीवों का ज्ञान अभी दोषवाला है। ज्ञानी की दृष्टि में गुण-दोष इत्यादि न दिखे, ऐसी मान्यता अमुक गुट की है किन्तु वह बात गलत है।

रागादि दोष आत्मा का धर्म नहीं है किन्तु किसी जीव को उल्टी मान्यता द्वारा राग-द्वेष, अज्ञानमयदशा होती है। ज्ञानी उसको ऐसी जानते हैं।

ज्ञानी जीव, अजीवादि द्रव्य की जैसी अवस्था हो, वैसी ही देखे; देखने में दोष नहीं है। पूर्णज्ञान की सहज स्वरूपस्थिति में समस्त विश्व सहजरूप से झलकता है। (जिस प्रकार निर्मल शीशे में बिना इच्छा के सहज ही सामने जैसा पदार्थ हो, वैसा दिखता है।)

पूर्ण वीतराग होने के बाद तो पूर्णरूप से समदर्शिता, पूर्णनिर्मलता, पूर्णज्ञान प्रगट विद्यमान है। छठे गुणस्थानक में जो मुनिदशा है, वह साधकदशा है। जिस प्रकार केवलज्ञानी परमात्मा जगत के समस्त पदार्थों को युगपत् प्रत्यक्ष जानते, देखते हैं; उस प्रकार इस छद्मस्थ ज्ञानी मुनि को ज्ञान का विकास कम होने पर भी परोक्षरूप से जितने पदार्थों को जानते, देखते हैं, वे सर्वज्ञपरमात्मा जिस प्रकार जानते, देखते हैं; उसी प्रकार जानते, देखते हैं। निश्चय से तो अपने ज्ञान की पर्याय को ही जानते, देखते हैं।

इस दसवीं गाथा में पाँच (गुण) समझाये हैं :-

(१) आत्मज्ञान (हेय-उपादेय की स्पष्टतासहित अनन्त गुणपर्याय से अभेद निजात्मा का ज्ञान),

(२) समदर्शिता (इच्छारहितपना),

(३) 'विचरे उदय प्रयोग' (साधकमार्ग),

(४) अपूर्ववाणी (सन्मार्गप्रकाशक वाणी),

(५) परमश्रुत (प्रयोजनभूत उत्तम श्रुतज्ञान)।

(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) संवर, (७)

निर्जरा, (८) बन्ध, और (९) मोक्ष – ये नौ तत्त्व, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, हेय-उपादेय, निमित्त-नैमित्तिक दोनों की स्वतन्त्रता, निश्चय-व्यवहार – इसको जानना प्रयोजनभूत ज्ञान है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २-१०-१९३९

धर्मात्मा के लक्षण (गुण) के बारे में इस दसवीं गाथा में कहा जा रहा है। इसमें जिन धर्मात्मा को समदर्शिता होती है, उन्हें अपने सच्चे सुख की प्रतीति, पुरुषार्थ, और निर्दोष दृष्टि रहती है। ऐसे धर्मात्मा को समदर्शिता है किन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वस्तु-पदार्थ की अवस्था जिस प्रकार हो, उस प्रकार न देखें। वे तो गलत को गलत ही मानें व कहें। जगत के पदार्थ विचित्ररूप से दिखते हैं, जानने में आते हैं; उसमें रागद्वेष नहीं करते किन्तु असत्य व उल्टी श्रद्धा, मिथ्यामत का निषेध करे। जगत में सही या विपरीत जो वस्तु हो, उसे उस दशारूप जाने, गुण को गुण जाने और दोष को दोषरूप जाने। अवगुणी व गुणी के प्रति का राग-द्वेष छोड़ा है किन्तु उसे जानने में दोष नहीं है। विषमदृष्टि की वज़ह से जीव को उस वस्तु में पसन्द, नापसन्द होती है और समदृष्टि ज्ञानी राग-द्वेष रहितपने – जैसा है, वैसा यथार्थ जानते हैं। ज्ञानी काले पदार्थ को काला जाने, देखे। ज्ञानी से कोई कपट कर जाए; कोई उपकार, सेवा, भक्ति कर जाए किन्तु ज्ञानी दोनों को यथाप्रकार से जाने। किन्तु दोनों को गुणी नहीं जानते। जैसा है, वैसा समझे किन्तु उसमें राग-द्वेष नहीं करते – यह समदर्शिता का लक्षण है। शीशे में सुवर्ण या विष्टा दिखे, उसमें शीशे को कोई क्षोभ नहीं है; उस प्रकार ज्ञानी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना।

धर्मात्मा गृहस्थ हों तो वे गरीबों को अनुकम्पाबुद्धि से दान दें किन्तु उसमें मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं मानते। अन्दर दया की वृत्ति आये और कार्य हो जाए, उसके वे कर्ता-स्वामी नहीं होते। जहाँ अनुकम्पा हुई, वहाँ धर्म समझे तो मिथ्यात्व है,

अज्ञान है। सच्चे विवेकी तो आत्मज्ञानी ही हैं।

धर्मात्मा मुनि छठे गुणस्थानक में विद्यमान हैं। वहाँ सर्वविरति है, स्वरूपस्थिति है, फिर भी अभी अल्पअंश में राग है; इसलिये शिष्य को उपदेश देना, शास्त्र वांचन, देव, गुरु, धर्म की भक्ति आदि शुभ प्रशस्त विकल्प (राग) आ जाता है, फिर भी उन शुभपरिणामों को अपना नहीं मानते। राग के प्रति सर्वथा हेयबुद्धि है। चौथी, पाँचवीं भूमिका में उससे अधिक राग रहता है, फिर भी आत्मज्ञान है और अभिप्राय में पूर्ण समदर्शिता का निरन्तर एकरूप लक्ष्य रहता है। धर्मात्मा भले ही गृहस्थ हो, फिर भी समभाव, समदर्शिता आंशिकरूप से आचरण में होते हैं।

अब यहाँ पर चौथे, पाँचवे व छठे गुणस्थानक की भूमिका के आश्रयवाले ज्ञानी धर्मात्मा समदर्शी हैं। वे बाह्यपदार्थ व उनकी पर्यायें जैसे भाव से है, वैसे भाव से देखें, जानें, समझें, समझायें किन्तु पदार्थ या उनकी पर्याय प्रति ममत्व या इष्ट-अनिष्टपना न करें। जो पदार्थ काला है, उसे समदृष्टि काला देखें, जानें, बतायें। जिस भाव से जो है, उस रूप से उसे देखें, जानें, बतायें क्योंकि आत्मा स्वभाव से ज्ञाता-दृष्टा है। जो अवगुण हो, उसे छोड़ने योग्य जानें और बतायें और राग-द्वेष रहित ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरणीय मानें, जानें, बतायें। स्वभाव में राग-द्वेष रहितपना रहना – उसका नाम समदर्शिता। धर्मात्मा को अपनी पवित्रता, निर्दोषता का ही लक्ष्य है। धर्मात्मा सुरभि गन्ध, सुन्दर रङ्ग की इच्छा न करे किन्तु जो निमित्त है, उसे ऐसा ही जाने और देखे। जानने में दोष नहीं है।

कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्र को उस-उस प्रकार से जानें। असत्य को भी असत्य ही जानते हैं, कहते हैं। कोई कहे कि जहाँ दोष हो, वहाँ नहीं जानता किन्तु जो संयोग दिखे, उसका निषेध कैसे करें ? दुर्गन्ध, मल, मूत्र आदि पदार्थ दिखें तो उनके प्रति जुगुप्सा न करे; अनुकूलता का प्रेम व प्रतिकूलता का द्वेष न करें।

शाता-अशाता, जीवन-मृत्यु, सुगन्ध-दुर्गन्ध, सुस्वर-दुःस्वर, सुन्दर-कुरुप आदि देखकर, सोचकर रति-अरति, इष्ट-अनिष्टपना या आर्तध्यान न करे, वही समदर्शिता।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह – इन सबसे रहितता समदर्शी को होती ही है। यहाँ पर ये सब गुण मुख्यरूप से छठी भूमिकावर्ती मुनि धर्मात्मा के लिये कहे हैं।

चौथी-पाँचवीं भूमिका में स्थित ज्ञानी धर्मात्मा को समदर्शिता है – वह सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कहा है क्योंकि उनकी दृष्टि (अभिप्राय) निर्दोष है।

मुनि को मुख्यरूप से समदर्शिता कही जाती है क्योंकि चौथी-पाँचवीं भूमिका में गृहस्थदशा में ऐसा समभाव नहीं रहता।

मुनि का आत्मा शुद्ध, निर्मल, अक्रिय, ज्ञाता-दृष्टा होने से उनको यथार्थ, सम्यक् अन्तरङ्ग चारित्रपना विद्यमान है। उनको पञ्च महाव्रतधारी कहें – वह उनकी अपूर्ण -दशा में ऐसा शुभराग होता है। उससे विरुद्ध जाति का राग, वस्त्रादि रखने का राग नहीं होता – ऐसा नियम बताने हेतु कहा है।

मुनि सर्वविरति हैं; अतः स्वरूप में विराम प्राप्त हैं। उनको समभाव और अहिंसादि पञ्च महाव्रत - ये दोनों यथातथ्य हैं; अतः सर्वविरति यानी समदर्शिता है।

आत्मा पुण्य-पाप की क्रियारहित है। अहिंसादि पञ्च महाव्रत के परिणाम हैं – वे पुण्यपरिणाम हैं, आस्रवभाव हैं; आत्मा का धर्म नहीं हैं। शुद्धभावसहित समभाव जिसे हो, उसे धर्मात्मा या अहिंसक कहा जाए। मन, वाणी, देहादि की क्रिया धर्म नहीं है। पञ्च महाव्रत भी पुण्यपरिणाम हैं। वह पुण्यपरिणाम शुभराग है, कर्मभाव है, उदयभाव है। उससे धर्म नहीं हो सकता, संवर-निर्जरा नहीं हो सकते।

पञ्च महाव्रत के शुभपरिणाम हैं, वे आस्रव (पुण्यबन्धन) करनेवाले शुभभाव हैं। उनसे आत्मा को गुण होना मानना – वह मिथ्यात्व है, अज्ञान है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञाता है, बिलकुल अकषाय है, जड़ की क्रिया से रहित है। जिसे ऐसी अविरोध श्रद्धा और आत्मज्ञान का भान नहीं है, उसे बारह व्रत या पञ्च महाव्रत परमार्थ से कहे नहीं जाते। केवल नामनिक्षेप से वह व्रती कहा जाता है। अज्ञानभावपूर्वक पुण्यबन्ध करे, लेकिन भव कटी नहीं होती।

आत्मज्ञान होने के बाद जो शुभविकल्प आते हैं, उन्हें उपचार से व्रत कहा है। अन्तरङ्ग में अकषायभाव का ज्ञानपरिणमन, अन्तरस्थिरतारूप विरति – वह निश्चयव्रत है। पुण्यपरिणामरूप व्यवहारव्रत और आत्मा के पवित्रपरिणाम – दोनों भिन्न हैं। पुण्य का भाव राग है। राग से आत्मा को गुण होना मानना – वह महामिथ्यात्व है, अज्ञान है।

मैं पर के प्रति दया पालन करुँ – ऐसा राग आये किन्तु मैं उसे ज़िन्दा रखता

हूँ – ऐसा मानना यह अज्ञान है। अहिंसा आदि अन्तरङ्ग विरति न होवे तो समदर्शिता नहीं हो सकती। समदर्शिता न हो उसे (पञ्च) महाव्रत भी नहीं होते।

दूसरे जीव के बचाव में शुभपरिणाम हो तो वह पुण्य है किन्तु मैंने बचाया, मैं नहीं होता, तो मर जाता – ऐसी मान्यता महामिथ्यात्व है, अज्ञानभाव है। वही दर्शनमोह-मिथ्यात्व का शल्य आत्मगुण को आच्छादित करता है (ढक देता है), निजगुण का घातक है। सामनेवाले जीव का जीवन आयुष्यकर्म के उदय के अधीन है। उसे मैं ज़िन्दा रखूँ या मार डालूँ, सुखी-दु:खी करुँ, इत्यादि मान्यता महाअज्ञान है। आत्मज्ञानदशा - स्वरूपस्थिति के बिना सम्यक् अहिंसादि महाव्रत नहीं होते।

प्रश्न - नियम ले लिया हो तो ?

उत्तर - सम्यक्त्व के बिना सच्ची प्रतिज्ञा नहीं हो सकती।

किसी भी शुभभाव को तथा शुभयोग की क्रिया को अपनी माने, सुख का उपाय माने – वह महापाखण्डी है, कपटी है। इसके लिये श्रीमद्जी ने आगे कहा है कि :-

'लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान,
ग्रहे नहि परमार्थने, लेवा लौकिक मान।'

विरति-अविरति का क्या स्वरूप है ? – उसके भान बिना, अन्तरवेदन बिना अपने आप को धर्मी माने, उसे कौन रोक सकता है ? मैं रोटी छोड़ सकता हूँ, मैं दूसरों का सुधार कर सकता हूँ, दूसरों का बिगाड़ कर सकता हूँ, संसार की व्यवस्था बराबर रख सकता हूँ, इस प्रकार बैठ सकता हूँ, ऐसा कर सकता हूँ – ऐसा माननेवाला खुद धर्मी मानता हो तो भी उसे सामायिक नहीं हो सकती, व्रत-प्रतिक्रमण नहीं हो सकते, संवर-निर्जरा-धर्म नहीं हो सकते।

सच्ची श्रद्धा, सच्ची पहचान और आत्मगुण का अनुसरण – ये मुख्यतया सर्वविरति गुणस्थानक हैं। यह समदर्शिता जितने अंश में हो, उतने अंश में अहिंसादि व्रत होते हैं। जितने अंश में अहिंसा आदि अन्तरङ्ग विरति हो, उतने अंश में समदर्शिता होती है।

सद्गुरु के योग्य लक्षणरूप समदर्शिता मुख्यतया सर्वविरति छठे गुणस्थानक में होती है। बाद के गुणस्थानकों में वह लक्षण उत्तरोत्तर वृद्धि पाता है, अधिक प्रगट

होता जाता है। १२ वें क्षीणमोह गुणस्थानक में उसकी पराकाष्ठा व तेरहवें में सम्पूर्ण वीतरागता होती है। समदर्शिता की ऐसी परिभाषा नहीं है कि लौकिक समानभाव, एक समान बुद्धि, अभेदभाव, गुण-दोष में मिलावट करे; उनमें भेद न करे – ऐसा हो ही नहीं सकता।

काँच व हीरे को समान मानना – इसका नाम समदर्शिता नहीं है किन्तु मूर्खता है। सत्श्रुत और असत्श्रुत को समान मानना – यह भी महामूढ़ता है। सर्वज्ञ के अविरोधी सम्यक् शास्त्रों के साथ आत्मा को भुलावे में (भ्रम में) ले जानेवाले असत् शास्त्रों का समन्वय तीन काल में नहीं हो सकता। कोई माने कि हमें कोई भेद नहीं पाड़ना है क्योंकि राग-द्वेष होते हैं; हमारे लिये तो सारे धर्म, सारे धर्मगुरु बराबर क्योंकि सब आत्मा के लिये करते हैं न ? क्या भावनगर जाने का एक ही रास्ता है ? चाहे जिस रास्ते से जा सकते हैं – ऐसा माननेवाले मूर्ख हैं, अज्ञानी हैं। भावनगर (के मार्ग) की सच्ची पहचान बिना अन्यमार्ग को सच्चामार्ग माननेवाले अपने गलत भाव में सही हैं किन्तु उन्हें साध्य की प्राप्ति नहीं होगी। अनन्त काल से जीव आत्मा के नाम से, आत्मार्थ मानकर बहुत कर रहे हैं किन्तु पहचान के बिना स्वच्छन्द जायेगा कहाँ ? जिसे सर्वज्ञ की पहचान नहीं है, सत्शास्त्र की प्रामाणिकता की खबर नहीं है, वह समदर्शी नहीं है किन्तु निश्चितरूप से मूर्ख है।

कोई कहे कि हमें तो सुनना है न ? हम तो गुणग्राही हैं। अपनी दृष्टि में वैर - विरोध नहीं है, हमें तो जहाँ से मिले, वहाँ से लेना है किन्तु हित-अहित का विवेक नहीं है। सच्च क्या ? झूठ क्या ? – उसकी परीक्षा नहीं है, उसका गुणग्राहीपना कभी भी सही (यथार्थ) नहीं है। लोग मानते हैं कि हम धर्मशास्त्रों का अध्ययन करें, सुनें तो कान पवित्र होते हैं, देह पवित्र होती है – ऐसा कहनेवाले भी पर से भिन्नत्व के विवेक बिना, न्याय समझे बिना गुड़ और गोबर को समान मानकर खिचड़ी पकाते हैं। सही-गलत का विवेक न जाने, उसका विश्वास कौन करे ? अक्रिय क्या ? ज्ञाता क्या ? पुण्य-पापरूप आस्रव क्या ? स्वाधीनता क्या ? – इसके भान बिना उसका सब कुछ करना है, वह अँधी दौड़ है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई जड़ की क्रिया कर ही नहीं सकते। मात्र ज्ञान करे या अज्ञान करे, यानी झूठी मान्यता करे। वह उसका सामर्थ्य है किन्तु जड़ की क्रिया होना –

उसमें आत्मा का सामर्थ्य नहीं है। वह स्वतन्त्र तत्त्व है। सद्गुरु व असद्गुरु को यानी ज्ञानी धर्मात्मा व अज्ञानी भेषधारी कुगुरु को समान मानना - यह अज्ञान है। सद्देव व असद्देव को समान माने - वह भी अज्ञानी है, मूर्ख है। सद्देव किसे कहें कि जिनमें राग, द्वेष, अज्ञान का अंश नहीं है, जो सर्वज्ञ हैं, पूर्ण वीतराग परमात्मा हैं।

लोग तो हथियारवाले व स्त्रीसङ्गवाले को देव मानते हैं, वे सच्चे देव नहीं हैं। रागीदेव व निर्दोष अरागीदेव को समान माननेवाले महाअविवेकी हैं, मूढ़ हैं।

घर पर घी लाये हो और उसमें एक रुपया के भार के बराबर कीटु (कचरा) आ गया हो तो उसे खा नहीं जाता किन्तु निकाल देता है। इस प्रकार पवित्र आत्मा अतीन्द्रिय है। उस आत्मा का व्यवहारधर्म, सच्चे देव, गुरु व सच्चे धर्म प्रति आदर, तथा कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र व कुधर्म की भिन्नता - यह सब न जाने, वह अज्ञानी है।

जो कोई देह, मन, वचन, तथा पुण्यादि की क्रिया से धर्म मानते हैं, संवर-निर्जरा मानते हैं, देह की क्रिया को चारित्र मानते हैं - वे अज्ञानी हैं। आत्मज्ञान के बिना धर्म नहीं है। अन्य चीज में धर्म माननेवाला आत्मा के सच्चे गुण का निषेधक है। धर्मात्मा कुश्रुत को कुश्रुत जाने, गलत शास्त्रों का निषेध करे और कहे कि उससे आत्मधर्म को पहचानने का लाभ नहीं होगा; सद्धर्म को सद्धर्म जाने और उसका बोध दे तथा असद्धर्म को असद्धर्म जाने और उसका निषेध करे; सद्गुरु को सद्गुरु जाने व बोध करे; असद्गुरु को असद्गुरु जाने और निषेध करे।

जिनके राग, द्वेष, अज्ञान सर्वथा मिट गये हैं, ऐसे वीतराग जिनेश्वर सर्वज्ञदेव तीर्थङ्कर आदि द्वारा प्ररूपित न्यायधर्म, लोकोत्तरमार्ग पहचाने बिना बहुत से लोग धर्मोपदेशक होकर सभी धर्मों का समन्वय करते हैं; कजात व सजात माने लौकिकमार्ग व अलौकिक सन्मार्गरूप अपूर्व धर्म का समन्वय करते हैं। इस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी मति-कल्पना से सर्वज्ञपरमात्मा के न्याय की अल्पज्ञ जीव अन्य लौकिकधर्मों के साथ तुलना करते हैं। कहाँ जुगनू का तेज और कहाँ सूर्य का तेज ? इसका समन्वय करनेवाले सूर्य को ढकने का प्रयत्न करते हैं। ये सब लोग आत्मज्ञान

से अनजान हैं। सत्य को सत्य व असत्य को असत्य मानना, कहना, उपदेश करना – इसमें दोष नहीं है। अविरोधरूप से जैसा है, वैसा सही समझना – वह समदर्शिता है। **१०.**

ऐसे प्रत्यक्ष सद्गुरु को अपनी पात्रता से, न्यायदृष्टि से पहचानकर उन सद्गुरु के उपदेश से जो श्रीजिनपरमात्मा का स्वरूप समझे, वह निश्चयपूर्वक अपना परमार्थस्वरूप समझता है। अत: ऐसे प्रत्यक्ष उपकारी सद्गुरु ज्ञानी, धर्मात्मा के चरणआश्रय से परोक्ष जिनेश्वर से भी महत् उपकार खुद को हो सकता है। इसके लिये आगे कहते हैं कि -

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
एवो लक्ष थया विना, ऊगे न आत्मविचार।। ११।।

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन-उपकार।
ऐसा लक्ष्य हुए बिना, जगे न आत्म-विचार।।११।।

प्रत्यक्ष सत्पुरुष की वर्तमान में उपस्थिति हो, उनको छोड़कर जब तक पूर्व में जो हो गये हैं, उन जिनेश्वर की बातों पर ही जीव का लक्ष्य रहा करे और उनको पहचाने बिना, स्वानुभव बिना, उनका उपकार गाता रहे लेकिन जीव का पूर्ण शुद्धस्वरूप क्या है ? – इसे तो पहचानता नहीं, तब तक उसे वीतराग का बहुमान कहाँ से आये ? फरमाते हैं कि जहाँ आत्मभ्रान्ति का समाधान हो, ऐसे प्रत्यक्ष सद्गुरु का समागम प्राप्त हुआ हो, उसमें जिनेश्वर के परोक्षवचन से कई गुना ज्यादा उपकार समाया हुआ है। सर्वज्ञ भगवान के उपदिष्ट अतीन्द्रिय लोकोत्तर न्यायमार्ग की खबर नहीं है; मात्र स्वच्छन्दतापूर्वक शास्त्र पढ़ ले और उन पुरुषों के वचन रट ले तो उससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता। अत: प्रत्यक्ष सद्गुरु के अवलम्बन की, आश्रय की जरूरत बतायी गयी है। ऐसे प्रत्यक्ष सत्पुरुष का उपकार न समझे, उसे आत्मविचार उत्पन्न नहीं होता।

दिनाङ्क - ३-१०-१९३९

पहले कह चुके हैं कि कुधर्म व सुधर्म को समान मानना, वह समभाव है - ऐसा मानना मिथ्या है क्योंकि उसमें विवेक नहीं है। धर्मात्मा, मुनि जैसा है, वैसा उपदेश देते हैं; झूठे देव-गुरु-धर्म का निषेध करते हैं। उसमें द्वेष नहीं है; इस बारे में पहले कहा है। अब बहुत से जीव सर्वज्ञपरमात्मा के नाम से अपने स्वच्छन्दतापूर्वक उनका उपकार गाते रहते हैं और प्रत्यक्ष सत्पुरुष जो आत्मभ्रान्ति के छेदक हैं, खुद को परम उपकार होने में निमित्त है, उनके समागम की उपेक्षा करते हैं, उनको कहा कि -

'प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार,
एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार।'

परोक्ष जिनवचनों का आशय गुरुगम के बिना समझ में नहीं आ सकता और निमित्त के व्यवहारवचनों को सही मानकर उसके आग्रह में रुक जाता है और वीतराग को पहचानता नहीं है – उसकी भ्रान्ति कैसे मिटे ?

अनेक न्याय अपेक्षा का सम्यक्‌विचार जैसा है, वैसा प्रत्यक्ष गुरुगम के बिना समझ में नहीं आता। सर्वज्ञ वीतराग भगवान को जो पहचानते नहीं हैं; शास्त्र के प्रमाण, न्याय, आशय की समझ नहीं है; वीतराग के नाम से स्वच्छन्दता का पोषण करते हैं – ऐसे बहुत से जीव इस गाथा का उल्टा अर्थ करते हैं और कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान के उपकार की अवहेलना करके (भूलकर) श्रीमद्‌जी को स्वयं को सद्गुरु होना है, इसलिये अपनी पूज्यता स्थापित करने हेतु लिखा है। ऐसा कहनेवाले वीतराग को व उनके शास्त्र वचनों को पहचाने बिना, सम्यक् आशय समझे बिना बकवास करते हैं।

शास्त्र में तो भगवान ने कहा है कि 'देखकर चलना,' लेकिन वहाँ पर किस प्रकार का राग व निमित्त है तथा इस कथन का वास्तविक अर्थ क्या है ? – इसे समझे बिना सच्ची बात का निषेध करते हैं। ऐसे निषेधरूप अनादर होने का कारण यह है कि वे स्वरूप को अन्यथा मानते हैं। देहादि की क्रिया, चलने की

क्रिया जीव के अधीन नहीं है; समस्त परमाणु व देह की क्रिया स्वतन्त्र है। यह बात क्या सर्वज्ञ भगवान नहीं जानते हैं कि वे 'देखकर चलना' – ऐसा उपदेश दे रहे हैं ? – ऐसा सवाल कुछ लोग करते हैं। वे व्यवहारभाषा का आशय नहीं समझते हैं और इस कारण से दो द्रव्यों में एकताबुद्धि करते हैं। पर का कुछ कर सकते हैं, ऐसा माननेवाले जीव वीतराग का उपकार जानते ही नहीं हैं। उन्होंने परमार्थ नहीं जाना। देखकर चलना – इसका भाव (आशय) यह है कि चलते समय अन्तरङ्ग में प्रमाद नहीं करना। जीव से देह की क्रिया नहीं हो सकती। वीतराग के वचनों का आशय स्वयं जानता नहीं है और उनके गुण गाता रहे, वह सच्चे स्वरूप को जान नहीं सकता। प्रत्यक्ष सद्गुरु की उपेक्षा करनेवाला, परोक्ष जिन का उपकार मात्र कथन में गाता रहता है, उसे सच्चीवस्तु की (तत्त्व की) कुछ खबर ही नहीं है।

मोही जीव कहेगा कि अहो ! वीतराग ने महाउपकार किया है, भगवान ने बहुत अच्छी बातें की हैं, आत्मा की बातें की हैं। किन्तु वीतराग कौन थे ? उनकी जाति कौन सी ? कैसे (वीतराग) हुए हैं ? उसका आशय स्वयं समझ नहीं सकता। जो सर्वज्ञ को जानता है, आत्मस्वरूप में स्थित है – ऐसे प्रत्यक्ष सद्गुरु आत्मभ्रान्ति के छेदक हैं; उनका उपकार जो न समझे, समागम न करे – उसको आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। शास्त्र में निमित्त से बात आती है कि भाई ! समितिपूर्वक चलना, सारे जीवों के प्रति दया रखना, ब्रह्मचर्य पालन करना, हिंसा नहीं करना। इस प्रकार उपदेश में आता है। किसी जीव की हत्या नहीं करना, पूर्ण अहिंसा का पालन करना – यह सभी शास्त्रों का सार है। उसका सही दृष्टि से यह अर्थ है कि मिथ्यात्व से, पुण्य-पापरूप आश्रय से अकषायस्वरूप की हिंसा नहीं करना। यानी अकषाय के लक्ष्य से मिथ्यात्व, रागादिक का त्याग करना; परभाव का मालिकीपना नहीं करना। मैं दयावान तथा शुभरागवाला भी नहीं हूँ, देहादि की क्रियारहित केवल ज्ञाता ही हूँ, – इस प्रकार स्वाधीनरूप से त्रिकालीस्वभाव की सँभाल में सावधान रहना – यही वास्तविक अहिंसा है। पर है, सो पर ही है; स्व नहीं है।

कई लोग समझते हैं कि किसी प्राणी को नहीं मारना – इसमें धर्म हो गया,

किन्तु ऐसा अर्थ करने वाला अपने आप को भूलकर अर्थ करता है। पर को नहीं मारने का शुभभाव किया, उसी में धर्म आ गया ? वह मानता है कि बस ! हमने अभयदान दे दिया है, अब किसी जीव को मारना नहीं। हम व्रत, तप करते हैं, देखकर चलते हैं, इसलिये धर्मी हैं किन्तु उसे अपनी खबर नहीं है। अकषाय ज्ञायकभाव की रक्षा कैसे करनी – इसका उसे भान नहीं है और मानता है कि पर की क्रिया मैं करूँ, पर को ज़िन्दा रखूँ, बचाऊँ किन्तु उसकी ये सब मान्यताएँ भावहिंसा है।

स्वयं परभाव में, राग-द्वेष-मोहभाव का कर्ता होने में धर्म मान रहा हो – वहाँ आत्मा की प्रत्यक्ष हिंसा हो रही है। ज्ञानी धर्मात्मा को भी शुभ दयाभाव का विकल्प आ जाए किन्तु (वे) उसकी भेदज्ञान द्वारा भिन्नता जानते हैं; अतः निर्जरा होती है।

राग-द्वेष मेरे नहीं हैं – यह बात ज्ञानभावपूर्वक समझकर कम की जा सकती है। मैं अकषाय हूँ, इस लक्ष्य से तत्त्व की अपूर्वरुचि द्वारा तीव्रकषाय को टालकर मन्दकषाय कर सकते हैं किन्तु अल्पकषाय, शुभराग, दया के भाव करने जैसे हैं, रखने – जैसे हैं – ऐसा जो मानते हैं, उन्होंने शुभराग को अपना माना। यह मान्यता महाअज्ञान है, मिथ्यात्व है क्योंकि परभाव को अपना माना है। इस दृष्टि से जीव स्वयं दया का कर्ता बन जाता है और वह स्वयं ही अपनी हिंसा करनेवाला महा-अपराधी है।

सर्वज्ञ वीतराग का आशय समझे बिना सर्वज्ञ के शास्त्रों को स्वयं ही अन्याय कर रहा है। अतः प्रत्यक्ष गुरुगम, सत्समागम की जरूरत बतायी है। सर्वज्ञ वीतरागी केवलज्ञानी भगवन्तों ने यही कहा है कि जो तेरा भाव नहीं है – वह परभाव, रागभाव, शुभभाव, दया के परिणाम (यानी पर को नहीं मारने का भाव) इसे तूने सभी धर्मों का सार माना है; ज्ञान के कार्य को भूलकर राग को करने-जैसा माना, यही तेरे अज्ञान के कारण हो रही स्वहिंसा है। वीतराग के नाम से औंधी बात करता है और कहता है कि हम धर्मी हैं, हमारे ऊपर वीतराग का उपकार है। ऐसा वे अबुधजन मानते हैं किन्तु उन्हें सर्वज्ञ के शास्त्रों की तथा वीतराग भगवन्तों की पहचान नहीं है; केवल राग का राग है। वीतराग का वास्तविक

उपकार तब कहा जाए कि जब स्वयं वीतराग का आशय यथार्थ गुरुगमपूर्वक जानकर पुरुषार्थ से कहे कि मैं भी वीतरागी हूँ। परोक्ष जिनेश्वर से अधिक उपकारी वर्तमान प्रत्यक्ष सद्‌गुरु को पहचानकर उपकारी मानना चाहिए। उनके विनय में सभी ज्ञानियों का विनय समाहित है। अत: अपने मताग्रह को छोड़कर सद्‌गुरु के चरणों का आश्रय करना चाहिए। कई स्वच्छन्दी लोग इस ११ वीं गाथा का उल्टा अर्थ करते हैं। यह ठीक नहीं है। वह तो उनके अज्ञान की, उल्टे अभिप्राय की पुष्टि है। विद्यमान सत्पुरुष की पहचान व उन प्रत्यक्ष सत्पुरुष का उपकार माने बिना आपको वीतराग का उपकार सही तरीके नहीं लगेगा। कोई कहे कि सर्वज्ञ तो अनन्त ज्ञानवन्त वीतराग थे। उनसे भी ज्यादा उपकार छद्मस्थ ज्ञानी का क्यों मानना?

इसका उत्तर यह है कि हमें अरिहन्तदेव की, सर्वज्ञ की पहचान नहीं है। श्रीगुरु उन्हें यथार्थरूप से जानते हैं और (यथार्थ) पहचान करवाते हैं। अत: उनका अधिक उपकार है।

समयसार में श्रीअमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि अनन्त काल के सर्वज्ञों ने जिस न्याय से कहा है, उनके वचनआशय को हम अविरोधरूप से स्वानुभवप्रमाण से कहेंगे। अनन्त काल में सर्वज्ञ, अरिहन्तभगवान जो मार्ग बता गये हैं और तीनों काल के ज्ञानी भगवन्तों ने जिस न्यायमार्ग की प्ररूपणा की है, वही मार्ग हम कहेंगे।

जीव हमेशा ज्ञानरूप है किन्तु विकाररूप या देहरूप नहीं है। वह हिंसा या अहिंसा का भाव कर सकता है किन्तु परद्रव्य की अवस्था नहीं बदल सकता। पर का कुछ कर नहीं सकता। अपने ज्ञातास्वरूप को भूल जाना – वह हिंसा है; स्वसन्मुख ज्ञातापने के रूप में स्थिति – वह अहिंसा है। भावहिंसा नहीं करनी। राग, द्वेष व प्रमाद द्वारा हिंसा होती है – वही स्वहिंसा है। दूसरे जीवों के जीवन-मरण उनके कर्माधीन हैं। इतनी सरल बात भी कई जीव समझते नहीं हैं और कहते हैं कि दूसरे जीवों को नहीं मारने के शुभपरिणाम, शुभराग वही धर्म है, परजीवों के प्रति दया का पालन करना, वही सर्व धर्मों का सार है किन्तु उसमें मुख्य बात यानी स्वदया तो नहीं आयी। कुतर्कवाले ऐसा कहते हैं कि पर की दया में स्वदया आ जाती है। यह बात बिलकुल गलत है। अपने आप को भूलकर पर में रुकनेवाला अपने स्वरूप की सावधानी कैसे करेगा? कोई कहे कि मुझे

विश्व प्रेम है; इसलिये सभी के लिये, हर किसी के लिये राग है। इसका सही अर्थ यह है कि खुद को रागरहितपना जँचता नहीं है। राग की निरन्तरता में दूसरे के लिये रुकना – यह प्रत्यक्ष अज्ञान है। मैं दया करता ही रहूँ, यानी मैं राग करता ही रहूँ – ऐसी मान्यता को रखकर जो परभाव का मालिक व राग का कर्ता होकर वीतराग के गीत गाता है, भक्ति करता है - वह तो कषाय की भक्ति करता है, राग का बहुमान करता है, जिससे भावहिंसा होती है। मेरा आत्मा ही नित्य, अकषायी, एक सिद्धभगवान समान है। केवल मेरा आत्मा ही अरागतापूर्वक आदरणीय है – ऐसी बात उसमें नहीं आयी।

लोग अनादि काल से नग्न सत्य से भड़क उठते हैं। जो बात वास्तव में स्वयं के हित के लिये है, जिसमें वास्तविक में ज्ञानस्वरूप आत्मधर्म की सँभाल है – उससे लोग डरते हैं, शङ्का करते हैं, जो कि अज्ञान है।

मस्ती में चूर हिरन स्वयं शिकारी के जाल की ओर निःशङ्क होकर दौड़े चले जाते हैं। उनसे किसी ने दयापूर्वक बचाने के लिये इशारा किया। तब उन हिरनों को शङ्का हुई कि यह आदमी हमें मारना चाहता है क्योंकि अनादि से वे भय को ही देख रहे हैं। उस प्रकार सच्चे मार्ग की, हित-अहित की परीक्षा करने की पात्रता जिनमें नहीं है – ऐसे धर्मान्ध जीव अनादि काल से आत्मा के नाम से, हम धर्म कर रहे हैं; वीतराग की आज्ञा इस प्रकार है, अतः अन्य लोग चाहे जो कहें किन्तु हम निमित्त को छोड़नेवाले नहीं हैं – इस प्रकार पर के द्वारा अतीन्द्रिय निजगुण प्रगट करना चाहते हैं। लोग योग की क्रिया को साधन मानते हैं किन्तु नियम तो ऐसा है कि कारण -कार्य सजातीय होने चाहिए। जिस प्रकार सुवर्ण कारण है तो उसमें से सोने का कार्य उत्पन्न होवे किन्तु पीतल कारण और सोने के गहने कार्यरूप उपजे – ऐसा नहीं बनता। प्रथम भूमिका की शुरूआत का एक अङ्क भी उसकी सजाति का होना चाहिए। लोगों को न्याय का पता होता नहीं है; अतः हम ही वीतराग की आज्ञा को जानते हैं – इस प्रकार निःशङ्करूप से स्वच्छन्दपूर्वक वीतराग के नाम से उल्टे मार्ग पर दौड़ता जाता है। उसे सत्पुरुष ज्ञानी जो वीतराग का वास्तविक तत्त्व जानते हैं – वे कहते हैं कि भाई रे ! आप जिसे वीतराग की आज्ञा व स्वरूप मानते हो, उसमें बहुत फ़र्क है। ऐसा

सुनते ही डरकर भड़क उठते हैं। अन्धी श्रद्धावाले अपनी स्वच्छन्दता चालू रखते हैं और अज्ञानभाव का पोषण करते हैं। वे स्वयं मोह में आसक्त होकर निःशङ्करूप से उन्मार्ग में प्रवर्तन करते हैं और सत् में शङ्का करते हैं।

वीतराग के प्रत्येक वचन में अनन्ते आगम हैं – यह बात किस प्रकार से होगी ? उसे वे जानते नहीं हैं। लोगों को अपने स्वरूप के बारे में अनादि से भ्रान्ति है। यदि वे स्वच्छन्दता का त्याग करें तो यथार्थ पात्रता से सत्समागम व सद्गुरु द्वारा तत्त्व का वास्तविक निर्णय हो सकता है।

एक दृष्टान्त है कि एक गृहस्थ का पुत्र है। उसके पिताजी की मृत्यु हो चुकी है। वर्तमान में वह गरीब अवस्था में है। उससे किसी ने बात कही कि तुम्हारे पिताजी बहुत धनवान थे; अतः अपने वही-खाते देख। अन्दर से कुछ निकलेगा। वही-खाते पढ़ने पर आया कि शङ्कर के मन्दिर के शिखर में चैत शुक्ला अष्टमी के दिन सुबह ८ बजे पचास लाख सुवर्णमुद्राएँ गाड़ी हैं। अब उसने अपने – जैसे अक्लमन्दों से यह बात की। हाँजी-हाँजी करनेवालों ने कहा कि भले ! चलो मन्दिर के शिखर को तोड़ते हैं। शिखर को तोड़ा किन्तु उसमें से कुछ मिला नहीं। अभी तक तो वह बहुत आनन्द में था कि मेरे पिताजी की रखी हुई पचास लाख सुवर्णमुद्राएँ (निधान) मिलेंगी किन्तु अब तो वह उलझन में पड़ गया।

फिर अपने पिताजी के एक मित्र जीवित थे। उनके पास गया और वही-खाते दिखाये। उन्होंने सब बताया कि देख भाई ! इसमें जो लिखा है, उसका आशय यह है कि चैत शुक्ला अष्टमी के दिन की सूर्य की छाया में मन्दिर के शिखर की परछाई तेरे घर की पश्चिमी दिशा में जिस जगह पड़ती है, उस जगह आठ हाथ तक की खुदाई करके देख। अब उसी प्रकार खोदकर देखा तो उसे खजाने की प्राप्ति हो गयी।

इस प्रकार श्रीमद्जी ने कहा है कि आत्मा का निधान कैसे प्राप्त हो – वह शास्त्र में लिखा है किन्तु जड़भाव में से आत्मा को खोजने जायेगा तो मिलेगा नहीं। शास्त्र में जो निमित्ताधीन बातें हैं, उनके पीछे जो परमार्थ (आशय) है – वही सही है। अतः व्यवहारवचनों के पीछे जो परमार्थ है, वह समझ लेना चाहिए। शास्त्र में निश्चय व व्यवहार – दोनों प्रकार के कथन होते हैं किन्तु कौन से वचन

किस अपेक्षा से, किस प्रकार से हैं? - इसकी समझ की कला जाने बिना चाहे जितने शास्त्र पढ़ा हो किन्तु वह मिथ्या है। जीव अनन्तबार नौ पूर्व तक पढ़ चुका और जिनेश्वर के वचनानुसार देह के चारित्र का पालन किया, फिर भी आत्मगुण का एक अंश भी प्रगट नहीं हुआ।

परोक्ष जिनेश्वर सर्वज्ञपिता वर्तमान में नहीं हैं; अतः उनकी विरासत पाने की विधि प्राप्त करने के लिये उनकी पहचानवाले प्रत्यक्ष सद्गुरु का आश्रय करना पड़ेगा। वह पिताजी के मित्र का उपकार माने कि आपने ही मेरे पिता की सम्पत्ति (निधान) मुझे दी, मुझे लक्ष्मीवान बनाया। (हालाँकि वह तो पुण्य के कारण मिला है परन्तु जो संस्कारी हो, वह विवेक कैसे भूले ?)

आगे आयेगा कि हे सद्गुरु ! आपने ही मुझे आत्मा दिया। साधक को, आत्मार्थी को अनादि मिथ्यात्व की भ्रान्ति का शल्य जिनके निमित्त से मिटा - वह हालाँकि खुद के प्रयत्न से व समझ से मिटा है, फिर भी निर्मानतापूर्वक सद्गुरु का बहुमान करता है। यहाँ पर इस गाथा में यही कहना है कि आत्मभ्रान्ति के छेदक प्रत्यक्ष सद्गुरु का समागम है और उसमें परोक्ष जिनेश्वर के उपकार से ज्यादा महान उपकार समाया हुआ है। ऐसे जो न जाने, यानी प्रत्यक्ष परमउपकारी को न जाने और बहुमान -आदर न करे - उसे आत्मा का सम्यग्ज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो ? यहाँ 'ऊगे' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ ऐसा कह रहे हैं कि जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरु को पहचानकर उनका बहुमान आया, वहाँ सम्यग्दर्शन के बीजरूप आत्मगुण खिलते हैं। परन्तु उस बोधिबीज के दाता का अपूर्व भावपूर्वक सङ्ग न करे तो परोक्ष जिनेश्वर उसके लिये उपकारी नहीं कहलाते। प्रत्यक्ष सद्गुरु भी तभी उपकारी कहलायेंगे कि जब स्वयं पुरुषार्थ एवं पात्रता द्वारा सद्गुरु को पहचाने। रागभाव को अपना मानना ही महा अज्ञान है। देह को प्रतिकूलता होने पर उसके दुःख से मैं दुःखी - ऐसा भास होने के कारण दूसरे की देह को प्रतिकूलता होने पर उसकी दया खानेवाले को स्वयं को कँपकँपी हुई। ऐसी दया करनेवाले ने अन्य के देहयोग को देहात्मभाव से देखकर, खुद को देहात्मबुद्धि होने से (देह की प्रतिकूलता से होनेवाला) दुःख मुझे है - ऐसी खतौनी कर दी। आत्मज्ञान के बिना प्रतिक्षण ज्ञान में उल्टी खतौनी होती है।

दु:ख की व्याख्या – मोह ही दु:ख है। स्वरूप में जितनी असावधानी, वही दु:ख है और सम्यक्श्रद्धा तथा स्वरूप में सावधानी, वही सुख है। अत: जो जीव दूसरे के दु:ख से खुद दयावान हो गया है, वह स्वयं ज्ञाता, दृष्टापना भूलकर देहात्मबुद्धिवाला हो गया है – यही महाअज्ञान है; वह अपने भाव की, आत्मा की हिंसा है।

शरीर के फेरफार से दु:ख नहीं है किन्तु मान्यता द्वारा सुख-दु:ख की कल्पना करता है। जिसने देह की प्रतिकूलता से आत्मा का दु:ख माना, उसने देह व आत्मा को एक ही माना और उस दु:ख की अन्य जो व्यक्ति दया करता है, उसने भी देह व आत्मा एक ही माना है क्योंकि सामनेवाले के शरीर में जो फेरफार हो रहे हैं, वे आत्मा में होते हैं – ऐसा माना। इसलिये दया करनेवाले ने उसकी उल्टी खतौनी कर दी; जड़ की क्रिया आत्मा की मानी। उसे भले अपनी खबर नहीं है, फिर भी स्वयं अनन्ते अज्ञान में टिका हुआ है, इसलिये राग-द्वेष व मोहभाव अपने में (ज्ञान में) करता है।

वर्तमान में सच्चे तत्त्व की बात चलती नहीं है। सच्ची बात तो कठिन लगती है किन्तु समझनी पड़ेगी। आज नहीं तो हजार वर्ष बाद, लाख वर्ष बाद, अनन्त वर्ष बाद या जब कभी अपना हित करना हो। (अगर) सच्चा सुख चाहिए तो उसको यहाँ जो बता रहे हैं, वैसा ही यथार्थतत्त्व समझना पड़ेगा। उसके बिना भव मिटेंगे नहीं। यहाँ भव के अभाव की बात है।

सौभाग्य (चन्द) भाई से श्रीमद्जी ने कहा था कि यदि आपको सुख चाहिए तो हम कहें – वैसा करो, समझो अन्यथा सुख की इच्छा ही छोड़ दो। लोगों को सच्चा समझना नहीं है और गलत को छोड़ना नहीं है; अपनी चतुराई, स्वच्छन्दता छोड़नी नहीं है। उनको सुख नहीं चाहिए – ऐसा नहीं है, फिर भी अपनी स्वच्छन्दतापूर्वक असत्य मान्यता निभाये रखनी है, यानी अविकारीआत्मा नहीं चाहिए; स्वाधीनता की रुचि नहीं है। शरीर को सुख-दु:ख नहीं है, संयोग से दु:ख नहीं है, सुखगुण की विपरीत दशा ही दु:ख है। अज्ञानी को देह में एकत्वबुद्धि है, उससे वह दु:खी है। शरीर के कारण से दु:ख या सुख लेशमात्र नहीं होते। शरीर तथा संयोग के कारण से आत्मा को दु:ख होता है – ऐसा मानना, यह अनन्ता मिथ्यात्वमय अज्ञानभाव

है। जिस भाव को रखने से अनन्त काल भटका, उस भाव से संसार का, भवभ्रमण का अभाव कैसे हो ? यह विचारना चाहिए। इस गाथा में कहा कि प्रत्यक्ष सद्गुरु ही परमउपकारी हैं। प्रामाणिकता से उनका उपकार समझे बिना **'ऊगे न आत्मविचार'** - ऐसा कहा। यहाँ पर 'ऊगे' शब्द में तीन न्याय हैं।

(१) खुद की पात्रता से, गुरु के प्रति विनय से उस तत्त्व की प्रतीति हुई, आदर हुआ और साथ में गुरु का भी बहुमान आया और साधकभाव यानी स्वआत्मबोधबीज सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई। जिस भाव से पूर्णता में से शुद्धगुण विकसित हुआ, उस अप्रतिहतभाव से केवलज्ञान लेनेवाला है। इस प्रकार वर्तमान में नि:सन्देह जाति का सच्चा निर्णय आता है।

(२) यही सत्पुरुष ज्ञानी हैं। आत्मा ऐसा ही है। इस प्रकार सहजभाव से आत्मबोध की बात सुनी, वह भी कारणसम्यक्त्वरूप बोधबीज है।

(३) जिसे आत्मार्थ के अलावा और कुछ नहीं चाहिए, उसने प्रत्यक्ष सत्पुरुष की महिमा प्रगटकर जिस बोधबीज को बोया है, उसे पूर्ण विश्वास है कि ये उगे हुए अंकुर जरूर फलित होंगे।

ग्यारहवीं गाथा का पलटकर अर्थ करे तो यह है कि जिसने प्रत्यक्ष सद्गुरु का आश्रय किया है और मानता है कि ये ही मेरी भ्रान्ति को छेदनेवाले हैं, ऐसा जानकर वीतराग का लक्ष्य सद्गुरु के समागमपूर्वक किया है - उसका आत्मविचार प्रगट उदयमान हो चुका है, हो रहा है व होगा। परोक्ष जिनेश्वर अनन्त पुरुषार्थयुक्त थे। अत: उनको पुरुषार्थ करना बाकी नहीं है लेकिन पुरुषार्थ करनेवाला वर्तमानकाल का पुरुषार्थ करता है - ऐसे सर्वज्ञ को पहचानकर जो ज्ञानी स्वयं सम्यक्पुरुषार्थ करते हैं, वे ज्ञानी हमारी भूल बताते हैं क्योंकि अपनी भूल सद्गुरु के समागम के बिना अन्य कोई नहीं बता सकता। जिसे वर्तमान प्रत्यक्ष सद्गुरु पर विश्वास आया है, वह **'पुरुषप्रमाण तो वचनप्रमाण'** - इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है और इसीलिये उसे नि:शङ्क श्रद्धा है कि मेरा कार्य पुरुषार्थ द्वारा नि:शङ्करूप से फलित होनेवाला है किन्तु जिसे प्रत्यक्ष धर्मात्मा पर विश्वास नहीं आया और बल्कि परोक्ष जिनवचन पर आधार रखा है, उसे पराधीनता व शङ्काशीलता तो मूल में ही पड़े हैं क्योंकि खुद का पुरुषार्थ फलित होगा या नहीं - उसका भरोसा खुद को

ही नहीं है। प्रत्यक्ष सद्गुरु अपने निमित्त से किसी को परावलम्बी नहीं होने देते। सत्समागम का प्रत्यक्ष फल साधक को (मुमुक्षु को) अपने द्वारा दिखता है, इसलिये शङ्का नहीं होती।

नित्य का उगना नित्यरूप से टिका रहता है। शुभभाव, विभावभाव जो अनित्य है – उसका टिकना पर के कारण से हैं। आत्मज्ञान बिना अयथार्थ विचार उगता है क्योंकि वह पर से उगा है; वह सद्गुरु के लक्ष्य से व स्वाश्रय के भान से जागृत नहीं हुआ। मैं अपने आप से ही हूँ, मेरा पूर्ण पद मेरे से ही प्रगट होगा – ऐसी चुनौती कौन देगा?

जिसे अन्तर में सम्यक्स्फुरणा स्फुरित हो, उसे किसी और से पूछने नहीं जाना पड़ता। पात्रता, समझ, गुरुगण और सत्समागम के बिना शास्त्र पढ़े, विचार करें तो वृथा है। स्वच्छन्दता में रहकर साधकपना माने, फिर ध्यान करे, आँखें बन्द करे तो झपकी लग जाए; आत्मा के विकल्प करे तो राग का कर्ता होकर राग में टिक जाए व राग में परिणमन करे। ध्यान करे तो तरङ्गें उठे, मन को स्थिर करे तो जड़वत् हो जाए – इस प्रकार सब कुछ उल्टा-(पुल्टा) हो जाए। इस स्वच्छन्दता को टालने के लिये जिनकी वर्तमान पुरुषार्थ में स्थिति है – ऐसे सत्पुरुष ही बलवान उपकारी निमित्त हैं। उनका लक्ष्य नहीं हो और परोक्ष जिनेश्वर का उपकार मैंने जाना है – ऐसा मानना, वह समझ की भूल है।

प्रत्यक्ष सद्गुरु ही आत्मभ्रान्ति के छेदक हैं। उनको जानकर, उनकी प्रतीति से तथा खुद की पात्रता से बोधबीज उगता है। साधक का पुरुषार्थ क्या है ? साधक का व्यवहार क्या है ? उस भूमिका के अन्तरङ्गपरिणाम क्या हैं ? इसके पुरुषार्थ का अन्त भी जाने बिना अनन्त पुरुषार्थ का और परोक्ष जिन वीतराग का पता कैसे हो ? स्वच्छन्दी पुरुष को सच्चा पुरुषार्थ विद्यमान नहीं है, सत्पुरुष के प्रति प्रेम नहीं है।

प्रश्न - सद्गुरु तो पर है, निमित्त है। उन पर इतना आधार क्यों और उनका उपकार मानने का कारण क्या ?

उत्तर - भाई रे ! आत्मा को समझनेवाला मुमुक्षु जिसके निमित्त से समझा, उसके प्रति विनयवान होता है। निमित्त जैसा है, वैसा समझकर, स्वच्छन्द मिटाकर,

जो निमित्त के उपकार को स्वीकार करते हैं, वे वास्तव में अपने उपकार को स्वीकार करते हैं। ऐसा सज्जन पुरुषों का व्यवहार है। अपने गुणों की खिलवट हो और उसको बतानेवाले के प्रति उपकारीपने की बहुमानदृष्टि न आये तो वह समझा ही नहीं है। जहाँ सम्यक्विनय खिला, जहाँ अकषायभाव प्रगट हुआ - वहाँ अहंभाव कैसे रहे ? विनयवन्त उपकारी का उपकार गाये बिना नहीं रहेगा। खुद जानता है कि मेरी पात्रता से (मैं) समझा हूँ किन्तु उसमें जो इष्ट निमित्त हैं, उनके गुण का बहुमान आये बिना नहीं रहता।

आम्रवृक्ष जैसे-जैसे फलता है, वैसे-वैसे झुकता जाता है। उस प्रकार आत्मा के गुण खिले, वह स्वच्छन्दता के अभावरूप उपकारी का विनय करेगा ही करेगा।

चार ज्ञान के धनी गणधर मुनि उसी भव मोक्ष में जानेवाले हैं। फिर भी अहो ! प्रभु ! धन्य धन्य ! आपका अनन्त उपकार है ! अपूर्व वचन, धन्य वचन। स्वयं पूर्ण वीतराग न हो, तब तक जो खुद से अधिक गुणवन्त सद्गुरु हैं - उनका विनय शिष्य को आये बिना नहीं रहता। वह विनय-भक्ति स्वयं के हित के लिये है। साधकदशा में शुभविकल्प आये बिना रहेंगे नहीं। पूर्ण स्थिरता हो, वहाँ तथा निर्विकल्पदशा में स्थित होते हैं। वहाँ तो वंद्य-वन्दकभाव भी नहीं है किन्तु साधकदशा है, तब तक सद्गुरु का विनय, आदर दूसरे ज्ञानी साधक भी करते हैं। '**ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजवुं तेह।**' एकान्त नहीं पकड़ना है किन्तु जैसा है, वैसा जानना है। खानदानी पुत्र अपने बाप से यों नहीं कहेगा कि आपको हम पर राग था, इसलिये पालपोषकर बड़ा किया है; इसलिये हम आपका विनय नहीं करेंगे।

सत्पुरुष का विनय - वह परमार्थ से निजगुण का विनय है। प्रत्यक्ष सद्गुरु के उपकार में पूर्व में हुए अनन्त ज्ञानी का, तीनों काल के ज्ञानी का उपकार समा जाता है।

दिनाङ्क - ४-१०-१९३९

आत्मा को (अनादि से) जिसका अनभ्यास है, ऐसा लोकोत्तर शुद्धात्मपरिणति का मार्ग खुद को प्राप्त नहीं है और परोक्ष जिन का उपकार मात्र कथन में गाता रहे अथवा शुभमनोयोग से विचार करता रहे, उससे कोई सम्यक् आत्मविचार नहीं उगता।

अनन्त काल से जो मान रखा है, उसे आत्मविचार नहीं कह सकते, अपूर्वता नहीं कही जाती। ज्ञाता का जो रागरहित अरागीपना है, उस स्वाधीन तत्त्वस्वरूप का जिसने राग की रुचिरहित होकर विचार किया, वही वास्तविक आत्मविचार है। विचारना तो मतिज्ञान का भेद है। अवग्रह माने ज्ञान द्वारा पदार्थ का बोध होना, फिर इहा माने उसका विचार, फिर अवाय माने निर्णय, और धारणा माने निश्चिततापूर्वक ग्रहण करना।

कुज्ञानपूर्वक ज्ञान का परपदार्थ सम्बन्धित व्यापार अनन्त काल से किया है परन्तु उस परभाव में स्थितपनारूप भूल को मिटाकर, विपरीत अभिप्राय छोड़कर शुद्ध आत्मतत्त्व का विचार करना – वह आत्मविचार है। अतः पूर्व में हुए अनन्त पुरुषार्थवाले श्रीमद्भगवन्त कौन थे? उनका वास्तविक शुद्ध आत्मस्वरूप और वीर्य है – वह क्या चीज़ है ? इसकी खबर बिना ही उसका लक्ष्य करते रहे; उनके गुण समझे बिना, सत्समागम बिना रागपूर्वक वीतराग के गाने गाते रहे किन्तु प्रत्यक्ष सद्गुरु का लक्ष्य, परिचय न करे तो उसे आत्मविचार कहाँ से उत्पन्न होगा ?

वर्तमान पुरुषार्थ की अपूर्वता, स्वरूपस्थिति जिनको विद्यमान है, ऐसे सद्गुरु के उपदेश बिना जिनस्वरूप समझ में नहीं आ सकता – ऐसा अब फरमाते हैं :-

सद्गुरुना उपदेश वण, समजाय न जिनरूप;
समज्या वण उपकार शो ? समज्ये जिनस्वरूप।। १२।।

सद्‌गुरु के उपदेश बिन, समझे नहिं जिन-रूप।
समझे बिन उपकार क्या ? समझत हों जिन-रूप।।१२।।

इस सिद्धान्त का हेतु यह है कि धर्मात्माज्ञानी के उपदेश बिना पूर्ण वीतराग स्वरूप का शुद्धआत्मस्वरूप जैसा है, वैसा समझ में नहीं आता।

सद्‌गुरु के उपदेश बिना अपनी स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी मतिकल्पना से, शास्त्र के आधार से अलौकिक परमस्वरूप को ऐसा-वैसा मान लेना और फिर कहना कि तीर्थङ्कर भगवान ने अनन्त उपकार किया है; हम तो उस वीतरागप्रभु की आज्ञा का पालन करते हैं – इस प्रकार कल्पना में राग द्वारा परोक्ष का लक्ष्य करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष सद्‌गुरु का लक्ष्य नहीं है। इसलिये जिनस्वरूप समझे बिना तू माने कि हमने समझा है, तो यह वचन दोषयुक्त है। समझे बिना उपकार किसका ? ज्ञानी ने कहा है कुछ और तू समझता है कुछ। अनन्त काल से नासमझी के कारण तेरा स्वकाल, परभावपने - अज्ञानपने से चला आया है। राग को पैदा करे, रखे – उसे आत्मा नहीं कहा। आत्मा सुखस्वरूप, आनन्दमय, अकषायभावरूप है। उसका भान अनन्त काल से नहीं हुआ। अतः नासमझी में तेरा काल बिता है; अतः प्रत्यक्ष सद्‌गुरु के बिना तेरा आत्मस्वरूप तेरी स्वच्छन्दता से नहीं मिलेगा।

अनादि से परपरिणति का अभ्यास व देहाध्यास है। अतः जिसको जैसा रुचता है, वैसे शास्त्र को, न्याय को, श्रवण को जैसा मन में आया, वैसी खतौनी कर देगा। अतः '**सद्‌गुरु ना उपदेश वण समजाय न जिनरूप;**' – इसमें जिसे प्रत्यक्ष सद्‌गुरु का बहुमान नहीं है, उसे लक्ष्य व प्रतीति नहीं है। आत्मार्थ की प्राप्तिरहित सङ्गत तुझे मिलने पर तेरे अभिप्राय की पुष्टि मिल जायेगी। जो अपने आप से अनजान है, नासमझ रहकर भटका है और उसी भाव से वीतराग के गुण गाता है किन्तु वीतराग ने परमार्थ क्या कहा है ? – वह समझे बिना इसे उपकार माना नहीं जा सकता। नासमझी से तू अपनी औंधी दृष्टि द्वारा अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ का आंशिक भी नाप निकाल नहीं सकता। स्वच्छन्दता से समझना चाहे तो समझ नहीं सकता। शुभक्रिया, शुभभाव तो मोहकर्म के उदयवाला राग है। उससे अरागी, निर्मल आत्मा कैसे प्रगट हो ? प्रगट हो ही नहीं सकता।

देव, गुरु, धर्म भी वीतराग हैं। वे राग द्वारा कैसे जानने में आये ? इसलिये कहते हैं कि **'समज्यावण उपकार शो ? समज्ये जिनस्वरूप।'** तू यदि समझे, तो तेरा वीतरागस्वरूप तेरे से प्रगट हो। अकषायभाव की रुचि होने पर, समझनेवाले का आत्मा फलत: जिनदशा को प्राप्त होता है। अन्तरस्वभाव से तो स्वाधीन तत्त्व – जैसा है, वैसा समझने पर लाभ होगा।

पहले तो शब्द याद रखे थे। उसके बजाय निर्दोषतापूर्वक अन्तरस्वभाव की ओर सच्ची दृष्टि करके ज्ञानी की प्रत्यक्ष प्रतीति द्वारा स्वआत्मा प्रति आदर हुआ; इसलिये अपने अतीन्द्रियपुरुषार्थ के फलस्वरूप स्वयं जिन यानी वीतरागदशा को प्राप्त करता है। अत: गुरुगम व प्रत्यक्षज्ञानी के बिना शास्त्रों के गहरे न्याय की गुत्थी स्वच्छन्दतापूर्वक तो सुलझ नहीं सकती।

भगवतीसूत्र में (१) आयारम्भी, (२) परारम्भी, (३) तदुभयारम्भी, (४) अनारम्भी – इस प्रकार चार बोलों के बारे में पहले सम्प्रदाय में चर्चा होती थी। उसका वे उपदेशक गलत अर्थ करते थे।

लोगों में (सम्प्रदाय में) चलता था कि अशुभयोग माने आयारम्भी, परारम्भी और तदुभयारम्भी तथा शुभयोग माने अनारम्भी। श्रीमद् के सामने यह प्रश्न हुआ, तब उन्होंने जैसा है, वैसा सही न्याय बता दिया था यानी शुद्धभाव को अनारम्भी कहा था किन्तु अपने झूठे आग्रहवाले जीव समझ नहीं सकते।

बहुत से लोग शुभयोग को संवर-निर्जरा मानें और कहें कि बस ! भगवान ने कहा है कि अनारम्भी माने ज्ञानी और हम पाप नहीं करते हैं; अत: शुभयोग माने अनारम्भीपना, धर्मीपना है। इसका अर्थ श्रीमद्जी ने विचक्षणतापूर्वक किया था कि इस जगह शुभ माने आत्मा का स्वाभाविक सहजभाव है, वह पवित्र पारिणामिकभाव है। ऐसा कहकर शुभ को इस अपेक्षा से अनारम्भी कहा था क्योंकि आध्यात्मिकभाषा में शुद्ध को पवित्र, शुभ कहा है और पुण्य-पाप रहित शुद्ध पारिणामिकभाव से आत्मा ज्ञाता, अक्रिय, सिद्धभगवान समान है। उस पारिणामिकभाव को अनारम्भी स्वभाव मानना – उसे यहाँ शुभ कहा है। यह तत्त्व की यथार्थदृष्टि है। इस प्रकार सही न्याय समझे बिना लोग मन, वाणी, शरीर के शुभराग को ही धर्म मानते हैं।

आत्मा के शुद्धस्वभाव को अशुद्ध करनेवाले राग को शुभ (उपादेय) कैसे

कहा जाए? कई जीव बिना समझे ही शास्त्र के अर्थ न्यायविरुद्ध व उल्टे कर लेते हैं। पापपरिणाम नहीं करने लेकिन पुण्यपरिणाम तो करने लायक है। शुभराग से संवर, निर्जरा, धर्म होते हैं; अनारम्भीपना होता है - ऐसा माने और कहे कि हम वीतराग की आज्ञा मानते हैं। इस प्रकार वीतराग के नाम से उल्टे गाने गाता है, वह राग की भक्ति कर रहा है। मोहभाव को अनजाने में शुद्धभाव मान लेता है। अनजानपना ही भूल है। भूल माने अज्ञान। अज्ञान कोई बचाव का कारण नहीं है।

वीतराग भगवन्तों ने आत्मस्वरूप प्रगट होने की शुद्ध पारिणामिक स्वाभाविकदशा को अनारम्भीदशा माने पुण्य-पाप रहित शुभाशुभ रागरहित पारिणामिकदशा कहा है। इस प्रकार शास्त्रों के अनेक गूढ़अर्थ न्यायसहित समझे बिना सच्चा उपकार कैसे हो ?

वीतराग ने शुभभाव को इस स्थान पर अनारम्भी कहा है; वह अध्यात्मदृष्टि से कहा है। इसके बजाय वीतराग के नाम से लोग मुफ्त में सस्ता माल लेकर बैठ गये हैं कि शुभयोग से चारित्र व निर्जरा होती है। हम त्यागी हैं, चारित्रवान हैं किन्तु वह शुभराग कहाँ से उत्पन्न होता है ? इसकी खबर नहीं है। शुभपरिणाम हैं, वे मन सम्बन्धित राग हैं; वे शुभराग, पुण्यपरिणाम औदायिक भाव हैं; मोहकर्म का फल हैं, विकारीभाव हैं; आत्मा का भाव नहीं हैं। इसे समझे बिना शुभराग को, पुण्यपरिणाम को धर्म माने, चारित्र माने - वह प्रत्यक्ष मिथ्याभाव है। इस प्रकार ज्ञानीगुरु के आश्रयपूर्वक वीतराग के शास्त्र समझे बिना जीव का क्या उपकार हो ? इसके लिये श्रीमद्जी ने बारम्बार कहा है कि स्वच्छन्द, मान व मताग्रहियों को आत्मस्वरूप में स्थिर होने का अवसर प्राप्त नहीं होता। अत: प्रत्यक्ष सद्गुरु का माहात्म्य कहा है :-

'सद्गुरुना उपदेशथी, समजे जिननुंरूप।
तो ते पामे निजदशा, जिन छे आत्मस्वरूप।।
पाम्या शुद्ध स्वभावने, छे जिन तेथी पूज्य।
समजो जिनस्वभाव तो, आत्मभाननो गुज्य।।'

इसलिये कहा कि वीतरागस्वरूप क्या है और उनके वचन का आशय क्या

है ? वह गुरु के समीप, गुरुगमपूर्वक समझे बिना क्या उपकार हो सकता है ? अतः सद्‌गुरु के उपदेश से जो सर्वज्ञ पूर्ण वीतराग हो गये, उनका स्वरूप समझे, वह अपने स्वरूप की दशा को प्राप्त करे क्योंकि शुद्धात्मा, वही जिन का स्वरूप है। शक्तिरूप से तो सभी जीव सिद्ध समान हैं किन्तु जो यह बात समझे, वही प्रगटरूप से जिनेश्वर हो सकता है और यह सद्‌गुरु के उपदेश बिना व अपनी पात्रता के बिना समझ में नहीं आता। अतः उन जिनेश्वर को जाननेवाले वर्तमान में उस प्रकार के पुरुषार्थयुक्त सद्‌गुरु के भाववचन द्वारा मुमुक्षुजीव को निजपद समझ में आता है।

जिसने आत्मा को जाना, उसने सब जाना। जिनपद को परमार्थ से निजपद कहा है। अतः जो यथार्थरूप से तत्त्वस्वरूप गुरुगम से समझे, वह अपनी स्वाभाविक शुद्धदशा को पायेंगे। शुद्ध, पवित्र, वीतरागदशा श्रीजिन का स्वरूप है। उसे अपनी पात्रता द्वारा द्रव्य, गुण व पर्याय से जो जानते हैं, वे निश्चय से अपना आत्मपद जानते हैं। जैसा राग, द्वेष और अज्ञानरहित जिनेश्वर का स्वरूप है, ऐसा पद शक्तिरूप से हमेशा सभी जीवों का है। ऐसा श्रीसद्‌गुरु से समझकर यथार्थरूप से ग्रहण करे तो मुमुक्षु को जैसा है, वैसा समझ में आता है। अतः शास्त्र में गुरुआज्ञा का माहात्म्य किया है। सद्‌गुरु की महिमा, बहुमान व आदर – ये निश्चय से तो अपने गुणों का आदर हैं।

एक दृष्टान्त है कि माँ-बाप, सेठ व गुरु - तीनों का ऋण लौकिक उपकार द्वारा नहीं दिया (चुकाया) जा सकता किन्तु परमार्थपद प्राप्त कराने से ही ऋण चुकाया जा सकता है। खानदान, विनयवन्त ऐसा नहीं बोलते कि हमारे पुण्य थे और आपका स्वार्थ था, इसलिये आपने हमें सुख-सुविधा दी, पाल-पोषकर बड़ा किया। इसमें आपका उपकार किस बात का ? ऐसा खानदान का सुपुत्र नहीं कहेगा। यहाँ यों कहना है कि माँ-बाप को धर्मप्राप्ति कौन करवायेगा ? जब स्वयं धर्मप्राप्ति करे तब न ? खानदानी पुत्र का कर्तव्य है कि वह माता-पिता को धर्मप्राप्ति कराये। इस प्रकार सेठ ने प्रथम उपकार किया हो, उसका प्रत्युपकार करनेवाले नौकर से लौकिकलाभ का बदला लौकिकरूप से कभी हो नहीं सकता किन्तु लोकोत्तर लाभ से ऋण अदा किया जा सकता है। स्वयं धर्म प्राप्ति करे तो वह माता-

पिता तथा सेठ को आत्मधर्म की प्राप्ति करवाकर परम सन्तोष दिलवा सके। इस प्रकार श्रीसद्गुरु से स्वयं आत्मधर्म समझा है। उनके उपकार का ऋण वापस अदा करने का प्रसङ्ग न भूले। **१२.**

अब, कहते हैं कि जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरु का योग न हो, वहाँ क्या करना? इसके लिये शास्त्र सुपात्र जीव के लिये आधाररूप हैं। ये शास्त्र किस तरह से प्रामाणिक होने चाहिए? कौन पढ़ सकता है? किस प्रकार से पढ़े ? कैसा आदर होता है ? इत्यादि विधि निषेधपूर्वक समझाते हैं।

आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र;
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहि, त्यां आधार सुपात्र।।१३।।

आत्मादि अस्तित्व के, जो हैं निरूपक शास्त्र।
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहिं, तब आधार सुपात्र।।१३।।

सर्वज्ञ जिनेश्वरप्रणीत आगमशास्त्र जो सुपात्र जीव होता है, उसको आधाररूप बन जाते हैं किन्तु वे प्रत्यक्ष भ्रान्ति के छेदक नहीं हैं। लेकिन जो जीव आत्मार्थी है, तीव्र आत्मार्थ का कामी है तथा सद्गुरु की आज्ञा शिरसावंद्य रखकर वर्तता है, गुरु के विरह में गुरुआज्ञा हृदय में रखता है, उसे सुपात्र कहा है। इस गाथा में प्रामाणिक शास्त्रों की व्याख्या की है। आत्मा है, इसके अलावा जड़पदार्थों की विद्यमानता है। वे सत् माने त्रिकाल हैं। यथार्थरूप से सनातन दो पदार्थ व उनकी विद्यमानता अनादि -अनन्तरूप से है। परलोक है, संयोग-वियोग भी हैं और उन जड़तत्त्वों से भिन्नत्व है एवं मोक्षस्वरूप मुक्तदशा भी है। इन दोनों के संयोग से जीव की वर्तमानदशा में भूल भी है। वह रागी-द्वेषीपना पर के निमित्त से है। कोई तत्त्व अपने कारण से अशुद्धदशा में नहीं हो सकता। अत: जीव की पर के निमित्त से अशुद्धदशा है। लोग कहते हैं कि दूसरा तत्त्व नहीं है, भ्रान्ति है – किन्तु वैसा नहीं है। अत: जिस शास्त्र में जीव, अजीव आदि दो तत्त्वों का यथार्थपना

हो, सर्वज्ञ जिनेश्वरप्रणीत आगमशास्त्र हों, उन्हें प्रामाणिक मानना। पुनश्च, ये लोक, परलोक हैं, यानी आत्मा से परभावरूप विपरीत मान्यता में टिके रहने के कारण राग, द्वेष, अज्ञानमय जड़भाव के, अध्यवसाय के कारण विचित्र कर्मफल भोगने के अनेक स्थानक, परलोकादिक हैं, पुनर्जन्म है और राग, द्वेष, अज्ञानरहित शुद्धदशा पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त हो सकती है, इत्यादि प्रमाण हैं। आगे बढ़ें तो सब कुछ है। वह जैसा है, वैसा समझ में आ जाता है।

जो-जो जीव स्वच्छन्दतापूर्वक शास्त्र पढ़ते हैं, वे जीव शास्त्रों की भूल-भुलैयों में भटक जाते हैं। जिसकी पहचान के लिये इस गाथा में कहा गया है कि जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरु का योग न हो, वहाँ मुमुक्षुजीव को ऐसे शास्त्र पढ़ने-विचारने चाहिए कि जो सर्वज्ञ-वीतराग, यानी जिनके राग-द्वेष, अज्ञान सर्वथा मिट गये हैं और साधकदशा में से पूर्णदशा प्राप्त हैं, ऐसे पुरुषों द्वारा प्ररूपित हों। पदार्थरूप से जगत में आत्मा व जड़ आदि के अस्तित्व का जिसमें अविरोध कथन हो, ऐसे शास्त्रों का आधार सद्गुरु की अनुपस्थिति में लिया जाता है। फिर भी प्रत्यक्ष सद्गुरु से तो शास्त्रों का कोई मुकाबला ही नहीं है; शास्त्रों की किञ्चित् भी अधिकता नहीं है।

एक शिष्य १००० पृष्ठ की एक पुस्तक पढ़ता था। केवल डेढ़ पंक्ति पढ़ने की बाकी थी। उतने में श्रीगुरु ने उसे बुलाया। शिष्य ने थोड़ा धीरे-से अनुत्साहपूर्वक उत्तर दिया कि इतना पूरा करके आ रहा हूँ। उसे वर्तमान चैतन्यमूर्ति क्या लाभ देगी, उसका माहात्म्य नहीं आया। बस, यही खुद की बड़ी भूल क्योंकि शिष्य को ऐसा भाव आया कि इसमें से कुछ जान लूँ। इस भूल के कारण प्रत्यक्ष चैतन्यरूप श्रीगुरुभगवान क्या लाभ देंगे, उसका लक्ष्य नहीं रहकर, उसे डेढ़ पंक्ति का लक्ष्य रह गया। अत: परमार्थ से तो उसे अपने स्वरूपलाभ की असावधानी है। अक्षर में से ज्ञान नहीं आता, इसका उसे भान होता तो विलम्ब किये बिना ही उत्साहपूर्वक 'जी प्रभु' कहकर शीघ्र खड़ा हो जाता। इस प्रकार बहुत से जीव सत्स्वरूप सत्पुरुष जो जागृत ज्योतिरूप वर्तमान में पुरुषार्थवन्त हैं, उनका परम उपकारी लक्ष्य को चूककर, पर निमित्त में अटक जाए व स्वरूप की सावधानी और गुरुआज्ञा की जिम्मेदारी का भान न रखे तो उसे आत्मस्वरूप की पारिणामिकदशा की प्राप्ति कैसे हो ? अत: सत्पुरुष की महिमा, भक्ति, विनय आदि का वर्णन शास्त्रों में

बहुत आता है।

यहाँ तो प्रत्यक्ष सत्पुरुष का अमुक काल तक विरह जिसको हो, ऐसे मुमुक्षु को कौन से शास्त्र पढ़ने – वह विषय है। आगे कहा गया है कि आत्मा सत्स्वरूप अकेला स्वाधीन है, है; वह नित्य है, है; वह पररूप नहीं है, परभावरूप रागरूप नहीं है; इत्यादि अविरोधी न्याय कथन जिसमें हैं, ऐसे शास्त्र जीव को तब उपकारी हैं कि जब प्रत्यक्ष सत्पुरुष का निमित्त (उपलब्ध) न हो। ऐसे प्रसङ्ग पर अपनी पात्रता में, योग्यता में सुशास्त्र निमित्त है किन्तु ११वीं गाथा में बताया कि कोई मोही जीव प्रत्यक्ष प्रगट पुरुषार्थवाले श्रीगुरु का उपेक्षक होकर पन्ने में (शास्त्रादि में) अटक जाए तो उसे आत्मा की यथार्थरुचि नहीं है। चैतन्य का जो आदर चाहिए, उसके बजाय (निश्चय से तो वह अपना आदर ही भूला है) उसे जड़ का आदर है, राग का आदर है। अत: वह राग की भक्ति करता है।

आत्मार्थी लायक जीव, सत्पुरुष के विरह में ऐसा चिन्तवन करे कि प्रत्यक्ष सत्पुरुष का योग कब मिले ? ऐसे अपूर्व अवसर की भावना भाते हुए वर्तमान में सर्वज्ञकथित शास्त्रों को, सद्‌गुरु की अनुपस्थिति में उनकी आज्ञा समझकर विवेकपूर्वक सच्चे सुख का कामी अविरोधरूप से तत्त्वसाधन करता है। सुपात्र जीव को सत्शास्त्र का आधार इसलिये कहा कि उसके निमित्त से जीव पुरुषार्थ बढ़ाता है। वह यह भी सोचता है कि इस कथन में वस्तु भावस्वरूप से है या नामरूप में है या स्थापनानिक्षेप से है या द्रव्यनिक्षेप से है ? जिस-जिस नय से, जिस-जिस प्रमाण से, निश्चय-व्यवहार से, परमार्थ से जो न्याय, जहाँ-जहाँ योग्य है, उसे वहाँ यथास्थान में समझे। आत्मा केवल शुद्ध ही है, ऐसा भी नहीं। द्रव्यस्वभाव से शुद्धता व पर्याय से अशुद्धता जाने। अशुद्धता मिटाने के लिये परमार्थ करे और राग को मिटाकर ज्ञानदशा का पुरुषार्थ बढ़ाने का प्रयोजन साधे। अभेददशा में न पहुँचे, तब तक शास्त्र अभ्यास, स्वाध्याय आदि करता है।

लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप इत्यादि आत्मा का निर्णय करने के तथा साधकदशा में ज्ञान की विशेष निर्मलता के साधन हैं किन्तु उसका आधार प्रत्यक्ष सद्‌गुरु न हो तभी तक जानकर, उस अपेक्षा से उनका (शास्त्रों का) आदर होना चाहिए। धर्मात्मा को श्रुतभक्ति करनी चाहिए। उसमें शास्त्रादि का बहुमान करने को कहा

है क्योंकि ये शास्त्र सत्पद प्ररूपणा का आधार हैं, उसमें '**उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्**', अस्तिपद के प्ररूपक यथार्थतत्त्व का निरूपण है। वे ऐसा प्ररूपण करते हैं कि आत्मा है, है; वह पररूप नहीं है किन्तु है। वह स्वपने से है। वही स्वयं से टिककर बदलता है।

शिष्य जिस भूमिका में खड़ा है, उस संसारदशा को पलटाकर मुक्तदशा करनी है। अत: शास्त्र किस प्रकार से प्रयोजनवान हैं, वह प्रत्यक्ष सद्गुरु हो तो समझाये और भूलदशा को पलटकर भूल सुधारे। कई जीव पढ़ते हैं किन्तु खुद में किस प्रकार की पात्रता चाहिए और समझने की (विधि) कला किस प्रकार से है, उसका अनुभव चाहिए, जो उनको होता नहीं है।

श्रीमद्जी ने भी कहा है कि प्रत्यक्षज्ञानी की सन्मुखता में समझने पर जीव अपनी नासमझी के दोष जैसे हैं, उस प्रकार से समझ सकता है। जो शास्त्र यथार्थ तत्त्व का निरूपण करता है, वह शास्त्र सुपात्र जीव को लाभ का निमित्त है। दृष्टि की भूल निकल जाने के बाद कोई भी शब्द या शास्त्र प्राय: अहित का कारण नहीं बनता किन्तु जिसकी सच्ची दृष्टि नहीं हुई है, उसे किसी भी शास्त्रों में से आत्मा-विषयक भ्रान्ति हो जाती है। अत: अपरिपक्व विचारवालों को तो केवल सत्शास्त्रों का ही अवलोकन करना चाहिए। यहाँ पर सुपात्रजीव को शास्त्र आधाररूप कहे हैं किन्तु प्रत्यक्ष सद्गुरु की महिमा शिरोधार्य रखें तो ही वे आधाररूप हैं। यहाँ आधार की बात की, वह भी उपचार से है। वास्तव में आधार तो ध्येय, पूरा आत्मा है और उसकी ओर का झुकाव है। संसार की इच्छा, संसारभाव छोड़कर नित्य विचारणा व तत्त्वस्वरूप का मनन करने का यहाँ कहा है।

जिसका आधार माना, उसकी हीनता या अनादर कैसे होने दें ? संसार का प्रेम मिटाकर पहले संसार पर जो प्रेम था, उससे उत्कृष्टप्रेम सत्पुरुष के प्रति होना चाहिए। उस प्रेम (शुभराग) को भी आदरणीय नहीं माना। इष्ट निमित्त जीव के उपादान का झुकाव बताता है। सद्गुरु के प्रति हृदय में जो उत्कृष्ट प्रेम, आदर है; वही निश्चय से अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रेम है। इस कारण से श्रीसद्गुरु भगवन्त तथा उनके न्याय, अध्यात्म आदि प्रामाणिक शास्त्रों का प्रेम आत्मार्थी को होता ही है। **१३.**

अब, सत्पुरुषों ने निष्कारण करुणापूर्वक एकान्त आत्मा के हितार्थ जो सत्शास्त्रों की रचना की है, उनका अवगाहन किस प्रकार करना – यह बताते हैं। उसमें बहुत गम्भीर अर्थ समाया हुआ है।

अथवा सद्गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज;
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज।।१४।।

अथवा सद्गुरु ने कहे, जो अवगाहन कार्य।
उनको नित्य विचारना, छोड़ मतान्तर त्याज्य।।१४।।

धर्मात्मा सद्गुरु ने कहा कि अमुक शास्त्र पढ़, तो उसका बहुत माहात्म्य आना चाहिए और सर्वज्ञ भगवान के न्याय के गहरे गम्भीर रहस्य भरे हैं, उन्हें गहरायी में जाकर समझना चाहिए। जिस प्रकार समुन्दर में मोती लेने के लिये लोग गहरायी में उतरते हैं, वहाँ मगरमच्छ, मत्स्य तथा पानी के तूफान को सहन करके भी अन्दर डुबकी लगाते हैं; उस प्रकार शास्त्र के तात्पर्य का अवगाहन करता है। इसका अर्थ यह है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवन्त, आचार्य तथा गणधर आत्मतत्त्व के बारे में क्या कहना चाहते हैं, वह अपने ज्ञान द्वारा स्वालम्बनपूर्वक गुरुआज्ञा को यथार्थरूप में समझकर गहन न्यायों का गम्भीरभाव से विचार करता है। विरोधी मान्यता को मिटाकर प्रथम यही समझना है कि जीव से क्या हो सकता है और क्या नहीं हो सकता; क्या हो रहा है और क्या मानता है। स्वयं हर समय किस रूप से है, उसका यथार्थ निर्णय किये बिना शास्त्र पढ़े, सुने और 'मैं सही कर रहा हूँ' – ऐसा माने – यह सब वृथा है। आत्मा स्वगुण में सब कुछ कर सकता है किन्तु संसार, देहादि परवस्तु या परगुण में (परमाणु में) किसी प्रकार से कुछ भी कदापि नहीं कर सकता। यह महानियम प्रथम समझना चाहिए।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ५-१०-१९३९

नववीं गाथा में सद्गुरु के आश्रय के विषय में कहा; १०वीं गाथा में सद्गुरु के लक्षण कहे; ११वीं गाथा में कहा कि प्रत्यक्ष सद्गुरु के लक्ष्य बिना परोक्ष जिन का स्वरूप समझ में नहीं आता और आत्मविचार का यथार्थपना नहीं होता; १२वीं गाथा में कहा कि सद्गुरु के उपदेश से जिनस्वरूप समझ में आता है; १३वीं गाथा में शास्त्र के लक्षण का वर्णन किया कि पूर्वापर विरोधरहित आत्मा है और अन्य पदार्थ भी हैं, अनन्त जीव व अनन्त जड़ पदार्थ हैं, उनका अस्तित्व है। इस प्रकार अस्तित्वपना दिखानेवाले सर्वज्ञवीतराग के शास्त्र ही प्रामाणिक हो सकते हैं और कहा कि सद्गुरु का योग न हो, वहाँ सुपात्रजीव को वे शास्त्र आधारभूत हैं।

१४वीं गाथा में कहा कि शिष्य की शङ्का का समाधान करने हेतु वैराग्य आदि के कोई ग्रन्थ पढ़ने के लिये सद्गुरु कहे तो उन ग्रन्थों का अवगाहन करना। सद्गुरु ने कहा हो उसमें शिष्य के हित का हेतु सद्गुरु के हृदय में होता है। शङ्का-भूल टालने के लिये सद्गुरु कौन-कौन से ग्रन्थ पढ़ने के लिये कह रहे हैं, उसके पीछे क्या आशय है? – उस आशय को समझने के लिये, अन्दर प्रवेश करने के लिये शास्त्र का विशेषरूप से अवगाहन करने का कहा है। अत: उन ग्रन्थों का अवगाहन करने में खुद किसी विरोधवाली एकान्त बात में अटक गया हो तो ज्ञानीपुरुष का आशय समझ सकता है कि मैं अमुक बात में अटक गया था।

सूक्ष्म भूल मिटानी हो तो सत्समागम व विनयसहित शास्त्र का नित्य अवगाहन, विचार व गहरा मनन करना चाहिए।

गणधर सरीखे महामुनि सन्त जो कि चार ज्ञान के धनी हैं, तद्भवमोक्षगामी हैं, वे भी शास्त्रों का अवगाहन करते हैं, स्वाध्याय करते हैं। अत: प्रत्येक जीव को शास्त्राभ्यास किस प्रकार करना, यह बताते हैं। पढ़नेवाले की बहुत जिम्मेदारी है क्योंकि ग्रन्थकार आचार्य का पेट (आशय) क्या है, इस वाचक शब्द का वाच्य क्या है, उसका विचार न्याय में प्रवेश करके समझना है। अत: गहरायी में जाकर

मध्यस्थतापूर्वक नित्य विचार करना चाहिए किन्तु यदि अपनी मति-कल्पना से स्वच्छन्दतापूर्वक पढ़ डाले तो उसका फल विपरीत आयेगा; (या तो) अपनी मनपसन्द एकान्त बात पकड़ लेगा या फिर क्रियाजड़ हो जायेगा अथवा शुष्कज्ञानी होकर कहेगा कि सभी शास्त्र कह रहे हैं कि आत्मा शुद्ध ही है – **शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति, सुखधाम** बस ! यह समझ में आ गया है और बन्ध मोक्ष तो कल्पना है; जीव में भ्रान्ति नहीं है; संसार तो था ही नहीं; जड़ भी नहीं है और आत्मा में भूल भी नहीं है। इस प्रकार एकान्त पकड़कर स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवर्तन करेगा। (जो) रागादि कषाय में, मोहावेश में रहे और मुख से ज्ञानमात्र के शब्द मन द्वारा धारण करके रखे या बोले (तो), उसे सत्शास्त्र (के अभ्यास) का कोई फल नहीं मिलता। सभी ज्ञानियों के उपदेश का सार यह है कि निज शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय से ही कल्याण है। आत्मा शुद्ध है किन्तु वह किस दृष्टि से है, उसकी समझ बिना 'शुद्ध हूँ' – इतने नाममात्र को पकड़ रखे तो वह अशुद्धता में प्रवर्तन करता है।

जो स्वच्छन्दता टालकर निर्दोष वीतराग भगवन्तों के भाववचनों का आशय क्या है? – उसे समझे, गहरायी से विचारे और अन्दर से सही न्याय निकाले कि सभी जीव शक्तिरूप से द्रव्यस्वभाव से मात्र शुद्ध हैं किन्तु खुद की वर्तमान अवस्था स्वयं की भूल के कारण से मलिन है, उस मलिनता व भूल से रहित एकदम शुद्धस्वरूप की प्राप्ति जीव यथार्थ पुरुषार्थ द्वारा कर सकता है। इस न्याय से एक बात भी यथार्थरूप से, शास्त्र के न्याय का गहरायी से अवगाहन करके, विरोध को मिटाकर यदि जीव समझे तो सारे प्रमाणिक पहलुओं की सन्धि उसे अन्दर में बैठती जायेगी।

बहुत से जीवों को सुख व सत्य की लगनी होने के बावजूद भी नित्य, सहज, आनन्दस्वरूप का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह है कि उन्हें स्वरूप की भ्राँति है। वे लोग सोचे-समझे बिना रट लेते हैं। हमेशा पढ़ते हैं किन्तु उन शब्दों का भावार्थ क्या है ? – उसकी खबर ही नहीं होती। फिर भी अपनी चलाते जाए और अपने स्वच्छन्द को ठीक समझें – उसे स्वरूप की भ्राँति मिट नहीं सकती। ऐसा व्यक्ति साधुवन्दना का आश्रय लेता हो, आनुपूर्वी गिनता हो, **'नमो अरिहन्ताणं'** आदि रट लेता हो किन्तु सोचे नहीं कि मैं जिनका स्मरण करता हूँ, उनका स्वरूप

क्या है ? इससे मुझे क्या लाभ होता है ? क्या मैं उस राग में टिका हूँ ? यह तत्त्व किस प्रकार प्रगट हो सकता है ? मुझे मेरी व पर की पहचान किस प्रकार से है ? अपूर्ववस्तु प्राप्त करने की कला कौनसी है ? मैं जो कर रहा हूँ, मान रहा हूँ – वह सही है या नहीं ? इसका विचार विवेकपूर्वक करना जिसे नहीं आता हो तो वह आगे कैसे बढ़ेगा ? क्रिया को अपनी करना चाहता है। उसका नित्य अभ्यास होने के बावजूद भी वर्तमान में उसका कोई फल नहीं आ रहा तो उसका बाद में फल कैसे आयेगा ? इतनी बात भी लोग सोचते नहीं हैं।

लोग श्रद्धा को धर्म कहते हैं किन्तु श्रद्धास्वरूप तो आत्मा है और उसका प्रत्यक्ष वर्तमान में भी लाभ हो सकता है। पहले ओर कुछ कर लें और फिर आत्मज्ञान होगा – ऐसा नहीं है। इसलिये कहा कि सत्शास्त्रों का नित्य विचार करना, यथार्थ न्यायपूर्वक उनका अवगाहन करना किन्तु किस शर्त के साथ ? कि '**करी मतान्तर त्याज**' यानी स्वच्छन्द का त्याग करके, विरोध मिटाकर, समझने के लिये विचार करना। ऐसे नहीं होना चाहिए कि उससे (लाभ के बजाय) नुकसान हो जाए व स्वच्छन्द का पोषण हो। तत्त्व का अभ्यास अनादि से जीव को अनजाना है। उसका यथार्थ निर्णय करने में देर हो, उसमें कोई दिक्कत नहीं है। किन्तु गलत निर्णय हो न जाए, यह विचारना और जो सही है, उसे समझना चाहिए। किन्तु छह महीने तक विचार करके – 'भैंस के सींग में माथा घुसेड़नेवाले मूर्ख मनुष्य' – जैसा नहीं बनना चाहिए।

आगे कहा कि अविरोध तत्त्वनिरूपक शास्त्र को यथार्थ समझकर शास्त्र में प्रवेश करना। मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? तथा आज तक जो माना है, उससे अलग होकर, मध्यस्थरूप से न्यायदृष्टि से विचार करे तो लाभ होवे। किन्तु कुलधर्म को सार्थक करने के हेतु से, मान-बड़प्पन हेतु पढ़े तो उसे सफलता नहीं मिलेगी। जो मान पाने हेतु या पण्डिताई हेतु पढ़े, उसने (तो) शास्त्राभ्यास का वृथा भार उठा रखा है। स्वयं शास्त्राभ्यास करता हो। उसमें यदि लोकरञ्जन का हेतु हो या गहराई में मान पाने का हेतु हो, फिर भी खुद माने कि मैं धर्म करता हूँ और धर्म की प्रभावना का मेरा हेतु है तो उसे खुद को परमार्थ आशय का यथार्थभान नहीं है। अत: वह जो कुछ करता है, उससे अज्ञान की पुष्टि ही होती

है।

ज्ञानी के वचन के पीछे छिपा परमार्थ कैसे समझ लेना – इस बारे में धन्ना सार्थवाह का दृष्टान्त है : एक धन्ना सार्थवाह नाम के गृहस्थ थे। उन्होंने उझिया, भोगवती, रखिया व रोहिणी नाम की अपनी चार पुत्रवधुओं को पाँच-पाँच कमोद (चावल) के दाने दिये और कहा कि 'ये दानें मैं माँगू तब वापस देना।' शब्द चारों को एक से कहे किन्तु उसके भाव का अर्थ चारों पुत्रवधुओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से किया। उसमें एक ने तो दाने फैंक दिये, दूसरी खा गयी। उन दोनों ने ऐसा माना कि जब माँगेंगे तब घर में से दे देंगे। तीसरी ने दाने सँभालकर रख लिये और चौथी ससुरजी का पेट (आशय) समझ गयी और बोने के लिये मायके भिजवाये। यह छोटीवाली चौथी बहू ने एक ही क्षण में सच्चा निर्णय निःशङ्करूप से कर लिया था। ससुरजी ने पाँच साल बाद परिवार के सभी सदस्यों को इकट्ठा करके, उन चारों बहुओं के मायकेवालों को घटना बताकर उनसे न्याय करवाया। ससुरजी का आशय समझनेवाली छोटी बहू ने कहा कि कमोद के पाँच दाने चाहिए हों तो बैलगाड़ियाँ मँगवाओ। यह सुनकर उसे बहुत समझदार व आशय समझनेवाली सुलझी हुई बहू समझकर उसे घर की पूरी सत्ता सौंप दी। जिसने दाने फैंक दिये थे, उसे झाड़ने-झुड़ने का काम और जो खा गयी उसे रसोई का काम सौंप दिया। जिसने सँभालकर रखे, उसे भण्डार की चाबी सौंप दी।

यहाँ ऐसा कहना है कि सर्वज्ञ भगवान के कहे गहरे शास्त्रार्थ समझने के लिये कितनी तैयारी चाहिए। सर्वज्ञकथित शब्दों का आशय प्रथम समझना चाहिए। जिस किसी जीव ने सर्वज्ञ के कथन का भावार्थ (आशय) समझ लिया और निःशङ्कतापूर्वक निर्णय करके उसके भाव तक पहुँच गया, उसे स्वाधीनता मिलती है। अतः यहाँ गाथा में कहा है कि सद्‌गुरु ने जो-जो शास्त्र, लायक शिष्य को अवगाहन हेतु कहे हों, उन शास्त्रों का अपना स्वच्छन्द व मत का त्याग करके नित्य विचार करना चाहिए। (जो) अपने कुलधर्म आदि के मतान्तर के आग्रह का त्याग करते हैं, वे निर्दोष वीतराग का आशय क्या है – वह उन शास्त्रों में से सच्चे न्याय द्वारा निकाल सकते हैं और सर्वज्ञ के पेट की बात (भावार्थ) और खुद की समझ का आशय बराबर है – ऐसा निःसन्देह कह सकता है, उसका

अन्तर गवाही देता है। किन्तु जिसने स्वच्छन्द, मानादि कम नहीं किये – उसे स्वरूप के बारे में शङ्का रहा करेगी और उसको सच्चा पुरुषार्थ नहीं उठेगा। लेकिन जिसने विरोध मिटाकर व स्वच्छन्द मिटाकर पुरुषार्थ किया है, उसे क्या करना? क्या सही होगा? – ऐसी उलझन नहीं होगी।

जिस प्रकार भोजन में दाँतों तले कंकड़ आने पर निकाल दे, उस प्रकार तत्त्व में कुछ भी विरोध आये तो भेदज्ञान द्वारा मिटा दे। यहाँ तो जिम्मेदारी सौंपकर कहा है कि शास्त्र पढ़ने में तेरे सब कुतर्क, पूर्वाग्रह को मिटाकर स्वच्छन्द, मानादि रहित हो जा, तभी आत्मार्थ प्राप्त सकेगा। तीनों काल के ज्ञानी यही कहते हैं।

एक सत्पुरुष के पास एक वेषधारी मुनि आये। उन्होंने उपदेश सुना और उन्हें जँचा। इसलिये कहा कि (आप) मुझे अपने चरण में, आश्रय में रखो। श्रीगुरु ने शर्त रखी कि बारह माह तक घूम-घूमकर जहाँ-जहाँ तुझे मान मिला हो, उन सब जगह कहकर आ कि मैंने जो उपदेश दिया था, वह गलत प्ररूपणा थी। मुनि ने कहा 'यह मुझसे नहीं होगा, अन्य कुछ भी कहो।' गुरु ने कहा कि 'तेरी सारी मान्यता पर चौकड़ी लगा दे। स्वच्छन्द का त्याग किये बिना या ऐसे किये बिना लाख वर्ष तपस्या कर, चाहे कुछ भी कर लेकिन और कोई चारा नहीं है।' तब द्रव्यलिङ्गी मुनि कहने लगा कि 'यदि ऐसा करूँ तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा। आप जैसा कह रहे हो, वैसा (मैं) करूँ तो जो लोग मेरा सम्मान करते थे, वे मेरा मजाक उड़ायेंगे। अत: मेरी भी बात रखो।' श्रीगुरु ने कहा कि 'परमार्थ में कपट नहीं चलेगा; सत्य तो सरल है, सुलभ है, उसकी प्राप्ति सर्वत्र है। मात्र दोष छोड़ने पड़ेंगे। स्वच्छन्द व प्रतिबन्ध कारण ही मोक्षमार्ग रुका हुआ है। तुझे अपनी गलत बात को सँभालना है या सही समझना है? गलती से हाथ में शक्कर के बजाय सँखिया का टुकड़ा आ जाए तो गलती जानने के बाद उसे कौन रखेगा? समझदार पुरुष के पास ज़हर आ गया किन्तु जब भूल को जाने, ज़हर को यह ज़हर ही है – ऐसा जाने, फिर उसका त्याग करने में देर नहीं करता। लोग क्या कहेंगे, मेरा मान नहीं रहेगा तो? आहार-पानी नहीं मिला तो? इत्यादि की परवाह नहीं करता। किसी की फालतू की शर्म नहीं रखता।' अत: १५वीं गाथा में स्वच्छन्द यानी मिथ्यात्व-मोहभाव टालने के लिये कहा है। **१४.**

रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष;
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष।। १५।।

रोके जीव स्वच्छन्द तो, पावे निश्चित मोक्ष।
पाया इस विधि अनन्त ने, कहते जिन निर्दोष।।१५।।

दसवीं गाथा में श्रीगुरु के लक्षण कहे और १३वीं गाथा में जीव-अजीव निरूपक धर्मशास्त्र के लक्षण कहे।

अब, निर्दोष देव का लक्षण इस गाथा में कहा है। जिनके राग, द्वेष, अज्ञान सर्वथा मिट गये हैं, ऐसे वीतरागदेव निर्दोष परमात्मा हैं। इस सर्वज्ञ वीतरागदेव ने सर्व जीवों के हित के लिये कहा है कि जीव अनादि काल से अपनी इच्छा से और अपनी होशियारी से चलता रहा है; इसलिये दु:खी हुआ है। किन्तु अपना पागलपन, स्वच्छन्द, मत, आग्रह, मान आदि कषाय को रोके तो अवश्य स्वतन्त्र पूर्ण सुख सहजानन्ददशा को प्राप्त करे। अविनाशी निजपद, मोक्षदशा को प्राप्त हो क्योंकि मिथ्याअभिप्राय के त्याग से अनन्त जीव पूर्ण निर्दोषता को प्राप्त हुए हैं। उसमें ऐसा भी आया कि अनादि से जीव भूल के कारण अशुद्ध अवस्था में थे, इन दोषों को मिटाकर अनन्त जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया, कर रहे हैं, व भविष्य में भी प्राप्त करेंगे। इसके बावजूद भी अनन्त जीव संसार में रहेंगे। इससे अन्य दर्शनकार जीव का स्वरूप अन्यथा मानते हैं। उनका भी निराकरण हुआ। श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार के मङ्गलाचरण की प्रथम गाथा में कहते हैं - **'वंदित्तु सव्व सिद्धे'**। उस गाथा में यही कहा कि अनन्त जीव संसार का अभाव करके, स्वच्छन्द मिटाकर स्वतन्त्र हुए हैं, निर्दोष हुए हैं। वे अनन्त सुख में, शुद्धस्वरूप में विराजमान हैं। उनको श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अनन्त न्याय गर्भित नमस्कार किये हैं। वे सर्व अनन्त जीव हैं, स्वतन्त्र हैं, अपने पुरुषार्थ द्वारा ही सिद्धमुक्त हुए हैं। ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है; सभी जीवों की सत्ता एक नहीं है – इस प्रकार बहुत न्याय आये। यहाँ पर इस गाथा में ऐसा भी आया

कि '**अवश्य पामे मोक्ष।**' यानी अनन्त जीव मोक्षस्वरूप को प्राप्त हुए तो तू क्यों नहीं पायेगा ? पूर्व में अनन्त काल में भी तू एक समयमात्र भी स्वभावभाव में स्थिर नहीं हुआ। अब स्वच्छन्द छोड़कर स्वतन्त्र स्वरूप में जम जा, स्थिर हो जा तो सुख होगा – ऐसा कहा। अत: स्वच्छन्द टालने से अवश्य मोक्ष होता है। उस स्वच्छन्द को टालने की रीति श्रीसद्‌गुरु जानते हैं। उनके आश्रय बिना जीव अपनी इच्छा से बाकी सब अनन्त बार कर चुका है। लोगों को ज्ञानी की वाणी कठिन लगती है, उसके साथ मेल नहीं मिलता किन्तु यदि एक बार भूल मिटाकर ज्ञानी के सन्मुख हुआ तो जरूर मेल खायेगा। मतान्तर माने जो भ्राँतिभ्रमणा है, विपरीत दृष्टिरूप जो उल्टा अभिप्राय है, उसे ज्ञानी के कहे अनुसार छोड़े तो अवश्य मोक्ष को प्राप्त हो।

निर्दोष, अकषाय करुणा के दाता, अहरन्तदेव रागरहित निर्दोष हैं। ऐसे वीतराग केवलज्ञानी तीथङ्करभगवान कि जो निर्दोषता को प्राप्त हैं, उन्होंने कहा है कि स्वच्छन्द यानी दर्शनमोह (अपने स्वभाव में भ्रान्ति, झूठी श्रद्धा), मिथ्यामान्यता मिटाकर सत्पुरुष की आज्ञा से अनन्त जीव मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं। शास्त्र के एक-एक वचन में बहुत सारे न्याय आशय होते हैं किन्तु जीवों को मननपूर्वक सही विचार करना नहीं है। 'आत्मसिद्धि' बहुत लोगों ने बहुत बार पढ़ी होगी किन्तु अन्तर में मननपूर्वक सच्चा विचार किया नहीं है। जिस प्रकार विचारना चाहिए, समझना चाहिए, उस प्रकार से समझ में आया नहीं। इसलिये इस गाथा में स्वच्छन्द मिटाने पर खास वजन दिया है। (स्वच्छन्द माने दर्शनमोह, मिथ्यात्व, झूठी मान्यता।) अपना स्वरूप जो कि निर्मल ज्ञाता-दृष्टा है, उसकी पहचान में भूल – यही अनादि काल का मिथ्यात्व, जीव को अनन्त संसार में भ्रमण करवाता है। वह अपनी भूल, अपना ही अपराध है। जिस पुरुष में वह भूल नहीं है – ऐसे सत्पुरुष, सद्‌गुरु को पहचानकर, उनके चरण का आश्रय करने से अपने दोष मिटते हैं।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ६-१०-१९३९

पूर्वाग्रह की मान्यता छोड़कर शास्त्राभ्यास करने को कहा है। स्वच्छन्द माने मैं जानता हूँ, संसार, देहादि के कार्य कर सकता हूँ – ऐसी मिथ्याअभिप्राय की पकड़ है। उसका त्याग करके, सर्वज्ञ भगवान ने जो स्वरूप कहा, उस निजशुद्धस्वरूप को पहचानकर उसका आश्रय करने से जीव अवश्य मोक्षदशा को प्राप्त करता है। इस प्रकार अनन्त जीव मोक्षदशा को, पूर्ण पवित्रता को प्राप्त हुए हैं। ऐसा अनन्त ज्ञानी, त्रिकालज्ञानी सर्व भगवन्तों ने कहा है। अनन्त ज्ञानी हुए, हो रहे हैं व होंगे, उनका एक ही अभिप्राय है। वे राग, द्वेष, अज्ञान का सर्वथा नाश करके निर्दोष जिन हुए हैं। केवलज्ञानी परमात्मा का कथन निर्दोष है और वे भी निर्दोष हैं।

कदापि अज्ञानी जीव बहुत चतुराईवाले हों, महाबुद्धिवन्त हों, फिर भी उनका अभिप्राय डाँवाँडोल रहता है; निःशङ्क नहीं होता। अनित्यप्रकृति के निमित्त से हुआ भाव अनित्य है। अतः उस अज्ञानीपुरुष का कथन प्रामाणिक व निर्दोष नहीं हो सकता। वे जीव चाहे जितनी योजनाबद्ध (तर्कपूर्ण) बातें करें तो भी निर्दोष नहीं हो सकती। एक अज्ञानी के अनेक अभिप्राय होते हैं। अनन्त ज्ञानियों का एक ही मत होता है। '**पुरुषप्रमाण तो वचनप्रमाण**' कहा है। अतः सद्गुरुसमागम को ही प्रामाणिक व आश्रयभूत कहा है। **१५.**

प्रत्यक्ष सद्गुरु योगथी, स्वच्छंद ते रोकाय;
अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये बमणो थाय।।१६।।

प्रत्यक्ष सद्गुरु योग से, स्वच्छन्दता रुक जाय।
अन्य साधन-करन से, प्रायः दुगुनी हो जाये।।१६।।

शास्त्र में अनेक अपेक्षा से कथन आये। उसका यदि कोई जीव स्वच्छन्दपूर्वक अभ्यास करे तो एकान्त आग्रह पकड़कर वह अटक जाता है। जिसे मात्र निश्चय का आग्रह (निश्चयाभ्यास) दिमाग में घुस गया हो, उसे आत्मा केवल शुद्ध ही है, अवस्था भी शुद्ध ही है, राग-द्वेष का मैं कर्ता नहीं हूँ, इत्यादि कहते हैं किन्तु राग-द्वेष, विषय -कषाय कम करने का पुरुषार्थ नहीं करते। जो रागरहित होने का प्रयत्न न करे और स्वच्छन्दपूर्वक प्रवर्तन करे, उसे शुष्कज्ञान का राग बढ़ जाता है और पुरुषार्थ करनेवालों के प्रति उसकी दृष्टि में विरोध पैदा होता है कि वह तो व्यवहार है। ऐसा करने से तो कर्ता हो जायेगा और आत्मा तो अकर्ता है। ऐसा मात्र कहने के लिये वह धारणा में रख लेता है।

आत्मार्थी तो निर्दोष ज्ञानबल द्वारा राग को मिटाकर पुरुषार्थसहित कहता है कि द्रव्य से तो मैं त्रिकालशुद्ध ही हूँ। अपनी शुद्धपर्याय प्रगट करने के लिये कितना प्रचण्ड पुरुषार्थ चाहिए, ज्ञान के इस प्रयत्न को टिकाये रखने के लिये कितना पुरुषार्थ (वीर्यबल) चाहिए, उसका स्वच्छन्दी यानी शुष्कज्ञानी को भान नहीं होता। स्वच्छन्द मिटाने का उपाय सद्गुरु के आश्रय से होता है, यानी अपनी पात्रता से उपादान तैयार करके सद्गुरु का समागम करे तो अनादि का मिथ्याभाव-स्वच्छन्द - रुक जाता है और फलतः वह आत्मार्थी जीव आत्मज्ञानदशा को प्राप्त होता है। यदि कोई उपादान को भूलकर निमित्त को पकड़कर रखे, यानी व्यवहारवचनों को पकड़कर व्यवहार क्रिया -काण्ड का विधान जिसमें हो, मात्र वही पढ़े, विचारे और क्रियाजड़त्व में ही रुका रहे; बाह्यक्रिया को चारित्र मानकर उसमें प्रेम रखे और बाह्यव्रत, समिति आदि क्रिया को आत्मा का हितकर साधन माने तो वह भी सद्गुरु की आज्ञा से विरुद्ध है। अतः वह जीव सद्गुरु का और अपने अविकारीआत्मा का निषेधक है। जीव अपनी मानी हुई चतुराई को जब तक न छोड़े, तब तक उसे सत् की रुचि नहीं हो सकती। वे गलत में ही सन्तुष्ट होकर मनमानी कल्पना में रुक जाते हैं।

आजकल कई लोग मन की एकाग्रता में, योग की क्रिया में, ध्यान इत्यादि की भ्रमणा में ऐसे जुट गये हैं कि आत्मा को भूलकर मन को, वचन को, काया को रोकने में अपना कर्तव्य मानते हैं, उसे साधन मानते हैं किन्तु स्वरूप जैसा

है, वैसा जाने बिना उसका सब कुछ वृथा है। ज्ञानी या अज्ञानी किसी को भी देह की क्रिया से लाभहानि नहीं है क्योंकि देहादि की कोई क्रिया कभी आत्मा के आधार से नहीं है – ऐसा त्रिकाल नियम है। लोग शरीर की क्रिया व शुभराग को आत्मा का व्यवहार मानें व स्वच्छन्द से अनेक मान्यता में स्वरूप का निर्धार करके वहाँ अटक जाते हैं, फिर सत्शास्त्र का भी निषेध करते हैं। कोई कहे कि शास्त्र उपदेश द्वारा जानने का प्रयत्न करेंगे तो विकल्प बढ़ जायेंगे और जगत का सही-गलत देखकर राग-द्वेष होंगे, अत: हमें कुछ नहीं जानना। किन्तु जिसका स्वभाव ज्ञान है, वह किसको न जाने ? सत्स्वभाव को रोकने का विपरीत पुरुषार्थ करे, वह जड़वत् हो जाता है। ज्ञान का सहजस्वभाव स्वपरप्रकाशक है। जड़ को जानने से राग-द्वेष नहीं होते किन्तु रागीजीव संसार देहादि संयोग का मालिकपना, कर्तापना करके अज्ञान की, मिथ्या अभिप्राय की, पुष्टि करता है। महान धर्मात्मा चार ज्ञान के धनी भी शास्त्र पढ़ते – विचारते हैं किन्तु जिसे वर्तमान पुरुषार्थ क्या, द्रव्य-गुण-पर्याय क्या ? – उसका भान नहीं है, वह माने कि बहुत शास्त्र पढ़ें, बहुत जान लें तो बहुत राग-द्वेष व विकल्प होंगे और कम जाने अथवा ध्यान में बैठे रहें, कुछ न जानें तो अच्छा ! जिसकी दृष्टि औंधी है, झूठी है, उसको सबकुछ उल्टा ही समझ में आयेगा; जहाँ-तहाँ शङ्का ही होती रहेगी। अज्ञानी को भय है क्योंकि वह निमित्त से डरता है। शास्त्र में कहा है कि नववाड़ से ब्रह्मचर्य का पालन करना। इतने शब्द पकड़कर जो मानता है कि उनसे दूर ही रहना; जो पौष्टिकखुराक खाये, उसका ब्रह्मचर्य रह नहीं सकता, – ऐसा मानकर निमित्त पर, देह की हड्डियों से, जो ब्रह्मचर्य का नापदण्ड मानता है और उदय की, योग की व क्रिया की सँभाल में ही रुका रहता है, उसी में धर्म मानता है, ठीकपना मानता है – उसे आत्मा की पहचान नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि जीव अपनी अनेक विचित्र कल्पनाओं में, स्वच्छन्द में रुका हो, वह यदि श्रीसद्गुरु का आश्रय करे तो उसका स्वच्छन्द रुक जाता है। सद्गुरु मुमुक्षुजीवों के दोषों को पहचान लेते हैं और युक्तिपूर्वक समझाते हैं। अत: **गुरुआज्ञा परमहितकर है।** कोई एकान्तनिश्चय में रुका हुआ हो, अवस्था में अन्तरङ्ग कषाय, तृष्णादि में रुका हुआ हो, उसे वे पुरुषार्थ की जागृति का बल देते हैं; कोई क्रियाजड़त्व में रुका हो,

उसे आत्मा अविकारी ज्ञानमात्र है – ऐसा दृढ़ श्रद्धान करवाते हैं और व्यवहाराभास छुड़ाते हैं।

शास्त्र में उपदेशवचन हैं। उसमें राग मिटाने के लिये बीच में निमित्त का सद्भाव बताया है किन्तु जिसने निमित्त से कल्याण माना, उसने राग का आदर किया है और जहाँ राग का आदर है, वहाँ अकषाय आत्मा का अनादर है। सच्ची श्रद्धा तो दूर ही रह जाती है। ज्ञानी ने तो अरागीपने के लक्ष्य से पवित्र ज्ञानबल द्वारा राग को मिटाकर ज्ञान में ज्ञानरूप टिके रहने को ही सच्चा व्यवहार कहा है। इसे भूलकर बाह्य व्यवहारवचनों को पकड़े, उसमें नुकसान किसको? शास्त्र में अनेक अपेक्षा से कथन आते हैं। उसका प्रयोजन न समझे, आशय न समझे और निमित्त का आग्रह पकड़े (तो), वह मूढ़ है। शास्त्र में अनेक हेतु से जीवों को पात्रता पाने के लिये उपकार के हेतुरूप सत्साधन का लक्ष्य करवाया है किन्तु उसका अर्थ गुरुगम से न समझे, प्रमाण से सही न विचारे तो भूलावे में पड़ जाए। जिसका ऐसा अभिप्राय हुआ कि परपदार्थ मुझे नुकसान करेंगे, अत: मैं उन्हें दूर करुँ; स्त्री को देखूँगा तो मुझे राग होगा, इसलिये आँखें फोड़ लूँ – ऐसा अभिप्राय है, वहाँ अज्ञान है; उसे जड़त्व की पहचान भी नहीं है।

ज्ञानी धर्मात्मा को बाहर से व्यवहार में भी विवेक रहता है व संसारप्रसङ्ग में या किसी भी संयोगप्रसङ्ग में क्षोभ नहीं होता। जिसने निमित्त पर ज़रा-सा भी आधार रखा है, उसे खुद का यथार्थ विश्वास नहीं है। सद्गुरु का समागम छोड़े तो स्वच्छन्द से अवश्य स्वयं ठगा जाता है। 'इस दोष को निकालने के लिये अन्य उपाय करने पर प्राय: वह दुगुना ही होता है।' जिस विधि से स्वच्छन्द मिटे, उस (विधि) के भान बिना अन्य बहुत से उपाय करने पर स्वच्छन्द को और पुष्टि मिलती है। प्राय: माने अकसर वह स्वच्छन्द बढ़ता है किन्तु जो मुमुक्षु सद्गुरु की आज्ञा को पहचाननेवाला, तद् अनुसार वर्तन करनेवाला है, वह जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ यथास्थान पर वैसा ही समझता है और श्रीगुरु के विरह में भी गुरुआज्ञा को शिरसावंद्य रखकर वर्तता है; उसे स्वच्छन्द नहीं है। जिसने सद्गुरु समागम नहीं किया, वह शास्त्रार्थ समझे बिना विसंवाद (क्लेश) खड़ा करेगा।

शास्त्र में श्रीविद्यानन्दजी स्वामी ने कहा है – कोई धर्म का अन्याय या उल्टी

प्ररूपणा करता हो, उसका जो यथाशक्ति विरोध न करे और सही न्याय की स्थापना न करे, वह धर्मी नहीं है; स्वयं धर्मतत्त्व समझता हो तो झूठे का विरोध करेगा। जो धर्मात्मा स्थिर समाधि में हों, उनके लिये यह बात नहीं है किन्तु जो अल्पज्ञ हैं और जिसे देहादि में अल्पराग होने से खाने-पीने की वृत्ति होती है, उसे ऐसा शुभविकल्प आये बिना रहेगा नहीं क्योंकि उसे धर्मस्नेहरूप राग है। देव-गुरु-धर्म का राग जिसे विद्यमान है, उसे धर्म की अवहेलना होती हुई देखकर सच्चे न्यायमार्ग की स्थापना करने का विकल्प आये बिना रहेगा नहीं। इस बारे में शास्त्र में संक्षिप्त में बताया गया हो, उसे बिना समझे पढ़कर कहे कि शास्त्र में कहा है कि धर्म की अवहेलना हो रही हो तो बचाव करो। ऐसी कल्पनापूर्वक यदि स्वच्छन्दी शिष्य हो तो ऐसे शास्त्र पढ़कर किसी के साथ लड़ायी कर बैठे, संघ में विसंवाद खड़ा कर देगा; उसे न्याय विवेक तो आता नहीं है। जो विधि, जो कला जिसे प्राप्त है – उनका आश्रय किये बिना, स्वच्छन्दी जहाँ-तहाँ विसंवाद खड़ा करेगा अथवा गलत अर्थ को ग्रहण करेगा। इसके लिये प्रत्यक्ष सद्‌गुरुसमागम उपकारी है – ऐसा कहा। आत्मधर्म की शुरूआत माने सम्यग्दर्शन की शुरूआत; इसके लिये समकित का लक्षण अब कहते हैं। **१६.**

स्वच्छंद, मत आग्रह तजी, वर्ते सद्‌गुरुलक्ष;
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।।१७।।

स्वच्छन्द मत-आग्रह तजे, वर्ते सद्‌गुरु-लक्ष।
समकित उसको ही कहा, कारण मान प्रत्यक्ष।।१७।।

यहाँ सम्यग्दर्शन के कारणरूप नैगमनय से समकित कहा है। उसमें उपादान व निमित्त, इस प्रकार उसके दो कारण हैं। एक कार्य होने में दो कारण होते हैं – (१) उपादानकारण माने आत्मा की सहज शक्ति, (२) निमित्तकारण यानी संयोगरूप वस्तु जो कि उपादान के परिणमन के समय साथ में होता है। अब, स्वच्छन्द

के विषय में कहते हैं। स्वच्छन्द माने मैं जानता हूँ, समझता हूँ, मैं देहादि के कार्य करनेवाला हूँ – ऐसा मिथ्या अभिप्राय। उसका त्याग करने का यहाँ कहा है। मताग्रह यानी कुलधर्म, लौकिकपरम्परा का अनुसरण करनेवाला जो मिथ्यामत है, वह। सर्वज्ञकथित अनेकान्तधर्म से सिद्ध वस्तुतत्त्व में विरोधरूप हों, वे सब मिथ्यापक्ष। उसका त्याग करके, सद्गुरु-ज्ञानी के लक्ष्य से चले, वर्तमान पुरुषार्थवन्त सद्गुरु जो कहते हैं, उसका आशय समझ ले और उसी अर्थ को ग्रहण करे तो उसे प्रत्यक्ष कारणरूप समकित कहा है। अखण्ड ज्ञानस्वरूप सद्गुरु प्रत्यक्ष कारण हैं। उनकी यथार्थ प्रतीति होने पर लायक जीव को परमार्थ से स्वतत्त्व का लक्ष्य होता है। आत्मा आनन्दमय सहजसुखस्वरूपी है – ऐसा भान कुछ समय में प्रगट करेगा। ऐसी योग्यतावाले के लिये यहाँ समकित कहा है। यह स्थूल व्यवहारसमकित है, यानी बोधबीज की अपूर्वरुचि करेंगे ही – उसका कारणरूप यह समकित है। सद्गुरु के लक्षणपूर्वक, गुरु आज्ञानुसार चलनेवाला जीव भाविनिर्वाण का भाजन है। नैगमनय के अनुसार उसे कारणसमकित कहा है। उपादान का वीर्य उछलकर जो सहज हाँ (हकार) आयी कि यही है – वहाँ पूर्ण, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप निर्मलतत्त्व है, वह स्वरूप से आदर करने योग्य है – ऐसा आत्मा का जो भाव अन्तरङ्ग में सहजस्वभाव से उल्लसित हुआ है, वह निश्चयसमकित का कारण है। जीव, अजीव आदि नौ तत्त्व, छह द्रव्य की जानकारी और धारणा उसका नाम श्रद्धा नहीं है किन्तु अपूर्वता से आत्मा के पुरुषार्थ का सहज स्वरूपसन्मुख होना – उसे व्यवहारसमकित कहा है। व्यवहार कहने का कारण यह है कि वह शुद्धता अभी वर्तमान में प्रवर्तमान नहीं है। 'पद्मनन्दीपञ्चविंशतिका' में कहा है कि :-

'तत्प्रति प्रीतिचित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।।'

आत्मा की अध्यात्म बातें जिस लायक जीव ने सद्गुरुसमागम से, भावार्थ (आशय) के लक्ष्यपूर्वक प्रसन्नचित्त से सुनी हैं; आत्मा अक्रिय, ज्ञाता, सिद्ध भगवान जैसा अविकारी, शान्ति, निर्मल, त्रिकाल पूर्णरूप शुद्ध है – ऐसा जो मानता है, उस जीव को भाविनिर्वाणभाजन कहा है। स्वच्छन्दतारूपी मिथ्याग्रह के त्याग की उसे सहज प्राप्ति होती है किन्तु संसार-देहादि राग की प्रीति रखकर आत्मा के नाम से जो

कुछ करेगा, उसका स्वच्छन्द दुगुना होनेवाला है। वह भले ही समयसार, पञ्चाध्यायी जैसे ग्रन्थ का पाठी हो, फिर भी उसकी सभी धारणा व्यर्थ जाती हैं। परीक्षा किये बिना धर्म के नाम से अँधी अर्पणता करके उससे हित माने, खुद की वर्तमान अवस्था क्या काम करती है, ज्ञानदशा क्या है, उसका लक्ष्य समझे बिना प्रमाद में चैन से सोता है, उसे पुरुषार्थ क्या चीज है और राग मिटानेरूप ज्ञान का ज्ञान में टिकना क्या है ? – उसकी कुछ खबर नहीं है। स्वच्छन्द रोकने की कला का उसे भान नहीं है। फिर भी मैं जानता हूँ, वही सही है – ऐसी मान्यता की पकड़ होने से विषय-कषाय की अन्तरङ्ग प्रवृत्ति नहीं मिटती क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना सच्चा विवेक नहीं होता है और इसलिये देहादि की सुविधा के प्रति राग तथा प्रतिकूलता के प्रति द्वेष उसको रहेगा ही। जो तुच्छ पदार्थों में धैर्य खो देता है और मानता है कि हमने आत्मा का स्वरूप जाना है, उसने (तो) स्वच्छन्द का पोषण किया है। जहाँ ज्ञाताभाव है, वहाँ परभाव, रागादिकषाय में टिकना नहीं होता और जहाँ मिथ्याआग्रह की पकड़ है, वहाँ निर्दोष ज्ञाताभाव नहीं होता है। अतः कहा है कि स्वच्छन्द मताग्रह छोड़कर सद्गुरु के लक्ष्यपूर्वक प्रवर्तन करे तो परमार्थ स्वरूप के हेतु – कारणरूप समकित की प्राप्ति होती है। जिसका लक्ष्य वास्तव में आत्मा के प्रति हो, वह स्वरूप में अन्यथा कल्पना नहीं करता है और प्रत्यक्ष सद्गुरु की आज्ञा से प्रवर्तन करता है। जिस प्रकार एक सुल्टे (सीधे) घड़े पर अन्य अनेक घड़े सुल्टे रहे, उस प्रकार आत्मार्थी सुपात्रजीव का सब कुछ सुल्टा ही होता है, और स्वच्छन्दी मानार्थी का उल्टे घड़े की माफिक सब कुछ उल्टा ही होता है। अतः सद्गुरु का समागम परमउपकारी आश्रयभूत कहा है। **१७.**

मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय;
जातां सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय।। १८ ।।

मानादिक शत्रु महा, स्वच्छन्द से न नशाय।
सद्गुरु चरण सुशरण में, अल्प यत्न से जाय।।१८।।

मनुष्य को मान व मैथुनसंज्ञा अधिक है। आत्मा हमेशा ज्ञानस्वरूप अनिच्छक है – इसे भूलकर प्रकृतिजन्य इच्छा में रुके रहना, उसे संज्ञा कहते हैं। मान, सत्कार, क्रोध, माया, लोभ – ये जीव के महाशत्रु हैं, जिसमें मानकषाय की मुख्यता है। श्रीमद्जी ने कहा है कि **'यदि मनुष्य में मान नहीं होता तो मोक्ष यहीं होता।'** यानी मानादि कषाय जीव के महाशत्रु हैं, जो कि अपने स्वच्छन्द से नहीं टल सकते। धर्म की आड़ में अनन्तानुबन्धी मान का सेवन होता है, वह सद्गुरुशरण आश्रय के बिना नहीं टल सकता। चक्रवर्ती राजा मुनि हुए हों और शहर में भिक्षार्थ पधारे हों, चौक में खड़े हों और उन्हीं की दासी उनसे नाराज होकर कहे कि चौक के बीच खड़े रहना, यह मुनि का आचार नहीं है तो मुनि को उस पर तनिक सा भी रोष नहीं होता कि यह मेरा अपमान कर रही है किन्तु मुनि अपनी भूल कबूल करते हैं। असत्य का आदर करनेवाला अपने त्रिकालीसत्य का अनादर करता है। दोष का आदर – वह अपना ही अनादर है। अगर एक बच्चा भी मुनि की भूल दिखा दे तो मुनि उसे कबूल कर लेते हैं।

इस १८वीं गाथा में चारित्र की बात कही है। १७वीं गाथा में आत्मज्ञानी सद्गुरु के लक्ष्य से, आश्रय से कारणसमकित कहा है कि जिससे निश्चयसमकित प्रगट होनेवाला है।

सद्गुरुशरण यानी निश्चय से असत् का अनादर और सत्स्वरूप का, माने अपने शुद्धात्मा का आदर, यह सद्गुरुआश्रय का परमार्थ है। लेकिन उससे यह नहीं समझना कि प्रत्यक्ष सद्गुरु उपकारी नहीं हैं, अथवा ऐसा भी नहीं समझना कि उसमें पराधीनता है। जीव के उपादान की तैयारी बिना, जागृति बिना, कोई लाभ नहीं होता। कोई किसी का परिणमन नहीं करा सकता, सुपात्रता तो खुद की चाहिए। स्वच्छन्द मिटाने में सद्गुरु के प्रति का विनय काम आता है। सद्गुरु का विनय, वह निश्चय से स्वयं का विनय है, विकसित / प्रगट (आत्म) गुण का बहुमान है।

❖❖ ❖❖

दिनांक - ७-१०-१९३९

सत्समागम से आत्मार्थी जीव का उपकार होता है। इस हेतु से सद्गुरु का समागम, आश्रय और उनके विनय का वर्णन किया गया है क्योंकि इस विधि से निमित्त तत्त्व की उपस्थिति में उपादान की पात्रता से आत्मगुण खिलते हैं। कोई कहता है कि यहाँ निमित्त पर वजन क्यों दिया गया है ? उसका उत्तर यह है कि श्रीमद्जी ने अनेक जगह पर 'सत्' सम्बोधन किया है; जैसे कि सद्गुरु, सत्शास्त्र, सत्बोध, सत्उपदेश, सत्सङ्ग इत्यादि। इसमें सत् का ही आदर माने असत् का अभाव, राग-द्वेषविकार का अभाव है। जिसमें प्रगट सद्गुण व पुरुषार्थ विद्यमान हैं, ऐसे उज्ज्वल आत्मगुणसम्पन्न जो सद्गुरु हैं, उन गुरु की हड्डियाँ, देहादि पर वज़न नहीं है किन्तु जीव का प्रयत्न तो अपने स्वाधीन उपादान से ही प्रगट होता है। अपने गुणों का विकास करने हेतु अखण्ड सर्वज्ञस्वरूप का आदर करने के लिये विनय की भाषा आती है और व्यवहार से उन सत्पुरुष का उपदेश या उनका समागम लायक जीव को अनन्त उपकारी है।

सत्समागम के निमित्त का जिसे बहुमान नहीं है, उसे अपने गुणों का आदर नहीं है। जिसमें पात्रता, विनय आदि गुण खिल उठे हैं, उसको ऐसा स्वच्छन्दभाव और भाषा भी नहीं होती कि मैंने अपनी पात्रता से प्रयत्न किया, इसलिये गुण प्रगट हुए हैं। गुरु का उपकार नहीं है – ऐसा आत्मार्थी को नहीं होता। पुनश्च, कहा है कि कामादि को नाश करने का अमोघ उपाय सत्समागम है। विषय-वासना, मानादि, अस्थिरता इत्यादि सद्गुरु के आश्रय से सहज प्रयत्न से मिट जाते हैं और सम्यक्चारित्रगुण यानी ज्ञानगुण का विकास व स्थिरता बढ़ते हैं। चार ज्ञान के धारक मुनि-आचार्य-गणधर आदि भी श्रीगुरु का महामान करते हैं तो फिर जिसे साधकदशा प्रगट नहीं हुई, उसे तो श्रीगुरु के विनय में अरुचि कैसे हो ? सच्चा जिज्ञासु आत्मार्थी हो, वह स्वच्छन्दपूर्वक ऐसा नहीं बोलेगा कि हमारी तैयारी होगी तो हमें गुरु मिलेंगे। जिसे आत्मार्थ की तीव्र लगन है, वह यही भावना भाता है कि मुझे शीघ्र सद्गुरु मिलें। प्रत्यक्ष सत्पुरुष का योग कब मिलेगा ? धन्य हैं ऐसे सद्गुरु ! इस प्रकार

ज्ञानी का महामान करता है। ऐसी नम्रता है कि सत्पुरुष के विरह का स्मरण करके, उनको याद करके बारम्बार भाववन्दन करता है। आगे आयेगा कि -

'उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त;
पामे नहि सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित।'

उपादान का भाव लेकर जो स्थिर होता है, उसकी यह बात नहीं है। जिसके अन्दर योग्यता है, वह निर्मानता से इष्टनिमित्त का आदर करता है। आत्मा की तैयारीवाले को सत् का एवं सत् के निमित्त का बहुमान आये बिना नहीं रहता। जब दृष्टि की बात करनी हो, तब अपेक्षा से ऐसा भी कहा जाता है कि आत्मा से पुरुषार्थ तैयार हुआ। पात्रता है तो सहकारीनिमित्त का, सद्‌गुरु समागम आदि का योग होता ही है परन्तु इससे ऐसा नहीं है कि निमित्त के कारण गुण खिलें।

श्रीसमयसारजी में मुख्यरूप से उपादान की बात है। समयसार में आता है कि -

'है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, भोगबंधननी कथा;
परसे जुदा एकत्वकी, उपलब्धि केवल सुलभ ना।'

ऐसा कहा कि जीवों को काम-भोग-बन्धन की कथा का परिचय अनादि काल से सुलभ है किन्तु पर से भिन्नत्व, निर्मल शुद्धत्व सुलभ नहीं है। निरुपाधिक पूर्णशुद्ध आत्मतत्त्व का जिसे ज्ञान है, ऐसे सत्पुरुष का परिचय भी इस जीव ने पूर्व में कभी नहीं किया। सद्‌गुरुमुख से आत्मा की बात भी सुनी नहीं, उनकी सेवा भी नहीं की, माने सत्समागम द्वारा सत् का व सद्‌गुरु का आश्रय नहीं किया। इस प्रकार सत् की दुर्लभता बताकर इष्टनिमित्त में उपकारीपना स्थापित कर रहे हैं; इससे परमार्थ को कुछ बाधा नहीं है। जिस आत्मा को सद्‌गुरु का बहुमान आता है, उस आत्मा को स्थिर होने का स्थान, अन्तर का विश्रामस्थान हाथ लगता है और उसका विनय प्रत्येक शास्त्र में गाया है। चौरासी के भ्रमण से तप्तायमान जीवों को सद्‌गुरु का सत्समागम, आत्मा की शीतलता प्राप्त होने में उत्कृष्ट निमित्त शीतलीभूत भावफव्वारेरूप श्रीसद्‌गुरु हैं, जो कि आत्मा को अनन्त दुःखादि बन्ध से छूटने की रीति बताते हैं और मुक्तदशा का भान कराते हैं। सम्यक्‌दृष्टि को तीव्रक्रोध, मान, माया, लोभ नहीं होते। उसे गुरुकृपा से व अपनी पात्रता से मिथ्यामोह, भ्रमणा का अभाव हुआ है। अतः वह अत्यन्त निर्मानी व विनयवन्त हुआ है। स्वयं को अल्पगुण

प्रगट हुआ है; फिर भी श्रीसद्गुरु का महामान करता है। तत्त्वदृष्टि से मैं अनादि, अनन्त, पूर्ण हूँ किन्तु अभी मुझे अनन्त पुरुषार्थ प्रगट करना बाकी है। इसलिये अवस्था में अपूर्ण हूँ – ऐसा वह जानता है। सत्पुरुष की भक्ति में अपने आप को तृणवत् किंकरसमान मानता है। इसमें अनन्त गुण की परीक्षा है, सत् का आदर कर रहा है। खुद को जो पूर्ण पवित्रता की पुष्टि हुई है, उसका आदर करता है।

श्रीमद्जी भी ज्ञानी का कितना अधिक विनय करते हैं, महामान करते हैं! वे कहते हैं, **'हे कुन्दकुन्दादिआचार्य! आपके वचनामृत इस पामर को स्वरूपानुसन्धान में परमउपकारी हुए हैं। अतः आपका परमउपकार है।'** इस निर्मानता में ही साधक का अकषायभाव बढ़ता है। इससे खुद का ज्ञानबल बढ़ता दिखायी देता है – यह पुरुषार्थ की बलवतरत्ता है। जो सत् को पहचानकर सद्गुरु का विनय करता है, वह परमार्थ से तो अपना पुरुषार्थ उठाता है। सत् व की बात सुनने पर भक्तिभाव से रोंगटें खड़े हो जाते हैं। निमित्त को जैसा है, वैसा जानते हैं; अपना तत्त्व जैसा है, वैसा जानते हैं। जिस विनय में परमार्थविनय साथ में आता है, उसका अनादर आत्मार्थी नहीं करता। **सत्समागम का माहात्म्य जहाँ हुआ, वहाँ विषय-कषाय इत्यादि वासना सहज दूर हो जाते हैं।** इसीलिये कहा है कि सद्गुरुशरण में जाने पर अल्पप्रयास से कषायादि मिट जाते हैं किन्तु स्वच्छन्दपूर्वक चलने से तो दुगुने हो जाते हैं।

सद्बोधस्वरूप आत्मा अकषायस्वरूप है। उसका आदर होने पर रागादि विषय -कषाय का आदर सहज मिट ही जाता है। जिनमें गुण प्रगट हुआ है, ऐसे प्रत्यक्ष सद्गुरु का प्रेम-आदर छठे गुणस्थानक तक रहता है, फिर तो राग का बुद्धिपूर्वक का विकल्प नहीं है। (अबुद्धिपूर्वक का सूक्ष्म विकल्प १०वें गुणस्थान में मिट जाता है।) **१८.**

जे सद्गुरु उपदेशथी, पाम्यो केवलज्ञान;
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान।।१९।।

जो सद्गुरु उपदेश से, पाया केवलज्ञान।
गुरु रहे छद्मस्थ पर, विनय करें भगवान।।१९।।

इस गाथा में विनय का प्रयोजन किस अपेक्षा से कहा है, उसका परमार्थ निकाल लेना है।

केवलीभगवान जब छद्मस्थ थे, तब अपने गुरु का विनय किया था। उस विनय की अवस्था का ज्ञान केवलज्ञान में वर्तमान में दिखता है और समवसरण में दिव्यध्वनि खिरती है, उसमें भी उस विनय की बात आती है। अनन्त ज्ञान में जैसा है, वैसा बिना विकल्प किये सहज दिखता है। उसमें इच्छा नहीं है किन्तु श्रीतीर्थङ्कर प्रभु की देशना में (दिव्यध्वनि में) उस पूर्वअवस्था सम्बन्धित वाणी आती है कि हमने छद्मस्थ अवस्था में प्रथम उपकारी सद्गुरु का विनय किया था और उसकी महिमा बताते हैं। केवलज्ञान होने के बाद तो वंद्य-वन्दकभाव नहीं है। श्रीमद्जी का आशय किस हेतु से है, यह सोचने पर ऐसा न्याय आता है कि विनय के दो प्रकार हैं –

(१) शुभभावरूप विनय है। वहाँ छठे गुणस्थानक तक ही वंद्य-वन्दकभाव आता है।

(२) शुद्धभावरूप विनय है। वहाँ तो केवल निर्विकल्प वीतरागदशा है; वहाँ किसी का विनय नहीं करना है। मात्र सहजपुरुषार्थ अपने पूर्ण अकषायभाव में अभेदपरिणमनसहित पूर्णशुद्धतारूप से टिका रहता है। उस अकषायभाव का, स्वयं का स्वयं को विनय है। केवलज्ञान माने पूर्ण स्वरूपस्थिति पूर्ण वीतराग निर्विकल्पदशा। उसमें वंद्यवन्दकभाव की व्यवहारकल्पना करना असङ्गत है। '**विनयवन्त भगवान कहावे, नाहीं किसी को शीष नमावे।**'

भूतकाल की अपेक्षा से उपकारवचन से ऐसा कह सकते हैं। एक आचार्य अपना पुरुषार्थ उठाने हेतु भक्तिभाव से कहते हैं कि श्रीकेवलीभगवान को अनन्त करुणा है। ऐसा जो कहा, वह उपकारवचन है। ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि उनके भाववचनों के निमित्त से बहुत जीवों को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है और दूसरे तरीके से देखें तो उनको अकषायकरुणा है। उनके भाव में दोष नहीं आता है, उसका कारण अनन्तीस्वदया है। वह अकषायकरुणा है, परमवीतरागता

है।

कोई परमार्थ भक्तिवश अपना पुरुषार्थ उठाते हुए, नैगमनय की दृष्टि से भूतकाल में भगवान ने जो विनय किया था, उसका वर्तमान में आरोप करके कह सकता है और इस प्रकार अपने भक्तिभावरूप पुरुषार्थ को उछाल।

जैसी है, वैसी अपेक्षा जो नहीं समझेगा, वह भूल करेगा।

सिद्धभगवान में भी निगोद अवस्था गौणरूप से है। इस प्रकार भूतपूर्व की अपेक्षा प्रयोजनवश समझनी चाहिए। निश्चयदृष्टि से **'सर्व जीव हैं सिद्ध सम'** – ऐसा अपने पुरुषार्थ को उठाने हेतु स्वभाव अपेक्षा से कहा जा सकता है। वह जिस प्रकार से है, उस प्रकार से समझकर वर्तमान अवस्था प्रगट पुरुषार्थरूप है – उसे सत्यार्थरूप से लक्ष्य में रखे तो उसकी अपेक्षा सच्ची है।

इस गाथा का सिद्धान्त लोकोत्तर विनयमार्ग में अकषायभाव की दृष्टि द्वारा निर्मानता की महिमा बताने का है। उस अपेक्षा से यह निमित्त का कथन है। उसका परमार्थ ऊपर कहा, वैसा समझ लेना; अन्यथा नहीं समझना। समझकर जैसा है, वैसा जानना है। शास्त्र में किस बात का आशय किस अपेक्षा से कहा गया है ? – वह समझ में न आये तो मध्यस्थ रहना।

ज्ञानप्राप्त शिष्य सद्गुरु का विनय चूकता नहीं है। उसका आशय यों है कि निर्विकल्पदशा में स्थित केवलज्ञानी के ज्ञान में पूर्व में छद्मस्थ अवस्था में स्वयं ने जो विनय किया था, उस अवस्था का ज्ञान भी खिसक नहीं जाता और दिव्यध्वनि खिरती है, तब पूर्व अवस्था की बात भी आती है। कोई इन्द्र, चक्रवर्ती आदि भगवान केवलज्ञानी से पूछे तो हम अपने गुरु का प्रथम ऐसा विनय-विवेक करते थे, ऐसा भी वाणीयोग में आता है। भूतकाल में जो विनय किया था, उसका निषेध नहीं किया – यह भी विनय है। ज्ञानी को पहचानकर उसकी विनय न करे तो उसका स्वच्छन्द नहीं टल सकता।

यहाँ पर श्रीमद्जी को जो कहना है, उसका आशय इस प्रकार लेना कि जिन जीवों को विनय का माहात्म्य नहीं है, ऐसे जीवों को एक अपेक्षा से विनय का माहात्म्य बतलाकर खड़ा रख दिया।

'वैयावृत' का अर्थ सेवा है। इसका अर्थ वीतरागभगवान की, अपने अकषायभाव

की सेवा है। सर्वज्ञभगवान ने पूर्व में शिष्य अवस्था में गुरु का विनय व वैयावृत किये हो, उस बात को कोई साधकजीव भूतनैगमनय से उस भूतकाल की अवस्था का वर्तमान में आरोप करे तो उस दृष्टि से उसकी बात सही है क्योंकि उसका हेतु भक्तिभाव बढ़ाने का है।

पुनश्च, तीर्थङ्करभगवान के निमित्त से चार संघ की स्थापना हुई। वह भी उपचार से वैयावृत है क्योंकि वह असंख्यात जीव की सेवा है। अपने पुरुषार्थ को, वीर्य को उठाने के लिये धर्मात्मा अपने विनयगुण को आविर्भूत करके आखरी हद तक इस प्रकार अवलम्बन लिये रहते हैं। सत् का ऐसा विनय करनेवाला, अपने गुण का (ही) आदर कर रहा है। **१९.**

एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्री वीतराग;
मूळ हेतु ए मार्गनो, समजे कोई सुभाग्य।। २०।।

मार्ग ऐसा विनय का, कहते श्री वीतराग।
मूल हेतु यह मार्ग का, समझे कोई सुभाग्य।।२०।।

श्रीतीर्थङ्करादि केवली भगवन्तों ने दिव्यध्वनि में ऐसा लोकोत्तर विनयमार्ग बताया है। ऐसे सन्मार्ग का आदर-विनय किसी सुलभबोधि आराधक जीव को होता है। वे इसके आशय को समझेंगे। बाकी स्वच्छन्दी को नहीं जँचेगा और उल्टा अर्थ ग्रहण करके स्वच्छन्द का पोषण करेगा। जो सच्चा मुमुक्षु है, वह जिनेश्वर भगवान द्वारा कथित लोकोत्तर विनयमार्ग समझेगा और उसका आराधन करेगा। नियमसार में आचार्यमहाराज कहते हैं कि अहो सत्समागम ! अहो सद्गुरु का आश्रय ! उन चरणकमलों के सेवन बिना यह वस्तु समझ में आये, ऐसी नहीं है। उसमें प्रत्यक्ष सद्गुरु के गुणों का बहुमान लाकर पूर्णपवित्र केवलज्ञान स्वरूप के गुणगान किये हैं। इस सम्बन्ध में कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा के स्वरूप का वर्णन है कि स्वशक्ति परमात्मतत्त्व सहज, आनन्दमय, अनादि अनन्त, पारिणामिकभाव है।

उसकी प्रतीति श्रीसद्गुरु के आश्रय से हुई है। अतः निमित्तकारण में गुरुभगवान को बताया है। जहाँ अधूरी दशा है, वहाँ पर अनन्त ज्ञानियों का आदर हुए बिना रहेगा नहीं। किन्तु जिसे परमार्थस्वरूप का प्रेम नहीं है, उसे सत् व सत् के निर्दोष निमित्त का आदर नहीं आयेगा। अनन्त काल में स्वच्छन्द एवं मताग्रह के कारण ही सत् की पहचान (प्रतीति) नहीं हुई। अतः सद्गुरु का आश्रय एवं विनय का बहुमान परमार्थ से प्रयोजनकारी है – ऐसा समझना।

सुजातवन्त शिष्य अकषायभाव की पूर्णपवित्रता का उपासक है। अतः जिन्हें पुरुषार्थ विद्यमान है, ऐसे सद्गुरु एवं सच्चे देव, गुरु, धर्म के स्थानभूत निमित्त, उनमें अपने भक्तिभाव का निक्षेप करके बहुमान करता है। निर्मानतापूर्वक वीर्य को पूरा-पूरा उठा सके, ऐसी निर्मानता का उसमें हेतु हैं। अकषायभाव पूर्णस्वभाव है। उसकी प्राप्ति अपने पुरुषार्थ से होती है। उसमें शुभपरिणाम के विकल्प बीच में सहज आते हैं। लोकोत्तरमार्ग की चाबी सद्गुरुआश्रय से ही समझ में आती है। इसलिये कहा है कि सुलभबोधि जीव ही इस लोकोत्तर विनय को द्रव्य से एवं भाव से जैसा है, वैसा समझकर अपना कार्य कर लेगा।

लोगस्स का पाठ '**लोगस्स उज्जोयगरे**' से शुरू होता है। उसमें आता है कि '**आरूग्गं बोहिलाभं।**' (अकषाय स्वरूप की सम्हाल) यानी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को पाना – वह बोधिबीज है। पूर्णता के लक्ष्य से निजस्वरूप की सावधानी द्वारा रागरहित ज्ञान में टिके रहकर, उस समता को आयुपर्यन्त टिकाये रखकर, मृत्यु के समय उस अखण्ड, शुद्धस्वरूप की आराधना द्वारा समाधिमरण करना – वह सच्चा विनयमार्ग है। उस श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को अखण्डधारा से निभाये, वह बोधिअखण्ड को पाकर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करता है। वर्तमानकाल में सर्वज्ञ तीर्थङ्करभगवान का साक्षात् प्रत्यक्षयोग नहीं है। इसलिये कदापि एकाध भव बाकी रह जाए, तो उसका भाव से तो अन्तर नहीं है। सद्गुरु का विनय – वह पराधीनता नहीं है। सत् का विनय – वह स्वयं की सहज, स्वतन्त्रदशा का विकास है। देव-गुरु-धर्म वीतराग हैं। उनके विनय में पुरुषार्थवन्त सुपात्रजीव झुक जाता है, नतमस्तक हो जाता है और छठी भूमिका तक देव-गुरु-धर्म की भक्ति स्वरूपानुसन्धान के लक्ष्य से करता है। भाषा में अहंभाव का वचन भी न आये। निमित्त की भाषा

विनय से ही आती है। वह साधक की नम्रता है, गुण है। 'हे प्रभु !' की (बीस दोहरे की) स्तुति है। उसमें सद्गुरु का माहात्म्य, मान छोड़कर पुरुषार्थ उठाने हेतु कहा है। आखरी दोहरे में आता है कि –

'पडी पडी तुज पदपकंजे, फरी फरी मागुं एज;
सद्गुरु संत स्वरूप तुद, ए दृढ़ता करी देज।'

इसमें खुद के पुरुषार्थ की अधिक जागृति है, स्वरूप की दृढ़ता है; दीनता नहीं है किन्तु पुरुषार्थ की सबलता है। ऐसे अलौकिक विनय को कौन समझ सके ? सुलभबोधि आराधक आत्मार्थी ही समझ सके। मूलउपादान की जहाँ बात आये, वहाँ एकान्त पकड़े और पुरुषार्थ भूल जाए, और निमित्त की बात आये, वहाँ मूल को भूल जाए, और निमित्त को पकड़ ले। इस प्रकार स्वच्छन्दी अपने स्वरूप की सावधानी रख नहीं सकता। अज्ञानी अपना गुण बिगाड़ता जाता है और मानता है कि मैं अपने में सुधार करता हूँ किन्तु धर्मात्मा विवेकी है। सच्चा विवेकी हो, वह अपना पुरुषार्थ ठीक से न उठे तो दूसरों का या निमित्त का दोष न देखे। अपनी कमज़ोरी जाने और चारित्रगुण के विकास का प्रयत्न करे और कहे कि धन्य सद्गुरु ! मेरे जन्म-मरण का आपने नाश किया, आपकी शीतलछाया में मेरी कृतार्थता है। हे नाथ ! आपने ही मुझे आत्मा दिया, आपका अनन्त उपकार है। इस प्रकार निर्मानतापूर्वक ज्ञानकला से अपना पुरुषार्थ उठाता है। ऐसा परमार्थभूत विनयमार्ग कोई सुलभबोधि सम्यक्वन्त आराधक ही मोक्षमार्ग को जैसा है, वैसा समझे। किन्तु सत् का विराधक दुर्लभबोधि मतार्थी जीव लोकोत्तर विनय स्थानक की खतौनी लौकिक में कर देता है और अज्ञान तिमिर का आवरण अपने लिये और बढ़ा देता है। इस तरह सच्चे तत्त्व से अनजान मिथ्यादृष्टियों की दशा क्या होती है, वह अब कहते हैं। **२०.**

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो कांई;
महामोहनीय कर्मथी, बूडे भवजळ मांही।।२१।।

असद्‌गुरु इस विनय का, लाभ लेय यदि कोई।
महा मोहनीय कर्म से, डूबत भव-जल सोई।।२१।।

आत्मस्वरूप से जो अभानजीव हैं, वे महामोही हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों को महामोहनीयकर्म बँधता है। वास्तव में तो ज्ञानीसद्‌गुरु को दूसरों के विनय की सर्वथा इच्छा ही नहीं है, (वे) अपना विनय कराने के कामी नहीं हैं। जिन्होंने आचार्य, उपाध्याय, मुनिपने का नाम धारण किया है, वह यदि जगत से मान पाने की कामना करे, खुद को यथार्थ अनुभव नहीं होने पर भी स्वयं में सद्‌गुरुपना है – ऐसा स्थापित करे, शिष्य आदि से विनय कराये, अन्तरङ्ग में मानादि की मिठास का वेदन करे, उसके सिर पर ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागर की स्थिति के मोहनीयकर्म का बन्ध करके निगोद में अनन्त काल भटकने की जिम्मेदारी है। जो शिष्य तत्त्व समझे बिना, कुगुरुओं का जहाँ-तहाँ विनय करते हैं, वन्दन करते फिरते हैं, वे भी महामोहनीयकर्म बाँधते हैं।

बहुत लोग कहते हैं कि वे भगवान के भक्त हैं, साधु के चारित्र का पालन करते हैं, आत्मार्थ हेतु कठिन व्रततप का पालन करते हैं; अत: हम उनके भेष को नमस्कार करते हैं। वे धर्म की शोभा हैं, उनसे धर्मतीर्थ बना रहता है किन्तु अज्ञान जैसा महापाप कोई नहीं है। अज्ञानता, अनभिज्ञता यह कोई बचाव नहीं है। पक्षी भी रात्रिभोजन नहीं करते, जानवरों को कोई परिग्रह (बाहर से) नहीं दिखता, वनस्पति में भी शक्तिरूप से सिद्धसमान आत्मा है, वे (वनस्पतिकाय) भी किसी जीव की हिंसा नहीं करते। इसलिये उनको वन्दन करने से भी धर्मलाभ होना चाहिए किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। बाह्यचारित्र का भेष देखकर नमस्कार करना, वह अज्ञान की पुष्टि करने बराबर है। यह समझना कठिन लगे, ऐसा है। इसलिये कहते हैं कि प्रथम आत्मस्वरूप क्या है, उसको विरोध मिटाकर जानो। बहुत सारे वेशधारी मानते हैं कि हम त्यागी हैं, ऐसी क्रिया करते हैं, निर्वद्य वस्तु लेते हैं, परिग्रह के त्यागी हैं किन्तु आत्मा क्या करे और क्या न करे ? – उसकी कुछ खबर नहीं है। उनको वन्दनीय कैसे कहा जाए ? सवाल तो यह है कि हम गृहस्थ हैं। हमसे तो वे द्रव्यचारित्री या द्रव्यसाधु बेहतर हैं कि नहीं ? उनको वन्दन करना

चाहिए कि नहीं ? तो इसका उत्तर यह है कि उनसे तो सुदृष्टिवान गृहस्थ अनन्तगुने अच्छे हैं। बिगड़ा हुआ दूध तो छाछ के लायक भी नहीं रहता। उस प्रकार द्रव्यलिङ्गी साधु भले उत्कृष्ट त्याग-वैराग्यवान दिखते हों, बाहर में भले ही जैन नामधारी मुनि हों, फिर भी वे बिगड़े हुए दूध के बराबर हैं; जबकि धर्मात्मा गृहस्थ होने पर भी उनसे अनन्तगुने अच्छे हैं। अतः तत्त्व का अभ्यास करो तो जैसा है, वैसा समझ में आयेगा। गलत का आदर होने पर सत् का अनादर होता है। इसलिये विनय करनेवाले की भी जिम्मेदारी है। **२१.**

अतः कहते हैं कि :-

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार;
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार।। २२।।

होय मुमुक्षु जीव वह, समझत यह सुविचार।
होय मतार्थी जीव वह, उलट करे निर्धार।।२२।।

गुरु से एक सही न्याय समझनेवाला सुदृष्टि जीव पूरी जिन्दगी उनका उपकार नहीं भूलता। आत्मा की पवित्रदशा का कामी सच्चे सुख का कामी यथार्थ विवेकवन्त होता है। वह यथार्थ विचार को समझता है किन्तु जो मतार्थी जीव होता है, वह उसका उल्टा निर्धार करता है या तो फिर ऐसा विनय शिष्यादि के पास करवाते हैं। असद्गुरु में सद्गुरु होने की भ्रान्ति करके विनयमार्ग का उल्टा निर्णय कर लेते हैं और मानते हैं कि स्वयं दृढ़ मुमुक्षु है, विनयवन्त है। इस प्रकार असद्गुरु के पास जाकर असद्गुरु को दृढ़ करते हैं व निज मानार्थ (अपने सन्तोष के लिये) अपने जैसी उल्टी श्रद्धावाले असद्गुरु से कहते हैं कि आप ही धर्मतीर्थ को टिकाये रखते हो; आप ही सही हो; अन्य लोग इस प्रकार कहते हैं, इसलिये गलत हैं। इस प्रकार असत् का आदर करके, अन्दर ही अन्दर परस्पर मिथ्यात्व को, स्वच्छन्द को दृढ़ करते हैं। खुद अपना अहित नहीं करना चाहता है किन्तु

अज्ञान यह कोई बचाव नहीं है; अत: वे अवश्य भवजलधि में डूबते हैं। ऐसे जीव इस विनयमार्ग का दुरुपयोग करके अपना अहित करते हैं। हित-अहित का जिन्हें विवेक हैं, ऐसे मुमुक्षु जीव जहाँ विनय उचित है, वहाँ विनय करे किन्तु किसी मिथ्यादृष्टि का विनय नहीं करते। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे का अनादर करें। कोई मुमुक्षु जीव रास्ते में चला जा रहा हो। उसे उपकारी सुपात्र धर्मात्मा मिले। उनका एक का ही विनय करे और अन्य संसारर्थिओं का विनय न करे। ऐसा करने में अन्य का अविनय नहीं है। सत् की जहाँ रुचि हुई, वहाँ सत् का ही आदर होता है। मेरे बारे में अन्य कोई ऐसा मान लेगा तो ? ऐसी शङ्का उन्हें नहीं होती। जब तक पूर्ण वीतरागता, स्वरूप स्थिरता में एकाग्रता हुई नहीं है, तब तक गुणवन्त, धर्मात्मा का बहुमान किये बिना नहीं रहता। सम्यग्दर्शन का साधन इष्टनिमित्तरूप सद्गुरु, सद्देव, सद्शास्त्र का विनय करता है। कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्र का विनय न करे, वह कोई द्वेष नहीं है।

कंजूसाई व किफायत से चलना-दोनों भावों में कितना अन्तर है ? एक विवेकपूर्वक जैसा है, वैसा समझकर विवेकसहित प्रवर्तता है और एक तृष्णा की पुष्टि करता है। इस प्रकार दृढ़ता व मताग्रह में अन्तर है। दृढ़ता माने सत्स्वरूप की नि:शङ्क पकड़ और मताग्रह माने मेरेपने के पक्ष की बुद्धि है, जिसमें द्वेषभाव की उपस्थिति है। उदार व उड़ाऊ – उन दोनों भावों के आशय में जिस प्रकार फ़र्क होता है, उस प्रकार विवेकी, विनयवन्त और अन्धत्व से विनय करनेवाला – इन दोनों में फ़र्क है। पकड़ पकड़ में फ़र्क है। बिल्ली चूहे को पकड़े और अपने बच्चे को पकड़े – दोनों में फ़र्क है। भेषधारी जैनमुनि को भी धर्मबुद्धिपूर्वक वन्दन नहीं होता किन्तु राजा को लाचारी में लौकिक प्रसङ्गवश आवकार देना पड़े। इस प्रकार व्यवहार के अनेक प्रकार जानने योग्य हैं। लोकोत्तरधर्म के लिये लोकोत्तरविनय होना चाहिए। उससे अपना परमार्थ सधता है (साधा जा सकता है)। अकषायभाव की अनुकम्पा, (अनु = अनुसरण करके) स्वरूप की सम्हाल वही विनय है। पञ्चाध्यायी भाग-२ गाथा-४४६ में कहते हैं कि अकषायभाव, वही निज अनुकम्पा है। **श्रीमद्जी ने बाह्यव्यवहार पर बहुत लक्ष्य नहीं रखा है। उनकी गहरी अपेक्षा साधारण जीवों को समझनी कठिन पड़े – ऐसी है।**

जब तक प्रमत्तभाव है, छठा गुणस्थानक है, तब तक वंद्य-वन्दकभाव का विकल्प, आहार आदि होते हैं। सातवीं से ऊपर की भूमिका में यानी तेरहवीं भूमिका तक कोई ऐसा कहे कि वंद्य-वन्दकभाव होता है तो वह बिल्कुल न्यायविरुद्ध बात है; वह बात यथार्थ है ही नहीं।

तेरहवीं भूमिका में तीर्थङ्करभगवान तथा कुछ एक सामान्य केवलीभगवान अरागी होने पर भी, उनको उपदेश व विहार होता है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ८-१०-१९३९

(गाथा २२वीं चालू)

यह आत्मसिद्धिशास्त्र है। उसमें २३ गाथा तक भूमिका बाँधी है। उसमें स्वच्छन्दता, मताग्रह, शुष्कज्ञानी, क्रियाकाण्डी इत्यादि मतों का त्याग; सद्गुरु की पहचान इत्यादि अनेक न्याय से कथन आया। यहाँ पर सद्गुरु का विनय, गुणी का बहुमान कौन कर सकता है ? – उसकी बात चल रही है।

सद्गुरु किसको कहा जाता है, सद्शास्त्र किसे कहें, सुपात्रता किसे कहें, किसको वन्दन करना, विनय किस प्रकार करना, कैसा अभिप्राय रखना, किसका विनय नहीं करना, किसको वन्दन नहीं करना ? – इत्यादि कथन अनेक न्याय से आते हैं। इससे बहुत से जीवों को उलझन होती है किन्तु जो सच्चा मुमुक्षु हो, उसे उलझन नहीं होती। वह यथार्थ विचार को जहाँ जैसा है, वैसा समझता है क्योंकि वह केवल आत्मार्थ का ही कामी है। किन्तु जिसकी सच्ची पात्रता नहीं है, उसे शङ्का, उलझन होती रहेगी कि सही का पता कैसे लगे ? सुगुरु कौन से होंगे ? विनय किस प्रकार होगा ? कोई ऐसा उपदेश देता है, कोई धर्म का स्थापन इस प्रकार करता है; अतः हमें तो उलझन बढ़ जाती है क्योंकि जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ सब लोग अपने-अपने माल की उत्कृष्टता सिद्ध करते हैं। लेकिन जिसे स्वच्छन्दता व मताग्रह में नहीं टिकना है और सही समझने की तीव्र

जिज्ञासा है, उसे तो यथार्थता समझनी पड़ेगी। अभिप्राय में कहाँ-कहाँ भूल होती है, यह जानने के लिये मान व मताग्रह छोड़कर सद्गुरु की शरण में जाना क्योंकि अपने छन्द से (अभिप्राय से) तो कार्य होता नहीं है। शास्त्र न्याय तथा सत्य-असत्य के भेद इत्यादि चाहे जितने अटपटे हो, फिर भी मुमुक्षु को ज़रा भी उलझन नहीं होती। अतः सच्चे सुख का कामी जो पहले बताया है, उस विनय आदि का यथार्थ विचार, प्रामाणिकतापूर्वक जैसा है, वैसा समझता है। अपनी पात्रता, ज्ञान के विवेक द्वारा तैयार करे, उसे उलझन होने के बजाय सभी उलझनों का निकाल निःसन्देहरूप से जाता है। मुझे मेरा पूर्णसत्त्व, अविकारी ज्ञानघनस्वरूप, त्रिकाल निर्मल शुद्धआत्मपद ही चाहिए – ऐसा उसे यथार्थ निश्चय होता है। राग व रागरहित निजपद की भिन्नता करने में स्वयं परेशान नहीं होता।

यहाँ २३वीं गाथा तक जो कहा है, उसका यथार्थ निर्णय मुमुक्षु ही कर सकता है किन्तु जिसे शङ्का व उलझन है, वह समझा ही नहीं है। अतः ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हारे में मुमुक्षुता होगी तो इस न्याय की यथार्थता जरूर समझ जाओगे। जो समझा नहीं है, वह निश्चितरूप से स्वच्छन्द, मानादि मताग्रह में रुका हुआ है। वह भले ही अपनी भूल स्वीकार न करे किन्तु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह समझा है क्योंकि या तो उसे पुण्य की मिठास रही है या फिर (अपने) मत का, कुलधर्म का आग्रह या मान आदि की मिठास इत्यादि होता है। ऐसे जीव को आत्मार्थ समझ में नहीं आता क्योंकि उसके हृदय में मिथ्यात्व का शल्य है। जिस प्रकार कुँए में पानी मीठा व एक ही तरह का है किन्तु उस कुँए के एक थाले में कालीजीरी की (एक कटुआ पदार्थ) पुड़िया डाली हो तो उस थाले में से निकलनेवाला सारा पानी कड़वा ही आयेगा और दूसरे थाले में शक्कर की पोटली डाली हो तो सारा पानी मीठा, शक्कर के स्वादवाला आयेगा। इस प्रकार आत्मारूपी कुँए में मीठा पानी भरा है किन्तु जिसके हृदयरूपी थाल में मिथ्यात्वरूपी कटुता, मतार्थ, मानार्थ और स्वच्छन्द भरे हैं, वह जीव चाहे जितना पुरुषार्थ करे तो भी आत्मा की निराकुल शान्ति, अकषायपना, सहज आनन्द – उसका अंश भी उसे नहीं आयेगा। इसका कारण यह है कि उसकी श्रद्धा व वर्तन विपरीतरूप से परिणमन कर रहे हैं। उसे कोई भूल मिटाने को कहे तो वह माने नहीं।

उल्टा कुगुरु के पास जाकर ऐसा निर्णय करे कि जिससे उसका उल्टा कार्य ही हो। उसकी रुचि ही उसे उस प्रकार का रुझान करवाती है। जहाँ पर मिथ्यात्व दृढ़ हो, ऐसे ही असत् समागम का प्रेम करता है। अत: व विपरीत विनय को समझकर ऐसा उल्टा निर्धार कर बैठता है कि उसे सही समझने में विरोध उठता है। ऐसों को दुर्लभबोधि कहा है क्योंकि उसे सत् की परीक्षा नहीं है, वह सही विनय समझता नहीं है।

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि हे श्रीगुरु ! आपके चरणकमल के प्रताप से मैंने संसार को पार कर लिया है। देखो ! सत् का कितना आदर है। खुद की अनन्ती पात्रता होते हुए भी श्रीगुरु का बहुमान करते हैं, गुरु के प्रति दीनता करते हैं। यही अनन्ती साधकशक्ति का द्योतक है, पूर्ण तत्त्व को पा लेने की लगन दिखती है। दर्शनसार में देवसेनाचार्य कहते हैं कि हे पद्मनन्दी ! हे कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु ! आपने यदि साक्षात् सीमन्धर तीर्थङ्कर भगवान के पास जाकर इस समयसारपाहुड (स्वात्मबोध समयप्राभृत) नहीं लाये होते तो हमारे जैसे मुनियों का क्या होता ? आपका अनन्त उपकार है। आपके द्वारा ही हमने आत्मतत्त्व पाया है। इसी में सद्गुरु व सद्धर्म का विनय है। जो आत्मा यदि गुणवृद्धि होनेपर झुक न जाए, नम्रता न दिखे तो वह आत्मार्थी नहीं है। मतार्थी के अभिप्राय में अनन्त अज्ञान प्रतिक्षण भरा पड़ा है। वह त्रिकाली सत् का अनादर कर रहा है, फिर भले ही वह कितना बड़ा धर्मी कहलाता हो।

आत्मार्थी धर्मात्मा नमन करते हैं कि हे गुरु ! हे प्रभु ! मैं नहीं, तू ही सत्य है; तेरे आधार से ही मेरा जीवन सत्यमय है। ऐसा समझकर विनय करते हैं। महाधर्मात्मा नग्न निर्ग्रन्थ मुनि पद्मनन्दी आचार्य ऋषभजिन की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वर ! मैं वाणी के द्वारा आपकी स्तुति कैसे करुँ ? विकल्प द्वारा सहजभाव का वर्णन करने में असमर्थ हूँ, मूढ़ हूँ। वे पूर्ण ज्ञायकता के लक्ष्य से, ज्ञानघन में मस्त थे। स्वानुभव के लक्ष्य से पूर्णता तक पहुँच जाने के कामी थे। सत्पुरुष का विनय करके (अपने आप में) जम गये थे। एकही भव में मोक्ष जानेवाले हैं। उन्होंने कभी मिथ्यादृष्टि को, मोहीजीव को नमन किया नहीं है, कहीं द्वेष नहीं है। ज्ञानी जो कुछ बोले, जो कुछ करे, वह सब कुछ

सुल्टा है। आत्मा अविनाशी, निजानन्द, सहजस्वभावी है और देहादि जड़वस्तु के लक्ष्य से जो-जो भाव हैं, वे विकारी परभाव हैं। रागभाव से आत्मस्वरूप की सिद्धि नहीं है। इसीलिये आत्मार्थी धर्मात्मा का विनय कर रहा हो, उस समय भी अन्तरङ्ग में ज्ञानदशा की स्थिरता है; अपने बेहद अकषायभाव का लक्ष्य है। उसके लक्ष्य में विद्यमान ज्ञानी साधक धर्मात्मा स्वयं स्वभाव में एकाग्र, स्थिर रह नहीं पाते, तब पुरुषार्थ उठाने हेतु विनयसहित सद्गुरु की स्तुति करते हैं। उनका विनय प्रामाणिक है। निम्न भूमिकावाले मुमुक्षु भी समझकर विनय करते हैं। अब इस भूमिका की अन्तिम गाथा कहते हैं। **२२.**

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतम लक्ष;
तेह मतार्थी लक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष।।२३।।

होय मतार्थी तो उसे, होय न आतम-लक्ष।
ये ही मतार्थी लक्षण हैं, यहाँ कहे निष्पक्ष।।२३।।

जिसे अपने मत का प्रयोजन सिद्ध करना है, मताग्रह छोड़ना नहीं है – ऐसे मतार्थी-मानार्थी को आत्मा का लक्ष्य होगा ही नहीं। आत्मलक्ष्य माने परद्रव्य और पुण्य-पाप आदि सभी परभावों के लक्षणों द्वारा, स्वाश्रितज्ञान द्वारा आत्मा को पर से भिन्न करना। यह आत्मा का निर्दोष लक्षण है। इस स्वरूप को यथार्थतापूर्वक मुमुक्षु जीव पहचान सकता है किन्तु मतार्थी जीव ने उसका अन्यथा लक्षण माना है। मतार्थी को सत् की पहचान नहीं है। अब मतार्थी के लक्षण की पहचान बताते हैं कि जिस प्रकार गुड़ का लक्षण मिठास, कालीजीरी का लक्षण कटुता; उस प्रकार मतार्थी का लक्षण मताग्रह और आत्मार्थी का लक्षण केवल निर्दोष आत्मार्थ। मतार्थी को पक्षपाती इसलिये कहा है कि उसे सद्गुरु की और सत् की पहचान नहीं है बल्कि वह तो इसकी विरुद्धता का अनुसरण करता है। वह अपना स्वच्छन्द रखकर विपरीतता का आचरण करता है।

दूसरी बात यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान से भी जीव गिर जाता है किन्तु ऐसा कहने का आशय यह नहीं है कि अन्य जीव पुरुषार्थ में कमज़ोरी रखें या प्रमाद करें। ज्ञानी का कोई वचन पुरुषार्थ को कमज़ोर करनेवाला नहीं होता। कोई ऐसा माने कि अरे...रे! इतनी ऊँची भूमिकावाला भी गिर जाता है तो अपना क्या होगा ? ऐसी कमज़ोर बातों की आड़ लेनेवालों ने पूर्व में कमज़ोरी का सेवन करके अपने स्वाधीनतत्त्व को पराधीन व भयवाला माना है। वीतरागसर्वज्ञ श्रीतीर्थङ्कर भगवन्तों के वचनों का आशय सभी जीवों के भावों की उज्ज्वलता हेतु, निःशङ्कस्वभाव की वृद्धि हेतु होता है। सर्वज्ञ का वचन निष्पक्षपाती होता है। उनके वचनों को समझकर सुल्टा अर्थ लेने की जिसे रुचि नहीं है, वह उल्टाभाव पकड़ लेता है किन्तु सर्वज्ञ भगवान का हेतु सभी जीवों के हित का रहता है। पूर्व में उन्होंने ऐसी भावना की थी कि सभी जीवों को आत्मधर्म प्राप्त कराऊँ (इसका गर्भित भाव यह है कि मेरा आत्मा शीघ्र पूर्ण हो जाओ); इसलिये उनके निमित्त से समवसरण में जो ध्वनि खिरती है, वह आत्मार्थबोधक एवं परमहितकारी ही होती है। शास्त्र में उनका कथन गणधरदेव आचार्य संक्षिप्तभाषा में व्यवस्थितरूप से रखते हैं, वे संक्षेप में ही होते हैं। उनका आशय, जीव समझकर पुरुषार्थ उठाकर आत्मकल्याण साधलें – ऐसा होता है।

दूसरी बात यह है कि एक आत्मा की जाति ऐसी है कि जो कभी मोक्ष में नहीं जायेगी किन्तु ज्ञानी का वचन जिस भाव से और जिस प्रकार से है, उस भाव से जो जीव समझता है, वह अभव्य नहीं हो सकता। भगवान के कथन से तो गुण की वृद्धि होनी चाहिए किन्तु उनका न्याय नहीं समझते हुए जो जीव बहानेबाजी करता है कि ऐसा नहीं होना चाहिए, उनका निषेध करने के लिये अपनी कल्पना द्वारा कहे कि उसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए, इत्यादि अनेक बहाने दिखाकर पर का दोष माननेवाले, कहनेवाले को आत्मार्थ नहीं चाहिए किन्तु मतार्थ व क्लेश चाहिए। जिसे आत्मार्थ चाहिए, उसे तो अपना स्वच्छन्द, मताग्रह छोड़कर श्रीगुरु की शरण में जाना चाहिए। **२३.**

अब, मतार्थी के लक्षण निष्पक्षपातरूप से कहते हैं कि :-

बाह्यत्याग पण ज्ञान नहि, ते माने गुरु सत्य;
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व।।२४।।

बाह्य त्याग पर ज्ञान नहिं, वह गुरु माने सत्य।
अथवा निज-कुल-धर्म के, गुरुओं में ही ममत्व।।२४।।

जिसे सच्चाज्ञान नहीं है किन्तु जिसका बाह्य त्याग-वैराग्य दिखता हो, ऐसों को लोग सच्चे गुरु मान लेते हैं क्योंकि जगत के लोग बाह्यदृष्टि से देखनेवाले हैं। किसी की बहुत कठिन कष्टक्रिया दिखे तो कहे कि अहो ! कितना तप करते हैं ! कितने कम वस्त्र उपयोग में लेते हैं ! कोई यदि पावभर मूँगफली से निभा ले तो उसकी महिमा लाकर उसके गीत गाये। कोई यदि नग्न होवे, कोई गर्म टिन पर तीन घण्टे तक तपायमान होता हो या ब्रह्मचर्य जैसा किसी को दिखता हो तो उसे देखकर वाह ! वाह ! कर बैठें और विनय करता रहे कि अहो ! आप बड़े त्यागी हो ! जगत में धर्म के बहाने से अन्यथा प्रवर्तन करनेवाले दो वर्ग मुख्य हैं – कोई शरीरबल –वाला हो, वह क्रियाकाण्ड और कायक्लेश में प्रवर्तन करते हैं और जो शरीरबल में मन्द हो किन्तु बुद्धिबल विशेष हो, उसे चारित्र पर यानी कषाय मिटाने की ओर लक्ष्य नहीं होता किन्तु शुष्कज्ञानीपना होता है। ऐसे बुद्धिवाले जीव क्रियाकाण्डवालों का निषेध करते हैं और क्रियाकाण्डवाले शुष्कज्ञानी का निषेध करते हैं। इस प्रकार दोनों बिना समझे ही, आत्मा के भान बिना ही परस्पर एक दूसरे का निषेध करते हैं।

पुनश्च, यदि किसी को दोनों प्रकार हों, यानी परमार्थ की समझ बिना का शास्त्र – ज्ञान, बाह्यज्ञान हो और क्रिया पालन भी करता हो, उसे भी सत् की खबर नहीं है। वह दोनों को ही विपरीतरूप से मानता है और कहता है कि देखो ! हम समझकर ज्ञान व क्रिया करते हैं।

आत्मार्थी धर्मात्मा हों, वे जगत के भिन्न-भिन्न मत देखकर परेशान नहीं होते,

वे तो गलत का निषेध करते हैं। वह उनका प्रामाणिकपना है। उसे कोई द्वेष नहीं कहा जायेगा। किन्तु विकल्पदशा होवे तो उस प्रकार का विकल्प आ जाए, इस अपेक्षा से यहाँ कहा है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, राग के कर्तारूप नहीं है, बाह्यत्याग ग्रहणरूप या शुभरागरूप नहीं है।

किसी को दु:खगर्भित वैराग्य हो, उसे भी त्याग-वैराग्य मान लेता है। कोई मासक्षमण (एक महीने के लगातार उपवास) का तप करता हो, उसकी दुर्बलकाया देखकर बहुत लोग मान देने लगते हैं। यदि स्त्री आदि का बाहर में वियोग हो तो उसके कारण बड़प्पन दिखता है। ऐसों को मान देनेवाले जीवों को घर-संसार का अतिमोह, ममता होती है। अत: ऐसे जीव उन बाह्यत्यागियों को देखकर उनका बहुमान करते हैं किन्तु आत्मतत्त्व की पहचान क्या ? उसकी तो उन्हें खबर नहीं है।

तीन प्रकार के परीक्षक कहे हैं :-

(१) अज्ञानी, प्रथम भेष देखते हैं कि अपने सम्प्रदाय का भेष है न ! अपने कुलधर्म का भेष देखकर खुश हो जाता है।

(२) इनसे कुछ ज्यादा समझदार होते हैं, वे देह के चारित्र को, क्रिया को पहचानते हैं। खुद को सम्मत बाह्यचारित्र की क्रिया हो तो प्रशंसा करें।

(३) जो बाह्यत्याग या बाह्यभेष पर वज़न नहीं देते हुए अन्तरङ्ग तत्त्व, सम्यक्स्वरूप को यथार्थ जानते हैं, उसी की परीक्षा करके सत् का आदर करते हैं और गलत को गलत समझते हैं; वे ही आत्मार्थी हैं।

कोई मानते हैं कि गलत-सही धर्म की परीक्षा करने बैठ जाए, तो फालतू में राग-द्वेष होते हैं। अत: परीक्षा नहीं करनी। ऐसा माननेवाले मूढ़मति का यहाँ पर निषेध हुआ।

जिनकी बाह्यदृष्टि है, वे बाह्य त्याग-वैराग्य को स्थूलदृष्टि से देखते हैं और उसका विनय, नमस्कार आदि बहुमान करते हैं। इसका कारण यह है कि स्वयं देहादि के सुख, सुविधा, आसक्ति कम नहीं कर सकता; इसलिये ऐसी सुविधारहित बाह्यचारित्र, कायक्लेश देखे तो आश्चर्यचकित हो जाता है। ऐसे जीव को आत्मा, परवस्तु के ग्रहण -त्यागरहित, निर्मल, अबन्ध, बेहद ज्ञाता है – यह बात कैसे बैठेगी ?

जिसने बाह्यत्याग -वैराग्य के अनुसार आत्मा की हद बाँध दी, उसे बेहद सामर्थ्यस्वरूप आत्मा की पहचान नहीं है; उसे अन्तरङ्ग त्याग नहीं है। बाह्ययोग की क्रिया दिखे, उस पर से सही लक्षण मान लेना – वह दोषित लक्षण है। जिसे सही ज्ञान नहीं है, यानी अन्तर त्याग-वैराग्य नहीं है, उसे बाह्यत्याग में अज्ञानपूर्वक, अभिमानसहित, मिथ्या आग्रहसहित कर्तृत्वबुद्धि है; उसका वैराग्य केवल द्वेषरूप या दु:खगर्भित या मोहगर्भित है किन्तु ज्ञानगर्भित नहीं है। राग के त्यागरूप त्याग नहीं हुआ, लेकिन उसे बाह्यपदार्थ या प्रसङ्ग का योग नहीं था, स्त्री आदि परिग्रह का अन्तराय था; इसलिये उसे वर्तमान में जो त्याग जैसा योग दिखता है, उसमें कर्तृत्वभाव है, ज्ञातास्वभाव का तिरस्कार है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ९-१०-१९३९

चौबीसवीं गाथा चालू है।

जिसे अपने सत्स्वरूप की रुचि नहीं है, ऐसे बाह्यदृष्टि जीव बाह्यलक्षण को ही देखते हैं। इसमें ऐसा भी आया कि प्रथम जो जीव सद्गुरु के विषय में ही भूल करता है, वह सब कुछ भूलता है। उसके कारण बताये हैं।

सद्गुरु के लक्षण प्रथम बताये कि श्रीसद्गुरु ही मुमुक्षु आत्मा को सच्चा हित समझा सकते हैं। व्रत, तप, धर्म क्या है; निश्चय-व्यवहार की सन्धि क्या है; पर से भिन्न, एकत्व की प्राप्ति क्या है ? – यह सद्गुरु यथार्थरूप से समझा सकते हैं। सत्शास्त्र तथा सद्देव की पहचान श्रीसद्गुरु कराते हैं। असद्गुरु, सद्देव-गुरु-शास्त्र एवं अन्तरङ्ग विरती से उल्टा ही बताते हैं। असद्गुरु का सङ्ग करनेवाले स्वयं ही अयोग्य हैं। मतार्थी जीवों को अनादि से बाह्यवस्तु का उनकी दृष्टि अनुसार मोह रहता है। अतः गुरु की पहचान बाह्यलक्षण से ही करते हैं। २४ वीं गाथा में कहा है कि '**बाह्यत्याग पण ज्ञान नहि, ते माने गुरु सत्य;** अथवा **निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व।**' जगत को अन्तरङ्ग की परीक्षा नहीं है; अतः बाह्यत्याग

में झुकते हैं, उसे धर्म मानते हैं। जिसे अन्तरङ्ग त्याग नहीं है, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं है और जिसे सच्चा ज्ञान नहीं है, उसे चारित्र यानी ज्ञान की स्थिरता भी नहीं है। ज्ञानरहितपना, वह कुगुरु का और मतार्थी का लक्षण है।

बाह्यदृष्टि जीव स्थूलपर्याय को देखता है, यानी यह त्यागी है, ब्रह्मचारी है, गरम पानी पीता है, ऐसी तपश्चर्या करता है, मुनि है – इस प्रकार जो बाहर का लक्ष्य करता है, वह आत्मा को भूलता है। वे जीव ऐसे मानते हैं कि यह गुरु सत्य है। अथवा '**निजकुळधर्म ना, ते गुरुमां ज ममत्व।**' इस २४वीं गाथा में यह आया कि खुद से बाह्यत्याग, विषय-कषायादि का त्याग होता नहीं है; इसलिये जिसे त्यागादि जैसा योग है, उसका बहुमान करता है। किन्तु बाह्यत्याग से धर्म हो तो वनस्पति आदि एक स्थान पर बाह्यत्यागी होकर बैठे हैं, उन्हें भी धर्म होना चाहिए।

कई लोग अपने माने हुए गुरु ही सत्य हैं – इस प्रकार अपने स्वच्छन्द का ही पोषण करते हैं और उन्हीं में ममत्व दृढ़ करते हैं। सही क्या है ? – उसकी पहचान बिना कुलधर्म के गुरु को दृढ़ करते हैं। चाहे जैसे धर्मगुरु हो किन्तु अपने से तो वे ठीक हैं; हम तो संसारी हैं, इसलिये हमें तो जो वे कहें सो मानना – ऐसा कई लोग कहते हैं। किन्तु जो सत्य क्या है, उसे समझने की गरज़ बिना मताग्रह को दृढ़ करनेवाले झूठे का ही ममत्व करते हैं, वे मतार्थी हैं। यहाँ पर दो लक्षण बताये हैं -

१. सच्चा ज्ञान नहीं, और

२. अन्तर त्याग नहीं, माने ज्ञान की स्थिरता नहीं। ये दोनों कुगुरु के लक्षण कहे, और दो लक्षण मतार्थी के कहे। **२४.**

जो लोग गुरु की पहचान करने में भूले हुए हैं, वे सद्देव को पहचानने में भी भूले हुए हैं। ऐसा अब कहते हैं –

जे जिनदेह प्रमाण ने, समवसरणादि सिद्धि;
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निज बुद्धि।। २५।।

जो जिन-देह-प्रमाण अरु, समवसरणादि सिद्धि।
वर्णन समझे 'जिन' का, रोकि रखे निज बुद्धि।।२५।।

जिस आत्मा ने पूर्ण शुद्धपद को प्राप्त किया, वह आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप है। उन्होंने पूर्व में भावना की थी कि सभी जीवों को आत्मधर्म की प्राप्ति कराऊँ। इस राग के कारण तीर्थङ्करनामकर्म की प्रकृति बँध गयी होती है। उनकी काया अति सुन्दर होती है, उस शरीर में १००८ उत्तम लक्षण होते हैं। ऐसी रूपवन्तता पुण्य के अतिशयसहित होती है।

मतार्थी, उनके (भगवान के) देहादि के व पुण्य के ठाठ-बाट के गुणगान करते रहते हैं किन्तु श्रीवीतरागतत्त्व क्या है ? उनके स्वरूप का भान (कि जिसकी यथार्थता समझने पर निजपद भी समझ में आये) करते नहीं हैं। वे तो मात्र शरीर के लक्षण, रूप के वर्णन का गुण गाकर उसी में धर्म मानते हैं किन्तु यह कोई आत्मा का लक्षण नहीं है। वे लोग जहाँ-तहाँ पुण्य के अतिशय से आत्मा का गुण मानते हैं। वास्तव में वह गुण की महिमा नहीं है किन्तु पुण्य की चमकीली धूल का बखान है। सच्ची महिमा तो ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं। जिसे पूर्णशुद्ध आत्मतत्त्व का भान है, उसे आत्मा के लक्षण का पता है। उसकी स्तुति करनेवाला उसके लक्ष्य से निश्चयस्तुति कर सकता है। अनन्त आनन्द से भरपूर पूर्ण ज्ञानघन तत्त्वस्वरूप कि जो तीर्थङ्कर भगवान के आत्मा में भरा पड़ा है – उसकी पहचान नहीं है और ३४ अतिशय इत्यादि तथा सुवर्ण के किले, आठ प्रातिहार्य, इन्द्रों द्वारा सेवा इत्यादिक गीत गाता है लेकिन अन्तरङ्गस्वरूप क्या है ? – उसे पहचाने बिना वह वास्तव में तो राग में रुका हुआ है। श्रीजिन का स्वरूप पहचाने बिना उसकी सारी खतौनी उल्टी है। जिनपद है, वही निजपद है। श्रीअरिहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से यथार्थरूप से सत्समागम द्वारा जो जानता है, वह निश्चय से अपने ही स्वरूप को जानता है। प्रवचनसार की ८० वीं गाथा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य फरमाते हैं कि :-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।

(श्री प्रवचनसार अ. १)

वीतराग परमात्मा की पूर्ण शक्ति का पिण्ड आत्मा है। वह जैसा है, वैसा जो कोई जानता है, यानी अखण्ड, त्रिकाली, अनन्त शक्ति से अभेद आत्मद्रव्य, गुण व पर्याययुक्त अहरन्तभगवान के शुद्ध आत्मा को यथार्थरूप से जानता है, उसका मोह अवश्य क्षय होता है। आत्मा अविनाशी, पूर्ण निर्मल है; अक्रिय व ज्ञानमात्र है; पर से भिन्न, असङ्ग है – ऐसा जिनपद जिसने जाना, उसने निजपद जाना है। इसलिये उसकी भ्रान्ति, यानी दर्शनमोह क्षय हो जाता है। कारणरूप से तो मोह का उसी समय अभाव है। श्रीमद्‌कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं विदेहक्षेत्र में श्रीसीमन्धर भगवान के पास साक्षात् गये थे और आठ दिन तक तीर्थङ्कर सर्वज्ञभगवान की वाणी सुनी थी। उसमें क्षायिकभाव, अप्रतिहतभाव का वर्णन उस समय बहुत चला था; इसलिये उस भाव की गुंजार प्रवचनसार में तथा समयसार में दिखती है। सर्वज्ञ का स्वरूप और वह भाव जिसने जाना, उसका मोह यानी स्वस्वरूप की भ्राँति का कारण मोहकर्म अवश्य टल जाता है, क्षय हो जाता है।

समयसार में श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि नगरी का वर्णन करने से कोई उस नगरी के भूप का वर्णन हो गया, गुणगान हो गया – ऐसा नहीं कहा जाता। उस प्रकार पुण्यादि, शरीरादि गुण की स्तुति करने से केवलीभगवान के गुण की स्तुति नहीं होती, एवं भगवान को जो पुण्यप्रकृति का योग है। उसी का लक्ष्य करके, उसमें मोहित होकर, उसमें जो कोई अपनी बुद्धि रोक रखे और कहे कि अहो ! हमारा कुलधर्म कैसा सुन्दर है ! भगवान चले, तब देवलोग सुवर्णकमलों की रचना करते हैं, नृत्यगान करते हैं, इत्यादि पुण्य की मिठास की ओर जिसका लक्ष्य है, उसका झुकाव ज्ञानतत्त्व की ओर न रहकर, पुण्य की ओर रहता है। वीतरागता से सम्बन्धित कोई आत्मा की बात करना चाहे तो बीच में बात रखते हैं कि भगवान का ऐसा पुण्य होता है (देव) कि ६४ जोड़ी चमर डुलाते हैं, इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार जिसे पुण्य की मिठास है, पुण्य का राग है – उसे अपना भान नहीं है। अन्तरङ्गस्वरूप की वीतरागता को भूलकर पुण्य के बखान करता है। ज्ञानी उसे कहते हैं कि तुझे अपनी जाति व सर्वज्ञ का स्वरूप जानने की रुचि नहीं है। जिन आचार्यादि धर्मात्माओं ने भगवान की स्तुति की है, वह पुण्य की अपेक्षा से नहीं की; जबकि इसे तो भीतर में, गहरायी में, पुण्य की, और

बाह्य माहात्म्य की मिठास छिपी है। ऐसी मिठास न हो तो आत्मा की बात, वीतरागता जाने बिना नहीं रहेगा। तत्त्व की बात में अकषायभाव की स्थिरता का प्रसङ्ग हो, उस समय जो पुण्य के ठाठ की बात रखे – उसमें रस ले, उसे अकषाय, ज्ञाता वीतराग का माहात्म्य नहीं है किन्तु पुण्य का, राग का माहात्म्य है।

शास्त्र में आता है कि प्रतिक्रमण यानी विभाव से निवर्तन होना और स्वरूप में सावधान रहना। अब ऐसे समय पुण्य की, राग की बात करने कराने बहुत से जीव बैठ जाते हैं। दूसरे 'खामणे' में लोग खास करके उसका वर्णन करते हैं और उसके पुण्य वैभव में रस लेते हैं; उसमें खुद की वंचना है। शास्त्र में पुण्य की बात आये, सर्वार्थसिद्धि के देव के वैभव की बात आये, इन्द्रादि, चक्रवर्ती अथवा तीर्थङ्कर भगवान के पुण्य का वर्णन आये – उसमें अपने आप को भूलकर जो राग का वेदन होता है, वह अज्ञानभाव है; पुराने रस का आदर है, गहरायी में उसकी मिठास है। इस राग के अंशमात्र का भी जहाँ आदर है, वहाँ अविकारी आत्मा का अनादर है।

प्रश्न - शुद्धभाव में नहीं रहा जाता तो शुभभाव में क्यों नहीं रहना ?

उत्तर - शुभभाव रखना उपादेय है – ऐसा मानना अज्ञान है। शुभभाव रखने लायक है, कर्तव्य है तथा अभी शुभभाव रखकर बाद में ठीक हो जायेगा, शुभभाव व्यवहारधर्म है – इस प्रकार शुभपरिणाम में रुके रहने की उपादेयबुद्धि हुई, वहाँ अज्ञान है। मान्यता क्या होनी चाहिए? वह समझो। शुभभाव हो जाए, वह अलग बात है किन्तु उसे उपादेय मानना तथा करने लायक है – ऐसा मानना, वह अलग बात है। जैसा है, वैसा समझकर ज्ञान करने का है। ज्ञानी, पुण्य के ठाठ को और संयोग में दु:ख के ढेर, दोनों को समान मानते हैं। **'रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे मान्या पुद्‌गल एक स्वभाव जो'** – इस अभिप्राय को दृढ़ किये बिना, शुभयोग में स्वयं मध्यस्थ नहीं रह सकेगा। शुभराग रखने लायक है, पुण्यादि करने लायक हैं – यह मान्यता मिथ्याशल्य है। पुण्य सो मैं नहीं; मैं रागरहित हूँ, पूर्ण असङ्ग हूँ – इस प्रकार अन्तरङ्ग पुरुषार्थपूर्वक एक बार हाँ तो लाओ ! तीर्थङ्कर नामकर्म का पुण्य मुझे नहीं चाहिए – इस प्रकार परद्रव्य-परभाव की हेयबुद्धि का सद्‌विवेक तो लाओ ! पर से भिन्नता और आत्मा का आदर –

ये क्या कोई बातें होगी ? खुद की वर्तमानदशा किस भाव में विद्यमान है तथा किस प्रकार के भाव हैं – उसके भान बिना, स्वयं जड़ की जाति की, पुण्य की मिठास का अनुभव / वेदन करता है और मानता है कि मैं देव, गुरु, धर्म का आदर करता हूँ; यह तो आत्मवंचना है। उसे सर्वज्ञ प्रभु ने अनन्तानुबन्धीकषाय के परिणाम कहे हैं।

अनन्त काल में जो नहीं किया, उस समझ का कार्य कैसा होगा ? उसे समझने में बहुत विवेक चाहिए।

जिसे विवेक है, वह समझता है कि मैं जिस ज्ञानी के गुणगान करता हूँ, उनके स्वरूप की जाति को जड़ की जाति के विकारी ठाठ से नहीं पहचानी जा सकती, केवल अविकारी, असङ्ग, निर्मल, अविनाशी, पूर्ण ज्ञानघन, शुद्ध आत्मतत्त्व है; वह परद्रव्य, परभाव से निराला है। उसकी श्रद्धा होने पर सर्वज्ञ वीतराग श्रीजिन की प्रतीति का भाव आता ही है। उनका एक न्याय अनन्ते सम्यक् न्याय को ले आता है। जिसकी तत्त्वदृष्टि नहीं है परन्तु बाह्यदृष्टि है, उसे पुण्यादि की सुविधा की मिठास अन्तर में होती है। किसी को देवों के वैभव का वर्णन, तीर्थङ्करादि की विभूति का वर्णन, सुनने की यदि रुचि हो तो समझना कि उस जीव को पुण्यादि की सुविधा की मिठास है और इसलिये तत्त्व की बात में उसे उल्लास नहीं आयेगा।

प्रश्न – क्या भक्ति आदि शुभराग नहीं करना चाहिए ?

उत्तर – राग को कर्तव्य माने, वह अलग बात है और शुभराग हो जाए, वह अलग बात है। आत्मा प्रति जिसका झुकाव है, ऐसे धर्मात्मा को भी साधकदशा की अपूर्ण स्थिति में शुभ प्रशस्तराग हो जाता है किन्तु उनका अभिप्राय वीतराग दृष्टिरूप वर्तता है और उससे निर्जरा होती है। वह भाव कैसा होगा ? – वह समझने के लिये सत्समागम पर ज्ञानियों ने वज़न दिया है।

आत्मा, आत्मा को अपने सत्समागम का लाभ दे, ऐसे लायक जीव को भाषा में अहंभाव नहीं होता; निर्मानता ही होती है। हितरूप एवं अहितरूपभाव का अन्तर जिसे समझ में न आये, उसकी खतौनी में जहाँ-तहाँ उल्टा ही होगा।

प्रश्न – जब तक समझ में न आये, तब तक क्या करना ?

उत्तर – सच्चा समझने में आने पर झूठ खड़ा नहीं रह सकता। जौहरी का दृष्टान्त – दो जौहरी मित्र थे। एक जवाहरात का व्यापारी अपने छोटे पुत्र को छोड़कर चल बसा। पैसों की तङ्गी हुई। उसकी माता ने तीन रत्न बेचने के लिये पुत्र को पिता के मित्र की पीढ़ी पर भेजा। वह युवान पुत्र उनकी दुकान पर गया। जौहरी ने हीरों को देखकर विचक्षणतापूर्वक सोचा कि ये हीरे तो काँच के हैं किन्तु अभी कह दूँगा तो वह परेशान हो जायेगा। इसलिये कहा कि, 'भाई ! इस समय इन हीरों को बेचने की जरूरत नहीं है। तुम अभी मेरी दुकान पर बैठना शुरू कर दो और अपने धन्धे की कला सीखो।' जब दो साल हुए और हीरों का पारखी बन गया, तब उसके पिताजी के मित्र ने आज्ञा की कि जा अपने तीनों हीरे ले आ। उसने घर जाकर बक्सा खोला और अपने माने हुए कीमती रत्न हाथ में लेकर देखा तो काँच के खोटे हीरे लगने से तुरन्त ही बाहर जाकर फेंक दिये। दुकान पर आया, तब सेठ ने पूछा कि 'क्यों ? भाई ! हीरे ले आया ?' उत्तर मिला, नहीं जी ! वे तो बिल्कुल खोटे हीरे थे। आपने मुझे पहले क्यों नहीं कहा ? तब जौहरी ने समझाया कि उस समय तुझे शङ्का होने का सम्भव था कि कहीं ये झूठ बोलकर मेरे सच्चे हीरे न ले या तेरा धैर्य टूट जाता। इस प्रकार झूठी श्रद्धावाला यदि श्रीगुरु के पास विनय सीखने के लिये आये तो श्रीगुरु उसे वापस निकाल नहीं देंगे किन्तु धीरे से कहेंगे कि 'भाई ! तुम अभ्यास करो, सत्समागम करो। तो गलत क्या और सही क्या – वह समझ में आने पर गलत का अनादर सहज ही होगा। उस जौहरी के लड़के को अपनी मूर्खता पर हँसी आ गयी। उस प्रकार सम्यग्ज्ञान होने के बाद भूतकाल में कैसे औंधे काम किये थे, उन भूलों पर हँसी आयी कि मैं काँच को मणि समझकर हर्षित हुआ था, वैसे बाह्यवस्तुओं के निमित्त को मैंने सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्न माने थे और झूठ में हर्षित हुआ था। सच्ची बात समझ में आ जाने पर ज्ञानी झूठे का आदर नहीं करते। यहाँ ज्ञानी कहना चाहते हैं कि जो जीव ऐसा मानते हैं कि 'हमारे कुलधर्म के देव हैं, इसलिये उनके पुण्य के वर्णन से मुझे लाभ होगा' – ऐसा मानकर बाह्य देहादि, समवसरण आदि का माहात्म्य करता है, उसे धर्म मानता है; उसे अन्तरङ्ग स्वरूप का पता नहीं है। ऐसे मातार्थी को उल्टा न्याय बैठा है। इसलिये जहाँ-

तहाँ उल्टी खतौनी ही करेगा।

मोक्षमार्गप्रकाशक में प्रश्न है कि हमें पुण्य की मिठास है – ऐसा आपको कैसे पता पड़ा? हम तो जानते हैं कि पुण्य का कारण अलग है और मोक्ष का कारण अलग है। फिर भी आप किस आधार से ऐसा कह रहे हैं?

इसका उत्तर यह है कि तुमने अतीन्द्रिय बेहद ज्ञानानन्दस्वभाव के सुख की, पुण्य के पराधीनसुख के साथ तुलना की है कि इन्द्र के और स्वर्ग के सुख से मोक्ष का सुख अनन्त गुना है; इसलिये हमने जाना कि तुझे पुण्य की मिठास है। तुम्हारी भाषा में ऐसा भाव आता है क्योंकि विकारी प्रकृति की पराधीनतारूप पुण्य का जड़रस (शातारस) उसका अनन्त गुना करके शुद्धआत्मा की जात के साथ तुलना करता है कि यह जहर के एक बिन्दु को अनन्त गुना करके उसकी तुलना अमृत के साथ करने बराबर है। जो जड़ की जाति, शाता के पराधीनयोग की जाति का अतीन्द्रिय आत्मा के निराकुल स्वाधीन आनन्द के साथ मिलान करता है, वह ज़हर व अमृत का समन्वय करता है। इस प्रकार जो श्रीजिन के देह व समवसरण का ही माहात्म्य करता है, वह वीतराग का स्वरूप व सुख उससे अनन्त गुना किन्तु उसी जाति का मानते हैं। इसलिये उसे शुद्ध आत्मस्वरूप की जाति कैसी होगी ? – उसका पता नहीं है। पुनश्च, वह कहे कि हमारे अन्तरङ्ग भाव ऐसे नहीं हैं किन्तु अज्ञान या अनजानपना, यह कोई बचाव नहीं है। अपने से रोग न सही हो तो वैद्य के पास जाना पड़ता है। इस प्रकार अपने पहाड़े में (धारणा में) कहाँ भूल है, यह बात जब तक जीव जानता नहीं है, तब तक आगे नहीं बढ़ सकता। सच्च समझने के कामी को आग्रह नहीं होता। सत्समागम द्वारा जिसने वीतरागदेव का स्वरूप जाना है, उसे आत्मा का हकार आता ही है। राग आदि विकल्प को पर जानने के बाद उसे पर के, निमित्त की अपेक्षा के साथ तुलना करने का भाव नहीं होता; पुण्य के सुख के साथ आत्मा के गुण की तुलना करने का भाव नहीं आयेगा। अब, मतार्थी के लक्षण में आयेगा कि मतार्थी जीव ने असद्गुरु का समागम दृढ़ किया है, इसलिये गुरु की पहचान में भूल हुई है; इसलिये सच्चे देव की भी पहचान नहीं है। सच्चे देव की पहचान नहीं है, इसलिये प्रत्यक्ष सद्गुरु का योग बने तो भी वह सत् का विरोध करेगा

और कुगुरु के पास अपना आग्रह दृढ़ करने के लिये जायेगा। खुद की दृष्टि में क्या रुचता है, किस ओर का रुझान रहता है ? – यह जानने का उपयोग रहना चाहिए। अपनी भूल कहाँ होती है ? – यह देखने में सावधान रहे तो भूल नहीं करेगा।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १०-१०-३९

आत्महित का भान नहीं है, ऐसे मतार्थी के लक्षण बताये जा रहे हैं। जिसे अपने मत का आग्रह नहीं है, अन्दर में कोमलता है, उसे तो सही समझने का अवकाश है किन्तु जिसे गलत की पकड़ है, उसे सत् समझने का अवकाश नहीं है। २४-२५ गाथा कही। उसमें श्रद्धा व ज्ञान की भूल बतायी है। असत् समागमवश जिसे गुरु की पहचान में भूल है, उसे सद्देव, धर्म और व्रत में भी भूल है। **२५.**

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां, वर्ते दृष्टि विमुख;
असद्गुरुने दृढ़ करे, निज मानार्थे मुख्य।।२६।।

प्रत्यक्ष सद्गुरु-योग में, रखता दृष्टि विमुख।
असद्गुरु को दृढ़ करे, निज-मान-हेतु मुख्य।।२६।।

इसमें कुदृष्टि व असद्गुरु की दृढ़ता के बारे में कहते हैं। जिस प्रकार मोक्ष का मार्ग सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र है; उससे विपरीतमार्ग कुज्ञान, कुश्रद्धा व कुचारित्र है। शुभराग को धर्म मानकर जीव रागादि में रुकता है और बहुत से लोग कहते हैं कि हम जो मान रहे हैं, वह सही है। मतार्थीजीव को प्रत्यक्ष सद्गुरु का कभी

योग मिले और दुराग्रहछेदक अविरोधक वाणी सुनने मिले, फिर भी उससे विपरीत चले। उल्टी दृष्टिवाले का ऐसा लक्षण है कि सही सुनने के बावजूद भी उससे विपरीत ही आचरण करे; न करे तो वह उल्टी दृष्टिवाला न कहलाये ! पूर्व में कहा कि '**जो जिनदेह प्रमाण** और....' मतार्थीजन नव तत्त्व और हित-अहित को समझते नहीं, देह के प्रमाण से आत्मा का प्रमाण नापे, तुलना करे, वह अविकारी चिद्घन के साथ जड़ की तुलना करता है। जिसका वीर्य उल्टा है, उल्टी दृष्टि है, उसे पुरुषार्थी मुमुक्षु का योग मिले, फिर भी उल्टी दृष्टिवाला उल्टा अर्थ ही करेगा। अन्दर में निषेध न करे तो वह उल्टा नहीं कहलायेगा। जिसकी दृष्टि अविकारी आत्मा से विपरीत है, उसे सत् की बात अरुचिकर हो जायेगी। धर्मात्मा ज़ानी होवे, समाधिमरण का अवसर होवे, उस समय कदापि व्याधि से आर्तध्यान या अस्थिरता हो जाए किन्तु कोई दूसरा ज्ञानी आकर पुरुषार्थ की बात करे कि तुरन्त ही उसका वीर्य ज़ोर से उछलकर पुरुषार्थ जगाकर अपना भाव उत्कृष्ट, सुल्टा कर लेवे। मिथ्यादृष्टिवाला सच्ची प्ररूपणा, सच्चा न्याय सुने, वहाँ कुतर्क और उसका विरोध किये बिना रहेगा नहीं और उन्मार्गप्ररूपक झूठे गुरु हो, उसके पास जाकर अपनी असत् बात को दृढ़ करेगा कि आप ही सही हो। अन्य लोग ऐसा कहते हैं, वे गलत हैं। कहता है कि हम तो इतने दृढ़ हैं कि देव के डिगाने पर भी नहीं डिगेंगे तो फिर दूसरों का क्या बूता ? अपने विरोधी चाहे जो कहें किन्तु हम क्यों डिगे ? शास्त्र में सत्श्रद्धा से नहीं डिगने की बात आती है, उसके बज़ाय औंधेपन से नहीं डिगेंगे - ऐसा कहता है। सत् की निन्दा करे और जहाँ अपने स्वच्छन्द व मान का पोषण हो, वहाँ असत्समागम में कुगुरुओं के पास जाकर बात को दृढ़ करे। खुद वास्तव में मुमुक्षु है - ऐसा मान मुख्यतया पाने हेतु अज्ञान की पुष्टि करता है और ऐसे असद्गुरु की भी पुष्टि करने का भाव करता है कि जगत में असत् टिका रहे और सद्गुरु, सद्धर्म जगत में न रहे। इस प्रकार अनन्त ज्ञानी की अशातना करके जाने-अनजाने में कई जीव अपना महाअनिष्ट करते हैं। पूर्व में जीवों को ज्ञानी पुरुष का योग हुआ, सत्पुरुष का योग मिला - वह पुण्य का कारण है। किन्तु भावों से पहचान नहीं हुई तो कल्याण नहीं हुआ। बाह्यदृष्टि से कई एक जीव पुण्य के योग से अनन्त बार सर्वज्ञ के पास गये हैं,

फिर भी कल्याण नहीं हुआ। पुण्य के पीछे दुःख छिपा हुआ है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि यह आत्मा पर से भिन्न, सहजानन्दी प्रभु है। उसका अपूर्वभान नहीं हुआ, तो उसने किया क्या ?

'बहु पुण्यकेरा पुंजथी, शुभ देह मानवनो मळ्यो;
तोये अरे ! भवचक्रनो आंटो नहि एक्के टळ्यो;
हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरूं ?
कौन संबंधे वळगणा छे ? राखुं के ए परहरुँ ?
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां, सिद्धांततत्त्व अनुभव्यां।
रे ! आत्म तारो ! आत्म तारो ! शीघ्र एने ओळखो,
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो।'

कितना निवृत्तिभाव है ? आत्मा की रुचि और जिज्ञासा कितनी है ? सच्ची जिज्ञासा के बिना सद्गुरु व सत् की पहचान कहाँ से हो ? हो ही नहीं सकती। आत्मभावपूर्वक प्रत्यक्ष सद्गुरु का योग जिसने किया नहीं है, उसे सद्गुरु कदापि मिले भी हों तो भी वे भाव से नहीं मिले हैं। जिस न्याय से, जिस विधि से कहा जाता है, उस कथन में पक्षपात नहीं है। अनादि काल से असत् का आश्रय करनेवाला सत् का नकार ही करेगा। उल्टी दृष्टिवाला मतार्थी झूठे तर्क का आग्रह रखेगा। अपना मत बतायेगा और कहेगा कि 'आप इस बात को मानो क्योंकि हमारी बात सही है। निमित्त के बिना आगे बढ़ा नहीं जाता। इसलिये प्रथम निमित्त चाहिए; आत्मज्ञान तो केवलज्ञान होने पर होगा। वर्तमान में आत्मज्ञान की बात करनेवाले झूठे लगते हैं; अतः हमारी बात ही सही है' इस प्रकार सत् के 'निषेध' में असत् का 'हकार (- हाँ') हुआ। ऐसा जीव असद्गुरु की प्रशंसा करे और अपनी दृष्टि के अनुकूल गुट में मिल जायेगा और कहेगा कि वाहवाह! अपनी श्रद्धा कितनी दृढ़ है। वे महाराज (साधु-सन्त) तो मुझे रोज सामने मिलते हैं किन्तु मैं उनको हाथ तक नहीं जोड़ता...इत्यादि बातों से अपनी गलत समझ को बहुत दृढ़ करता है। खुद को अनुकूल हो, ऐसे नामधारी गुरु का पक्ष करता है और कहता है कि मुझे अपने गुरु ने पास किया है, क्योंकि मेरी श्रद्धा दृढ़ है कि लाखों लोग

मुझे अन्यथा कहें तो भी मैं नहीं मानता।

वह कहता है कि सोच-समझकर (यत्नपूर्वक) बोलना-चलना, वह उपयोग; अन्य जीवों को नहीं मारना, वह धर्म; उपयोग, वह धर्म; दया, वह धर्म; देखे बिना हाथ-पैर नहीं चलाने, वह धर्म; तथा देखकर नहीं चलना और दूसरे जीवों की हिंसा करना, वह अधर्म – इस प्रकार दूसरों को देखने का काम करें, उसे उपयोग मानते हैं – यह हमारी दृढ़ श्रद्धा है। पापपरिणाम नहीं करने व शुभराग करना, वही धर्म है। जो हो सके, वह क्रिया करते हैं; किये बिना क्या मिलेगा? यह देह की क्रिया का नाम ही चारित्र है। यह करते-करते आत्मा के दर्शन-ज्ञान प्रगट होते हैं और देहरहित होने पर देह का चारित्र खत्म हो जाए क्योंकि सिद्धभगवान को शरीर है नहीं; इसलिये देह का चारित्र नहीं है। जब तक देह है, तब तक सारी देह की क्रिया करना–वही धर्म है और कोई कुछ कहे तो नहीं मानना, यह हमारी दृढ़ श्रद्धा है।

यह सब देखकर चन्द्रानन प्रभुजी की स्तुति करते हुए कहते हैं :-

'आणा साध्या विना क्रिया रे, लोके मान्यो रे धर्म;
दर्शन-ज्ञान-चारित्रनो रे, मूळ न जाणयो मर्म रे।
गच्छ कदाग्रह साचवे रे, माने धर्म प्रसिद्ध;
आत्मगुण अकषायता रे, धर्म न जाणे शुद्ध रे।
चंद्राननजिनजी सांभळीए अरदास।'

हे वीतराग परमात्मा ! आप द्वारा बोधित वीतराग आत्मधर्म, उसे लोग अन्यथा मानते हैं। आप तो वीतराग हो, अकषायी, करुणावन्त हो।

'तुज करुणा सहु उपरे रे, सरखी छे महाराय;
पण अविराधक जीवने रे, कारण सफळुं थाय रे।
चंद्राननजिनजी सांभळीए अरदास।'

हे अविकारी, तीर्थङ्कर भगवान ! आपकी निष्कारण, अविकारी करुणा, वीतरागभाव की दृष्टि, सभी जीवों के प्रति एकसी है किन्तु हे नाथ ! आपके निर्दोषमार्ग की जिसने विराधना नहीं की है, उसे आपका सन्मार्ग कारणरूप में सफल होता है किन्तु जिसने आत्मज्ञान की विराधना की है, उसे आपका कारण सफल

कैसे हो ? अनन्त भ्रमण का छेदन करने के उपायरूप सच्चे मोक्षमार्ग को समझानेवाले का योग मिला, फिर भी उनकी विराधना करनेवाले जीवों की दृष्टि उल्टी है। अतः ऐसे मतार्थी को कुगुरुयोग से पुष्टि मिलती रहती है। **२६.**

अब, ज्ञान में भूले हुए का लक्षण कहते हैं :-

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान;
माने निज मत वेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान।।२७।।

देवादिक गति भङ्ग में, जो समझे श्रुतज्ञान।
माने निज-मत-वेष का, आग्रह मुक्ति-निदान।।२७।।

शास्त्र में चार गति के भङ्ग का वर्णन है, वह यथार्थ है। उसमें देव का तथा नारकी का आयुष्य कम से कम दस हजार वर्ष का और ज्यादा से ज्यादा ३३ सागरोपम का होता है। देवलोक में इतने विमान हैं, नर्क में ऐसा है, इत्यादि अनेक वर्णन शास्त्र में हैं। वह त्रिकालसर्वज्ञ के ज्ञान में दिखा हुआ है। साक्षात् ज्ञान द्वारा जाने हुए लोक का वर्णन, गतागति के बोल इत्यादि पहाड़े थोथे जिसने सीखें हों, उसे श्रुतज्ञान समझे। उसे ही ज्ञानी मानकर कहता है कि यही धर्म है और ऐसा जिसे नहीं आता, उससे कहता है कि तुम कुछ जानते नहीं हो। वह प्रश्न करता है कि तीसरे देवलोक के देव की स्थिति क्या होती है ? सामनेवाला कहे कि मुझे पता नहीं है तो कह देता है कि इसे ज्ञान नहीं है। इस प्रकार शब्दज्ञान के विकल्प की रटन्तविद्यावाले के साथ बेहद ज्ञान-सामर्थ्यवाले की तुलना करता है। पुण्य के फल की मिठास की बात आये, वहाँ खुश हो जाता है और नारकी के दुःख की बात आये, वहाँ अरे रे ! ऐसा कहकर काँप उठता है। देवलोक का व इन्द्र का तथा सर्वार्थसिद्धिदेव के विमान का वर्णन आये, उसे सुनने में, पुढ़ने में उमङ्ग उठता है किन्तु तत्त्वज्ञान के न्याय की सूक्ष्मता आये, वहाँ बीच में पुण्यादि योग की बात रख देता है अथवा अन्दर में तात्त्विक बात

की अरुचि रहा करती है और पहाडे रटने में राग करता है – उसे धर्म मानता है और कहता है कि बस यही सच है, यही स्वाध्याय है, यही करने से हमारा मोक्ष होगा – ऐसा मतार्थी मानता है।

शास्त्र में जो विशेष वर्णन है, वह सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसा दिखा है, वैसा होता है किन्तु प्रथम जो प्रयोजनभूत है, उस परमार्थस्वरूप को न समझे और अन्य की कथा करता रहे, चर्चा-वाद-विवाद में रुक जाए अथवा मन की स्थिरता में रुक जाए, लेकिन खुद के अकषायभाव का हनन हो रहा है – उसकी उसे कुछ खबर नहीं है। जिस प्रकार घर में आग लगी हो, उस समय फालतू की चीजें बाहर निकालने बैठे, कण्डे-लकड़ियाँ बाहर निकालने बैठे किन्तु सत्शास्त्र, कीमती चीजों का बक्सा और जेवर इत्यादि जो बढ़िया से बढ़िया चीजें हैं, उनकी परवाह न करे और कूड़े को अपने प्रयोजनभूत माने कि लकड़ी अच्छी है, खाना पकाने में काम आयेगी; उस प्रकार आत्मा को भूलकर निमित्त में फँसा है कि इससे मेरा कल्याण होगा। आत्मा सर्वोत्कृष्ट चीज़ है। उसकी परवाह नहीं करके निमित्त की ओर लक्ष्य रखता है।

यह जीव अनन्त बार पुण्यस्थान में हो आया है। वह उपाधिबन्ध का कारण है, अतः उसकी तुच्छता समझकर, हेय समझकर समभाव रखना। समभाव न रखे तो ग्यारह अङ्ग की जानकारी भी मिथ्या कही है। किसी की बुद्धि विशेष हो और वह प्रयोजनवश न्याय का अभ्यास करे, यह अलग बात है किन्तु शब्दों को रटने में रुक जाए, उसके राग को यानी शुभपरिणाम को स्वाध्याय माने, धर्म माने, मन की धारणा को धर्म व श्रुतज्ञान मान लेवे तो वह मूढ़ है। **'माने निज मत वेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान।'** सत्-असत् जाने बिना, मैं जानता हूँ, अपने मत व सम्प्रदाय के भेष का आग्रह ही मुक्ति का कारण है – ऐसा मतार्थी मानता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य समयसारजी शास्त्र में कहते हैं कि चारित्र का लक्षण व्रत (विकल्पसहित का) कहना – वह उपचार है। भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा अरूपी ज्ञानघन है। उसमें व्रतादि के शुभविकल्प भी द्रव्यलिङ्ग हैं; मोक्षमार्ग नहीं। बाह्यव्रत और वेष, उसका शुभराग तथा मनसम्बन्धित शुभविकल्प – उसमें आत्मधर्म नहीं है। कषाय की तीव्रता मिटाकर शुभराग द्वारा अकषायदृष्टि की मात्र धारणा करे

अथवा मन्दकषायरूप व्रत के शुभविकल्प करे, वह भी बाह्यवेष है। उससे आत्मा को धर्म होगा, ऐसा मानना वह अज्ञान है। राग -द्वेष रहित निर्मलज्ञानस्वरूप की पूर्णदशा का लक्ष्य तथा उसकी श्रद्धा पर जिसकी अविरोधदृष्टि है, मात्र एक अक्रिय ज्ञाताबिम्ब अरागी, पूर्णशुद्ध आत्मा ही उपादेय है; अन्य का ज्ञान द्वारा निषेध रहता है – उसे अनन्तज्ञानियों ने सम्यग्ज्ञान यानी आत्मधर्म कहा है। ऐसे धर्मात्मा को कदाचित् ज्ञान का विकास अधिक न हो, गतागति या गुणस्थानक के भेद याद न हों, फिर भी उपरोक्त भावश्रुतसहित का सम्यक्चारित्र आंशिकरूप से भी रहता ही है। ऐसा मत मानना कि इतनी क्रिया से ही, इतनी पुस्तक, शास्त्रादि जानने के बाद ही आत्मज्ञान होता है। आत्मधर्म, शुभविकल्प से पर है, फिर भी समझ में आये, उसे सरल है, सहज है। जानवर में व नारकी में भी आत्मज्ञान होता है। मनुष्यभाव में सत्पुरुष व सत् का आदर किया हो किन्तु बीच में विराधना की हो तो उसके फलतः पशु होता है, मत्स्य होता है। वहाँ जातिस्मरणज्ञान या अवधिज्ञान होने पर आत्मज्ञान हो जाता है। उसे नौ तत्त्व के नाम की खबर नहीं है किन्तु इतना जानते हैं कि यह भाव हितकारी, अविकारी है; कलुषता, अस्थिरता से भिन्न जाति का है। शान्त, अनाकुल मेरा स्वरूप है और इसके अलावा सारे भाव पर हैं। इस प्रकार संक्षेप में भेदज्ञान का विवेक रहता है किन्तु यह बात गहरायी में उतरे बिना कइयों को कठिन पड़े – ऐसी है। आगे बढ़े तो सब कुछ समझ में आ जाए। तिर्यञ्च को भी एक ज्ञानमय अकषायभाव पर ऐसी दृष्टि रहती है कि यह शान्ति ही मेरा स्वरूप है; अन्य कुछ नहीं। उसमें संवर, निर्जरा आदि नौ तत्त्वों का सार गर्भित है, रटना नहीं पड़ता। किन्तु इससे यह नहीं कहना चाहते कि शास्त्रों को नहीं जानो। जो लोग सूत्रसिद्धान्त के शब्दों के जानपने में ही आत्मज्ञान मानते हैं और तत्सम्बन्धित रागरूपविचारणा में धर्म मानकर उसका आग्रह, मतभेद और अपनी बात सही – इस प्रकार गलत पकड़ को सही मानकर, सच्चा समझने से इंकार करते हैं, – ऐसे मताग्रही सत् का अनादर करते हैं। इस पर चाचा-भतीजा का एक दृष्टान्त है कि 'हकडो बुरो न छंडुं।' पराया खेत देखकर दोनों वाद-विवाद में उतर गये। भतीजा कहे कि इसमें २४ कलशी जार पकेगी और चाचा कहे कि २५ कलशी। दोनों अपनी-अपनी तानने में लगे। भतीजा ज़ोरदार

था। वह चाचा की छाती पर चढ़ बैठा, चाचा का गला दबाया और कहा कि मेरी मानो और कह दो कि २४ कलशी। चाचा कहे कि २५ कलशी में एक तसु कम नहीं कहूँगा। इस प्रकार पराया जानपना जो कि शास्त्रज्ञान है, उसके शब्दों में राग द्वारा विवाद में चढ़ गये कि यह मेरी बात सही किन्तु न्याय की या अन्तरङ्ग परिणमन की खबर नहीं है। शास्त्र में जो न्याय है, उसका सार आत्मज्ञान है। रागद्वेष टालने की बात थी। उसके बजाय कषाय में रहता है, जानकारी का अभिमान करता है और झूठ का आग्रह रखता है। उन्हें ज्ञान में भटके हुए मतार्थी कहे हैं। **२७.**

अब, सम्यक्व्रत के भूले हुए को अकषायभावरूप विरति का भान नहीं है – ऐसे मताग्रही कुव्रतवालों की बात करते हैं :-

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान;
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान।।२८।।

जाने स्वरूप न वृत्ति का, धारे व्रत-अभिमान।
ग्रहे नहीं परमार्थ को, लेने लौकिक मान।।२८।।

शुद्धात्मपरिणति क्या है ? खुद के स्वरूप का रुझान किस ओर है ? उसकी खबर नहीं है और विषय-कषाय, मानादि में वृत्ति भटकती है। बाह्यसंयोग की सुविधा कैसे बनी रहे, मेरा मान, मेरा बोझ कैसे बढ़े ? इस प्रकार लौकिकभाव में तथा पुण्यादि परभाव में वृत्ति अटकती है, फिर भी माने कि हमें ममता नहीं है, कषाय नहीं है, हम व्रतधारी हैं – ऐसा अभिमान करता है। जिस प्रकार चोरी करनेवाले चोर को शराब पिलाकर गधे पर बिठा दे और वह खुश होवे, उस प्रकार विकारी प्रकृति के कलुषितभाव पर बैठा हुआ, मोहभाव से पागल हुआ जीव अपना दोष तो नहीं देख सकता किन्तु दोष को गुण मानता है। श्रीमद्जी कहते हैं कि चाहे जैसे तुच्छ विषय के प्रसङ्ग में प्रवेश करने पर भी धर्मात्मा का भाव तो तीव्र वैराग्य

में कूद पड़ने का रहता है। धर्मात्मा प्रकृतियोग, प्रकृतिजन्यभाव आदि रुचिकर नहीं मानते। इस अर्थ को उल्टी ओर से देखें तो मताग्रही का लक्षण यह आता है कि अविकारीपने से जो जीव अनजाने हैं, वे तुच्छ विषय में प्रवेश करते समय तीव्रकषाय में कूदकर स्वहिंसा होने देते हैं, क्योंकि खुद के उपयोग, स्वभाव की उनको खबर नहीं है। पुण्य-पाप के परिणाम की विकारी जाति से मेरे अविकारी चैतन्य की जाति भिन्न है – उसका भान नहीं है। इसलिये प्रकृति के उदयजनित शुभाशुभभावों की वह अपने (स्वभाव) में खतौनी कर देता है और शुभपरिणाम को धर्म मानता है। जो शुभयोग को व्रत माने और उसकी खतौनी आत्मा में करे, उनकी यहाँ बात है।

श्रीमद्जी ने यह बात बिना पक्षपात के आत्मा के हितार्थ कही है। निष्कारण करुणा से पक्षपातरहित कही है। जिसे अपना हित करना है, वह विरोध नहीं करेगा। परन्तु जिसे इसमें कुछ खटक बनी रहे, उसे यह मानना कि मेरे में कोई भूल है, घोटाला है, इसके बिना (मन में) विरोध नहीं आ सकता। जिस प्रकार दस लाख के मालिक से कोई कहे कि तू इज्जतवाला नहीं है, पैसावाला नहीं है तो उसे शङ्का नहीं होती। वह जानता है कि किसी के कहने से मेरी लक्ष्मी कम होनेवाली नहीं है, मेरा मेरे से है – ऐसा विश्वास है।

व्रतवाले को बुरा लग रहा हो कि हमारे व्रतों को उड़ा देते हैं तो उससे कहते हैं कि तुम आगे चलकर न्याय से खोज कर कि भूल कहाँ है? तेरी भूल तुझे न दिखे तो अपना स्वच्छन्द मताग्रह छोड़कर सद्गुरु के पास जा; इसके बिना भवकटी नहीं होगी। दूसरों के भरोसे पर तेरा जीवन है तो तुम स्वाधीन नहीं हो।

तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता श्रीउमास्वामी श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य थे। वे कहते हैं कि व्रत तीन प्रकार के शल्यों से रहित होते हैं। ये तीन शल्य माया, मिथ्यात्व, व निदान हैं; उसका अर्थ यहाँ बताया जा रहा है। वे सूत्र निम्नानुसार हैं :-

निःशल्यो व्रती ।।१८।। **(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय सातवाँ)**

(१) माया = कुटिलता जिसके हृदय में है, उसे सम्यक्व्रत नहीं होता। जहाँ अपने 'सत्' से ही छल है, वहाँ सम्यक्विरति नहीं हो सकती।

(२) मिथ्यात्व = स्वयं का जिस स्वभावरूप अस्तित्व है, उससे विपरीतरूप मानना; शुभपरिणाम, पुण्यादि जड़ की क्रिया का कर्तृत्व मानना; रागभाव को जीवस्वभाव मानना इत्यादि। पर में मेरेपने की भ्राँति हो, अभिप्राय में भूल हो; वहाँ व्रत नहीं हो सकते।

(३) निदान = नियाणुँ - धर्मकार्य के फल में आगामी भव में सांसारिक सुख की अभिलाषा करना, वर्तमान में कोई दान, दया, व्रत, ब्रह्मचर्यादि तथा तप आदि की क्रिया से परलोक में पुण्यादि फल की इच्छा, गहरायी में भी पुण्य की मिठास, देह की सुविधा का भाव अल्प अंश में भी पड़ा है – ऐसा शल्य जिसे है, वह व्रती नहीं हो सकता। इसलिये कहते हैं कि अन्तरङ्गवृत्ति में गहरा उतरकर देख तो सही कि तेरा अविकारी, मध्यस्थ आत्मस्वभाव कहाँ रुका हुआ है ? इन तीन शल्यों से रहित मैं हूँ या नहीं – इसका लक्ष्य कर। तेरा स्वच्छन्द तेरे से न मिट सके तो सद्गुरु के पास जा – ऐसा उसको कहते हैं।

कई जीव शुष्कज्ञान में एवं कई जीव क्रिया काण्ड में रुके हुए हैं। कोई माने कि हमने बारह व्रत की पोथी का आचरण शुरू किया है; इसलिये हम व्रती हैं। इस प्रकार देह की क्रिया को, उदय के शुभयोग को धर्म मानते हैं और हम व्रतधारी हैं, – ऐसा अभिमान धारण करते हैं। कभी सद्गुरु का योग बने, परमार्थ के उपदेश का योग बने तो भी लोगो में अपना मान, पूजा, सत्कारादि नहीं रहेंगे। स्वयं को जो लोकसंज्ञा की मिठास रही है, वह बह जायेगी, – ऐसा जानकर वे परमार्थ ग्रहण नहीं करते और सच्चे उपकारी को पहचान नहीं सकते।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ११-१०-१९३९

जिसे गलत की पकड़ है, उसे सच्चे वीतरागदेव, सद्गुरु व सद्धर्म को समझने की दरकार नहीं रहती; वे मतार्थी जीव हैं। वे गुरु के मामले में भूले हुए हैं और सच्चे ज्ञान व चारित्र में भी भूले हुए हैं। अन्तरङ्गज्ञान की स्थिरता, पुण्य-पाप रहित अरागी, अकषायस्वरूप की सम्हाल और उस ज्ञानमात्र भाव में टिके रहना, उसका नाम व्रत है। उसकी उन्हें खबर नहीं है और शुभभाव को व्रत का स्वरूप मानते हैं। इसके लिये कहते हैं कि:-

'लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान;
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान।'

इस विषय में कहा गया है कि जिस जमीन में क्षार है, उसमें फसल नहीं उगेगी; उस प्रकार औंधी श्रद्धा, और तीन शल्य तथा पुण्यादि निमित्त की मिठासरूपी क्षार जिसके अन्तर में है, उसके दम्भरूपी खेत में सुव्रतरूप वृक्ष उगेंगे नहीं। पञ्चेन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि और परवस्तु में ममत्वबुद्धि है, उसे आत्मभान नहीं होगा। आत्मा को जाने बिना किसका व्रत-प्रत्याखान करेंगे? आत्मा की जाति क्या? वह क्या है? कितना बड़ा है? – उसका भान नहीं है और कहे कि हम महाव्रतधारी हैं, ब्रह्मचारी हैं, चारित्रवान हैं, इस प्रकार गलत अभिमान करता है और सत् का, परमार्थ का ग्रहण नहीं करता। कोई धर्मात्मा गृहस्थ हो, जिनको धर्म का भान हो, उनके पास जाने में अपना मान तथा मिथ्याशल्य उसे आड़े आता है। अपना मान नहीं छोड़ने से धर्मात्मा के पास जाने का योग नहीं बनता। कभी योग बने तो उनका विनय करके उनसे सही परमार्थ जान नहीं सकता, सत् को ग्रहण नहीं करता। लोगों में नीचा दिखूँगा, इस प्रकार मान के खातिर परमार्थ को ग्रहण नहीं करता। श्रीमद् राजचन्द्रजी थे, उस काल में भी ऐसा हुआ है। बहुत लोगों को खयाल में था कि ये गृहस्थाश्रम में हैं, लेकिन उनको कुछ ज्ञान है किन्तु खुद के दुराग्रहादि व्रतधारीपने के अभिमान के कारण परमार्थ का अनादर उन्होंने (लोगों ने) किया था। जिस प्रकार दो भाइयों में मतभेद हुआ हो। बड़े भाई की भूल

हो, उसे ममत्व हो गया हो कि मैं लोगों में बड़ा हूँ एवं घर में बड़ा हूँ किन्तु खास जरूरतवाली चीज़ छोटेभाई के पास है। विनय किये बिना वह उससे मिलने की सम्भावना नहीं है लेकिन मान छोड़ना नहीं चाहते। मान व मत (हठाग्रह) छोड़े बिना उस वस्तु के बिना ही उसे निभा लेना पड़ता है। इस प्रकार खुद व्रतधारी, महाव्रतधारी नामनिक्षेप से मुनि हुआ हो लेकिन सहीतत्त्व की जानकारी नहीं है, खुद को मान छोड़ना नहीं है, स्वयं शङ्कित है और परमार्थतत्त्व के जानकर कोई गृहस्थ धर्मात्मा हो, वे परमार्थ और आत्मज्ञान प्राप्त हों; उनका योग-समागम हो सके – ऐसा हो, फिर भी उनके पास जाता नहीं हैं। उसे बड़े भाई का अहंभाव है, पक्ष का आग्रह है, मानार्थीपना है। उसे अनन्त भव की भ्राँति टाले बिना झूठ से ही निभा लेना पड़ता है। इसके बराबर दुर्भाग्य किसका ? आगे आयेगा कि **'एह मतार्थी दुर्भाग्य'।**

कषाय व मान का त्याग करना – वह व्रत-चारित्र का अंश है। अत: जिसे आत्मा का लाभ लेना है, उसे मताग्रह व जगत का बड़प्पन छोड़ना पड़ेगा।

साधु-साध्वीपना धारण किया हो, शिष्य-शिष्या बहुत बनाये हों; स्वयं ने जो मान रखा हो, उससे अलग न्याय निकलता है – ऐसा जाने, फिर भी मान रखने के लिये वह सच्चे परमार्थ को गवाँता है और उस प्रकार मनुष्यभव खो देता है। वे ऐसा मानते हैं कि गृहस्थ धर्मात्मा ज्ञानी हो, पर वे हमारे जैसे व्रतधारी नहीं हैं। हम चारित्रवान हैं। हम उनका विनय करें तो हमारे भेष को लानत है ! स्वयं जाने कि यह न्याय सच्चा है, फिर भी मान व सम्प्रदाय का पक्ष आडे आता है। एक साधु कहते थे कि क्या करें ? आपकी बात तो सच्ची है किन्तु हम अपने सम्प्रदाय में इतने सम्मानित हो चुके हैं कि उत्तरावस्था में यदि अपनी श्रद्धा बदल दें तो लोगों का हम पर से विश्वास उठ जाए। हमारे अनन्त भवों में यह एक भव भले ही ज्यादा चला जाए। उसे ज्ञानी कहते हैं कि इस मिथ्या मान को छोड़ तो लोकोत्तर तीर्थङ्कर का मान मिलेगा। **'लही भव्यता बड़ा मान, कौन अभव्य त्रिभुवन अपमान।'** धर्मसभा में केवलज्ञानी प्रभु त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करभगवान सर्वज्ञदेव कहे कि यह भव्यजीव है, यानी यह प्राणी लायक है, सुपात्र है। ऐसी आवाज (दिव्यध्वनि) आयी, उसे जगत में इससे अधिक इष्ट-मान अन्य क्या होगा ?

और भगवान के श्रीमुख से निकला कि यह जीव अपात्र, अभव्य है – उसे चौदह ब्रह्माण्ड में इससे बड़ा अपमान क्या होगा ? उसे जगत मान दे तो भी क्या है ? उसे सच्चा सुख तो नहीं मिलेगा किन्तु अनन्त काल तक बहुभाग निगोद में रहना पड़ेगा क्योंकि अपने आत्मद्रव्य को वह पुण्यादि जड़ता की अधीनता में हीन रहने देना चाहता है। सत् का आदर यथार्थ प्रतीतिरूप से उसे नहीं आता है। उसे ज्ञानी कहते हैं कि तुम लौकिकमान पाने के लिये सच्चे परमार्थ को ग्रहण नहीं करते हो।

श्रीमद्‌जी ने प्रथम गाथा में ही कहा है कि जीव सही नहीं समझने के कारण आज तक भटका है, किन्तु क्रिया-काण्ड नहीं करने के कारण भटका है – ऐसा नहीं कहा। भटकने के दो कारण कहे –

(१) शुष्कज्ञान, (२) क्रियाजड़त्व। इसमें मतार्थी के लक्षण में जो व्यवहार आदि क्रिया-काण्ड में रचते हैं, उसके लिये मतार्थी लक्षण के विभाग में से ये पाँच गाथाएँ कही गयी हैं। अब शुष्कज्ञानी के लक्षण कहते हैं। पहले दो बात कही थीं, उसे लक्ष्य में रखकर क्रियाजड़ के लिये कहा था कि :-

'बाह्यक्रियामां राचता, अंतर्भेद न कांई।'

इस कोटि के मतार्थी के लक्षण गाथा २४-२८ तक कहे। उसमें कहा कि ऐसे अनेक कारणों से वर्तमान में मोक्षमार्ग बहुत लुप्त दिखता है। उसको कोई विवेक नहीं है अथवा विपरीत विवेक है। बाह्य क्रिया-काण्ड में धर्म है, ऐसा कुगुरु ने दृढ़तापूर्वक पकड़ा दिया है और स्वयं ने उस बात की पकड़ कर ली है। वह भी मध्यस्थतापूर्वक चलने की और परमार्थ की प्राप्ति का अवकाश नहीं लेता। **२८.**

अब, शुष्कज्ञानी को राग-द्वेष, ममता, विषय-कषाय की मन्दता हुई नहीं है, उसकी बात कहते हैं –

अथवा निश्चय नय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय;
लोपे सद्‌व्यवहारने, साधन रहित थाय।।२९।।

अथवा निश्चय नय ग्रहण, मात्र कथन में होय।
लोपे सद्व्यवहार को, साधन रहित जु होय।।२९।।

एकान्त निश्चयपक्ष को दृढ़ करके, बस यही सच्चा है, इस प्रकार मात्र निश्चयशब्दों को ही धारण करके, आत्मा में बन्ध-मोक्ष, रागादि कुछ नहीं है – ऐसा वाणी में बोलते हैं। अन्तर्वेदन, शान्ति बिना पुरुषार्थहीन होकर प्रवर्तन करता है – वह शुष्कज्ञानी है। निश्चयप्रधान ग्रन्थ पढ़कर खुद को जँचे, वह बात पकड़कर कहता है कि आत्मा अक्रिय है, सारी नाटकबाजी प्रकृति की है, आत्मा कुछ नहीं करता, आत्मा शुद्ध ही है। तिल में तेल भरा है और बर्तन में सवा सेर तेल भरा है। उसमें कौनसा तेल काम का है ? इस बात की उसे खबर नहीं है। बर्तन में तेल है, उससे पराठें, पूड़ी तलकर खाने से पेट भर जाता है किन्तु लाखों बोरियाँ तिल में तेल हैं, – ऐसा मानकर तिल चूल्हे पर कढ़ाई में डाले तो वे सारे जल जायेंगे। यथार्थ भेदज्ञान के बिना कहे कि हमें मालूम है कि तिल में तेल है। आपने तो कढ़ाई में पावभर तेल डाला है, मैं तो पाँच सेर तिल डालूँगा। किन्तु यदि सोचे तो उसकी बात असत्य है। उस प्रकार धैर्यपूर्वक सत्समागम द्वारा समझने का यत्न करे तो पता लगे कि अनन्त काल में जो न जान पाये, वह केवल शास्त्र पढ़ने से मिल जाए – ऐसा नहीं है। जिसे वर्तमान में पुरुषार्थ है, उसे महानबल की कीमत है। आत्मसामर्थ्य की उग्रता द्वारा राग-द्वेष को छोड़े बिना अतीन्द्रिय आनन्द नहीं आ सकता। तू कहता है कि आत्मा निर्मल केवलज्ञानस्वरूप है। वह शक्तिरूप है – ऐसा कहे, तो तेरी बात सही है किन्तु अपनी शुद्धदशा का अंश तो ला ! अनन्त भव के जन्म, जरा, मृत्यु टालने का उपाय कोई अपूर्व है। वह उपाय श्रीसत्पुरुष को प्राप्त है। उनकी पहचान बिना स्वच्छन्दपूर्वक शास्त्र पढ़कर मैं सच्चिदानन्द परमात्मा हूँ – ऐसा श्रीमद्जी से एक साधु ने कहा था। उत्तर में उन्होंने बताया था कि शक्तिरूप से परमात्मा होने की आपकी बात सही है किन्तु वर्तमानदशा का खयाल किये बिना कहना, वह परमात्मा को ठगने के बराबर है। लोग तत्त्व समझे बिना ध्यान करने जाए किन्तु कषाय तो अन्तर में

सूक्ष्मरूप से भरा है। उसे कैसे मिटाना, उसकी तो खबर ही नहीं है और कहता है कि हमें बस तृप्ति है। अन्तर में कषायवृत्ति भरी है, वह स्थूलदृष्टि में दिखे नहीं, फिर माने कि हमें समभाव है। अपने भाव कैसे है, वह जानने के लिये धैर्य रखकर आत्मा में अवलोकन करने खड़ा रहे तो जानने में आ जाए। सच्ची कला यानी भेदविज्ञान द्वारा अन्तरङ्ग स्वरूप का अवलोकन करने में आये तो भारी कषाय दिखता है जो कि पहले नहीं दिखता था। तत्त्व क्या ? वह जानकर उसकी सम्हाल करने खड़ा रहे तो कषाय जैसा है, वैसा दिखे और भेदज्ञान द्वारा उसकी निर्जरा हो। किन्तु जिसने स्वच्छन्दपूर्वक अध्यात्मग्रन्थ पढ़कर उल्टी पकड़ की है, वह बिना पुरुषार्थ ही विपरीतता में आगे ही आगे बढ़ता चला जाता है। शब्द में वह धारणा करके रख लेता है कि उपयोग में क्रोध नहीं है। यह बात सही है किन्तु अगर तू निर्मल आत्मा में रागरहित होकर जुड़े, तो क्रोध नहीं है; संवर है; अन्यथा तो केवल बातें हैं - इस प्रकार समयसारजी के संवर अधिकार में कहा है।

'मैं ज्ञानस्वरूप' - उसमें (उप =) समीप में (योग =) जुड़कर टिका रहे तो बात सही। किन्तु तू तो कषाय में टिका है और भिन्नता जानने की तुझे दरकार नहीं है; तू राग में टिका है और मानता है कि मुझे राग नहीं है, कषाय नहीं है। मन की स्थिरता द्वारा धर्म मानता है किन्तु कषाय मन्द हुए बिना तो पुण्य भी नहीं होगा तो धर्म तो कहाँ से होगा ? अत: प्रथम स्वच्छन्द मताग्रह का त्याग किये बिना जो कुछ करने में आता है, वे सारे साधन बन्धनरूप हो जाते हैं। अन्तरङ्गकषाय है, उसे जानना न चाहे और कहे कि हम ध्यान करते हैं, हमने आत्मा जाना है किन्तु वह बात गलत है क्योंकि तेरी ऐसी दशा दिख नहीं रही।

शुष्कज्ञानी क्रिया-काण्डवाले का, क्रियाजड़आत्मा का अनादर करके मानता है कि हमने जाना है - वह सच है किन्तु राग में एकत्व करके जो जाना, वह वास्तव में जाना नहीं है बल्कि अभिमान किया है। हम ज्ञाता-दृष्टा हैं; देखना और जानना - वह आत्मा का धर्म है - ऐसा बोलते हो किन्तु धैर्य रखकर अविनाशीतत्त्व क्या, उसकी प्रतीति तो करो ! यहाँ शुष्कज्ञानी के लिये ऐसा कहना चाहते हैं कि तुमने पुरुषार्थ का त्याग किया है और अशुभ में टिका है। पहले विषय-कषायादि

का प्रेम तो कम कर, वह तो प्रथम भूमिका है। अन्तरङ्ग में तथारूप गुण की या स्वानुभव की कुछ स्पर्शना या वेदन नहीं है और **'लोपे सद्व्यवहार'** यानी सद्गुरु, देव और धर्म के विनय का भी लोप करता है।

शुष्कज्ञानी शास्त्र पढ़े और प्रश्न करे कि राग करना – वह धर्म नहीं है; अतः देव, गुरु, शास्त्र आदि तो पर हैं, उनका विनयभक्ति करने की जरूरत नहीं है। किन्तु अभी पाँच इन्द्रियों के विषय में उसे राग भरा पड़ा है। अशुभराग तो उसे करना है और प्रशस्तराग में रहना नहीं है – वह जायेगा कहाँ ? पुनश्च, वह कहता है कि शास्त्र तो पर हैं, जड़ हैं; उससे तो विकल्प बढ़ते हैं। आत्मा तो आत्मा में से ही प्रगट होगा। वह ध्यान करे और कहे कि हमें आत्मा का आनन्द है किन्तु उसकी बात झूठी है। मन, वाणी, देह की क्रिया से या मन को स्थिर करने से आत्मा प्रगट नहीं होता किन्तु गुरुगमपूर्वक यथार्थ ज्ञानाभ्यास से ही प्राप्त होता है। जो शुष्कज्ञानी है, उसे तो वैराग्य भी प्रगट नहीं होगा और प्रभुत्व भी प्रगट नहीं होगा। स्वच्छन्द के प्रताप से निगोद में जायेगा। इसके लिये श्रीमद्जी ने बारम्बार कहा है कि स्वच्छन्द मताग्रह का मोह टालना। अरागीपने के लक्ष्य से देव-गुरु-धर्म का राग तो वीतराग का प्रेम है। वह सुबह की सन्ध्या है और स्त्री-पुत्रादि तथा संसार का प्रेम – वह शाम की सन्ध्या है। जिसे उसकी रुचि व आदर है, वह देव-गुरु-धर्म-शास्त्र और सुपात्र जीवों की भक्ति, विनय, आदर करने का अवसर न खोजे – वह तो महामूढ़ता का कामी है; स्व की हिंसा करनेवाला है। शास्त्र पढ़कर जो मान लिया, वह धारणा तो मुफ्त में ही चली जायेगी। भले ही अनेक अपेक्षाओं के स्थूल न्याय जानता हो किन्तु सच्चा व्यवहार और ज्ञान की अन्तरङ्ग स्थिरतारूप पुरुषार्थ नहीं है तो उसका जानना मिथ्या है। सत्समागम, वह गहन अभ्यास किये बिना यों ही जैसे-तैसे धारणा करके वह मान का सेवन करता है। उसे तथा अन्य मतार्थी से ज्ञानी कहते हैं कि एक बार तू जगत का दास हो जा। मान खत्म किये बिना तू जगत का गुरु बनने के लायक नहीं है। मानरहित समकिती धर्मात्मा को ही तीर्थङ्कर नामकर्म व जगद्गुरु पद प्राप्त होता है।

शुष्कज्ञानी पुरुषार्थ करने का विरोध करते हैं। दान करेंगे तो राग हो जायेगा,

पुण्यबन्ध हो जायेगा, धर्म के बहाने राग करें तो कर्ता हो जायेंगे; अतः हमें तो अकर्ता रहना है – ऐसा वे कहते हैं। बच्चे के लिये पैसा इत्यादि रखने की वृत्ति हमें आती है। वह बच्चे के पुण्य के कारण आती है – ऐसा वे कहते हैं। वास्तव में तो उन्हें संसार का प्रेम है, राग का पोषण करने की वृत्ति है और बचाव के लिये पर के ऊपर बात रख देता है। देव-गुरु-धर्म की भक्ति तथा धर्मप्रभावना करने की बात आये, तब अशुभपरिणाम को हटाकर शुभपरिणाम करने का पुरुषार्थ उठाता नहीं है और कहता है कि पुण्यबन्धन हो जायेगा। दान कोई देने से दिया नहीं जाता। वहाँ पैसे जाने की योग्यता होगी तो (दान की) वृत्ति उठेगी। ऐसे पुरुष कि जिसे सत् का आदर नहीं है, उसे देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति और लोभ के त्यागरूप दानादि का विकल्प ही कहाँ से आये ? स्त्री-पुत्रादि में उसे प्रेम है – इस बारे में मानता है कि उनका पुण्य है, इसलिये मुझे उनके प्रति राग की वृत्ति होती है और इसी में खुद बिक जाता है। किन्तु देव-गुरु-धर्म की प्रभावना का प्रसङ्ग खोजकर उसमें अपनी आहुति न दे दे, वह महा अधम है। अभी राग की दिशा तो बदली नहीं है और अरागी तत्त्व लक्ष्य में आ जाए – ऐसा कैसे सम्भव हो ? जिन स्त्री-पुत्रादि पर राग कर रहा हूँ, उस राग को परिवर्तित करके वीतराग देव-गुरु-धर्म पर राग करूँ – ऐसा पहले होना चाहिए। इस बात को सुनकर दूसरी ओर क्रिया-काण्डवाले, व्यवहाराभास के रसिकजन हर्षित हो जाए कि हम तो दया-दानादिपुण्य कर रहे हैं। शुष्कज्ञानी व्यवहार का निषेध करते हैं और क्रियाजड़ (क्रियाकाण्डी) शुष्कज्ञानी की निन्दा करते हैं किन्तु दोनों गलत हैं। तत्त्वदृष्टि के बिना दोनों पक्षों का मेल बिठाता हो तो वह भी व्यर्थ है। अतः तत्त्वदृष्टि के लक्ष्य से परमार्थ हेतु साधने का उपदेश है।

जब तक सर्वथा राग मिटा नहीं है, तब तक देव-गुरु-धर्म की प्रभावना तथा विनय का राग धर्मात्मा को होता ही है। सच्चे व्यवहार में बाह्य का शुभव्यवहार निमित्त होता है। धर्मात्मा परमार्थ के लक्ष्य से प्रवर्तमान रहते हैं और जानते हैं कि इस पुरुषार्थ से जो राग मिटा, उतना मैं नहीं हूँ; बाकी बचा है, उतना भी मैं नहीं हूँ किन्तु मैं तो सर्वथा अरागीज्ञायक ही हूँ। जिसे अन्तरङ्ग परमार्थ तत्त्वस्वरूप का वेदन नहीं है, उसे सत् देव-गुरु-धर्म का आदर नहीं होगा; कषाय का त्याग,

अन्तरङ्ग राग का त्याग नहीं हो सकता। इसके लिये शुष्कज्ञानी को हँटर मारकर कहते हैं कि यदि आत्मा का सच्चा हित चाहता है तो तेरा मतार्थीपना और मानार्थीपना छोड़।

चमरी गाय को सुन्दर बालोंवाली लम्बी पूँछ होती है। उसकी चलने की गति इतनी तेज होती है कि सिंह भी उसे पकड़ नहीं सकता। फिर भी उसका सिंह के मुख में जाने का कारण यह है कि उसकी पूँछ के लम्बे बाल झाड़-झंखाड़ में उलझ जाते हैं, वहाँ वह खड़ी हो जाती है। पूँछ को खींचकर चलूँगी तो मेरे थोड़े बाल टूट जायेंगे। इतने मोह के कारण मरना पसन्द करती है। इस प्रकार लोग देहादि की ममता की खातिर, मान व मत के खातिर मनुष्यभव गँवा दे किन्तु मान न छोड़े। स्वयं ने जो माना है कि हम वन्दनीय हैं, चारित्रवान हैं – इसमें कुछ दम नहीं है। लोगों में हमारा मान कम हो जायेगा, इस प्रकार लोकभय से और मताग्रह की पकड़ से परमार्थ छोड़ देता है। व्रतधारीपना न हो – ऐसे गृहस्थ के पास से परमार्थ पाने का योग गँवा देता है। श्रीमद्राजचन्द्रजी के समय में भी ऐसा ही हुआ था। वर्तमान में भी कई लोग ऐसे हैं जो कि सत् का आदर तो नहीं करते किन्तु निन्दा करके अपना दुराग्रहीपना दृढ़ करते हैं। वे कहते हैं कि हम दृढ़ श्रद्धावाले हैं, गौतम गणधर सरीखी हमारी श्रद्धा है; किसी के डिगाने पर नहीं डिगते। ज्ञानी कहते हैं कि 'तुम्हारी औंधाई (विपरीतता) भी बड़ी' अनन्ते ज्ञानी तुमको समझाने आ जाये, फिर भी तू स्वतन्त्र है; जबरदस्ती कोई मना नहीं सकता। मत व मान छोड़े बिना समागम करने जाए किन्तु द्वेष मिटे नहीं।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १२-१०-१९३९

शुष्कज्ञानी मात्र शब्दों को रटे रहे, खुद को ज्ञानी माने, अन्तर में किसी भी प्रकार की स्थिरता के बिना वैराग्य व सत्साधनरहित होकर स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवर्तन करे, यह गाथा २९ में कहा। अब, ३० वीं गाथा में कहते हैं :-

ज्ञानदशा पामे नहीं, साधन दशा न कांइ;
पामे तेनो संग जे, ते बूडे भवमांहि।।३०।।

ज्ञान-दशा पायी नहीं, साधन-दशा न अङ्क
लेता उनका सङ्ग जो, सो डूबे भव-पङ्क।।३०।।

एक तो सत्सङ्ग आदि साधनदशा कुछ है नहीं और सहज ज्ञानदशा की स्थिरता का पुरुषार्थ भी नहीं है, रागादि विषयकषायादि में कमी भी नहीं है – ऐसे जीव का सङ्ग जिसे प्राप्त हो, वह भी भवसागर में डूबता है। क्योंकि उसे न मिले आत्मज्ञान या न मिले सत्समागमादि साधन। अन्तर वैराग्य, विषय-कषायादि का त्याग, देह आसक्ति की कमी इत्यादि मुमुक्षुता बढ़ाने के साधन से रहित जो स्वच्छन्द में रहता है, उसका सङ्ग करनेवाला भी ज्ञानदशा प्राप्त नहीं कर सकता। जो आत्मा न समझा हो तथा सत् समझने का अवकाश भी न रखा हो, वह साधारण, तुच्छविषय में भी लाल-पीला और आकुल-व्याकुल हो जाता है। जिसे शरीर की शाता व सुख-सुविधा की रुचि है, वह ज्ञान पा चुका है – ऐसा कह सकते हैं क्या ? वह कदापि शास्त्रों के अलङ्कारीशब्दों को धारणकर रखे, मन को रागी रखे और गलत सन्तोष रखे किन्तु उसे सहज ज्ञानदशा का भान नहीं है। अत: उसका सङ्ग करनेवाला भी डूबता है क्योंकि ऐसे जीवों को तो साधनदशा भी नहीं है और ज्ञानदशा भी नहीं है। वह कहेगा कि राग तो जीव का स्वरूप नहीं

है, पुरुषार्थ करना तो व्यवहार है किन्तु अपने में राग-द्वेष, विषय-कषाय की कमी हुई नहीं है और बात करे पूर्ण तत्त्वदृष्टि की। वह स्वयं एवं उसका सङ्ग करनेवाला दोनों डूबते हैं। पुनश्च, अपना पक्ष ऐसा दृढ़ करता है कि सही समझने का अवकाश भी नहीं रखता। **३०.**

ए पण जीव मतार्थमां, निज मानादि काज;
पामे नहीं परमार्थने, अनअधिकारीमां ज।। ३१।।

निज-मानादिक कार्य हित, जो वर्ते जीव मतार्थ।
अन्-अधिकारी ही रहे, पाता नहिं परमार्थ।।३१।।

पहले मतार्थी मानार्थी के लक्षण कहे। वह अपना मान व मत को सम्हालने में ही रुक जाता है और आत्मार्थ चूक जाता है। कभी राग काम करने का बहुत पुण्यपरिणाम करे किन्तु उससे वास्तविक अरागीपना नहीं आता। ऐसा तो बहुत बार किया।

अपेक्षा से बात आती है कि आत्मा तो शुद्ध ही है, ज्ञाता है किन्तु उस दशा का अपूर्व पुरुषार्थ चाहिए। उस पूर्ण पवित्रदशा का आँशिकभान हुआ हो तो वर्तमान -दशा बदल जाती है किन्तु शुष्कज्ञानी तथा क्रियाजड़वालों की वृत्ति विषय-कषायादि में रुक जाती है। देह की सुविधा में, संभाल में कमी आये तो उसमें आकुलित हो जाता है। शुष्कज्ञानी के लिये तो कहते हैं कि भाई रे ! तू तो कहता था न कि मैं ज्ञाता हूँ और नाशवन्त देह जड़ है, अनन्त परमाणु का पिण्ड है किन्तु तेरी उसके ऊपर ममता क्यों कम नहीं होती ? देह एवं देहादि की सुविधा के लिये आत्मा को गँवाता है। क्रियाजड़ के लिये कहते हैं कि भाई रे ! महादुर्लभ मनुष्यदेह का योग तो पुण्य के कारण हुआ तो अब देह में बिराजमान चैतन्य भगवान को भूलकर, यानी अपने आप को भूलकर, लोगों में आबरू के लिये अथवा धर्म की आड़ में सम्प्रदाय के झूठे आग्रह के लिये और मुख्यतया अपने मान के लिये

आत्मार्थ पूरा-पूरा चूक जाता है; स्वयं ही अपना अपराध करता है – उसमें जड़ प्रकृति का दोष नहीं है।

आत्म भगवान पवित्र है, अनन्त शाश्वतसुख अपने में ही है, फिर भी बाहर में व्यर्थ प्रयत्न करना और पराधीनता ढूँढ़ना – यह तो अनादि काल से उपाधि रखने का ही परिचय है। इसलिये देह की ममता के कारण आत्मगुण का प्रगट नहीं होता है। आत्मा अपनी सच्ची समझ से समकित पाता है, प्रगट कर सकता है। सातवीं नरक में भी भेदविज्ञान द्वारा आत्मा की पवित्रदशा, सम्यक्त्व जो आत्मा प्रगट करता है, वह अनन्ती वेदना की तरफ दृष्टि नहीं करता। शरीर में भयङ्कर १६ प्रकार के रोग, अनेक प्रकार की अनन्ती प्रतिकूलता, अनन्ती क्षुधा-तृषा है, फिर भी उसमें उसे क्षोभ नहीं है। किन्तु वह तो आत्मा की निराकुल शान्तदशा में ज्ञानरूप ज्ञाता ही रहता है। चक्रवर्ती राजा हो, जिसकी सोलह हज़ार देव सेवा करते हैं, सुन्दर स्त्री आदि का योग है, फिर भी उसकी तरफ दृष्टि नहीं करता। परम वैराग्यवन्त उपशमरस में अपना महासुख अपने अन्तरङ्ग में देखता है। इसलिये परसंयोग की सुविधा-असुविधा से आत्मा को कुछ लाभ-हानि नहीं है। अनन्ती-सुविधा हो या असुविधा हो, उसमें जो अपना चैतन्य फँसता नहीं है; वह एक भव में ही मोक्ष जानेवाला है। किन्तु जिसे अपना भान नहीं है, वह परवस्तु में मोह होने के कारण, रागादि पुण्य-पाप की मिठास के कारण, स्वयं संसारचक्र में फँसता है और उसमें सुख मानता है।

महादुष्ट क्रूरपरिणाम जिसने किये हैं, देव-गुरु-धर्म का जिसने अविनय किया है, जिसे अपने चैतन्यप्रभु आत्मा का अनन्त अनादर किया है, जिसने आत्मा को जानने की रुचि नहीं की – वह महाअशुभ परिणाम के कारण सातवीं नरक में भी जाता है। वहाँ अनन्ती वेदना भोगनेवाले असंख्यात जीव होते हैं, फिर भी वहाँ भी किसी को आत्मज्ञान होता है। उसका कारण यह है कि तीर्थङ्कर भगवान का जब जन्म होता है, तब उनका पुण्य ऐसा बलवान होता है कि तीनों लोक में उजाला होता है; सभी जीवों को तनिक शान्ति मिलती है। अत: वे नरक के जीव सोचते हैं कि (उन्हें कुअवधिज्ञान होता है,) कि अहो ! जिनके जन्म से हमें शाता व तीनों लोक में उजाला !.... ऐसा सोचते-सोचते पूर्व के कोई पवित्र

संस्कार याद आ जाए तो आत्मज्ञानदशा प्राप्त कर ले। इसीलिये यह तय हुआ कि बाह्य की असुविधा-सुविधा आत्मज्ञान प्राप्त करने में बाधक नहीं है।

जो कर्म के संयोगों का दोष देखते हैं, उनको आत्मा नहीं चाहिए किन्तु पुण्य चाहिए। संसार-देहादि की उन्हें मिठास है; अतः आत्मसाधन का पुरुषार्थ नहीं करते और ज्ञानदशा हेतु सत्समागम की रुचि भी नहीं करते। उन्हें पता नहीं है कि कहाँ जायेंगे ? कोई हाथ देखनेवाला, ग्रहदोष मिटानेवाला ज्योतिषी मिले तो उसकी कितनी खुशामद करें। संसार के भय से महासमर्थ चक्रवर्ती राजा भी संसार के राग-द्वेष-मोह का त्याग करके अवताररूप (भवभ्रमणरूप) संसार के फोड़े का त्याग करके निकल गये। तीर्थङ्कर-जैसे ज्ञानी भी संसार के भव(भ्रमण) से भयभीत हुए। उस संसार के भवभ्रमण से जो भयभीत नहीं हैं, वे औंधाई करने में महासुभट है। वे ऐसा मानते हैं कि हम जानते हैं, हमारी दृढ़श्रद्धा इसी में है। इस प्रकार पक्षपातपूर्वक उनकी बुद्धि दृढ़ हुई है; वे मतार्थ में हैं। यह मतार्थीपना अपनी ही औंधाई से, झूठी पकड़ के कारण सम्हाल रखा है। खुद को ज्ञानी मनवाने के मान की उन्हें मिठास है। आत्मज्ञान कोई अपूर्ववस्तु है। उसे पाने की योग्यता उनके अन्दर नहीं है, इसलिये वे सब अनाधिकारी हैं, अपात्र हैं। **३१.**

अब, मतार्थी का समुच्चय लक्षण कहते हैं :-

नहीं कषाय उपशांतता, नहीं अंतर वैराग्य;
सरलपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य।।३२।।

नहिं कषाय उपशान्तता, नहिं अन्तर वैराग्य।
सरलपना न मध्यस्थता, यह मतार्थी दुर्भाग्य।।३२।।

जिसके हृदय में क्रोध, मान, माया व लोभ की कमी नहीं हुई – ऐसों के लिये श्रीमद्जी एक पत्र में कहते हैं कि मैं जानता हूँ, समझता हूँ - ऐसी भ्राँति में काल व्यतीत करना है या सच्चा हित समझना है ? उस भाव से तो अनन्त

काल बीत चुका, फिर भी कुछ सत्पात्रता तो दिखायी नहीं दी तो अब तुमने क्या सोच रखा है – इसका कभी विचार किया है ?

अनन्त काल से जो नहीं हुआ – उस अपूर्वतत्त्व की ज्ञानदशा कैसी पवित्र, निर्दोष होती है ? उस दशा को तो लाओ। जिसे कषाय की मन्दता नहीं है और अन्तर वैराग्य नहीं है, मध्यस्थता नहीं है, सत्य-असत्य की तुलना करने के लिये निष्पक्षबुद्धि नहीं है – ऐसा मतार्थी जीव दुर्भागी है, यानी जन्म-मरण का छेद करने लायक वीर्य उसके पास नहीं है। यहाँ पर 'अंतरवैराग्य' कहा है; बाह्यवैराग्य आदि की बात नहीं की। कोई कहता है कि हम फालतू बैठे हैं। चार-पाँच लड़के हैं। घर की व्यवस्था सम्हाल लेते हैं। वे मेरी नाक (इज्जत) सम्हाले रहेंगे। ऐसे सन्तोष का वेदन करता रहता है और कहता यह है कि हमें अब समभाव है। दाल-रोटी खा रहा हो, इससे वह अपने आप को सन्तोषी मानता है। वास्तव में वह सन्तोषी नहीं है किन्तु उसे तृष्णा की पूर्ति का सन्तोष है कि मैं जो माँगू, वह मुझे मिल सके – ऐसा है। बाहर से दम्भ करता है कि हम सज्जन हैं, अन्दर में संसार की मिठास रखकर धार्मिक शास्त्र पढ़ता है, चर्चा करता है। स्वयं कामों में शामिल नहीं होता किन्तु अपने मान आदि की उसे चिन्तना रहती है। वह कहे कि हमें तत्त्व की रुचि है, हम अभ्यासी हैं किन्तु वह तो छलिया है। अपने हृदय में झाँक, तो पता लगे। मध्यस्थतापूर्वक देखना चाहिए। मेरे परिवार की पौने सोलह आना न हो जाए और मेरे स्नेहीजनों में आपस में ठीक-ठाक चलती रहे तो ठीक – ऐसी वृत्ति में वह टिका है। स्वयं वानप्रस्थ जैसी सादगी रखे; बाहर से त्याग-वैराग्य रखे किन्तु निर्मल चैतन्यदर्पण में अल्प मलिनता भी शोभा नहीं देती। चैतन्य भगवान पूर्ण पवित्र हैं। उसमें अल्प भी दोष रखने का भाव महाअहित का कारण है। इसके लिये श्रीमद्जी कहते हैं कि आत्मा के नाम से कोई बाह्य त्याग-वैराग्य करता है। (इसमें) किसी को मोहगर्भित वैराग्य है, किसी को दु:खगर्भित वैराग्य है किन्तु उसके विषय-कषाय में कमी नहीं हुई है, सरलता नहीं है, मध्यस्थता नहीं है – ऐसे मतार्थी, दुर्भागी जीव आत्मार्थ कैसे पा सके ? कभी बाहर से स्त्री, घर आदि के योग में अन्तराय हो – ऐसे में कहीं अध्यात्मग्रन्थ मिल गये, कदापि भेष धारण कर लिया, लोगों में कुछ धर्मीपना का मान बढ़ गया। – उसे

फिर मताग्रह की पकड़ हो जाती है। ऐसे जीव दुर्भागी हैं। खुद के अन्तरङ्ग अभिप्राय में भूल होवे, दोष होवे किन्तु मानादि की सम्हाल के लिये जो गलतियाँ करने का आदी हो चुका है, उसे अपने दोष नहीं दिखते। उन्हें अपने कषायादि दोष दिखते नही हैं और कहते हैं कि हमें समभाव है। **३२.**

अब, आगे कहते हैं कि सिर्फ मत का आग्रह एवं स्वच्छन्दादि दोष से रहित होने के हेतु से ही ये लक्षण हमने पक्षपातरहित मुमुक्षु जीवों के हित के लिये कहे हैं –

लक्षण कह्यां मतार्थीनां, मतार्थ जावा काज;
हवे कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज।। ३३।।

लक्षण कहे मतार्थी के, मतार्थ निरसन काज।
कहूँ अब आत्मर्थी के, आत्म-अर्थ सुखसाज।।३३।।

इन लक्षणों द्वारा मुमुक्षुजीव अपने दोष समझकर मिटा सके – ऐसी निष्कारण करुणा से मतार्थी के लक्षण निष्पक्षतापूर्वक कहे हैं। जिसके अन्दर दोष हो, वह मध्यस्थता से, सरलता से उस दोष का त्याग करे तो ही वह सच्चा आत्महित साध सकता है। अब, अव्याबाध आनन्दरूप आत्मा के पूर्ण सुख को प्राप्त करने का अविरोध उपाय करनेवाले आत्मार्थी जीवों के लक्षण कहते हैं। आत्मार्थी के ये लक्षण आत्मा को अव्याबाधसुख की सामग्री के हेतुभूत हैं। **३३.**

दिनाङ्क - १३-१०-१९३९

अब आत्मार्थी के लक्षण कहते हैं। वे कैसे हैं ? आत्मा के सच्चेसुख के हेतुभूत हैं। प्रथम मतार्थी के लक्षण में कहा है कि जो गुरु के मामले में भूले हुए हैं, वे ज्ञान से, व्रत से, धर्म से और देव से भूले हुए हैं क्योंकि असद्‌गुरु का आश्रय किया है। (जिसका अगुआ (नेता) अन्धा, उसका लश्कर कुएँ में) आत्मार्थी के लक्षण में प्रथम सुगुरु का आदर है, इसलिये यहाँ पर सुगुरु से शुरूआत की है। जीव ने यदि सच्चेगुरु का सङ्ग किया, तो उसका सब कुछ सुल्टा है, सुगम है। प्रत्येक जीव को सच्चासुख चाहिए। इसलिये अपनी स्वच्छन्दतापूर्वक उन्मार्ग पर जानेवाले जीवों को देखकर श्रीगुरु उनको सच्चा, निर्विघ्न, सरल मार्गबताते हैं।

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय;
बाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय।। ३४ ।।

आत्मज्ञान सह मुनिपना, वे सच्चे गुरु होय।
बाकी कुल-गुरु-कल्पना, आत्मार्थी नहिं कोय।।३४ ।।

मैं कौन ? यह जाने बिना आत्मा किस स्वरूप में है, किस हद में है, क्या कर सकता है ? इसका विवेक जिसे नहीं है, ऐसे कुगुरु को मुमुक्षु नहीं मानता। यहाँ मुख्य तो आत्मज्ञान कहा है। दुनिया की खबर ज्यादा हो चाहे न हो, श्रुतज्ञान भले ही कम हो किन्तु जिसे आत्मज्ञान और आत्मा की सहज आनन्ददशा, स्वरूपस्थिति हो, वह ज्ञानी है; वहाँ मुनिपना होता है। जिसे (खुद को) सच्चेमार्ग का भान नहीं है, वह दूसरे का मार्गदर्शक हो जाये – ऐसा असम्भव है। प्रथम कहा था कि लक्षण निष्पक्षपातरूप से कहूँगा। अतः जैसा है, वैसा यहाँ कहने में आया है। ऐसे कपड़े रखे तो मुनिपना, ऐसी क्रिया करे तो मुनिपना इत्यादि बाह्यलक्षणों को मुनिपना

नहीं कहा किन्तु डङ्के की चोट पर जाहिर किया है कि जहाँ आत्मज्ञान है, वहाँ मुनिपना है; बाकी मेरे कुलगुरु हैं, ऐसे मेरेपने के कल्पित आग्रह से आत्मज्ञान नहीं हो सकता। ऐसों को गुरु मानने का जोखिम आत्मार्थी नहीं करता। आत्मा के स्वभाव में पर का ग्रहण-त्याग, भेस, सम्प्रदाय या परमाणु की क्रिया नहीं आती। जैसे सिद्धभगवान हैं – ऐसा जो स्वस्वरूप निवृत्तिपद है, वह जिसके ध्यान में नहीं आया, तद्रूप सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की स्थिरता नहीं है – वह ज्ञानी नहीं है। जहाँ बाह्याअभ्यन्तर परिग्रह -रहित नग्न दिगम्बर दशा हो, तीन कषायरहित स्थिरतासहित आत्मज्ञान हो, वहाँ मुनिपना होता ही है किन्तु जहाँ आत्मज्ञान न हो, वहाँ मुनिपना हो ही नहीं सकता। ज्ञानी का ऐसा लक्षण निर्दोषतापूर्वक निश्चित किया है। आत्मा के गुण आत्मा में ही रहे, कहीं बाहर नहीं होते। यशकीर्ति नामकर्म का उदय हो और कदापि बड़ी संख्या में अनुयायी मिले, उसमें आत्मधर्म कहाँ आ गया ? अहिंसा क्या चीज़ है ? इसकी खबर बिना कहे कि हम जगत पर उपकार करते हैं, दया के अलावा और कोई धर्म नहीं है; अत: सारे जीवों की अन्य के प्रति हमें दया का पालन करना। इस सिद्धान्त को मुख्य करके आत्मा का धर्म माने, किन्तु अरागीपना किसे कहें ? उसका परिचय, उसका पुरुषार्थ कैसे करना ? इसकी खबर जिसे नहीं होती, वे सच्चे गुरु नहीं हैं। निजपद पूर्ण, अखण्ड ज्ञानमय शुद्धस्वरूप है। उसकी यथार्थ प्रतीति-श्रद्धा, उसका नाम सम्यग्दर्शन, स्वानुभव है। उसमें अन्धी अर्पणता नहीं है, मन की धारणा नहीं है। दूसरे ने कहा और धारण कर लिया – ऐसा किसी मतलब का नहीं होता क्योंकि तत्त्व पराधीन नहीं है। स्वयं की समझ अपने द्वारा करे तो सद्गुरु परम उपकारी निमित्त कहे जाते हैं। स्वयं ने प्रतीति करके यथार्थपना जाना और उपकार माना, तब अपना बहुमान आया और नम्रता आयी।

आत्मा क्या करे ? केवल ज्ञान ही करता है। जो प्रसङ्ग, संयोग दिखे, उसे मात्र जानता है। आत्म ज्ञानस्वरूप है। उसका यथार्थज्ञान तो चौथे गुणस्थानक में भी है किन्तु मुनि तो उसमें विशेष जमे हुए हैं। मैं शुद्ध हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित हूँ, ऐसे ज्ञानपूर्वक जो ज्ञान में जम जाता है, उसकी दृष्टि में मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ – ऐसे अभिप्राय के लक्ष्य का कार्य अवस्था में प्रगट पुरुषार्थपूर्वक रहता

है। उनको यहाँ गुरु कहा है। उन्हें दृढ़तर समकित कहा है। उत्कृष्ट तो **'वर्धमान समकित होकर, उदय होवे चारित्र का, वीतराग - पदवास।'** वहाँ उत्कृष्टदशा, केवल वीतरागदशा की बात है। वह उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन है। ऐसा परम अवगाढ़ समकित तेरहवें गुणस्थान में है। आत्मा के भान में स्थिरता-एकाग्रता करता है, वह श्रमण है। आत्मा पूर्ण कृतकृत्य शुद्धस्वरूप है। वह एक परमाणुमात्र की तथा देहादि की क्रिया कर नहीं सकता। पुण्य -पाप रागादि रहित है। इसका जिसे भान नहीं है और पुण्यादि क्रिया और बाह्य भेष को, बाह्यचारित्र को धर्म मानता है, वह द्रव्यलिङ्गी है। द्रव्यलिङ्गी कहने में द्वेष नहीं है। जैसा है, वैसा कहने में द्वेष नहीं है। आगे समभाव के बारे में कहा गया था कि ज्ञानी सत् को सत् माने-जाने, असत् का निषेध करे, दोष को दोष कहे; इस प्रकार असत्यमत का निषेध करने में द्वेष नहीं है। आत्मा वस्तुस्वरूप से जैसा है, वैसा न माने, न घोषित करे – वह ज्ञानी नहीं है। ज्ञानी जो स्वरूप है, उसे यथार्थरूप से माने, जाने, विशेषरूप से उपदेश में कहे, नग्न सत्य भी कहे। व्याख्यान, यानी सत् की सत् और असत् की असत् व्याख्या हो, वह। जिसको टोपी नाप से बैठे, उसे वह पहन ले। उसमें ज्ञानी को कुछ लेना-देना नहीं है। सद्गुरु की जो व्याख्या आगे कही जा चुकी है, उनको ही आत्मार्थी गुरु माने। ऐसे आत्मार्थी के अलावा अन्य किसी को गुरु न माने। जिसे आत्मा की पहचान नहीं है; श्रद्धा, ज्ञान, स्थिरता का पुरुषार्थ क्या – उसकी खबर नहीं है, – ऐसे कुगुरुओं को कुलधर्म को सार्थक करने की मानादि कामना के कारण मतार्थी जीव मानता है और कहता है कि उन्होंने त्याग किया है; इसलिये हमसे तो ऊँचे हैं। वे अपने ही हैं। श्री देवचन्द्रजी कहते हैं कि :-

'दृष्टिरागनो पोष, तेह समकित गणुं,
स्याद्वादनी रीत, न देखुं निजपणुं;
अवगुण ढांकणकाज करूँ, जिनमत क्रिया,
न तजुं अवगुण चाल, अनादिनी जे प्रिया।'

हे वीतराग ! हमने अपनी दृष्टि की पुष्टि करनेवाले गुरु के पास से समकित लिया। इसलिये हमारी दृष्टि में पसन्द था, उसको कहनेवाले कुगुरु हमें अनन्त काल तक मिले। अनादि का स्वच्छन्द – उसको पोषण देनेवाले के अभिप्राय से

हमने समकित ग्रहण किया और अनेकान्त अर्थात् अनन्त धर्मस्वरूप जो सत्स्वरूप अविनाशी शुद्धात्मा है, उसको यथाविधि नहीं जानते हुए, भेड़चाल की माफिक बिना सोचे ही अन्ध श्रद्धा को धर्म माना और परस्पर अपने छन्द से चलनेवालों ने प्रमाणपत्र दिये कि हाँ ! हम ही सही हैं ! किन्तु जगत में मानादि पाने हेतु मैंने दोषों का त्याग नहीं किया। कहा है कि **'अवगुण ढांकन काज, करूँ जिनमत क्रिया; न तजुं अवगुण चाल, अनादिनी जे प्रिया।'** मिथ्या मताग्रह तथा मानार्थ क्रियाकाण्ड में जीव झूठ-प्रपञ्च निभाये रखता है; सच्चे न्याय को भी छिपा देता है।

एक भाई कहते थे कि बड़ी मुश्किल से चल रहे बैल को आप मारोगे तो अलसा जायेगा; इसलिये उनको पोषण देकर निभाते रहो। किन्तु बाप के कुएँ में डूब मरने से कोई फायदा नहीं। (दोष को ढकने से गुण नहीं बढ़ते।)। सोने की छुरी कमर पर बाँधने के बजाय पेट में नहीं मार दी जाती। कुलधर्म को बनाये रखने के लिये वीतराग के नाम से पाखण्ड की पुष्टि नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार जिसे आत्मज्ञान नहीं है, ऐसे कुगुरुओं को भले बाप-दादा कुल-परम्परा की रूढ़ि से मानते हों, इसलिये हमें भी मानना – इस प्रकार आत्मार्थी नहीं मानता। आत्मार्थी तो यथार्थ गुरु की परीक्षा करता है। जहाँ भवकटी होने की बात न आये, अविरोधी यथार्थ न्याय न मिले और कहे कि पुण्य करो, फिर तेरहवें गुणस्थानक पर पहुँचेंगे, तब आत्मा प्रगटेगा; करेंगे तो पायेंगे, – इस प्रकार झूठ को निभाये रखनेवाले लोगों को आत्मार्थी जीव गुरु नहीं मानता। उसमें कोई द्वेष नहीं है किन्तु दृढ़ता है।

आत्मा में मोक्ष का उपाय व मोक्षदशा है। शुभाशुभभाव तथा मिथ्यात्व तो बन्धभाव है। जिस भाव से अनन्त काल भटकना पड़ा, उस भटकानेवाले बन्धभाव से लोकोत्तर मोक्षभाव प्रगट ही नहीं होता। पक्षपात छोड़कर न्याय समझे तो लाभ हो। जिसे आत्मा का भान नहीं है, वह मोक्षमार्ग कैसे बता सकता है ? अनन्त-अनन्त काल से भटकते हुए बड़ी मुश्किल से मनुष्यदेह मिली। उसमें भवकटी करने का उपाय न करे तो भव (मनुष्य जन्म) गँवा देने का भाव अवश्य वहाँ है। कई लोग कहते हैं कि क्या करें ? अनन्त भव से भटक रहे हैं; वहाँ एक भव और सही। किन्तु

सही धर्म समझने का प्रसङ्ग आया, फिर भी जो न समझे, उसका भव व्यर्थ जायेगा। चेतन भगवान जो कि मेरा पद है, उसे भूलकर मैं पुण्य-पाप में क्यों रचा-पचा रहूँ ? इसका उसे विचार नहीं है। यहाँ की आबरू या सोने की ईंट परलोक में काम नहीं आयेगी और वहाँ प्रभु को याद करने पर भी दुःख नहीं मिटेगा। ज्ञान की समझ जिस विधि से है, आत्मा की जो जाति है – उसका बोधिबीज जो साथ में लेकर गया, समाधिमरण करके गया, उसे भव का किनारा दिखता है। ऐसे धर्मात्मा को जिनेश्वर भगवान का लाड़ला लघुनन्दन कहा है। जिसे राग, द्वेष, अज्ञानरहित स्वरूपस्थिरता आंशिकरूप से भी खुली है, वह ज्ञानी है। राग-द्वेष-अज्ञान से संसार के क्लेश में जो उलझे हैं, उन्हें यह अपूर्वतत्त्व कैसे समझ में आये ? जिसे तत्त्व का लाभ होता है, उसे अपनी बेहद शान्ति बनाये रखने का बल प्रगट होता है। उसे सुखदशा आयी सो जाती नहीं है। ऐसी सम्यग्ज्ञान की महिमा है। जिसने सद्गुरुसमागम से आत्मज्ञान प्राप्त किया है, अपनी पात्रता से सही जाना कि सद्गुरु ऐसे होते हैं, उसने अपना पुरुषार्थ उठाकर बीज बोया है। अब ऐसा बोधिबीज, सम्यग्दर्शन जिसे प्राप्त है, उसे वह बीज भव में भटकने नहीं देगा। जिसे आत्मा की पहचान है, वह कुगुरु (मिथ्यामति) को पहचान लेता है। जो यों कहे कि 'आत्मा' बन्धस्वरूप है; १२वें गुणस्थानक तक पुण्य की क्रिया, व्यवहार चाहिए; तेरहवें गुणस्थान पर शुद्धआत्मा का ज्ञान होता है, अतः प्रथम तो पुण्यकर्म करने चाहिए; आत्मा-आत्मा करने से आत्मा मिल नहीं जायेगा; उन सूक्ष्मबातों से कुछ लाभ नहीं है; अतः हम तो जो करते आये हैं, वही करेंगे। देह की क्रिया करने से होती है। पुण्य के बिना धर्म नहीं है।' ऐसा कहनेवाले गुरु नहीं, किन्तु कुगुरु हैं। मुमुक्षु उनको पहचान लेता है। मुमुक्षु को एकबार स्वानुभव होने के बाद **'सन्त बीज पलटे नहीं, भले जाय जुग अनन्त, ऊँच-नीच घर अवतरे, तोये सन्त नो सन्त।'** इसलिये एक बार येन-केन-प्रकारेण भी जो सत्समागम बनाये रखता है, उस जीव से धर्मात्मा के चरणसेवन बाद कदापि विराधना हो गयी, भूल हो गयी, उससे कदाचित् निर्धनकुल में जन्म लेना पड़े, फिर भी अल्पभव में उसका मोक्ष अवश्य होता है। कदापि ज्यादा भूल कर डाली हो तो नरक-निगोद में भी जाना पड़े किन्तु पुरुषार्थी होने के कारण आत्मगुण की पूर्ण उज्ज्वलता वह प्रगट

करता है। लेकिन यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो आत्मार्थी के लक्षण क्या? वह यह है कि मिथ्यात्वी कुगुरुओं में वह अटकता नहीं। किसी प्रसङ्ग में वह परेशान नहीं होता। आत्मार्थी उल्टा ग्रहण नहीं करता। जैसा है, वैसा विरोधरहितापूर्वक सुल्टा देखता है। **३४.**

आत्मार्थी सच्ची दृष्टिवान ज्ञानसहित के गुरु का बहुमान गाता रहता है – यह बतानेवाली गाथा अब कहते हैं –

प्रत्यक्ष सद्‌गुरुप्राप्तिनो, गणे परम उपकार;
त्रणे योग एकत्वथी, वर्ते आज्ञाधार।। ३५।।

प्रत्यक्ष सद्‌गुरु प्राप्ति का, गिने परम उपकार।
मन-वच-तन एकत्व से, वर्ते आज्ञाधार।।३५।।

मुमुक्षु को सत् पाने की सच्ची रुचि, लगन होती है। कुलगुरु में या कुगुरु में वह अटकता नहीं। जिनके द्वारा सच्ची समझ हुई, उन उपकारी का उपकार का हनन नहीं करता; परम उपकार मानता है। जिस गुरु ने भवकटी की है, उनके समीपस्थ पात्र शिष्य को भवकटी होती ही है। जिन्होंने लोकोत्तरमार्ग बताया, ऐसे गुरु का महा उपकार मानता है। ऐसा नहीं मानता कि हमारे में पात्रता थी, इसलिये वे निमित्त हुए; अतः थोड़ा ही विनय करुँ। जहाँ भाव में फ़र्क है, वहाँ भाषा में भी फ़र्क रहता है। पुण्य-पाप, देहादि जड़ की क्रिया मेरे में नहीं है, आत्मा पूर्ण कृतकृत्य, ज्ञाता-दृष्टा है – ऐसा ही है। इस प्रकार राग से भिन्न होकर जाना; अनन्त काल में अपूर्वरूप से समझ में आया; अपनी पवित्रता से जाना, फिर भी लायक शिष्य ज्ञानी गुरु के प्रति का आदर नहीं चूकता। पलभर भी उपकार न भूले और कहे कि आपके चरणकमल की सेवा से मुझे अपूर्वज्ञान प्रगट हुआ, इस प्रकार विनयपूर्वक उपकार माने, उसमें खुद के गुण का महामान है। जिस पवित्र निर्दोषता का भान हुआ, अनन्त काल में बाह्यसाधन से जो तत्त्व प्राप्त नहीं

हुआ, वह गुरुआज्ञा की आराधना द्वारा अल्पकाल में समझ में आया। अतः कहते हैं कि धन्य है प्रभु ! आपने मुझे आत्मा दिया, इसलिये आपके चरणों के अधीन रहता हूँ। आनन्दघनजी कहते हैं कि :-

'निर्मळ गुणमणि रोहण भूधरा, मुनिजन मानसहंस जिनेश्वर,
धन्य ते नगरी, धन्य वेळा घडी, मातपिता कुळ वंश जिनेश्वर।
धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग शुं....'

धर्मात्मा ने जिस कुल में जन्म लिया, वह कुल धन्य है ! आसन धन्य है ! ग्राम, नगर व देश धन्य है ! समग्र जगत तेरे दर्शन से धन्य है। ऐसा कहकर अपना भाव भक्ति बढ़ाकर पुरुषार्थ उठाते हैं। अपने भावों के कारण सहज आनन्द आने पर जड़ में भी उपकार का निक्षेप करते हैं। अपने गुण में अनन्ती नम्रता व सम्यक्विवेक प्रगट हुआ है; अतः जहाँ देखे, वहाँ श्रीगुरु की कृपा देखते हैं। जिनके उपदेश से अपने स्वरूप की सम्हाल कैसे करनी ? – उसकी रीति समझ में आयी, ऐसे '**प्रत्यक्षसद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकार।**' स्वच्छन्दपूर्वक शास्त्रपठन करने बैठे तो शङ्का होती ही रहेगी। शास्त्रादि द्वारा जो समाधान होनेयोग्य नहीं है, वह गुरुसमागम से समझ में आता है। श्रीगुरु के बिना यदि केवल शास्त्र से ही आत्मज्ञान होता हो तो पृष्ठों का मोक्ष हो जाना चाहिए। अपने अन्दर सुपात्रदशा प्रगट हो, तब शास्त्र उपकारी कहे जाते हैं। किन्तु इसलिये पहले शास्त्र न पढ़े – ऐसा नहीं कहना है। यहाँ तो कहना है कि राग-द्वेष, अज्ञान टूटे बिना वीतरागता की सन्धि कैसे मिलेगी ? शास्त्र में कौनसी अपेक्षा, किस हेतु से किस आशय से, किस न्याय से है ? वह प्रत्यक्ष सद्गुरु के बिना समझा नहीं जा सकता। अपने स्वच्छन्द द्वारा जैसे-तैसे निर्णय करके बैठ जाए, रुक जाए तो उसका अहित होगा। अतः सत्समागम व गुरुगम की जरूरत कही है। 'जीव एक अखण्ड सम्पूर्ण द्रव्य होने से उसका ज्ञान-सामर्थ्य सम्पूर्ण है।' प्रत्येक देह में बिराजमान आत्मा स्वतन्त्र व पूर्ण ज्ञानी है। पर के निमित्त से वर्तमान अवस्था में जो उपाधि है, वह इस प्रकार के पुरुषार्थ से मिटायी जा सकती है। अपना पूर्ण सामर्थ्य गुरु आज्ञा द्वारा समझने से अपना बेहद सुख अपने स्वाधीन है – ऐसा आंशिकरूप से जाना, उसे पूर्ण किये बिना रहेगा नहीं। जिसने पुरुषार्थ किया है, उसे पता लगता है कि उसकी

कीमत कितनी है। ऐसा महामूल्य सत्पुरुष की चरणरज का सेवन किये बिना समझ में नहीं आता; स्वच्छन्द से पढ़ने में विपरीत कल्पना हो जाती है; स्वच्छन्द व प्रतिबन्ध रखने से आत्मज्ञान समझ में नहीं आता किन्तु यथार्थ पात्रता द्वारा सरल चित्त से जो गुरुचरणों का सेवन करता है, उसकी सारी उलझन दूर हो जाती है। शिष्य प्रश्न करे कि गुरुजी ! वृत्ति बहुत चञ्चल हो रही है। गुरु उत्तर देते हैं कि वह औपाधिकभाव है, उसमें रत न हो, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; अतः आत्मा का स्वभाव जानो। उसको जानने से औपाधिकभाव टल जाता है।

'**मनडुं किमहि न बाजे, ओ कुंथु जिन**' – ऐसा आनन्दघनजी कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि यह मन स्वच्छन्दी है किन्तु अब मैंने उसको जान लिया है। उसकी जो वृत्तियाँ आती हैं, वह खिरने के लिये आती हैं; वह आत्मा को बाधा पहुँचानेवाली नहीं हैं। किन्तु जिसे वस्तुस्थिति की खबर नहीं है, वह प्रकृति के उदय की विचित्रता देखकर क्षोभित हो जाता है, हलचल होने पर परेशान हो जाता है। ज्ञाता को प्रकृति का नाटक दिखे, फिर भी वह क्षोभरहितरूप से उसे जानता है। स्वरूप में धैर्यवान होकर देखे तो जो पूर्वकर्म सत्ता में पड़े हुए हैं, वह पूर्व की भूल का फल हैं। उसका फल वर्तमान में मिल रहा है – ऐसा वह जानता है। अतः वे ज्ञाता रहते हैं। उसमें इष्ट-अनिष्ट मानकर रुकता नहीं है। अज्ञानी देह में व राग में एकत्व बुद्धिवाला होने से प्रतिकूलता आनेपर कषायवश रागरूप होकर उसमें एकाकार हो जाता है। वह मानता है कि पर का कार्य मैं करता हूँ। वह परवस्तु में मेरापना करता है। वह चाहे जितने शास्त्र पढ़ लेवे किन्तु शास्त्र के सूक्ष्मन्याय श्रीगुरु की चरणसेवा किये बिना समझ में नहीं आते। जबकि जो गुरुआज्ञा द्वारा समझा है और स्वरूप की यानी अपने शुद्धात्मा की सम्हाल रखना सीखा और उसमें स्थिर हुआ, उसे शुभाशुभकर्म का उदय या कोई भी संयोग कैसे क्षोभित कर सकता है ? प्रकृति तो जड़ मुर्दारूप है, मैं जागृत चेतन हूँ – ऐसा वह जानता है। शास्त्र के पृष्ठ ऐसा समाधान नहीं दे सकते। भ्राँति के छेदक प्रत्यक्ष श्रीगुरु का समागम परम उपकारी है। लायक जीव पर ही सद्गुरु का परम उपकार होता है। वरना '**समझे बिना उपकार क्या ?**'

'**त्रणे योग एकत्वथी वर्ते आज्ञाधार।**' रागादि तथा मन, वचन, काया के

योग से आत्मा भिन्न है, पर है – इस प्रकार सद्गुरु की आज्ञा धारण करता हुआ प्रवर्तमान रहता है, वही सद्गुरु के परम उपकार का स्वीकार करता है। सद्गुरु ने जिनपद यानी आत्मा का पूर्ण वीतरागपद समझाया है। ऐसा मैं हूँ – इस प्रकार विश्वास होने पर सद्गुरु की प्रतीति ही सुख की सामग्री के हेतुभूत है – इस प्रकार परम उपकारिता श्रीगुरु में स्थापित करके अपने विकसित आत्मगुण की अधिक उज्ज्वलता आत्मार्थी जीव करता है। इस लोकोत्तरविनय का ऐसा प्रभाव है कि सत्पुरुष का शिष्य संसार से डरता नहीं है। यथार्थ न्यायबल से अपनी पूर्ण प्रभुता का भान उसे विद्यमान है। गुण पूर्णरूप से विकसित नहीं हुए हैं; इसलिये खुद अनन्त ज्ञानियों का विनय करता है। उस अनन्त ज्ञान को जानकर, समझकर जो बहुमान करता है, उसे शङ्का नहीं होती।**३५.**

लोगों को विचार आता है कि जगत में बहुत मत व पन्थ हैं। कोई ऐसा कहता है और कोई वैसा कहता है। सही क्या होगा ? सारे रास्ते हैं और सारे रास्तों से आखिर में मोक्ष ही जा सकता है क्योंकि सभी को शुभ इच्छा है, सभी की इच्छा आखिकार सफल होगी। अत: हमें तो किसी मत-पक्ष का आग्रह नहीं करना। चाहे जैसा आत्मा हो, सभी का लक्ष्य तो आत्मा है न ? ऐसा माननेवालों को अब कहते हैं कि :-

एक होय त्रण काळमां, परमारथनो पंथ;
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत।।३६।।

एक होय त्रय काल में, परमारथ का पन्थ।
प्रेरक जो परमार्थ का, वह व्यवहार समन्त।।३६।।

कोई भी गुरु चाहे जो व्यवहार बताये, उससे मोक्ष हो जायेगा, ऐसी मान्यता ही झूठी है – ऐसा यहाँ बताते हैं। आत्मा का मार्ग अतीन्द्रिय, लोकोत्तर है। भावनगर चाहे जिस रास्ते से, चाहे जिस साधन से जा सकते हैं – ऐसा लोगों में कहा

जाता है किन्तु भावनगर की दिशा अवश्य सही होनी चाहिए। उस दिशा का, मार्ग का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु उसे तो जाने नहीं और विरुद्धदिशा में जाये और फिर भी भावनगर जा रहा हूँ – ऐसा माने तो जिस गाँव जाना है, वहाँ नहीं पहुँचेगा। उस प्रकार अन्तरङ्ग में अकषायभाव की श्रद्धा, ज्ञान व स्थिरता का लक्ष्य, विधिनिषेधसहित जाने बिना, इस लोकोत्तरमार्ग की प्राप्ति कैसे होगी ? अत: वर्तमान ज्ञानदशा का पुरुषार्थ जिस पुरुष को प्राप्त है, उनके सङ्ग द्वारा आत्मधर्म प्राप्त होता है। सर्वज्ञ-वीतराग का अविरोध आत्मधर्म स्याद्वादस्वरूप मार्ग है, वह एक ही मोक्षमार्ग है; परमार्थ का वह एक ही पन्थ है। राग-द्वेष व अज्ञानरहित किस प्रकार हुआ जाए ? यह जानने का अपूर्व मोक्षमार्ग जहाँ-तहाँ नहीं है कि फटाक से पकड़ लेवें। वर्तमान में तो प्राय: उसकी दुर्लभता है। अनेकान्तदृष्टि से, न्याय से विरोध मिटाकर वीतराग प्रभु ने कहा, उस मार्ग को जो समझे, उसे ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है। किन्तु लोग ऐसा माने कि चाहे जो भेष-मत हो किन्तु आत्मा के नाम से धर्म होगा और अपनी कल्पना अनुसार फल मिलेगा तो वह गलत है। शुद्धभाव की जाति के अनुभव बिना जड़भाव के निमित्त से तो जड़ ही फलेगा होगा; अत: सर्वज्ञ वीतराग श्री जिनदेव द्वारा कथित लोकोत्तरमार्ग समझने से ही अन्तर में छूटने के आसार आने लगेंगे। मोक्षमार्ग तो आत्मा में है। वह यथार्थ सत्पुरुष के आश्रय से प्राप्त होता है, समझ में आता है। किन्तु लोग परभाव से धर्म मानते हैं; पर में कर्ताबुद्धि होने के बावजूद भी अनासक्ति से कुछ दया, सेवा आदि करें, वह अपना धर्म है – ऐसा मानते हैं। उसका अर्थ यह हुआ कि राग से, परभाव से, अकषाय-अरागी आत्मधर्म प्राप्त होता है – ऐसा उसने माना किन्तु विकार द्वारा अविकारीतत्त्व कदापि प्राप्त नहीं होगा। लोगों से सच्ची मान्यता रखने तथा पुण्यादि शुभराग त्यागने के लिये कहते हैं तो भड़क उठते हैं कि अरेरे ! हमारा किया हुआ किसी मतलब का नहीं ? उसे कैसे छोड़ा जाए ? किन्तु यह तो ऐसा हुआ कि यदि मैं अमृत में आ जाऊँगा, तो ज़हर हट जायेगा। यानी मैं शुद्ध आत्मा में रहूँगा तो ये शुभपरिणाम (जो मलिनभाव हैं, वे) यानी हमारे पुण्य उड़ जायेंगे। लोग कहते हैं – हम करें क्या ? उनसे ज्ञानी कहते हैं कि तुम ज्ञाता हो तो विपरीत अभिप्राय छोड़कर ज्ञातापना समझकर रागरहित ज्ञान में टिकना, अन्य कुछ

तुमसे होता ही नहीं है; मात्र कुज्ञान व राग-द्वेष अथवा अरागीभाव व सुज्ञान जीव से हो सकता है। पुण्य तो ज्ञानी को भी सहज बन्ध जाता है किन्तु वह पुण्य अज्ञानी बाँधता है, उससे भिन्न प्रकार का व अनन्त गुना अधिक है। योगानुयोग बाहर की क्रिया हो जाए – उससे वह क्रिया कोई जीव के करने से नहीं हुई है। दानादि की जो बाह्यक्रिया होनेवाली है, वह रुकनेवाली नहीं है। चैतन्यज्ञाता तो उस बाह्यक्रिया का अकर्ता है; देहादि की क्रिया हो, उसे जानता है। ज्ञानी पुण्यपरिणाम को अपना नहीं मानते, उदयकर्म का फल जानते हैं। शुभराग, दया के परिणाम हो जाए – उसका ज्ञानी को स्वामीत्व नहीं है, यानी उसमें ममत्व नहीं है। शुभराग को अपना स्वभाव नहीं माना है; अतः उसमें कर्तापना नहीं है। वह परभाव है, जड़भाव है, सर्वथा हेय है। फिर भी ज्ञानी धर्मात्मा जब तक निम्न भूमिका में है, तब तक सम्यक् अभिप्रायसहित अरागी तत्त्वदृष्टि के भानपूर्वक दया, दानादि शुभयोग उनसे हो जाता है किन्तु श्रद्धा में उसे हेय जानते हैं।

दिनाङ्क - १४-१०-१९३९

'एक होय त्रण काळमां परमारथनो पंथ' – यह कहा। इस प्रकार प्रत्यक्ष सद्गुरु की प्राप्ति भी चाहिए, यह तीनों काल का नियम है। इसलिये तीनों काल में आत्मधर्म का मार्ग एक ही होता है। परम पदार्थ – ऐसा आत्मा व अतीन्द्रिय बेहद सुखदशा प्राप्त करने का मार्ग लोकोत्तरमार्ग एक ही होता है किन्तु लोगों को उसमें ज्यादा उलझन लगती है। सबको अपनी मनभावन बात करनी है, उसमें मतार्थ व मानार्थ आड़े आते हैं और मानते हैं कि हम धर्म करते हैं। आनन्दघनजी कहते हैं कि –

'घाती डुंगर आडा अति घणा, तुज दरिसन जगनाथ;
धिठाई करी मारग संचरुं, भेगुं कोई न साथ।'

स्वच्छन्द एवं मत की कल्पना के घाती पहाड़ आड़े आते हैं, फिर भी मैं

अपने आत्मबल से लोकमत की ढिठाई करके लोकोत्तरमार्ग में गमन कर रहा हूँ, साथ में कोई अनुभवी मार्गदर्शक नहीं है। परमार्थ में किसी के आधार से पुरुषार्थ नहीं होता। जगत के लोग मुझ से चाहे जो कहें, मैं तो लौकिक ढिठाई कर रहा हूँ क्योंकि लोकोत्तरमार्ग ही सच्चा है। आत्मा अतीन्द्रिय, चिदानन्द, ज्ञायक ही है। उसमें पर का करना, पर का आधार होवे, ऐसा है ही नहीं। चैतन्यजाति एक है किन्तु संख्या से अनन्त जीवात्मा हैं। वे अपना पुरुषार्थ करने के लिये स्वतन्त्र हैं। पुरुषार्थ पराश्रित नहीं है।

साधक में जो आत्मगुण प्रगट हुआ है, वह प्रत्यक्ष सद्‌गुरु की आज्ञा पहचानने से प्रगट हुआ है; अतः सद्‌गुरु द्वारा प्राप्ति की है। उसमें ऐसा आशय है कि जो न्याययुक्त वचन एक ज्ञानी कहते हैं, वही सभी (ज्ञानी) कहते हैं।

परमार्थभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र ही मोक्षमार्ग है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, वह ज्ञान के अलावा अन्य कुछ कर नहीं सकता। अकषायभाव, अरागीतत्त्व – यही जीव का स्वरूप है। जो यों कहे कि हम शुभभाव द्वारा व क्रिया-काण्ड द्वारा आत्मा पा लेंगे; शुभपरिणाम ही अकषायभाव है, अराग है – उसने सत् को जाना ही नहीं है। सच्चे देव, गुरु, धर्म की मन में धारण की हुई श्रद्धा भी पुण्यबन्ध का कारण है। शुभकरनी भी जीव ने अनन्त बार की है किन्तु क्या नहीं जाना है? – यह सोचना है। उलझन होना तो स्वाभाविक है क्योंकि एक बार कहा कि सच्चे देव, गुरु, धर्म की प्रतीति ही समकित है और एक बार कहा कि वह मात्र पुण्यबन्धन है किन्तु भाव में, समझ में फ़र्क है। सम्यक्‌अभिप्राय पर तत्त्व का आधार है। अतः तत्त्व समझने की जरूरत है। आगे कहा कि –

'स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्ते सद्‌गुरु लक्ष;
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।'

जिसने ज्ञानी के भावों को जानकर, वे ज्ञानी वीतराग क्या कहना चाहते हैं? – इस प्रकार उनके भाव का लक्ष्य किया है, सत् सुना है, ज्ञानी के श्रीमुख से आत्मा की बात सुनी है और स्वयं को अन्तर में सहज वीर्योल्लासभाव आया है; उसे, मुझ में इस विधि से पूर्ण होने की योग्यता है – इस प्रकार अन्दर से हाँ आती है। **'प्रत्यक्ष सद्‌गुरु प्राप्तिनो गणे परम उपकार, त्रणे योग एकत्वथी वर्ते**

आज्ञाधार।' उनकी आज्ञानुसार प्रवर्तन करना माने वीतरागी पुरुष की आज्ञा का आराधन ही उसका एक लक्ष्य है। वह परमार्थ आशय की संभाल करने का पुरुषार्थ करता है, यानी आत्मा पूर्ण कृतकृत्य, चिद्घन, निर्मल ज्ञाता है; पुण्य-पाप एवं कषायरहित अबन्ध है – इस प्रकार गुरुआज्ञा, वीतराग की आज्ञा सन्मुख रखकर वर्तमान अवस्था में राग की वृत्ति को टालनेरूप अपने अकषाय, असङ्ग तत्त्व की संभाल करके ज्ञातापना टिकाये रखने का पुरुषार्थ करता है। अनन्त ज्ञानी भगवन्त हो गये, उनकी यही आज्ञा है। इस जिनआज्ञा को धारण करे तो ही रागद्वेष में टिकने का न बने और ज्ञान में टिकना होवे – इसे ही मोक्षमार्ग कहा है। यही ३५-३६ दोहे में कहना है।

बहुत से लोग राज्यादि छोड़कर मुनि हुए हैं। हमें संसार नहीं चाहिए और भव भी नहीं चाहिए – ऐसा मानते हैं। फिर भी उनकी मूल मान्यता में भूल होने के कारण उन्हें आत्मा की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। उन्हें भाव से अनार्य कहते हैं। जिनका वर्तन अनाचारी है और जो अभक्ष्य आहार करते हैं, उन्हें लोक में टेढ़ा माने अनार्य कहते हैं किन्तु जो आत्मा की जाति में टेढ़ा है, वह भाव से अनार्य है। उसका कदापि बाहर से सब सुन्दर दिखता हो किन्तु उसके अभिप्राय में भूल है। अपनी भिन्नता को समझे बिना कोई देव, गुरु, शास्त्र मुझे तार देंगे; पञ्च महाव्रत का पालन करुँ, शास्त्राभ्यास करुँ – वह पुण्यपरिणाम मोक्ष का कारण है, – ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है। देव, गुरु, धर्म तो अरागी हैं, निमित्त हैं किन्तु उनको समझे बिना क्या उपकार होगा ? अपना पुरुषार्थ जाग उठा हो तो अपने आत्मा की जागृति के कारण उपकारी का उपकार माना जा सके। स्वयं के गुणों का भान हुआ, उसी में निमित्त को उपकारी मानकर उनका बहुमान शामिल है। यही लोकोत्तरविनय है। किन्तु जो ऐसा माने कि हम भक्ति करें, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य का पालन करें तो हमारा कल्याण होगा अथवा मन की स्थिरता के सन्तोष से सुख की प्राप्ति होगी – इस प्रकार विविध आचरणों द्वारा और प्रयत्नों द्वारा ध्येय तक पहुँचा जायेगा – यह उल्टी मान्यता है। आत्मा कैसा है ? कितना बड़ा है ? वह क्या कर सकता है ? – यह यथार्थरूप से गुरुगमपूर्वक जिसने जाना नहीं है और कहे कि मोक्ष का मार्ग एक है, वही अपना ध्येय है; हम जो कर

रहे हैं, वह परम्परा से मोक्ष पाने का उपाय है – उसकी मान्यता झूठी ही है। तत्त्व स्वतः शुद्ध वीतराग है। वह दूसरे के निमित्त से या रागभाव से या अन्य किसी व्यवहार से कैसे प्राप्त हो ? आत्मद्रव्य स्वयं ही अकारणभूत है, किसी के आधार से उसका अस्तित्व नहीं है। जिसका टिकना पराश्रित नहीं है, ऐसा अरागी, स्वतन्त्र तत्त्व पराश्रय करने से प्रगट होगा – ऐसा मानना मिथ्या है। ज्ञानस्वरूप की कला ज्ञान की समझ में ही है और वह ज्ञान द्वारा ही है। इसके लिये जिम्मेदारीपूर्वक कहा है कि :-

'एक होय त्रण काळमां, परमारथनो पंथ;
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत,'

भगवान आत्मा निर्मल है। स्वाश्रयरूप साधक अवस्था को व्यवहार कहा है, वह व्यवहार भी आत्मा में ही होता है। पुण्य, पाप, कषाय, रागादि की रुचि का छेदन करके राग के अभावरूप ज्ञान में टिके रहने का ज्ञानक्रियारूप पुरुषार्थ करे – ऐसा व्यवहार अनन्त ज्ञानियों ने सम्मत किया है, स्वीकार किया है। सद्गुरु, सत्शास्त्र, व सद्गुरु के नाम की भक्ति का शुभभाव, केवल पराश्रय है; मोक्षमार्ग नहीं। सत् को पहचाने बिना वह सब राग की भक्ति है। शुभभाव कोई मोक्षमार्ग की ओर प्रेरणा नहीं करता किन्तु पूर्णता के लक्ष्य से जितना शुभअशुभभाव का अभाव करे, वह अरागभाव परमार्थ का हेतु है। वह ज्ञान की क्रिया है, जो पूर्ण परमार्थ की प्राप्ति करवाती है और बीच में सद्देव, गुरु, धर्म का विनय आ जाता है। यह शुभविकल्प तो विकसितगुण का बहुमान करने में निमित्त है। मोक्षमार्ग के व्यवहार में शुभराग नहीं लेना क्योंकि अरागी, शुद्धतत्त्व की भक्ति, राग द्वारा नहीं होती। अरागी, पूर्णतत्त्व पर जिसकी दृष्टि है, वह शुद्धअभिप्राय को टिकाये रखता है। बीच में राग आ जाता है। उससे लोकोत्तर पुण्यबन्ध होता है। वह राग मैं नहीं – ऐसा भान ज्ञानी को वर्तता है। ज्ञाता-दृष्टापने को भूलकर राग को, शुभपरिणाम को धर्म माने, कर्तव्य माने – वह जड़भाव को ही निजगुण मानता है और वह मिथ्याभाव ही है। आत्मा का व्यवहार आत्मा में ही होना चाहिए। इसके सिवा कुछ अन्यथा माने तो वह झूठा अभिप्राय है। सम्यक्अभिप्राय को कायम रखकर राग-द्वेष मिटाने का अर्थात् स्वरूप में सावधान रहने का प्रयत्न ज्ञानी

करते ही रहते हैं। राग को कम करने में बीच में देव, गुरु, धर्म का विनय, प्रभावना, गुरुभक्ति का महामान इत्यादि होता है। पूर्ण स्थिर हुआ नहीं है, तब तक उसे भूमिका के योग्य राग आये, अव्रत मिटे। व्रतपरिणाम के समय भी प्रयत्न तो अन्तरङ्ग में अरागीतत्त्व में स्थिरता का ही चलता है। वह देह की क्रिया नहीं है। ज्ञान में स्थिर होना तो ज्ञान के आधार से ही है। ऐसा व्यवहार परमार्थ को प्रेरित करता है। इस बात को यदि मान्य न रखे तो सम्यक्‌मोक्षमार्ग नहीं है। मन, वाणी, देह की क्रिया और शुभपरिणाम – ये सब व्यवहार नहीं हैं। ऐसी समझ ही सम्यक् चाबी है। अनन्त काल का अनजाना आत्मधर्म का लोकोत्तरमार्ग बहुत कठिन पड़ता है। ज़रा भी उल्टा-सीधा नहीं चलना है। जैसा है, वैसा समझे बिना चारा नहीं है। अनन्तकाल में समझ में नहीं आयी – वह बात कोई साधारण होगी ? बहुत जीव बहुभाग जैसा जो मान रहे हैं, उससे यह समझ भिन्न प्रकार की है। सत् को संख्या की जरूरत नहीं है।

कोई कहे कि श्रीमद्‌जी ने कहा कि '**एक होय त्रण काळमां परमारथनो पंथ।**' किन्तु काल का अनुसरण करके कुछ फेरफार किया हो तो नहीं चल सकता? श्रीमद्‌जी ने अपनी कल्पना से नहीं कहा है किन्तु अनन्त ज्ञानियों ने जो कहा है, वही कहा है; उसमें फ़र्क नहीं पड़ सकता। हाँ, वर्तमानकाल में इस देह से मोक्ष नहीं है। पुरुषार्थ कम कर पाते हैं किन्तु सम्यग्दर्शन में अभिप्राय का फ़र्क नहीं हो सकता। जैसा अभिप्राय सर्वज्ञ भगवान का है, वैसा ही उसी जाति का अभिप्राय चौथी भूमिका में भी होता है; अन्यथा नहीं। लाखों साल पहले भी गुड़, घी और आटे की 'सुखडी' (एक मिठाई) बनती थी और आज भी वैसे ही होती है। कदापि मिठास में ज़रा-तरा फ़र्क रहे किन्तु घी, गुड़ और आटे के अलावा धूल, पेशाब व मिट्टी की 'सुखडी' तीन काल में नहीं की जाती, नहीं बनती। उस प्रकार अनन्त काल में अनन्त ज्ञानी भगवन्त हो गये, हो रहे हैं व होंगे। उन सबने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्रमय मोक्षमार्ग कहा है।

आत्मा अविनाशी, पूर्ण ज्ञानी, पर से भिन्न सिद्धभगवान समान है। ऐसी निःशङ्क श्रद्धा, उसका सम्यग्ज्ञान और उस ज्ञान में टिके रहना – वह व्यवहार ही लोकोत्तर मार्ग है। इस काल में परमावगाढ़ समकित नहीं होता परन्तु दृढ़तर समकित (जरूर)

होता है। पूर्ण केवलज्ञान न हो, पर उसके बीज उसी जाति के ही होते हैं। इस काल में एकावतारीपना हो सकता है। सच्चा ज्ञान, सच्ची श्रद्धा और रागरहित निर्मल ज्ञान में टिके रहने का नाम चारित्र – वह आत्मा का व्यवहार है। राग की वृत्ति उठे, उसका अभाव करके ज्ञान में टिके रहना – वह व्यवहार। देह की क्रिया या शुभयोग आत्मा का व्यवहार नहीं है। जड़ की क्रिया – वह जड़ का व्यवहार है। उस विजातीय विकारीपर्याय की खतौनी अविकारीपर्याय में नहीं की जाती। इस तत्त्व को समझकर अन्दर में बिठाना पड़ेगा। न बैठे, तो धीरे-धीरे समझकर अन्तर में उतारना किन्तु अन्यथा मान लेने से तत्त्व तो अन्यथा होनेवाला नहीं है। इसलिये इस गाथा में कहा है कि –

'एक होय त्रण काळमां, परमारथनो पंथ;
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत।'

जिस जाति का निश्चय होता है, उसी जाति का व्यवहार होता है। इस व्यवहार में कई लोगों का बहुत घोटाला हो जाता है। जड़भाव को आत्मभाव मान लेता है। पुण्य-पाप का भाव बन्धभाव है, उसकी आत्मा में खतौनी कर देता है। उस प्रकार के व्यवहार से यदि कल्याण होता तो आज तक क्यों नहीं हुआ ? परमार्थ माने अभेदनिश्चय, आत्मस्वभाव। निश्चय माने शुद्ध आत्मस्वभाव। उसे प्राप्त करना – वह परमार्थभूत व्यवहार है; अन्य व्यवहार से धर्म नहीं है। साधक जीव मैं ज्ञान हूँ, सत् हूँ, शुद्ध हूँ, अभेद हूँ – इस प्रकार लक्ष्य में लेकर अखण्ड ज्ञान का पुरुषार्थ उठाता है। साथ में जो राग का अंश है, वह मैं नहीं – ऐसा भान है। पूर्ण वीतरागीतत्त्व ही उपादेय है। उस अभिप्राय को टिकाये रखने का जो ज्ञानबल वर्तमान में पुरुषार्थरूप में विद्यमान है – वह व्यवहार है। इसके बिना किसी अन्य व्यवहार को परमार्थ में घुसा दे तो वह मिथ्यात्व है। २५ हाथ रेशमी आलपाक हो, उसे गज़ द्वारा नापना है, (व्यवहार करना है)। उसके बज़ाय बोरी की टाट का कन्तान लेकर गज़ द्वारा नापने बैठे और ग्राहक से कहे कि लो यह २५ हाथ रेशमी आलपाक तो क्या वह लेगा ? उस प्रकार आत्मा अखण्ड, वीतरागमूर्ति, निर्मलज्ञान का थान है। उसे नापने का व्यवहार उस प्रकार के कपड़े से और परमार्थ के गज़ द्वारा होगा या जड़ की मलिनजाति द्वारा होगा ? आत्मस्वभाव अविकारी,

शान्तस्वरूप है; निरुपाधिक है और रागभाव कलुषित, विकारी, औपाधिक है। इस प्रकार भेद करना न आये और कहे कि हम धर्म कर रहे हैं तो क्या उसकी बात सच्ची हो सकती है ? समझदार आदमी को लक्ष्य में आया कि २५ वार रेशमी आलपाक ऐसा ही है। इस प्रकार अरागी, निर्दोषतत्त्व पर जिसने दृष्टि की है लेकिन वर्तमान पुरुषार्थ बाकी है, उसे राग कितना टल गया और उज्ज्वलता, वीतरागता कितनी खिली – उसका नाप बराबर करना आता है; पूर्ण शुद्धतत्त्व और वर्तमान अवस्था – इन दोनों चीज़ की खबर है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को इस परमार्थ के ज्ञान द्वारा जो पुरुषार्थ होता है, वह व्यवहार सम्मत जानना। आत्मा पूर्ण शुद्ध वीतरागी है; वह निश्चय अथवा परमार्थ है और राग के अंश का ज्ञान द्वारा छेदन करके ज्ञान में जमजाने का, टिके रहने का पुरुषार्थ ही व्यवहार है। अन्य लोग दूसरी तरह का व्यवहार कहें तो नहीं मानना चाहिए। दूसरा मानोगे तो दूसरा ही होगा। **३६.**

गाथा ३५-३६ दोनों की सन्धि अब आनेवाली गाथा के साथ है। वह गाथा कहते हैं :-

एम विचारी अंतरे, शोधे सद्‌गुरुयोग;
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहीं मन रोग।। ३७।।

यह विचार कर हृदय में, खोजे सद्‌गुरु योग।
काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहिं मन-रोग।।३७।।

'परमार्थ का पन्थ एक ही होता है' – ऐसा विचार करके उस पूर्णतत्त्व को प्राप्त करने के लिये उसी प्रकार का व्यवहार होता है। जो परमार्थ तक पहुँचाये, उस प्रकार का व्यवहार कैसा होता है ? वह आगे कहा है। वही ज्ञान की जाति का व्यवहार परमार्थ तक पहुँचाता है। उस बात को अन्तर में धारण करके, विचार करके, आत्मार्थी सद्‌गुरु की खोज में रहता है किन्तु कोई (नामनिक्षेप से) मानी

परमार्थ की बात मानपूर्वक धारण करके रखे और अपने स्वच्छन्दपूर्वक गुरु को खोजने जाए तो कुछ उल्टा ही हो जाता है – यह आगे बता चुके हैं। तीनों काल में परमार्थभूत व्यवहार एक ही होता है। अनन्त ज्ञानियों का आशय एक ही होता है। तीनों काल में आत्मा तक पहुँचने का मोक्षमार्ग जो कि सर्वज्ञ वीतराग भगवन्तों ने कहा है, वह एक ही है। जिसे वह प्राप्त करने की रुचि है, सद्गुरु के समागम की भावना है; उसे वह मिले बिना नहीं रहेगा। कदापि सद्गुरु का योग नहीं बना तो अन्तर से, पूर्व संस्कारों से अपने आप आत्मज्ञान होगा अथवा तो प्रत्यक्ष गुरु का योग मिले और अन्तर में उसी पूर्ण परमार्थ की खटक हो, उसे यह मार्ग अवश्य मिले ही। मार्ग प्राप्त करने की रीत एक ही होती है। इस प्रकार अन्तर में विचार करना, ऊपर-ऊपर से नहीं। अनन्त काल में जीवों ने सिद्ध की बातें व द्रव्य-गुण-पर्याय की धारणा अनन्त बार की है किन्तु उससे मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं हुआ। ज्ञानीजन कठिन बताते हैं, वह पुरुषार्थ उठाने के लिये बताते हैं। जिसका पुरुषार्थ उल्टा है, उसे सुल्टा करने के लिये कहते हैं। यहाँ तो आत्मा का हित करना है, कोई संसार का व्यवहार चलाने की बात नहीं है कि चलो ! झट से मना लें। परमार्थ से गुत्थी सुलझे तो अनन्त काल का भटकना मिट जाए। इसलिये प्रथम गाथा में कहा है कि जिसे समझे बिना भविष्य में भी अनन्त दुःख भोगना पड़ता, उन दुःखों के मूल का जिन्होंने छेदन किया है, ऐसे श्रीसद्गुरु भगवान को नमस्कार करता हूँ। परमार्थ में प्रेरित करे, वह वीर्य उसी की जाति का होता है। इस प्रकार विचार करके, अन्तर में इतनी जिम्मेदारी समझकर, आत्मार्थी सद्गुरु की खोज करता है। सद्गुरु योग खोजने का पुरुषार्थ खुद को करना है। गुरु मुझे तार देंगे – ऐसा वह नहीं मानता। वह तो स्वयं सत् का आदर कर रहा है। जिसके अन्दर पात्रता है, वह समझपूर्वक सत्समागम की भावना करता है। वह ऐसी भावना करता है कि अहो ! ऐसे श्रीसत्पुरुष का योग, सत्समागम मुझे मिले तो सब बातों का समाधान हो जाए। लोग उपाधि छोड़कर, संसार की मिठास छोड़कर निवृत्ति लें तो आगे चले न ? प्रथम सरल बात में सन्तोष मान लिया हो और उससे कोई नयी बात आये, तो परेशान हो जाए। किन्तु मुमुक्षु को परेशानी नहीं लगती। सद्गुरु यानी सत् में बड़े। सत् जो अविनाशी, अविकारी, शुद्धआत्मा

है, उसकी रुचिवाला सच्चे सुख का कामी है। उस तत्त्व को जो जानते हैं, ऐसे प्रत्यक्ष श्रीसत्पुरुष, सद्गुरु को आत्मार्थी खोजता है। उसमें खुद की रुचि का पुरुषार्थ है, उसे '**काम एक आत्मार्थनुं बीजो नहीं मन रोग।**' संसार की उसे वासना नहीं है। सत् का जिज्ञासु सत् के समीप ही खड़ा है। सत् के समीप जो भावपूर्वक खड़ा है, उसे आत्मार्थ प्रगट होगा ही। वह जीव आत्मार्थी है; वह जानता है कि सत् समागम में अन्यथा करने की बात नहीं होती यानी पुण्य, भेष, सम्प्रदाय, कपड़े, बाह्यत्याग का क्रियामार्ग, शुष्कज्ञानीपना, मानार्थ या मतार्थ – ऐसा कुछ भी परप्रयोजन नहीं आया। मात्र आत्मार्थ, सम्यक्परमार्थ पाने की उसे अन्तरखोज है। उसमें अन्य कल्पना, मन्त्र-तन्त्र, चमत्कार, हठयोग, मन की धारणा, पुण्य, योग आदि जड़भावों के अंश की भी उसे इच्छा नहीं होती। जो है, उसे प्राप्त करूँ। पूर्ण, शक्तिरूप, शुद्ध अविनाशी हूँ – ऐसा बन जाऊँ। उसी की श्रद्धा, सम्यक्अभिप्राय, राग की रुचिरहित ज्ञान, और उस ज्ञान की स्थिरता, पूर्ण वीतरागता की ही उसे कामना है। दूसरे जड़भाव का, लोगों में पूजनीय बनने का; मानार्थ, मतार्थ आदि संसारभाव का कोई रोग मन में भी उसे नहीं है। कोई शुभाशुभवृत्ति उठे, उसका आदर नहीं है। दुनिया उल्टी हो जाए, तो भले हो जाए किन्तु एक आत्मार्थीपने में, एक रूप वीतरागदशा में क्षोभ नहीं होता। उसे तो (बस) ! यही एक शुद्धस्वरूप की संभाल व उसे टिकाने की चाहत है। आत्मा स्वयं ज्ञाता है, ज्ञानमात्र है; पुण्य, पाप, राग-द्वेष, मन, वाणी, देह की क्रिया से रहित है। वह अविनाशी, असहाय, असङ्ग, केवल एक ज्ञानमूर्ति है। अतः ज्ञानबल द्वारा ज्ञान में टिके रहना; रागद्वेष में नहीं टिकना; निजस्वरूप की ज्ञानरूप से सम्हाल रखनी, वही परमार्थहेतु व्यवहार है और वही आत्मार्थी का कार्य है। **३७.**

अब, आत्मार्थी को दूसरे गुण कहते हैं –

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष;
भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास।।३८।।

कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भव से खेद, प्राणी-दया, वहाँ आत्मार्थ निवास।।३८।।

आत्मा का निवास ज्ञानी में है, धर्मात्मा में है। जो गुण अनन्त काल में नहीं खिले, ऐसे निर्दोष आत्मगुण की खिलवट के लिये, उस पवित्रता व निर्दोषता के योग्य भूमिका प्रथम तैयार होनी चाहिए – ऐसा यहाँ पर कहा है। आत्मगुण के रोधक कषाय का उपशम करना, यानी त्रिकालीं, अकषाय, ज्ञानानन्द स्वभाव के आश्रय से क्रोधादि कषाय क्षीण होने चाहिए। जिस प्रकार राख से ढकी हुई अग्नि अपना फल दे नहीं सकती, इतना बल राख में है; उस प्रकार ज्ञानबल द्वारा क्रोध, मान, माया, लोभ को रोकना चाहिए। अन्तर आत्मा में पुरुषार्थ से अकषायदृष्टि के बल से क्रोध, मान, माया, लोभ को जिसने क्षीण कर दिये हैं, कम कर दिये हैं; उसने स्वरूप में स्थिर होने का स्थान जाना है। उसे संसार की कामना नहीं है; मात्र मोक्षअभिलाषा है। राग की इच्छा नहीं है, पुण्य की करनी की अभिलाषा नहीं है, यानी राग, इच्छा ममतारहित निर्मल, पूर्ण पवित्रआत्मा की अभिलाषा है।

कोई कहे कि हमें ऐसा भगवान चाहिए जो कि दूसरों का कुछ भला कर सके, शरीर से सुखी रखे। वे कहते हैं कि जो ऊपर की भूमिका के धर्मात्मा हैं, जिनमें गुण प्रगट हुए हैं, वे धर्मात्मा जगत की सेवा क्यों नहीं करते? सभी लोगों को सुख मिले – ऐसा जो करें, उन्हें हम महा उपकारी कहते हैं। उसका उत्तर – कुछ भी करना है, वह दोषरहित नहीं हो सकता। इच्छा बिना कर्तृत्व नहीं होता। ज्ञानी को इच्छा नहीं है। हज़ार लोगों के बीच जो सयाना हो, उसे हम बड़ा मानते हैं, सज्जन कहते हैं – ऐसा लौकिक में कहते हैं किन्तु यह तो लोकोत्तरमार्ग है। संसार के जन्म - मरण मिटाना – यह कोई बाजारू चीज़ नहीं है। वह क्रिया-काण्ड से हो सके, ऐसी नहीं है। यह तो बिल्कुल अकर्ता, अरागीतत्त्व की बात है। मोक्ष है, वह आत्मा की पूर्ण पवित्रदशा है। राग के अंश के बिना का निर्विकल्प, निरपेक्षतत्त्व है। – उसकी लोगों को पहचान नहीं है; अतः अपनी कल्पना अनुसार भगवान को माना है। कोई तत्त्व पराधीन नहीं है। जो पराधीन नहीं है, वह दूसरे का आधार क्यों रखे ? वीतराग को राग नहीं होता।

वीतराग कुछ दे दे तो वे रागी सिद्ध हो जाए। किसी को सुख दे सकता हूँ – ऐसा मानकर गरीब को ५०० रुपये दे दें किन्तु उसके पास यदि रहनेवाले न हो तो कोई मारकर लूट लेगा। अरे! पास में पैसा न होगा तो आखिरकार कपड़े भी उतरवा लेगा, सिर भी काट डालेगा। जड़ के संयोग से सुख होवे, लाभ होवे – ऐसा मानना ही बड़ा अज्ञान है। पर वस्तु के संयोग की इच्छा – वही उपाधि है। शरीर चाहे जितना अच्छा दिख रहा हो परन्तु वह किस चीज़ का बना है – वह तो देखो! अच्छा दिख रहा हो, फिर भी किसी का नहीं हुआ; पलभर में बीमारी लग जाती है। किन्तु जिसे शरीर पर राग नहीं है, परिग्रह की ममता नहीं है – उसे कौन लूटेगा ? अतः देहरहित होने के लिये तथा सच्चा सुख जो आया, वह टल न जाए – उसके लिये शरणभूत स्वतत्त्व को समझने की जरूरत है। किन्तु जिसे अभी पर का करना है, कर नहीं सकता फिर भी मानना कि 'मैं पर का कर सकता हूँ,' – उसने भगवान को भी ऐसा उपाधिवाला ही माना है। खुद को अकेलापन अच्छा नहीं लगता; इसलिये परभव में व मोक्ष के स्वरूप के बारे में भी अपने माने हुए नाप से फिट कर देता है।

एक भाई कहते थे कि **'खाली दिमाग, शैतान का घर'।** किन्तु खाली (फालतू) किसे कहना और व्यस्त किसे कहना, उसकी खुद को ही खबर नहीं हो, फिर अपनी कल्पना के मुताबिक बात फिट कर देता है। जिसे अपनी पूर्णता, स्वाधीनता जँचती नहीं है, उसे पर के कर्तव्य, दया, राग आदि उपाधिवाला परमात्मा चाहिए; उसे खुद को भी ऐसा परमात्मा बनना है। जिसकी जैसी मान्यता, उसका वैसा व्यवहार और वैसा ही उसका फल आयेगा। जिसने अपने आप को पुण्यवाला, पर के आधारवाला माना है, उसे जड़ फलित होगा; उसे बन्धभाव की श्रद्धा है, इसलिये बन्ध होगा। लोग चाहे जैसी कल्पना के अनुसार मनभावन धर्म मानने लगें किन्तु धर्म में ऐसा चल जाए – ऐसा नहीं है। अतः यहाँ गाथा में कहा है कि तीनों काल में परमार्थ पाने का एक ही मार्ग होता है।

अकषाय के लक्ष्य से कषाय की मन्दता, संसार से छुटकारा पाने की इच्छा और पात्रतासहित **'भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास।'** आत्मार्थी को भव करने का भाव नहीं है किन्तु अन्तरवैराग्य व मोक्ष की इच्छा होने में जो

संसार प्रति, भव के प्रति खेद है, उसमें रागद्वेष के जो अंश आते हैं, उस राग के अंश को भी रखने का भाव नहीं है। जीव ने अनन्त बार देव के भव किये, वे भव भी चैतन्यप्रभु के सिर पर फोड़े (समान) हैं। प्रभु चैतन्य तो अमृतबेल है, और पुण्यप्रकृति, दया आदि रागभाव करने लायक मानते हैं, संसारभाव विष की बेल है। भगवान आत्मा अमृतकुम्भ है। उसके ऊपर अशुचिमय गमले शोभा नहीं देते। एक भव भी करना आत्मार्थी को रुचता नहीं है, यानी उसे भव करने का भाव नहीं है। **'भवे खेद, प्राणी दया त्यां आत्मार्थ निवास'** – इसका अर्थ यों लेना कि सभी (जीवों) पर दया, सभी प्राणियों में खुद भी है, यानी स्वयं पर से भिन्न है। इस प्रकार अपने अरागीतत्त्व की रक्षा करनी। खुद को सभी जीवों पर समभाव है, फिर भी उसे धर्मात्मा का, ज्ञानी का आदर, यानी सत् का आदर है; किसी के प्रति द्वेष नहीं है। सभी जीव आत्मधर्म प्राप्त करें, किसी प्राणी को दुःख न हो – ऐसी भावदया आत्मार्थी के मन में रहती है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १५-१०-१९३९

जिसे आत्मा का सच्चा सुख चाहिए, उसके कौनसे लक्षण होते हैं, यह कहते हैं। प्रथम भूमिका की पात्रता के बिना आत्मार्थ का निवास नहीं हो सकता, इसलिये कहा है कि –

'कषाय नी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष;
भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास।'

जिसे संसारभाव, बन्धभाव की लेश भी अभिलाषा नहीं है, उसे पूर्ण पवित्र मोक्षदशा की अभिलाषा है। मोक्षभाव व बन्धभाव एक साथ नहीं हो सकते। जिसे मात्र शुद्धात्मा ही चाहिए, उसे भव नहीं चाहिए। कई लोग कहते हैं कि हमें मात्र मोक्ष की ही इच्छा है लेकिन भव के अभावरूप भाव नहीं है। भव का भय जिसे नहीं है, उसे अबन्धतत्त्व कैसे रुचेगा ? कई लोग कहते हैं कि पुण्य की सुविधावाले

देव के भव मिले तो क्या दिक्कत है ? वहाँ से मरकर मनुष्यभव में अच्छे साधन पाकर मोक्ष का उपाय करेंगे किन्तु उसकी बात गलत है, केवल भ्राँति है। जीव ज्यादा से ज्यादा मात्र दो हज़ार सागरोपम काल तक ही त्रसपर्याय में रह सकता है, इसके बाद निश्चितरूप से एकेन्द्रिय में और निगोद में अनन्त काल रहना पड़ता है। यहाँ यह कहना चाहते हैं कि जिसे भव नहीं करने हैं और किसी प्राणी को दु:ख पहुँचे – ऐसा भाव नहीं, उसमें आत्मार्थ का निवास है। हमें तो पुण्यबन्ध द्वारा अच्छे-अच्छे भव करने हैं – ऐसा कोई माने तो उसे भव का भाव है, ऐसा समझना।

सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि आत्मा शाश्वत, अनन्त काल की स्थितिवाला, निरुपाधिक है। उसको भूलकर यदि भव करने का भाव रखे तो ज्यादा से ज्यादा दो हज़ार सागरोपम तक त्रसपर्याय में रह सकता है। वहाँ से छूटकर अवश्य एकेन्द्रिय में और निगोद में अनन्त काल तक रहना पड़ता है। त्रस के भवों की स्थिति इस प्रकार मर्यादित है। आत्मा बेहद अमर्यादित स्वभाववाला नित्य है, एकरूप ज्ञानस्वरूप है, फिर भी भव करने का भाव खड़ा है तो वह क्षणभंगुर देहों में भटकता हुआ ऐसे स्थान में जाकर गिरेगा कि जिसे सूक्ष्मनिगोद के थाला बोला जाते हैं। उसमें एक श्वासोच्छ्वास में १८ भव होते हैं। इस प्रकार अनन्त काल तक देह बदलता ही रहे। आत्मा पुण्यरहित है – इस बात को भूलकर आत्मा को पुण्यवाला, परनिमित्त के आधारवाला माना है। जिसने पुण्य की इच्छा करके बेहदस्वभावी आत्मा को पुण्य की अल्प स्थितिवाला, हदवाला माना, उसे जिस प्रकार सूर्य अस्त होने पर अँधेरा आता है, उस प्रकार मूढ़ता आयेगी ही; किन्तु जो सूर्य से आगे निकल गया, ऊपर चला गया, उसे कही अँधेरा नहीं है।

ज्ञानसूर्य खिल गया, उसे अज्ञान का अन्धकार नहीं है किन्तु जिसे आत्मा का यथार्थ भान नहीं है, उसे गाढ़ अज्ञान अन्धकार में ही रहने का है। जिसे पुण्य का आदर है, उसे भव की उपाधि का आदर है; इसलिये चैतन्यभगवान की स्वाधीनता का, सुख का अनादर है। चैतन्य भगवान पवित्र, आनन्दमूर्ति है। आगे आयेगा कि **'तू छो मोक्षस्वरूप'** उसकी यथार्थ श्रद्धा पुण्य की रुचिवाले को नहीं है क्योंकि उसकी पराश्रित बुद्धि है; पुण्यभाव, वह भव का भाव है। इसलिये देव,

मनुष्यादि त्रसपर्याय के भव खत्म होकर निगोद (नि=निरन्तर, गो=भूमि, यानी अनन्त भव, द = रहने का जिसमें स्थान है, वह) योनि में अनन्त काल रहना पड़ता है। आत्मा चैतन्य, ज्ञानमूर्ति, पूर्ण, असङ्ग, अबन्ध, अरागी है, स्वाधीन है; निरुपाधिक सुखस्वरूप है। उसकी एक बार सहज हाँ आने पर यथार्थ समझ की सहजदशा समझ में आती है। एक न्याय समझ में आने पर बन्ध व मोक्षस्थिति, उसके कारण-कार्य, लोक, जीव-अजीव क्या है ? – यह सब कुछ जैसा है, वैसा जानने में आ जाता है। यह अपूर्वतत्त्व स्वच्छन्दपूर्वक समझ में नहीं आता। अतः आत्मार्थी को पात्रता द्वारा जिस अपेक्षा से परमार्थ व व्यवहार कहा है, उसे लक्ष्य में रखकर सद्गुरु की आज्ञा का आराधन करना चाहिए। यह कहना चाहते हैं कि जिसे पुण्य की रुचि है, राग की रुचि है, उसे भव का खेद नहीं है यानी भव का भाव है, उसे निगोद की इच्छा है – वह जीव चैतन्य की शक्ति हार जाता है और इसलिये अनन्ते भव की भींस (दबाब) में, भयङ्कर यातना में अनन्त काल तक पराधीन रहता है। पुण्य से धर्म होगा, परम्परा से मोक्ष होगा – इस प्रकार जिसने भव की इच्छा की, उसने त्रसपर्याय छोड़कर निगोद में जाने का भाव किया है क्योंकि निर्दोष ज्ञातापना उसे रुचता नहीं है; अकेलापन, स्वाधीनता उसे पसन्द नहीं है। अनन्त दुःख के संयोगों का कारण बन्धभाव है। मिथ्या अभिप्राय के कारण ही जीव को अनन्त काल निगोद में रहना पड़ता है। चैतन्यशक्ति इतनी ज्यादा कुण्ठित हो जाती है कि खुद का अस्तित्व दूसरे स्थूल दृष्टिवाले देख न सकें, उसका जीवत्वपना भी जान न सके – ऐसी अति निम्न पराधीनदशा में अनन्त भव करने पड़ते हैं। जिसने परभाव को अपना माना और चैतन्य भगवान के यथार्थ न्यायों का स्वीकार नहीं किया, उसने ज्ञातापने का अनादर किया। अतः उसे ऐसे भव में रहना पड़ता है कि जहाँ चैतन्यशक्ति इतनी ज्यादा कम हो जाती है कि साधारण जीव उसकी चेतनता को जान भी नहीं सकते। ऐसा न्याय है और सिद्धान्त भी ऐसा ही है। वह अपने जीवरूप से पहचाना जा सके, ऐसा बाह्यचिह्न भी हार जाता है। ऐसा विकृतपना, पुण्य की मिठास रहने से होता है। जिसे केवल ज्ञातापना रुचता नहीं है, वह चैतन्यद्रव्य की अति हीनता करता है। वह कहता है कि आत्मा-आत्मा क्या करते हो ? हम तो बस, कुछ करें तो पुण्य की साधन सामग्री पायें

और सुखी हो जाए। इस प्रकार आत्मा की बात और सर्वज्ञ के न्याय की चर्चा हो रही हो, उसका तथा आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा अक्रिय, अबन्धस्वभाव है। उसका जो अनादर करते हैं, वे उपरोक्त अवस्था पाते हैं। पुण्य के बिना धर्म नहीं है – इस प्रकार जो परभाव को अपना मानता है तथा जिसे निमित्त के बिना, भव के बिना, शरीर के बिना और शरीर की सुविधा के बिना रुचता नहीं है, उसे निगोद में जाना ही पड़ेगा। जिसे देव के भव, पुण्य के भव अच्छे लग रहे हो, उसे निगोद के भव अच्छे लग रहे हैं। जिस प्रकार है, उस प्रकार न्याय से कहा है। जिसे भव का भय नहीं है, भव के अभावरूप भाव, अबन्धत्व को जिसने जाना नहीं है, उसे नरक-निगोद और अनन्ते कषाय के भाव की इच्छा है। अत: ज्ञानी निष्कारण करुणापूर्वक कह गये हैं कि '**भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास।**'

चैतन्य भगवान अविनाशी, निरोगीतत्त्व है। उसकी वर्तमान अवस्था में भव का भाव, पुण्य-पाप-देहादि की स्थिति फोड़ेरूप है, पस-मवाद की उपाधि है। मुझे भव नहीं चाहिए – ऐसे भाववाला जीव, भवरोग मिटानेवाले वैद्य श्रीसुगुरु को खोजता है। सुगुरु चैतन्य की निर्मलदशा कैसी है – यह बताते हैं। कदाचित् प्रत्यक्ष सद्‌गुरु न मिले तो अन्दर से पूर्व संस्कार और पुरुषार्थ जागृत होगा और सत्पुरुष को पाने की भावना बनी रहेगी। '**जब लग नारायण नव पावे, तब लग नयन में नींद न आवे।**' – ऐसी दशा होती है कि जब तक पूर्णदशा स्वाधीन सुखदशा प्रगट न हो, तब तक के पुरुषार्थ की पूर्ति उस दशा के कारण होती है। केवल पूर्णस्वरूप को पाने की इच्छा होनी चाहिए। ऐसे लायक जीव को श्रीसद्‌गुरु का योग अवश्य मिलता है। जहाँ सत् का ही आदर है, वहाँ मोक्ष के सपने आते हैं कि आत्मा के असंख्यात प्रदेश कर्ममलरहित, निर्मल हो गये, मोक्ष हो गया; भव नहीं रहा। पुण्य की इच्छा द्वारा तो चैतन्य के ज्ञान में विकार होकर संसार के खराब सपने आते हैं। वे पककर भवरूपी सूजन और फोड़े बनते हैं और वहाँ पर अपनी अनन्त अशातना होती है, स्व का घात होता है। पुण्यादि भोग की मिठास अज्ञानभाव से मिट नहीं सकती। आत्मा जैसा है, वैसा यथार्थपने जानकर भव का अभाव होता है। चैतन्य का विचार सूक्ष्मतापूर्वक करो कि भव का भाव है या नहीं।

मध्यस्थतापूर्वक सोचना पड़ेगा; जैसा है, वैसा समझना पड़ेगा। '**भवे खेद**' यानी परभाव की नास्ति। '**प्राणी दया**' माने स्वरक्षा की अस्ति। '**भवे खेद, प्राणी दया**' उसमें '**प्राणी दया**' माने जगत के प्रति निर्वैरबुद्धि - अद्रोहबुद्धि, यानी वैरबुद्धि का त्याग। कभी लाख आदमियों के प्रति गुनाह किया हो, ऐसा क्रोध करनेवाला स्वयं होवे किन्तु जहाँ खुद ही सुलट गया, वहाँ अपने सारे दोष दूर हो गये समझना; अब उसे लेन-देन चुकाने के लिये भव नहीं करने पड़ेंगे। स्वयं अकर्ता निर्मल अभिप्राय में स्थित हुआ और वैर-बुद्धि का ज्ञान से छेद किया – इस प्रकार जिसने स्वयं ने पल्टा खाया, उसे जगत का वैरविरोध मिट गया किन्तु जिसके अन्तर में लेशमात्र डङ्क रह जाए, वह सुलटा नहीं हुआ है। दूसरों को समझाऊँ, दूसरों को राजी करूँ तो मेरे दोष मिट जाए – ऐसा मानना सही नहीं है। सच्ची समझ से अपनी वैररहित दशा प्रगट करना – यह मुमुक्षु का लक्षण है। ऐसे भाव जो प्रगट करे, उसके अन्दर आत्मार्थ का निवास है – ऐसा यहाँ कहा। **३८.**

अब, कहते हैं कि –

दशा न एवी ज्यां सुधी, जीव लहे नहीं जोग्य;
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतररोग।। ३९।।

दशा न जब तक ऐसी हो, जीव न पाये योग।
मोक्षमार्ग पाता नहीं, मिटे न अन्तर रोग।।३९।।

अब तक जो कही, ऐसी सत्पात्रदशा प्राप्त न करे, तब तक उसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती; अकषायभाव के लायक नहीं होता। पहले कही ऐसी पात्रता का वीर्य भी जिसमें नहीं है, उसे निर्मल आत्मा की बात अन्तर में परिणमित नहीं होती और तब तक आत्मभ्रमणारूप अन्तर रोग नहीं मिटता। रोग तो ज्ञान में विपरीतता का है। कर्म के निमित्त का संयोगीभाव, यानी भव का भाव मिटानेरूप निर्दोषता प्राप्त किये बिना भवरोग मिटेगा नहीं। जिसके अन्दर पात्रता प्रगटी हो, उसे प्रभुता

का योग मिले बिना रहेगा नहीं। मनुष्यक्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग भगवान की अनुपस्थिति किसी काल में नहीं रहती। जिसके अन्दर मुमुक्षुता, पात्रता सन्मुख हुई, उसे उत्कृष्ट निमित्त मिले बिना नहीं रहता। स्वयं पात्रता में आये तो जगत में उसके अनुकूल निमित्त तैयार होता ही है। जहाँ सन्तों के व मुनियों के गुट हों, अमृतवाणी का प्रवाह बह रहा हो – ऐसे महान उत्कृष्टयोग, जिसकी पात्रता है – तैयारी है, उसे मिले बिना नहीं रहता। परमार्थतत्त्व को पाने लायक दशा आये बिना सद्गुरु का बोध आत्मा में परिणमित नहीं होता। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह पराधीनता की इच्छा करता है, दु:ख की इच्छा करता है, भव की इच्छा करता है। चैतन्य ज्ञाता है; उसे पर की निमित्ताधीनता अनादि से परिचय में है, बन्धभाव सुलभ है, उसमें प्रेम (रुचि) है। इसलिये सत् व सद्गुरु के प्रति उसे प्रेम आया ही नहीं किन्तु अब सारे पूर्वाग्रह छोड़कर सुल्टा होकर भावपूर्वक कहे कि पर का कुछ भी करना नहीं है, कुछ भी मुझे नहीं चाहिए। ऐसा हुए बिना ज्ञान की श्रद्धा ही नहीं होती। लोग कहते हैं कि आप एल. एल. बी की ऊँची व बारीक बातें करते हो किन्तु पहले कुछ व्यवहार तो होना चाहिए न ? और पुण्य करेंगे, तब तो साधन मिलेंगे न ? इसके प्रत्युत्तर में तीनों काल के ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हारी मान्यता झूठी है; उसे छोड़कर यह बात समझो। यह प्रथम अङ्क की (एक नम्बर की) बात है; आत्मा के सच्चे सुख का उपाय समझने की प्रथम सीढ़ी है। प्रथम सच्चा ज्ञान जिस प्रकार है, उस प्रकार जानना – यही एक का अङ्क है। जिसका अन्तर रोग मिट गया, उसका भवभ्रमण मिटे बिना रहेगा नहीं और जिसका अन्तर रोग नहीं मिटा, उसका भवरोग भी नहीं मिट सकता। **३९.**

अब, सुविचारणा कैसे प्रगट हो – यह कहते हैं –

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय;
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय।। ४०।।

आवे जब ऐसी दशा, सद्गुरु-बोध सुहाय।
बोध से सुविचारणा, वहाँ प्रगटे सुखदाय।।४०।।

'पात्रता होने पर प्रभुता प्रगट हो' – इस न्याय से यथार्थ मुमुक्षुता होने पर कषाय की मन्दता होती ही है। ज्ञानी पुरुषों का सहमत किया हुआ जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र (रागरहित, पुण्यादि शुभभाव बिना की ज्ञानमात्र दशा, ज्ञानस्वरूप में टिकना – वही चारित्र) ही मोक्षमार्ग है, – ऐसा जिसका लक्ष्य है, ऐसे यथार्थतत्त्व के जिज्ञासु को सत् की व सद्गुरु के योग की जिज्ञासा होने पर, सद्गुरु का बोध ऐसे लायक जीव में शोभित हो उठता है। (१) मोक्ष की बात, (२) पञ्च महाविदेह की बातें, (३) साधकदशा के पुरुषार्थ के न्याय, (४) सर्वज्ञ के न्याय, तथा (५) निगोद व सिद्ध की स्थिति – यह अपात्रजीव को रुचता नहीं है। उसके पास अध्यात्म ग्रन्थ आये तो वह धर्म को भी लज्जित करे और शास्त्र को भी लज्जित करे। इसलिये कहा है कि सुपात्र जीव योग्यदशा प्राप्त करे तब सद्गुरुबोध शोभित हो उठे, स्थिर होवे। (यहाँ धारणारूप ज्ञान लिया है।) फिर सुविचारदशा जागृत होती है और सत्बोध परिणमित होता है, साधकस्वभाव की शोभा बढ़ती है। यहाँ सुविचारदशा ली है। ऊपर -ऊपर से तो अनन्त बार विचार किये, फिर भी वह अपूर्वदशा हुई नहीं किन्तु पात्रता से, ज्ञानी की आज्ञा से और बोधस्वरूप की सुविचारणा से पवित्रता, शुद्धता के आसार दिखते हैं, ज्ञान में अपूर्व वीर्योल्लास दिखता है, उसमें शङ्का नहीं होती। जिस प्रकार प्रभात की संध्या की लालिमा दिखती है, उस प्रकार साधकदशा की शुद्धता के चिह्न शुरू से दिखते हैं; दूसरों से पूछना नहीं पड़ता। इसलिये **'आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय; ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय'** आत्मा के अव्याबाधसुख को देनेवाली सुविचारदशा प्रगट होती है। समता के स्वरूप की जाति का आनन्द ऐसा ही होता है। इस प्रकार सद्गुरुबोध से सुपात्रजीव को वह बोधबीज उगता है, यानी परिणमित होता है। यथार्थ जिज्ञासापूर्वक सत्बोध जाना कि ऐसा ही है, **'पुरुष प्रमाण तो वचन प्रमाण'** इस प्रकार निर्णय करने पर सुविचारदशा द्वारा निर्मलदशा खिलती है। ऐसी ज्ञानदशा होती है कि जो अनन्त, अव्याबाधस्वरूप की स्थिति की प्राप्ति कराये और उस जाति की सुखदायीदशा का अंश खुले। श्रीमद्जी ने कहा था कि सच्चेसुख की सामग्री का हेतु कहूँगा। वे यहाँ कहे हैं। आगे भी आयेगा कि **'ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप'** लायक जीवों के लिये ही ज्ञानी का बोध है। खारी जमीन में बीज जल जाता

है; उस प्रकार अपात्र की भूमिका में सम्यग्बोध उग नहीं सकता।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १६-१०-१९३९

यहाँ आत्मार्थी के लक्षण कहे जा रहे हैं। राग-द्वेष का नाश हो, ऐसे परमार्थ का परिचय ही व्यवहार है। इस बारे में कहा कि **'आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय; ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय।'**

आत्मतत्त्व का अविरोधरूप से विचार करने पर सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु मैं परमार्थ का इच्छुक हूँ या संसार का ? – उसका जिसे विचार नहीं है; मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है और रागीपना क्या है ? – इसकी परीक्षाशक्ति जिसे नहीं है, उसे आत्मा की अन्तरङ्ग विचारदशा किस प्रकार होवे ? पुण्य की मिठास, भव की मिठास हो, वहाँ आत्मार्थ कैसे सूझे ? भगवान ने बारह भावना में 'बोधिदुर्लभ भावना' कही है। उसका अर्थ यह है कि अनन्त काल से भटकते हुए जीवों को आत्मा का सम्यग्बोध प्राप्त होना महादुर्लभ है; दुर्लभ होने पर भी अप्राप्य नहीं है। अपने पुरुषार्थ की यथार्थ विधि जाने तो अनन्त काल में नहीं प्रगट हुआ तत्त्व, सहजप्रयत्न से प्रगट होता है। अतः यहाँ पर उस सुविचारणा को प्रगट करने के लिये कहा है। **४०.**

इस सुविचारणा का फल क्या आता है – उसके बारे में अब कहते हैं –

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान;
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण।। ४१।।

जब प्रगटे सुविचारणा, तब प्रगटे निजज्ञान।
ज्ञान से क्षय मोह हो, पावे पद निर्वाण।।४१।।

जिसे सुविचारणा की योग्यता हुई, उसे छह पदों से सिद्ध – ऐसे आत्मस्वरूप का विचार अन्तरङ्ग में उगता है क्योंकि उस सुविचारदशा में निरन्तर आत्मतत्त्व की विचारदशा रहती है। जिसे अपूर्वतत्त्व का माहात्म्य नहीं आया, यानी अपने पूर्णतत्त्व की महिमा नहीं आयी – उसे सुविचारदशा कहाँ से हो ? उसे सम्यग्ज्ञान कहाँ से हो ? पूर्व में अनन्त काल में आत्मा के नाम से अन्यथा ही किया है, भव में भटकने का भाव किया है; वह मिथ्याज्ञान क्या और सम्यग्ज्ञान क्या – यह सुविचारणा के बिना कैसे समझ में आये? आत्मा क्या है ? – उसकी अच्छे से विचारणा होने पर अपने शुद्ध आत्मपद का ज्ञान अवश्य प्रगट होता है। लोग कहते हैं कि कुछ करें तो होवे। किन्तु आत्मा अपनी ज्ञानक्रिया के अलावा और कुछ कर सकता है या नहीं – उसका निर्णय तो करो! प्रथम पुण्य करें या कुछ करें – ऐसा कहते हैं किन्तु करने से पर का कर्ता बन सकता है या नहीं – यह तो विचार करो! जीव मात्र मिथ्याज्ञान अथवा सुज्ञान कर सकता है किन्तु पर का कुछ नहीं कर सकता। अतः ज्ञानी ने तो ज्ञानक्रिया (ज्ञान की क्रिया) करने को कहा है। संसारबुद्धि से विरमित होकर मात्र मोक्षस्वरूप की सुविचारणा करने में अनन्त बातें गर्भित हैं। अपने तत्त्व की जिसे खबर नहीं है, उसे वस्तु में सुख-साधन की बुद्धि है। तत्त्व की प्रतीति के बिना पूरा भव व्रत, तप, गुरु की सेवा, बाह्यचारित्र का पालन करे; छह-छह महीने उपवास करके मर जाए, फिर भी आत्मा का आंशिक भान भी नहीं होता। मन, वाणी देह से रहित, पुण्यादि, देहादि की क्रिया से रहित, अक्रिय ज्ञातापने की श्रद्धा बाह्यदृष्टि जीव को रुचती नहीं है। आत्मज्ञान के लिये कर्तव्य जो ज्ञानक्रिया, ज्ञानकला – उसे ही करने का अनन्त ज्ञानियों ने कहा है। आदि, मध्य व अन्त में प्रथम भूमिका से आखरी भूमिका तक ज्ञान ही कर्तव्य है। देहादि की क्रिया को और व्रत, तप को धर्म मानकर आत्मा के गुण खिलेंगे – ऐसा मानना, यह महामिथ्यात्व है।

प्रकृत्ति के निमित्त से होनेवाले औपाधिकभाव – वह पुण्यपरिणाम हैं, वे अनित्य हैं; पुण्य-पाप तो हदवाले हैं। जो आत्मा को निमित्त के आश्रयवाला माने, उसे स्वाधीनता की श्रद्धा नहीं है। मैं अनादि अनन्त हूँ – ऐसी दृढ़श्रद्धा हुए बिना कोई (अगर) कहे कि हमें भव का भय है, तो यह बात झूठी है। जहाँ निमित्ताधीनता

है, वहाँ अनन्त नरक-निगोद के भाव (गर्भ में) भरे हुए हैं। हमें समझ में न आये तो यह कोई बचाव नहीं है।

जहाँ आत्मा की सच्ची जिज्ञासा है और छह पदों से आत्मपद की सिद्धि है, उसकी सुविचारदशा जहाँ प्रगट हो, वहाँ सद्गुरुबोध शोभित हो उठता है। आत्मा का यथार्थ बोध होने से ज्ञान की स्थिरतारूप चारित्र द्वारा मोह का क्षय होता है और स्वयं का अव्याबाध शिवसुख प्रगट होता है। आत्मार्थी सोचता है कि मैं ही अविनाशी बेहद सुखस्वरूप हूँ। पहले मैं ही अज्ञानभाव से राग-द्वेष, पुण्य-पाप का भ्रान्तिरूप से कर्ता था और अब मैं पर का अकर्ता हूँ। पर के निमित्तरहित ज्ञान, दर्शन व आत्मा की रमणतारूप चारित्र में स्थित रहकर, रागरहित ज्ञान में ज्ञानरूप से टिके रहना – यही मेरा व्यवहार है और वही मोक्षमार्ग है; वही मेरा कर्तव्य है। अन्य कोई कहता है कि मेरा कर्तव्य तो दया, परोपकार करना है। लोग बहुत परोपकारी हो गये – इस प्रकार स्थूलदृष्टि से (उपकार की दृष्टि से) कहा जाता है किन्तु यथार्थ दृष्टि से देखें, तो कोई दूसरे का उपकार कर नहीं सकता; किसी का कर्म कोई दूसरा दे नहीं सकता। सामनेवाले प्राणी के पुण्य-पाप के उदय बिना निमित्त हो नहीं सकता। ज्ञातापना भूलकर माने कि मैं पर को सुखी करूँ, दूसरे की दया करूँ, दूसरे पर उपकार करूँ और उसी में अपना हित माने तो वह दुःखी होता है। खुद से पर का कुछ नहीं होता, फिर भी मैं हूँ तो उनका कार्य होता है – ऐसा मानता है। योगानुयोग होता हुआ दिखे तो वह प्रारब्ध से हुआ है। जब तक कर्तापने की, रागादि की रुचि है, तब तक आत्मा की पल-पल अनन्ती हिंसा होती है; स्वयं का ही अपराध होता है, जिससे ज्ञान का घात होता है।

आत्मा किस स्वरूप से है ? – इसका जिसे भान नहीं है एवं सुविचारदशा भी नहीं है। वह दो घड़ी के लिये बैठ जाए, उसे सामायिक मानता है। उसे सुविचारदशा कहाँ से प्रगट हो ? आत्मा जैसा है, वैसा यथार्थ जाने बिना जड़ की क्रिया में वह स्थिर होगा तो जड़ जैसा होगा। पापानुबन्धी पुण्य भोगकर फिर अनन्त काल तक नरक व निगोद के भव करेगा। मैं आत्मा हूँ, नित्य हूँ – आदि छह पदों के यथार्थ विवेक – सहित सुविचारदशा से आत्मा का ज्ञान हो, उसे आत्मज्ञान

द्वारा मोह का क्षय हो। यहाँ तो ज्ञानबल की महिमा आयी। '**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष;**' – ऐसा एक सूत्र है। उसमें अरूपी ज्ञातापने की रागरहित ज्ञानक्रिया (ज्ञान की क्रिया) आयी किन्तु इतने शास्त्रों का जानपना करना, देहादि जड़ की इतनी क्रिया करनी या इतने पुण्यादि करना – ऐसा कुछ नहीं आया। आत्मा का गुण ज्ञान है; अतः ज्ञान के सिवा अन्य कुछ आत्मा कर सकता है – ऐसा मानना, वही मिथ्यादर्शन शल्य है। ज्ञान की क्रिया द्वारा ज्ञान में स्थित हो तो राग-द्वेष नहीं होंगे, यानी राग-द्वेष से होनेवाली, अज्ञानरूप क्रिया सहज ही रुक जायेगी। यथार्थज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से दर्शनमोहकर्म का क्षय होता है। मिथ्यादर्शन माने झूठी मान्यता, निजस्वरूप में भ्रान्ति। उसका क्षय होने पर तथा चारित्रदशा, वीतरागता का घोलन बढ़ने पर समस्त राग-द्वेष का क्षय करके जीव मोक्षपद को प्राप्त करता है।

यहाँ तो तीव्र ज्ञानदशा द्वारा मोहक्षय की बात की है, यानी मुख्यतया एक-दो भव में मोक्षपद की प्राप्ति कही है।

स्वच्छन्द माने स्वरूप की असवाधानी, भ्रान्ति की छेदनदशा – वह सुविचारदशा। उसका फल ज्ञानदशा है। चारित्र द्वारा विषयकषाय की वासना का छेदन, यह वीतरागदशा है। इसके द्वारा आत्मा की सबसे आखरी पूर्ण पवित्रदशा, मोक्षपद की प्राप्ति होती है। उसका कारण शुद्धआत्मस्वरूप – ऐसा निजपद है। उसकी यथार्थ विचारणा को यहाँ सुविचारणा कहा है। पुण्य से या देह की क्रिया से आत्मा का गुण प्रगट होगा – ऐसा यहाँ नहीं कहा। **४१.**

अब, सुविचारणा प्रगट हो – इसके लिये आत्मा के छह पद गुरु-शिष्य के संवादरूप में इस शास्त्र में कहे गये हैं – ऐसा कहते हैं :-

ऊपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय;
गुरु-शिष्य संवादथी, भाखुं षट्पद आंही।। ४२।।

उपजे वह सुविचारणा, मोक्षमार्ग समझाय।
गुरु-शिष्य संवाद से, षट्पद यहाँ कहाय।।४२।।

इन छह पदों का यथार्थ अर्थ समझ में आने पर त्रिकाल अविरोध मोक्षमार्ग समझ में आता है। पात्रता के बिना और तत्त्व पाने की तैयारी के बिना, अपने छन्द से ज्ञानी के न्याय समझ में नहीं आते किन्तु श्रीसद्गुरु के आश्रय द्वारा तथा स्वयं की पात्रता द्वारा विचार करे तो सम्यग्दर्शन क्या है ? लोगों में धर्म के नाम से बहुत मतभेद हैं, इसका कारण क्या ? आत्मा का लोकोत्तरमार्ग क्या ? - इत्यादि समझ में आता है। सुविचारदशा से निरन्तर विचार करे तो तीनों लोक व तीनों काल के सारे न्याय यथातथ्य समझ में आ सकते हैं। मुमुक्षु को उलझन नहीं लगती। अविकारी, शान्त, पर के निमित्त बिना की सहजज्ञाताशक्ति है, वह मैं और प्रकृति के निमित्त से होनेवाला बाकी सब पर हैं - इस प्रकार स्वतत्त्व को तथा परतत्त्व को जैसे हैं, वैसे जानता है। उसके अनेक भेष व सम्प्रदाय के मताग्रह खत्म हो जाते हैं, गलत मान्यता मिट जाती है। सम्यग्श्रद्धा व मिथ्याश्रद्धा का विचार, सम्यग्ज्ञान व मिथ्याज्ञान का विचार, सम्यक्चारित्र व मिथ्याचारित्र का विचार, वह यथार्थरूप से करता है। दया, पुण्य, देहादि की क्रियारूप बाह्य, जड़जनित व्यवहार - इन सबका भेदज्ञानसहित विचार अपनी निर्मलता हेतु करता है।

अब इस विचारणा के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और सम्यग्ज्ञान में स्थिर होनेरूप ज्ञान की रमणतारूप चारित्रमय मोक्षमार्ग समझ में आता है। वह यहाँ गुरु-शिष्य के संवादरूप में कहा जायेगा। शिष्य आत्मार्थी है, वह श्रीगुरु के लक्ष्य से वर्तन करने का कामी है। शिष्य खुद कहाँ अटका है, यह श्रीगुरु समझते हैं। सच्चे हित का कामी सुविनीत शिष्य, गुरु के पास तत्त्व समझने आया है; वह समझे बिना लौटनेवाला नहीं है। तत्त्व को प्राप्त करने की तैयारीवाले लायकप्राणी ही गुरु के पास आते हैं। परदेशीराजा व केशीभगवान का संवाद आता है। उसमें परदेशीराजा सच्चा जिज्ञासु है, गलत की पकड़ नहीं रखना चाहता। इसलिये अन्दर में बराबर समझने के लिये आशङ्का करके पूछता है और कहता है कि आप जो कहते हैं, वह बात (सही) तो लगती है किन्तु वह किस प्रकार से सही है- यह समझाइये। केशीमहाराज चार ज्ञान के धनी थे और परदेशीराजा आत्मा को मानता नहीं था। आत्मा को जानने के लिये बहुत प्रश्न उसने जिज्ञासापूर्वक पूछे थे। यह राजा परदेशी में से स्वदेशी होने के लिये गुरु के पास आया है। प्रथम

कहता है कि मैं सच-सच बता रहा हूँ कि हम अपनी तीन पीढ़ी से मान रहे हैं कि आत्मा नहीं है। इसलिये हमारी मान्यता हमें सही लगती है; वह गलत हो तो समझाइये। श्रीकेशीस्वामी कहते हैं कि तू लोहवाणिया (एक जाति) जैसा मूर्ख है। राजा ने पूछा कि हे प्रभु ! वह लोहवाणिया कैसा था ? – यह बताओ तो फिर मैं अपनी मूर्खता के बारे में विचार करुँगा। केशीस्वामी ने कहा, हे राजन ! कुछेक वणिकजन जङ्गल में जाते थे। प्रथम लोहे की खान आयी। लोहा तैयार व ठीक लगा। सबने गठरी बाँधी और आगे चले। आगे चलकर चाँदी की खान आयी। कुछेक ने सोचा कि लोहा फेंक दें। उन्होंने लोहा छोड़कर चाँदी की गठरियाँ बाँधी परन्तु लोहवाणिया कहे कि हमें लोहे में ठीक लगता है। हमारा इच्छितफल हमें इसी में से ही मिलेगा। फिर वे आगे चले, तब सोने की खान आयी। चतुर बनियों ने चाँदी छोड़ी दी और सोना लिया। लोहेवाले को लोहा छोड़ने के लिये बहुत कहा किन्तु उसने माना नहीं। उन्होंने कहा कि हमने तो मजबूत गठरी बाँधी है; इसलिये हमें छोड़नी नहीं है। और आगे चलनेपर हीरा, माणिक, और जवाहरात की खान आयी तो उन्होंने सोना फेंककर जवाहरत की गठरियाँ बाँध ली। लोहवाणिया से उन्होंने बहुत कहा किन्तु वे बोले कि हमें तो गठरी छोड़नी ही नहीं है। इन लोगों ने तो हीरे बाँध लिये और उन्होंने लोहा रख लिया। हीरेवालों ने हीरे बेचे तो करोड़ -करोड़ रुपये मिले। उससे बँगले बनवाये और उन लोहे की पकड़वालों को केवल लोहे के मूल्य के बदले में दो समय की रोटी मिली। यह देखकर लोहवाणिया को बहुत पछतावा हुआ, पर अब क्या करे ? अतः जिसमें नुकसान हो और बड़ा लाभ टल जाए – ऐसी गलत मान्यता को नहीं छोड़नेवाले जैसा तू भी बनेगा और इस तत्त्व को समझेगा नहीं, तो फिर लोहवाणिया की माफिक तेरे अरमान भी अधूरे ही रह जायेंगे। राजा कहे कि मुझे लोहवाणिया जैसा नहीं होना है; सत्य जैसा हो, वैसा समझना है। फिर पुनर्जन्म आदि के बारे में भी शङ्कासमाधान किया, फिर बहुत से सवाल हुए। उनका समाधान होने पर वह आत्मस्वरूप समझा। परदेशीराजा ने तीव्रजिज्ञासा दिखायी तब श्रीगुरु ने माना कि यह जीव गलत छोड़कर सच्चा तत्त्व पाने के लिये जिज्ञासु है। अतः उसे समझाया, किन्तु जिसे गलत की पकड़ छोड़नी नहीं है, उसे कोई सद्गुरु जबरदस्ती

सच्ची बात समझा नहीं सकते। जिसे गलत का आग्रह शीघ्र छोड़कर सच्चे तत्त्व को ग्रहण करने की सरलता है, ऐसे जिज्ञासुओं को यह गुरु-शिष्य संवाद बराबर समझना चाहिए। समीप मुक्तिगामी, भव्य, लायकजीव ही आत्मतत्त्व अविरोधरूप से समझ लेंगे।

यहाँ पर तीन अधिकार पूरे हुए। ऐसे ग्यारह अधिकार होने पर आत्मसिद्धि पूरी होगी। **४२.**

इन छह बोलों की विचारणा उत्पन्न होने पर जीव अपनी पात्रता से जैसा है, वैसा तत्त्व को समझता है और वह शुद्धआत्मा को प्राप्त करता है। ये छह पद अब कहते हैं कि –

षट्पद नाम कथन

'आत्मा छे,' 'ते नित्य छे,' 'छे कर्ता निजकर्म;'
'छे भोक्ता,' वळी 'मोक्ष छे,' मोक्ष उपाय सुधर्म। ४३

'आत्मा है', 'वह नित्य है', 'है कर्ता निजकर्म'।
'है भोक्ता', अरु 'मोक्ष है', 'मोक्ष उपाय सुधर्म'।।४३।।

सम्मतितर्क में सिद्धसेन दिवाकर ने उपरोक्त छह पद की गाथा दो तरह से हकार -नकार में (अस्ति-नास्ति से) बतायी है। इस न्याय को समझने से तत्त्वजिज्ञासु की सारी उलझन दूर हो जाए – ऐसा है। गुजरातीभाषा में इतनी सरलतापूर्वक व न्याय से इस तरह का कथन अन्यत्र कहीं नहीं है। **श्रीमद्राजचन्द्रजी ने सारे विरोध को टालकर आत्मा स्पष्ट दिखाया है।** तत्त्व की तैयारीवाले जो सरल जिज्ञासु होंगे, वे समझ लेंगे। प्रथम पद 'आत्मा है,' दूसरा पद 'वह नित्य है, – ऐसा निर्णय करवाता है। 'हे', वह सत् है। सत्स्वरूप से टिकनेवाला ज्ञानरूप से ही परिणमित होता है। परनिमित्त की सहायता के बिना ही त्रिकाल ज्ञानरूप ज्ञाता स्वतन्त्र है।

कई जीव आत्मा को स्वतन्त्र, नित्यतत्त्व नहीं मानते किन्तु नाशवन्त मानते हैं या कोई आत्मा को एकान्त, नित्य, कूटस्थ मानता है। किन्तु ऐसा मानने में कई विरोध खड़े हो जाते हैं। उसके बारे में आगे कहेंगे। आत्मा है, वह पररूप नहीं है; अविनाशी ज्ञानपिण्ड है। है, वह स्वत:सिद्ध है। जो है, उसका कदापि नाश नहीं हो सकता। जो वस्तु नहीं होती, वह कभी नवीन उत्पन्न नहीं होती। जिसको अपना नित्यत्व भासित होता है, उसे क्षणिक संसार देहादि का मोह क्षय हो जाता है। पर पदार्थ को क्षणिक मानने के बाद उन अनित्य चीजों के संयोग से सुख हो – ऐसा अज्ञान, ऐसी मान्यता या उसमें मोहित होने की बुद्धि नहीं होती।

कई लोग मानते हैं कि कुछ सेवा करें, सबके शरीर ठीक रहें, संसार सही बना रहे – ऐसी व्यवस्था हम करें। किन्तु इस प्रकार जो अनित्य है, उसे रखने का कर्तृत्व मानना – वह अज्ञानभाव है क्योंकि सभी संसारीजीवों के देह कर्मप्रारब्ध के कारण अच्छे या खराब होते रहते हैं। उनका कर्मफल किसी और के द्वारा उपजता हो – ऐसा नहीं है। सच्चे सुख का उपाय आत्मा की पहचान में है; सुख बाह्यपदार्थ में नहीं है। श्रीमद्‌जी कहते हैं कि इन छह बोलों की सुविचारणा प्रगट हो, उसे सही विचारणा कही जायेगी। आत्मा की बात यथार्थरूप से समझने पर दु:ख की कल्पना तक खड़ी नहीं रह सकती। जगत का कुछ किसी से हो नहीं सकता। अनन्त ज्ञानी अपने आत्मा का सच्चा हित कर गये हैं। ज़रा आगे बढ़ोंगे तो पता लगेगा कि तीन लोक, तीन काल का सम्यग्ज्ञान द्वारा पार हो सकता है। सभी उलझनों को दूर करने का उपाय ज्ञान है।

तीसरा पद 'आत्मा कर्ता है,' यानी कर्म तो अनित्य हैं, जड़ हैं और आत्मा अरूपी ज्ञान है, चैतन्य है। प्रकृति जड़रूपी, मूर्तिकपदार्थ है। वे स्वतन्त्र, अलग-अलग अनन्त परमाणु हैं – वे भी त्रिकाल सत्‌ है। उस जड़-पुद्‌गल व अरूपीआत्मा का संयोगसम्बन्ध प्रवाहरूप से अनादि से है। वे जड़कर्म राग-द्वेष का निमित्त पाकर नये आवरणरूप में एक क्षेत्र में बँधते हैं। उस क्षेत्र में स्थित पुराने कर्म क्रमश: खिरते हैं और नये बँधते हैं। जब तक जीव अज्ञानदशा में है, तब तक नये कर्मबन्धन होते रहते हैं। उन कर्मों का कर्ता जीव को कहना – वह उपचारदृष्टि से घी का घड़ा कहने के माफ़िक है। वरना सही दृष्टि से तो जड़-पुद्‌गल की क्रिया

आत्मा नहीं करता किन्तु जीव अज्ञानदशा में पुराने कर्म के उदय के साथ जुड़कर राग-द्वेष करता है, तब उन राग-द्वेष के निमित्त से नये कर्म एक क्षेत्र में आते हैं। वे द्रव्यकर्म अपने कारण से स्वयं आते हैं; चेतन उसका कर्ता नहीं है।

कर्म माने क्रिया, कर्तव्य। चैतन्य की क्रिया त्रिकाल ज्ञानरूप रहना, यही है यानी आत्मा, ज्ञान का ही कर्ता है। वह या तो राग-द्वेषरूप कुज्ञान का कर्ता हो अथवा सम्यग्ज्ञान का कर्ता हो किन्तु जड़ की क्रिया का कर्ता नहीं है। फिर भी व्यवहार से एक क्षेत्र के संयोग के कारण कर्तापने का उपचार करने से जीव कर्ता कहलाता है। आत्मा किस कर्तव्य का कर्ता है और किस दृष्टि से पर का कर्ता (मात्र असत् उपचार से) कहा जाता है, यह आगे तीसरे पद में न्यायपूर्वक, युक्तिसहित आयेगा। कोई प्रश्न करे कि शास्त्र में व्यवहार से जीव को जड़कर्म का कर्ता क्यों कहा है? तो इसका कारण यह है कि जब तक जीव रागद्वेष करता है, तब तक कर्मबन्धन होता ही रहता है। कोई एकान्त निश्चयाभासी शुष्कज्ञानी होकर कहे कि मैं जड़ का व राग का कर्ता नहीं हूँ क्योंकि राग-द्वेष, ज्ञान में नहीं हैं। अज्ञानसहित इस प्रकार पुरुषार्थहीन वाक्य बोले। उससे ज्ञानी कहते हैं कि राग-द्वेष व कर्मबन्धन तेरे द्वारा ही होते हैं और क्रिया-काण्डी जड़भाववाले को सच्ची दृष्टि से यथार्थ ज्ञान की समझ देते हैं कि आत्मा तीनों काल में जड़ का कर्ता नहीं है; केवल अपनी ज्ञानक्रिया ही करता है। जीवतत्त्व को राग का कर्ता मानना – यही अज्ञान है। इस प्रकार दोनों अपेक्षा से शास्त्र में कहा है।

इन छह पदों में बहुत खुलासा है। सर्व परद्रव्यों से व रागादि से भिन्न चैतन्य कैसा होगा ? किसका कर्ता है ? किस विधि से मोक्षदशा प्राप्त हो ? आत्मा (ज्ञान द्वारा) ज्ञान में ही समझ की क्रिया करता है – ऐसे स्वाधीन कर्ता की सुविचारदशा प्रगट हो तो सम्यग्बोध अपने पुरुषार्थ से प्रगट होता है और मिथ्यादर्शन, भ्राँति का नाश होता है। आत्मा, तीनों काल पर का अकर्ता है। अत: **'छे कर्ता निज कर्मनो'** – इसमें कर्ता मैं व कर्म भी मैं; कर्ता का इष्ट, वह कर्म। इस तीसरे पद में ज्ञानी का इष्ट क्या और अज्ञानी का इष्ट क्या ? – यह बतायेंगे। बहुत लोग कहते हैं कि हमारा यह कर्तव्य है। कुछ करें तो पायें। इस प्रकार अनादि से परभाव की मिठास है। पुण्य करूँ तो उसके निमित्त से मुझे गुण प्रगट

होंगे – ऐसी जड़भाव की पकड़ अज्ञानी के अन्दर घुस गयी है। अज्ञानवश निमित्त के संयोग पर रुचि होने के कारण ज्ञान का विकृत स्वरूप हो जाता है। उसे पराधीनता, औपाधिकपना प्रिय लगता है। उसे वह उपादेय मानता है। उसमें उसे इष्टबुद्धि हुई है, इसलिये पर में ममत्वबुद्धि, इष्ट-अनिष्टपना पैदा होता है और सत् के प्रति अनादर पैदा होता है; उसे भव का भाव है। जिसे संसारदशा नहीं चाहिए किन्तु सिर्फ अपना इष्ट अव्याबाध सुख ही चाहिए, वह निर्मल, निर्दोष ज्ञानक्रिया ही करता है और ज्ञाता-दृष्टारूप से ज्ञान में ही रहता है। जिसको जो कार्य प्रिय हो, उसे किये बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता। मुमुक्षु अपने ज्ञानस्वरूप की रक्षा करता है। पर के करने से नहीं होता – ऐसा वह मानता है किन्तु जिसे अज्ञानता, मूढ़ता की रुचि है, वह परवस्तु में रागादि कषाय कर रहा है।

आत्मज्ञान से अनभिज्ञ जीव नित्य अज्ञान ही करते हैं और ज्ञानी नित्य ज्ञान ही करते हैं, पर का तो कोई कुछ कर नहीं सकता। यहाँ पर आत्मतत्त्व के विषय में जो यथार्थ न्याय कहे जा रहे हैं, वे मन की धारणा के लिये या पण्डिताई करने के लिये नहीं कहे जा रहे किन्तु यथार्थतत्त्व की समझ करने के लिये है। तत्त्व की सही बात जहाँ-तहाँ से सुनने नहीं मिलती। अत: जीव को अपने आप पक्षपातरहित होकर मनन करना है कि आत्मा का स्वरूप क्या है ? अपनी स्व-अपेक्षितदृष्टि से अपना कर्तव्य क्या और स्वयं को भूलनेरूप रागद्वेष और मिथ्याअभिप्राय क्या है ? इसके लिये सत्य व असत्य – दोनों को जानना पड़ेगा। भूल है, उसे मिटाने का पुरुषार्थ करना पड़ेगा। कोई कहे कि आत्मा अकर्ता है; तीनों काल शुद्ध ही है, केवल भ्रान्ति थी; अत: अब हमें कुछ करने का बाकी है ही नहीं। इस प्रकार जघन्यभूमिका भी प्राप्त किये बिना एकान्त शुद्ध माने तो पुरुषार्थ करने का रहे नहीं। जो कोई पुरुषार्थरहित निश्चय वाक्य बोलते हैं, वे संसार बढ़ाते हैं। वर्तमान अवस्था में मलिनता है; इसलिये पुरुषार्थ करना बाकी है। इस प्रकार अपेक्षा समझे बिना एकान्त नहीं लेना। आत्मा निज चैतन्य ज्ञानकार्य का कर्ता है; पर का कार्य करने के लिये कभी समर्थ नहीं है। किन्तु अज्ञानरूप से राग-द्वेष करे, कलुषितता करे, ज्ञान में अस्थिरता करे, परवस्तु में मोहित हो जाए तो संसार में भटकना पड़े। कोई जीव को अकर्ता मानता है, उसके प्रतिपक्ष में यहाँ कर्तापना

स्थापित किया है।

चौथा पद - 'आत्मा भोक्ता है।' निश्चय से अपने निर्मलज्ञान का ही भोक्ता है किन्तु स्वाधीन, ऐसा केवल ज्ञातास्वभाव है। उससे छूटकर परावलम्बी होने से, अज्ञानभाव से राग-द्वेष, सुख-दु:ख का भोक्ता अशुद्ध निश्चयनय से है। जीव को स्व का भोक्तृत्व है। खुद को जो इष्ट है, वह स्वयं से भिन्न / अन्य नहीं हो सकता। जो त्रिकाल अपने अधीन हो, वह अपने से दूर नहीं होता किन्तु सहज होता है, एक रूप होता है। जो वस्तुस्वरूप अपने में शक्तिरूप है, उस 'प्राप्त' की प्राप्ति करना – वही इष्टप्राप्ति है।

छह पद की विचारणा के बारे में यहाँ कहा जा रहा है। आत्मा है। जिसे सही करना है, उसे 'है' – उसका सही करना है या जो 'नहीं है' – उसका ? जो खुद का हो, उसी का स्वयं कर सकता है तो अच्छा किसका करना है ? और उसका उपाय क्या ? उसके शङ्का-समाधानपूर्वक जीव यथार्थ विचार व निर्णय करे तो सही 'प्रमाण' समझ सके। जगत के लोग ओघसंज्ञा से अन्ध श्रद्धापूर्वक हाँ करते हैं कि आत्मा है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान कह गये हैं किन्तु वह कितना (महान) है, कैसा है ? – उसकी खबर तो उन्हें होती नहीं है। अत: उनकी 'हाँ' सही हाँ नहीं है। जिसको यथार्थ समझने के लिये सच्ची जिज्ञासा होती है, वह समझ सकता है।

परदेशी राजा का अधिकार आता है। वह ऐसी शङ्का करता है कि हे प्रभु ! हम तीन पीढ़ी से आत्मा नहीं है, ऐसा मानते चले आये हैं तो आत्मा किस प्रकार से है ? यह बताईये। यहाँ समझने की जिज्ञासा है। फिर एकाग्रतापूर्वक क्रमश: अनेक प्रश्न इस तरीके से पूछे कि राजा जो परदेशी था, वह स्वदेशी होकर सच्चे सुख की प्राप्ति में उद्यमवन्त हुआ। वह अब सिर्फ एक भव करके मोक्ष में जायेगा। प्रश्नकार ने प्रथम से ही तैयारी कर रखी है कि मैं किन कारणों से शङ्का करता हूँ और उसके तर्क में मुझे क्या कहना है ? फिर अपने कारणों की ज्ञानी के कारणों के साथ तुलना करता है और अपनी स्वतन्त्र विचारणा से, मध्यस्थता से निर्णय करता है और उत्तर देनेवाले पुरुष प्रामाणिक हैं, ऐसा भी देखता है। उनके बताये कारणों में खुद के सवालों का विरोध टिक नहीं सकता, इस प्रकार विरोध

मिटाकर समझाते हैं, यह ज्ञानी का ज्ञानबल है; फिर भी ज्ञानी किसी को जबरदस्ती समझा नहीं सकते।

'मैं त्रिकाली हूँ' – ऐसा जीव को निर्णय हो जाए तो खुद का कर्तव्य समझ में आये। इसीलिये ये छह पदों की विचारणा यहाँ कही है। यथार्थ सत्य व असत्य क्या ? यह जानने-सोचने के लिये मुमुक्षु के लिये यह विचारणा कही है। उसमें प्रथम आत्मा है और वह नित्य है – ऐसा निर्णय होने के बाद, मैं कर्ता अपना कार्य कर सकता हूँ किन्तु पर का कार्य नहीं कर सकता – ऐसा निर्णय होगा। किन्तु स्व-पर की भिन्नता को ही जान न सके; वह अच्छा करना चाहे तो भी किस प्रकार कर सके ? अत: उसकी मान्यता मिथ्या है। अत: इस भूल को मिटाने के लिये यह विचारणा कही है। खुद किस प्रकार उल्टा कर सके और किस प्रकार सुल्टा कर सके, उसका निर्णय अपने आप से नहीं हुआ। इसलिये सद्गुरु के समीप जाकर प्रश्नोंत्तर द्वारा सही न्याय का निर्णय करता है। जीवों ने अपना पक्ष / मत रखकर अपनी विपरीतता का विचार किया है क्योंकि मेरी जाति क्या और मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता ? – उसकी खबर ही नहीं है। जीव सच्ची समझ न करे तो क्या करे ?, भटकने का काम ही करे। अज्ञानपूर्वक जिसे कर्तव्य माना है, वह संसार का कारण होता है।

जिसे सच्चा जानना है और अच्छा करना है, यानी जो सुख का कार्य करना चाहता है परन्तु हो नहीं रहा है, उसे सच्चा समझ में आया नहीं है; अत: उसे सत्य समझना चाहिए।

कर्तापने का विचार करने के बाद भोक्तापने का विचार करना है। 'छे भोक्ता' – अच्छा करना चाहे किन्तु अच्छा भोग न सके तो उसका कार्य तो व्यर्थ जाता है। इसलिये कर्ता के बाद भोक्तृत्व की बात की है। खुद को यदि आशङ्का उत्पन्न हो तो सही समझने के लिये आगे विचारणा हो और समझ में आये कि कर्ता का इष्ट, वह कर्म यानी कार्य। जो कार्य का कर्ता होवे, वही भोक्ता हो सके। सजातीय कारण हो, वहाँ स्वजातिकार्य का भोक्तपना भी प्रगट होगा। अनुभवरूप से आनन्द का भोक्तृत्व ही स्वइष्ट है किन्तु अनन्त काल से जीव अज्ञानवश सुख-दु:ख की कल्पना का भोक्ता था। अपने स्वरूप से अनजान रहकर पर का भोक्ता

हूँ – ऐसा मानता था। ऐसा विचार जब आया, तब यथार्थ वस्तु का विचार करने पर समझ में आता है कि मैं समझ के अभाव से, अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप अज्ञान का कर्ता और सुख-दु:ख का भोक्ता हुआ। सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी राग-द्वेष का कर्ता नहीं है; मात्र ज्ञाता है। परभाव व परवस्तु का कर्ता नहीं है; पुण्य, पाप, राग-द्वेष का परमार्थ से कर्ता नहीं है, इसलिये पर का भोक्ता भी नहीं है। कोई मानते हैं कि मोक्ष में जाने के बाद अपना स्वाधीन अस्तित्व नहीं है, पर से भिन्नत्व नहीं है; सारे आत्मा एक हो जाते हैं। ऐसी अनेक गलत मान्यताओं का निवारण इन छह पदों में हो जाता है। छह पदों के पत्र में भी इसका खुलासा है।

पाँचवाँ पद – आत्मा की पूर्ण पवित्रदशा का नाम मोक्ष है। जीव पराधीनता व आवरण से पूर्णरूप से मुक्त हो सकता है या नहीं ? इसके उत्तर में कहा है कि यदि सर्वथा मुक्ति सम्भव न हो तो पुरुषार्थ करके कोई मुक्त हो नहीं सकता और पुरुषार्थ करना निष्फल हो जायेगा। कई लोग मानते हैं कि आत्मा आवरण से मुक्त नहीं हो सकता। उसका प्रत्युत्तर है कि मोक्ष है। युक्ति से समझनेवाले शिष्य के सवाल आगे आयेंगे कि जगत में कई मत के लोग कहते हैं कि मोक्ष है तो हमें कौनसा मत सही मानना ? इस प्रकार थोड़े प्रश्न में बहुत कुछ समझ लेने की पात्रतावाले जिज्ञासु शिष्य को गुरु भी स्पष्ट न्याय प्रमाण से आत्मा का यथार्थ स्वरूप अनेक प्रकार से समझाते हैं क्योंकि शिष्य सत् के सन्मुख हुआ है। किन्तु उल्टा माननेवाला कहता है कि आप ऐसे कहते हो और अन्य लोग वैसे कहते हैं; कुछ समझ में नहीं आ रहा। खुद की सही समझने की शक्ति नहीं है; अतः बीच में दूसरी बात डालता है। ऐसे जीवों ने कदापि एक की बात में हाँ कही तो दूसरों के पास भी हाँ ही कहेंगे क्योंकि सही-गलत न्याय की उसे समझ नहीं है। उनको सत् की दरकार ही नहीं है। संसार के व्यवहार का प्रसङ्ग हो तो बराबर समझ लेवे। सच्चे सुख की जाति की जिसे खबर नहीं है, उसे सवाल करने नहीं आते तथा यह बात किस आशय से आ रही है – यह भी समझ नहीं पाते। उसे जो भी कोई धर्मोपदेशक मिले, उससे कहता है कि 'सत्य वचन' क्योंकि वे ऊपर बैठे हैं, त्यागी दिख रहे हैं, इसलिये हम से तो अच्छे हैं; अतः हम तो उनका कहना मानेंगे। सूक्ष्मबात में हमें तो कुछ समझ में नहीं

आता। कुछ पुण्य की या भक्ति की बात आती हो तो ठीक। इस प्रकार खुद की जहाँ रुचि है, वहाँ लक्ष्य रखता है। किन्तु हित क्या है ? – यह जानना नहीं चाहता। खुद को पैसे ब्याज पर देने हों तो परीक्षा करे कि इस जगह ब्याज पर रखने में रुपयों की सलामती है। रुपये तो क्षणिक वस्तु हैं किन्तु अनन्त काल में समझ में नहीं आया। ऐसा अपूर्वतत्त्व समझने का उत्तम व अतिमूल्यवान अवसर आये – वहाँ पर जो रुचि न दिखाये, सही बात समझने का प्रयत्न न करे, उसे मोक्षस्वभाव रुचता नहीं है किन्तु भवभ्रमण की रुचि है। पाँचवाँ पद 'मोक्ष है' – ऐसा कहा।

छठा पद – मोक्ष का उपाय भी है। जीवों को अनन्त काल से मोक्ष का उपाय समझ में नहीं आया है क्योंकि परमार्थभूत व्यवहार किसे कहना और अपरमार्थभूत यानी संसार में भटकानेवाला, निमित्ताश्रित व्यवहार किसे कहना; ग्रहण करने योग्य क्या और त्याग करने योग्य क्या ? – इसकी कुछ खबर उनको नहीं है। धर्म को तो नाममात्र मानते हैं और कहते हैं कि चलो धर्म करें। हमें तो अच्छा करना है किन्तु ज्ञानी पुरुषों ने मोक्ष का उपाय तो सुधर्म कहा है। अब, सुधर्म व कुधर्म क्या है ?, उसकी तो समझ नहीं है। शुभराग, शुभयोग को संवर, निर्जरा व धर्म माने, मोक्षमार्ग माने, (तो) मोक्ष के उपाय की मान्यता में उसकी भूल है। जाना चाहे पूर्व की ओर और चलने लगे पश्चिम की ओर तो निर्धारित गाँव तो नहीं आयेगा। इस प्रकार जड़भाव से, पराश्रय साधन से धर्म माने (तो) वह विपरीत मान्यता है। इसे छोड़े बिना सत्य समझ में नहीं आयेगा। ज्ञानी का व सर्वज्ञ वीतराग का ऐसा कहना है कि आत्मा के आनन्दस्वभाव की बेहद सुखमय पूर्णदशा तेरे में है और उसकी प्राप्ति का उपाय भी सुधर्म द्वारा ही है। उसकी विधि सच्ची समझ द्वारा इसी में से खुलती है।

इन छह पद द्वारा सम्यग्दर्शनरूप परमार्थ समझ में आता है। कोई कहता है कि आत्मा नहीं है, तो उसका खुलासा 'आत्मा है'। इस प्रकार 'है' का न्याय है। कोई कहता है कि आत्मा नित्य नहीं है। उसका खुलासा भी है। कोई कहे कि आत्मा कर्ता नहीं है तो उसका न्याय भी है। किसी मताग्रही का यह कहना है कि आत्मा कर्ता नहीं है एवं भोक्ता भी नहीं है तो उसका उत्तर यथार्थ न्यायपूर्वक

समझाते हैं कि हम किस दृष्टि से कर्ता-भोक्ता मानते हैं। सब लोग कहते हैं कि मोक्ष हमारे मतानुसार है। इस प्रकार जगत में अनेक प्रकार की रीति से मोक्ष का उपाय बताते हैं किन्तु यथार्थ विधि क्या और सच्चा साध्य क्या – उसके कार्य व कारण जाने बिना यथार्थ मोक्षमार्ग हमें प्रगट हुआ है, – ऐसा मानते हैं, वे भूल में हैं।

मोक्ष की बात तो सब लोग करते हैं किन्तु समझ में घोटाला है। कोई इस पाँच बोल तक तो मानते हैं किन्तु छठे बोल में एतराज है। शिष्य आगे कहेगा कि हमें क्या समझना; जगत में बहुत सारे मत हैं, हमें सरलतावाला मत चाहिए। अत: यदि कल्याण हो जाए तो एक स्थान में बैठ जाए। उससे कहेंगे कि मोक्ष व मोक्ष की विधि जाने बिना जड़ जैसा हो जायेगा। क्या ऐसे यम, नियम, संयम, हठयोग पूर्व में अनन्त काल में किये नहीं हैं ? सर्वज्ञ वीतरागी पुरुषों का आशय समझे। जिस प्रकार तत्त्व है, उस प्रकार समझने से राग-द्वेषरहित स्थिरता होती है।

एक भाई कह रहे थे कि यदि किसी तरह मोक्ष हो जाए, तो मैं विचलित हुए बिना आठ घण्टे तक बैठा रहूँ क्योंकि आप कह रहे थे कि अड़तालीस मिनट में केवलज्ञान होता है। किन्तु सर्वज्ञ भगवन्तों ने क्या कहा है – उसका आशय, उस समझ को आत्मसात् किये बिना, पुरुषार्थ किये बिना यह अपूर्ववस्तु प्राप्त हो जायेगी ? जिस विधि से अभ्यास होना चाहिए, उस विधि द्वारा तत्त्व समझ में आता है। अतीन्द्रिय बेहद सुख का अंश भी पूर्व में अनन्त काल में जाना नहीं है तो वर्तमान में उसका प्रेम लाकर, सत्समागम द्वारा अभ्यास किये बिना, उस जाति की पहचान कैसे हो ? आत्मा की उज्ज्वलता देह की क्रिया से नहीं होती। आत्मा का गुण ज्ञानमात्र है; इसलिये ज्ञान द्वारा ज्ञाता की समझ होती है। परन्तु कोई आसान रास्ता ढूँढ़े और माने कि दूसरों को पाँच-दस साल रोटी देने से, दान देने से, गुरु के पैर दबाने से, पाँच-दस हज़ार रुपये दान में देने से, सेवाभक्ति करने से या देशसेवा से हज़ारों जीवों पर उपकार करने से आत्मा का कल्याण होगा तो उसकी ये सारी बातें गलत हैं। बाहर का करना-धरना तो आत्मा से कुछ नहीं होता। आत्मा मात्र अज्ञानवश परवस्तु में कर्तृत्वभाव कर सकता है। बाह्य के किसी उपाय से आत्मतत्त्व समझ में नहीं आता। इसलिये कहा कि '**एक**

होय त्रण काळमां परमारथनो पंथ' – एक आत्मा की जाति का उपाय समझने से आत्मा का विकास होगा। बहुत सारे शास्त्र पढ़कर बहुत धारणा कर ले अथवा शुभक्रिया करे किन्तु उससे आत्मा सम्बन्धित कुछ फल नहीं मिलेगा। अन्य चाहे जो भी उपाय करे किन्तु वे भटकने के उपाय हैं। उपाय व उपेय, साधन व साध्य, कारण व कार्य एक ही जाति में से चाहिए। इसके लिये यथार्थ, सत्समागम द्वारा आत्मा को जानकर रागरहित आत्मा में टिके रहना – यही मोक्ष का उपाय है।

सभी को मोक्ष चाहिए। कोई मोक्ष की बात में ना करे – ऐसा नहीं है। किन्तु संसार की रुचि छोड़कर सत् का आदर किया नहीं तो सत् की रुचि बिना कैसे समझ में आये ? यहाँ कहना यह है कि आत्मा है; है, वह पररूप नहीं है, स्व-रूप है; – ऐसा निर्णय किया किन्तु किस उपाय से वह प्रगट होगा, इसका निर्णय जिसे सम्यक् प्रकार से नहीं हुआ, उसे जितने भी निर्णय करानेवाले मिले हैं, वे भव की वृद्धि करानेवाले मिले हैं। जिसमें बाह्यसाधन द्वारा, पुण्यादि निमित्त द्वारा आत्मा में गुण प्रगट होगा, ऐसा आशय गर्भित हो, वहाँ बन्धभाव है, भव करने के भाव हैं। अबन्धभाव से अबन्ध तत्त्व खुले; अतः सच्चा सुख, सही तत्त्व समझने से आत्मज्ञान प्रगट होता है – यह समझाने के लिये ज्ञानियों ने निर्दोषमार्ग कहा है। **४३.**

ये छह पद परमार्थ समझाने हेतु कहे हैं – ऐसा अब कहते हैं –

षट्स्थानक संक्षेपमां, षट्दर्शन पण तेह;
समजाववा परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह।। ४४।।

षट्स्थानक संक्षेप में, षट्दर्शन भी यही।
समझाने परमार्थ को, ज्ञानी कहें सही।।४४।।

छह प्रकार से विचार करने से, छह दर्शन जो एक-एक पक्ष के आधार से धर्म मानते हैं, उनकी अपेक्षा भी जिनभगवान के अनेकान्तधर्म में समा जाती है।

परमार्थ समझने हेतु ज्ञानी पुरुषों ने छह पद कहे हैं। इसका कारण यह है कि अन्य एकान्त पक्ष से भूल होने न पाये। कोई आत्मा को अकर्ता कहता है; कोई अभोक्ता कहता है; तो कोई मोक्ष नहीं है – ऐसा मानता है; कोई आत्मा को एकान्त नित्य मानता है; कोई एकान्त अनित्य मानता है। इन सबका विरोध मिटाकर ये छह प्रकार स्याद्वाद कथन से, सापेक्षता से जैसे है, वैसे समझाते हैं किन्तु एक पक्ष ग्रहण करे, वह चूकता है। आनन्दघनजी कहते हैं कि छह दर्शनों में जिसका पक्ष लेकर बोलूँ, वह उसके बखान करता है। एक कहता है कि आत्मा नहीं है, तब ज्ञानी उसकी बात एक अपेक्षा से सच्ची बताते हैं कि आत्मा परवस्तुरूप नहीं है; पररूप नहीं है; रागद्वेष, पुण्यपाप, मन, वाणी, देह की क्रिया करनेरूप नहीं है। इस प्रकार छहों पक्षों का अपेक्षा से मण्डन करके, अपेक्षाओं में अस्ति-नास्ति समझे तो सभी सवालों के झगड़े खत्म हो जाए। आत्मा को कोई एकान्त नित्य कूटस्थ माने तो संसारअवस्था पलटकर मोक्षअवस्था हो नहीं सकती; क्रोधदशा बदलकर क्षमा-समतामयदशा धारण नहीं कर सकता; पुरुषार्थ नहीं हो सकता। यदि कोई एकान्त अनित्य माने तो पुरुषार्थ का फल भोग नहीं सकता। इस प्रकार उनके सभी अभिप्रायों का निराकरण इन छह पदों में आ जाता है।

जगत में कई शास्त्र, धर्म के बहाने अपनी कल्पना द्वारा रचित हैं। जगत भी अनन्त कालपर्यन्त संसाररूप से अज्ञानदशा में रहनेवाला है। अत: गलत अभिप्राय सर्वथा मिट जाए – ऐसा कभी नहीं बनता। अत: अनेक मान्यता की गलतफहमी का विरोध टालने के लिये इन छह पदों की विचारणा है। कोई कर्ता मानता हो तो भोक्ता न माने; कोई एकान्त विचारणा है। कोई कर्ता मानता हो तो भोक्ता न माने; कोई एकान्त नित्य ही मानता हो तो अनित्यपर्याय न माने; कोई ईश्वर को कर्ता माने इत्यादि। इन सबका निराकरण इन छह पदों द्वारा होता है। जो-जो अभिप्राय विरोधरूप होवे, उन सबका निराकरण इन छह पदों से होता है। ये छह बोल जैसे हैं, वैसे समझे तो तीन लोक, तीन काल के रहस्य समझ में आयें और किसी से पूछने जाने की जरूरत न पड़े। किन्तु समझे बिना केवल स्वच्छन्दपूर्वक जैसा–तैसा निर्धार करके, एकान्तपक्ष का आग्रह पकड़कर बैठ जाए तो सच्चा तत्त्व समझ में नहीं आ सकता। आनन्दघनजी ने छह दर्शनों को २१ वें जिनेश्वर भगवान

के देह का अङ्ग बताकर कहा है कि –

'षट्‌दर्शन जिन अंग भणी जे, न्यायषडंग जे साधे रे;
नमि जिनवरना चरण उपासक, षट्‌दर्शन आराधे रे।'

एक पक्षीय दृष्टि को यदि छहों पक्ष की अपेक्षा रखकर घटाये तो अनेकान्त न्याय में समाविष्ट हो जाए किन्तु यदि कोई पक्ष को ही ग्रहण करे तो उसका पक्ष मिथ्या साबित होता है। अत: सापेक्षदृष्टि से छह पदों का न्याय संक्षेप में परमार्थ समझाने हेतु ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

कोई कहे कि जगत पर उपकार करनेवाले को हम तो ज्ञानी कहेंगे तो सच्चा परमार्थ पाने का सही उपकारी उत्कृष्ट निमित्त ज्ञानी है। ज्ञानी ने जगत पर अनन्त उपकार किया है किन्तु जगत के लिये वे स्वयं रुक नहीं जाते। ज्ञानी का भाव जो समझे, उस पर उपकार हो जाता है किन्तु सत् का निषेध करनेवाले, जगत में भटकने के अभिप्रायवाले अनन्त जीव पड़े हैं एवं सत् का आदर करनेवाले अनन्त ज्ञानी हो गये और मोक्ष चले गये। कोई भाई कहते हैं कि ज्ञानी को आत्मा का ज्ञान हुआ, फिर जगत के जीवों को सच्चा धर्म समझाने के लिये दो-पाँच साल जगत में और ज्यादा रुक जाए तो क्या दिक्कत है ? दु:खी जीवों का अनादर करके सुख के स्थान में क्यों जाते हैं ? उसका उत्तर यह है कि जगत के सभी जीव स्वतन्त्र हैं; उनका परिणमन ज्ञानी के अधीन नहीं है।

जगत के जीव धर्म प्राप्त करें, ऐसे राग की उपाधि नहीं होने से उनको रुकना नहीं पड़ता। अत: जिसको बेहद सुखस्वरूप – ऐसे प्रत्यक्ष सर्वज्ञ वीतराग भगवान के पास जाना है, उसे अपने आप को तैयार करना पड़ेगा। वर्तमान में इस क्षेत्र में तो एक-दो भव करके मोक्ष जा सकते हैं किन्तु वर्तमान में पञ्च महाविदेह क्षेत्र में से मनुष्यदेह से इसी भव में मोक्ष जा सकते हैं। भविष्य में इस क्षेत्र में भी सर्वज्ञ भगवान होंगे और बहुत से जीव इसी देह से आत्मकल्याण की साधना करके मोक्ष जायेंगे। मोक्षमार्ग का प्रवाह ज़ोरदार चलेगा और लाखों मनुष्य मोक्ष में जायेंगे। सर्वज्ञ परमात्मा साक्षात् वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में बिराजमान हैं। सर्वज्ञता है – यह निर्णय करना चाहे तो समझ में आये – ऐसा है। आगे बढ़कर समझ से देखो तो सब कुछ है। मोक्षमार्ग चालू ही है। छह महीने और आठ समय

में ६०८ जीव मोक्ष में जाए और सूक्ष्म निगोदस्थान में अनन्त जीवराशि है, उसमें से छह महीने और आठ समय में ६०८ जीव बाहर आकर अन्य शरीर धारण करते हैं। फिर भी अनन्त काल में भी संसार में से अनन्तवे भाग के जीव भी कम होनेवाले नहीं हैं। मनुष्यक्षेत्र में गर्भज मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या २९ नौ की व जघन्य संख्या २९ सात की है। उसमें से छह महीने व आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं। वे जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, फिर भी उनको इष्टनिमित्त का बहुमान जरूर रहता है। तीर्थङ्कर आदि को मार्गप्रकाशक कहे गये हैं। ऐसे जीव कहते हैं कि हे सर्वज्ञ भगवान ! आपने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके मोक्षमार्ग समझाया है। इस प्रकार सत् का बहुमान करते हैं। जो-जो आत्मा सच्ची तैयारी करते हैं, उनके लिये ज्ञानी उपकारी निमित्त कहे जाते हैं किन्तु ज्ञानी को इच्छा नहीं है, फिर भी पूर्व में बाँधी हुई तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति के कारण उनकी वाणी धर्मसभा में दिव्यध्वनि के रूप में खिरती है और तत्त्व को समझने की तैयारीवाले हज़ारों जीव आत्मकल्याण प्राप्त करते हैं। जो समझता है, वह प्राप्त करता है।

यहाँ पर यह शिष्य ऐसा विचारवान है कि यथार्थ शङ्का उठाता है और ज्ञानी के भाववचनों का आशय समझता है; नहीं समझ में आये तो फिर से पूछता है। लोगों को घर, गृहस्थी, स्त्री, पुत्र, धन, आदि से निवृत्ति मिले, तब तो तत्त्व का विचार आये न! पूरी जिन्दगी संसार के प्रयोजन हेतु निकाली किन्तु भव का अभाव होवे इसके लिये कुछ किया ? यह बात ऐसे तरीके से उठायी है कि सुननेवाले को ख्याल में आ जाए कि ऐसी शङ्का करनेवाले अपना कल्याण कैसे हो, उसके लिये विचारदशा में काल व्यतीत करे और ऐसे जिज्ञासु, अनन्त काल में जो अपूर्व कार्य नहीं हुआ, उस कार्य की सिद्धि अल्पकाल में करे।

किन्तु जो लोग कहते हैं कि हमें शङ्का नहीं होती, चाहे जैसा मोक्ष हो; हमें कुछ पता नहीं करना.... उनको सत् की जिज्ञासा ही नहीं है। प्रश्न करना भी नहीं आता; अत: प्रश्न पूछने में भी उलझन होती है।

जिस प्रकार बन्द मकान में बहुत कूड़ा पड़ा हो, उसके द्वार खुलते ही अन्दर हवा प्रवेश करती है और जमा हुआ कूड़ा उड़ने लगता है। इसलिये ऐसे घरवाले

को दूसरों से शर्म लगती है कि मैंने द्वार न खोले होते तो ठीक था। किन्तु यदि झाडू लेकर झाड़कर साफ करनेवाला कोई मिले और उसे पहचाने कि इससे मेरा कूड़ा साफ हो सकता है और निकालना चाहे तो उसका कूड़ा रह नहीं सकता। किन्तु मतमतान्तर के आग्रहवाले अपने द्वार खोलना ही न चाहें अथवा हमें कुछ जानना ही नहीं है – ऐसा कहकर वीरान घर के जैसे अनजान ही रहना चाहें और दरवाजे न खोले तो उसे जबरजस्ती कौन समझाये ? ऐसे कई लोग होते हैं जो कि शङ्का का समाधान करने के लिये, यानी हवा आने के लिये दरवाजे खोलते ही नहीं है क्योंकि हमारा कूड़ा उड़ेगा और लोग देख लेंगे – ऐसा भय रहता है; और कहते हैं कि कभी भी समझ में आ जायेगा। अथवा कहे कि हमें धर्म की, आत्मा की श्रद्धा है, हम निःशङ्क हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इतना सूक्ष्म जानने की कुछ जरूरत ही नहीं है। हम तो आराम से ध्यान में बैठ जाए और निवृत्ति में रहें तो राग-द्वेष नहीं होंगे, फिर क्यों ज्यादा जानें ? हमने माना है, वही सही है – ऐसा माननेवाले निःशङ्क तो है किन्तु उल्टी तरह से। उनको जब सच्चे तत्त्व की बात सुनने का प्रसङ्ग आता है, तब इन्कार कर देते हैं क्योंकि स्वयं ने जो ग्रहण किया है, माना है – उससे अन्यथा दिखने पर दरवाजे बन्द कर देते हैं।

सर्प का दृष्टान्त : जैसे कि खुद तानकर सोया है, सिर पर एक बालिश्त की ऊँचाई पर सर्प लटक रहा है। वह जैसे ही उठेगा कि तुरन्त काटनेवाला है, फिर भी मानता है कि मैं निर्भय हूँ किन्तु मृत्युरूपी काल अल्पकाल में उसका आयुष्य पूरा करेगा। सर्प का भान ही जिसे न हो, उसे निःशङ्क सोया हुआ नहीं कहा जायेगा। यदि सर्प को युक्तिपूर्वक हटाये तो ही मृत्यु का भय टल गया माना जायेगा। सर्प का भय चला गया, फिर तो बिस्तर के नीचे से चींटिओं को निकालना कोई ज्यादा कष्टदायक नहीं है। इस प्रकार परभाव क्या और स्वतत्त्व का स्वभाव क्या – इसकी जिसे पहचान नहीं है, केवल अन्ध श्रद्धापूर्वक ही प्रवर्तन करते हैं। मैं कौन हूँ ? – इसका जिसे भान नहीं है, वह सत्य-असत्य का विवेकी नहीं है। ऐसे जीवों को सच्चे निमित्त का योग हो जाए तो भी वे परमार्थ प्राप्त नहीं कर सकते।

अब, यहाँ से क्रमबद्ध प्रश्नोत्तर की तथा युक्तिसभरसिद्धान्त की रचना की शुरूआत है। शिष्य शङ्का करेगा और गुरु प्रत्येक पद की यथार्थता सिद्ध करेंगे। शिष्य ने कुछ जाना है किन्तु निर्णय नहीं किया है। अत: ज्ञानी क्या कहते हैं, यह जानने की जिज्ञासावाला है; अत: उसे आशङ्का होती है। यहाँ पर आशङ्का आत्मा के अस्तित्व के विषय में है। आत्मा इत्यादि पदों की शङ्का करता है। उसमें जिन विचारों से आत्मा के नहीं होने की शङ्का हुई, उसको याद रखता है और तत्सम्बन्धित न्याय भली-भाँति समझना चाहता है। इस प्रकार जिसे एकाग्रतापूर्वक सत् समझने की तैयारी है, वह 'मैं क्या-क्या नहीं मानता' और 'वह किस कारण से नहीं मानता ?' – उसके तर्क गुरु समक्ष प्रस्तुत करता है।

इस शास्त्र में गुरु व शिष्य के संवादरूप ऐसी रचना की है कि इस प्रकार समझकर जिज्ञासापूर्वक जो शिष्य प्रश्न करता है और गुरु के उत्तर को ग्रहण करता है, उसका मोक्ष हुए बिना रहेगा नहीं। शिष्य समझने की जिज्ञासा व गुरु प्रति की प्रतीति लेकर आया है। वह मेरा अपमान होगा, मेरा बड़प्पन नहीं रहेगा – ऐसी शर्म नहीं रखता है। छाछ लेने जाना और बर्तन छिपाना – ऐसा कैसे सम्भव हो ? विनयवन्त व तत्त्व का जिज्ञासु, ज्ञानी का विनय भी रखता है; बेधड़क होकर सवाल भी करता है और समझने का धैर्य भी रखता है। जिस प्रकार की विचारणा के कारण स्वयं शक्ति है, उन कारणों की उसे खबर है और खुद को कैसे तत्त्व समझना है – उसका भी उसे पता है। **४४.**

अब, आत्मा के अस्तित्वरूप प्रथम पद की शङ्का करता है। गुरु कहते हैं कि उसे शङ्का नहीं है किन्तु वस्तुस्वरूप समझने हेतु जिज्ञासापूर्वक आशङ्का करता है। जिसे तत्त्व का निर्णय नहीं है एवं समझने के लिये आशङ्का भी नहीं होती, उसकी बात यहाँ नहीं है तथा जो समझकर स्थिर हो गये हैं, उनकी बात भी यहाँ नहीं है किन्तु बीच के वर्गवाले कि जिन्हें समाधान करना बाकी है, उनको आशङ्का होती है।

परदेशी राजा को आत्मा नहीं है – ऐसी शङ्का थी किन्तु समझने का कामी था तो योग्यभूमिका होने पर सद्गुरु मिले। यहाँ पर शिष्य भी उस परदेशी राजा के समान ही प्रथम शङ्का कर रहा है –

नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप;
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप।।४५।।

दृष्टि से दिखता नहीं, ज्ञात न होवे रूप।
अन्य भी अनुभव नहीं, अतः न जीव-स्वरूप।।४५।।

प्रथम ही प्रश्न कर रहा है कि श्रीगुरु ! मुझे आत्मा दृष्टि में नहीं आ रहा। इस इन्कार में ही स्वीकार के आसार है। जिज्ञासु इतनी तैयारीवाला होता है कि मुझे ऐसा तर्क करना कि जिससे गुरु पक्का (सही) समझ में आये। वह गुरु से कहता है कि हाथ में आँवला दिखता है, उस प्रकार दिखाओ और उसके अस्तित्त्व के कारण बताओ। पवन जिस प्रकार स्पर्श से जानने में आता है, उस प्रकार आत्मा का लक्षण क्या है ? – यह बताओ। भले स्पर्शादि से व रूप से न दिखे किन्तु अन्य किसी अनुभव से तो बताओ। उल्लू सूर्य को न देख सके किन्तु गर्मी है – इसका अनुभव तो उसे हो सकता है; वैसे यह आत्मा अनुभवगम्य तो होना चाहिए। इस प्रकार कारण प्रस्तुत किये और बताया कि मैंने ये-ये कारण सोचकर रखे हैं, दृष्टि में दिख नहीं रहा। उस कारण का जवाब आयेगा कि रूपी पदार्थ हों तो वे दिखे।

आत्मा तो (जड़ पदार्थों) से भिन्न अरूपी ज्ञायक है और इसीलिये पाँचों इन्द्रियाँ एवं मन से भिन्न है, अलग है और स्वयं अपना वेदन करनेवाला यानी अनुभव करनेवाला है। इस प्रकार न्याय की युक्तिपूर्वक समझायेंगे। **४५.**

अब, आत्मा नहीं होने की शङ्का का दूसरा कारण प्रस्तुत करता है –

अथवा देह ज आत्मा, अथवा इन्द्रिय प्राण;
मिथ्या जुदो मानवो; नहीं जुदुं अेंधाण।। ४६।।

अथवा देह ही आत्मा, अथवा इन्द्रिय प्राण।
मिथ्या भिन्न है मानना, भिन्न नहीं पहचान।।४६।।

शिष्य कहता है : मैं तो कह रहा हूँ कि आत्मा नहीं है और कदापि है तो यह देह ही आत्मा है अथवा यह इन्द्रियादि प्राण ही आत्मा हैं क्योंकि उनसे ही जीव जाना जा सकता है; परलोक की हमें श्रद्धा नहीं है। जिस प्रकार कोई एक अनजाना आदमी कहे कि 'हम ज़हर खालें' तो उसका क्या परिणाम आये? स्वयं ज़हर को न पहचाने तो भी उसका फल आये बिना रहेगा नहीं। इस प्रकार भगवान आत्मा को जाने बिना दूसरों से सन्तोष माने और उसमें ठीक मानकर रुके तो सही अवसर हार जाए।

सुख का भान नहीं है और लोग कहते हैं कि अपनी नज़र से दिखनेवाला सुख छोड़कर परभव का कौन करे ? मर जाने के बाद **'गोपण गाड़ा भरे'** मात्र वर्तमान सुविधा पर उनका लक्ष्य रहता है। वे कहते हैं कि हमारे बाप-दादा तो बहुत पिछड़े हुए थे और उनके नेता धर्मगुरु भी ऐसे थे; अतः हमें ऐसा धर्म नहीं चाहिए। धर्म नहीं होता तो हम ज्यादा सुखी होते किन्तु ये ज्ञानियों ने बीच में अडंगा डाल दिया है। ऐसे लोगों से ज्ञानी कहते हैं कि ऐसा बोलनेवाले नास्तिकवादी हैं; उनको सच्चे सुख का पता नहीं है। कई लोग नासमझ के कारण धर्म के नाम से ठग चुके हैं, भ्रमणा में पड़े हैं किन्तु धर्म तो आत्मा का शुद्धस्वभाव है। इससे किसी को नुकसान हो ही नहीं सकता। उससे कोई भुलावे में नहीं पड़ सकता एवं उसमें अन्याय भी नहीं चल सकता। जिज्ञासापूर्वक ज्ञानी के पास आशङ्का रखकर पूछने आये तो उसका यथार्थ समाधान होने योग्य है। अन्य सभी पदार्थों को जाननेवाला होने से उन सबसे तू भिन्न है। तू अपने आप को ही भूल रहा है - यह कैसी गज़ब बात है!

दिनांक - १८-१०-१९३९

शिष्य शङ्का कर रहा है। इसमें शङ्का करनेवाला कैसा होता है ? – यह बात भी समाविष्ट है। ऐसी शङ्का करनेवाला किस प्रकार समझे ? – यह बात भी आ जाती है। विनयवन्त शिष्य अपनी शङ्का शर्म से छुपाए बिना खुले हृदय से कहता है। प्रश्नकार ने खुद ने शङ्का के जो-जो कारण पकड़े हैं, उनका अन्तर से समाधान होने पर समझ में आ जायेगा। उसका लक्ष्य समझने के प्रति है; अतः शङ्का का दूसरा कारण कहता है -

अथवा देह ज आतमा, अथवा इन्द्रिय प्राण;
मिथ्या जुदो मानवो, नहीं जुदुं अेंधाण।।४६।।

अथवा देह ही आत्मा, अथवा इन्द्रिय प्राण।
मिथ्या भिन्न है मानना, भिन्न नहीं पहचान।।४६।।

कहता है कि हे प्रभु ! यह देह व इन्द्रिय की चेष्टा पर से जानने में आ रहा है; अतः इनके द्वारा ही जानपना है। अतः हमें देह व इन्द्रिय से भिन्न आत्मा मानना मिथ्या लगता रहा है। प्रश्न करनेवाला निर्मानी है। मेरी भूल सभा में जाहिर होगी और मान चला जायेगा; इस प्रकार मान रखे बिना, खुले हृदय से मुमुक्षुओं को प्रश्न करने चाहिए। जिस प्रकार परदेशी राजा ने श्रीकेशी भगवान से प्रश्न किये थे; उस प्रकार मान को बिल्कुल छोड़कर खुलासा माँगना चाहिए। उसने ऐसा नहीं माना था कि मेरी प्रजा व प्रधानों के बीच में ऐसे सवाल करुँगा तो मेरी हीनता दिखेगी। किन्तु बालक की माफ़िक मान की परवाह नहीं करके, समझने की रुचि की तो अन्तर की भ्राँति मिटाने का अवसर प्राप्त हुआ। अतः श्रीमद्जी का कहना है कि प्रश्नकार को प्रश्न करते समय शङ्का को छुपाना

नहीं चाहिए और विनयसहित बेधड़क होकर स्पष्टरूप से सवाल पूछकर खुद को इष्ट सुख प्राप्ति का, मोक्ष का उपाय समझ लेना चाहिए। प्रश्न किस प्रकार से पूछना, उस पर बहुत विचार करना चाहिए। आगे कही ऐसी सुविचारदशा भी प्रथम होनी चाहिए। यहाँ पर शिष्य का कहना है कि गुरु ! हमें तो देह, इन्द्रिय व आत्मा एक ही लगता है क्योंकि उसी से सभी विषयों की जानकारी होती है। देह व इन्द्रियों के निमित्त में कमी पैदा होने पर यानी शरीर में लकवा होने पर कुछेक इन्द्रियों का काम रुक जाता है। इस प्रकार देह व इन्द्रियों से आत्मा की भिन्नता का लक्षण जानने में नहीं आ रहा। ऐसा विचार करके इन दोनों की भिन्नता की पहचान, यानी सही लक्षण कौनसा है ? - यह बताओ। यह बात शिष्य की जिज्ञासावृत्ति का निर्देश करती है। आत्मा की प्रतीति कैसे हो, उसकी समझ किस प्रकार की जा सके - यह जानने की रुचि लोग करते भी नहीं हैं तो उसे प्रश्न किस प्रकार करना और क्या जानना ? - उसकी रुचि कैसे हो ? **४६.**

अब, शङ्काकार तीसरा सवाल करता है। शङ्काकार का हृदय तत्त्व समझने की उत्सुकता और लगन बता रहा है -

वळी जो आत्मा होय तो, जणाय ते नहीं केम ?
जणाय जो ते होय तो, घट पट आदि जेम।। ४७।।

अरु होवे यदि आत्मा, काहे न प्रगट लखात।
लखाय जो होवे यथा, घट-पटादि विख्यात।।४७।।

हे गुरु ! यदि आत्मा है तो वह जानने में क्यों न आये ? जो है, वह जानने में न आये - ऐसा कैसे सम्भव है ? शिष्य ने ऐसा तर्क रखा। जो जानने में न आये, उस वस्तु का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। हमारा यह मत है, ऐसा बताया। जिस प्रकार घट, वस्त्र आदि नज़र से दिखते हैं; उस प्रकार आत्मा जानने

में आये तो हम मानें। आगे की गाथा में अपनी शङ्का दूर करने हेतु जिज्ञासा प्रदर्शित करता है। **४७.**

अब, इस गाथा में शिष्य अपनी शङ्का दूर हो जाए, ऐसा सदुपाय समझने की विनती करता है –

माटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय;
ए अंतर शंकातणो, समजावो सदुपाय।। ४८।।

अतः नहीं है आत्मा, मिथ्या मोक्ष-उपाय।
यह अन्तर शंका कही, समझावें सदुपाय।।४८।।

प्रथम शङ्का में ही मोक्ष की शङ्का करता है और कहता है कि जहाँ आत्मा ही नहीं है, वहाँ मोक्ष का उपाय किस प्रकार हो सके ? शिष्य जानता है कि गुरु है; वे मोक्ष का उपाय बतानेवाले हैं। जिस प्रकार स्कूल में शिक्षक लौकिकज्ञान देनेवाले हैं, उस प्रकार ये श्रीगुरु लोकोत्तरज्ञान बतानेवाले हैं। वर्तमान की दृष्टिवाले एक भाई कहते थे कि क्या उपाश्रय में जाकर बैठें तो ही कल्याण होगा ? फुर्सत पाकर जो नहीं दिख रहा है – ऐसे आत्मा की कल्पना करें ? कुछ सेवा-परोपकार नहीं करें ? क्या निवृत्ति लेने से ही कल्याण होगा ? ऐसे जीव उपाश्रय का अर्थ भी समझते नहीं हैं। उप माने आत्मा के समीप; उसके आश्रय से रागरहित ज्ञानरूप टिके रहना; अन्य किसी तरह कल्याण नहीं है। वस्तुस्वरूप समझने का धैर्य रखे तो समझ में आये। जगत में जहाँ-तहाँ राग-द्वेष, काम-भोग व बन्धन की कथा होती है; अतः जीव को उसका परिचय सुलभ है किन्तु यह बात कुछ नवीन है, अपूर्व है – ऐसा लगे और वह क्या है ? – इसकी मध्यस्थतापूर्वक जानने की जिज्ञासा रखे तो समझ में आये न ! यहाँ शिष्य ने नास्तिकदृष्टि से शङ्का की है कि आत्मा दिखता ही नहीं है; अतः नहीं है। 'है' – ऐसा लगे, तब तो उसकी मुक्ति का उपाय होवे न ?

यहाँ अन्तर की शङ्का है; बाहर से धारण की हुई बात नहीं है। अनादि से चली आयी भूल में शिष्य को शङ्का हुई है। आग्रह को पकड़कर नहीं बैठा। फलाँ भाई कह रहे थे, उसका क्या होगा? – इस प्रकार परायी पञ्चायत करने नहीं आया है। कई जीव सुनने आते हैं किन्तु अन्दर की बात पूछ नहीं पाते हैं। शङ्का तो रहती है कि ये सब धर्मी होकर बैठे हैं, इसमें तो निकम्मे होकर कुछ काम-धाम करना नहीं। बड़े स्वार्थी होकर बैठना – ऐसा तुम्हारा सुविधा प्रिय धर्म लग रहा है। कुछ सेवा, दया या परोपकार का तो नाम नहीं, सिर्फ ज्ञान व आत्मा-आत्मा ही करते रहने से कुछ लाभ हो जाए – ऐसे हमें तो दिख नहीं रहा। इस तरह वह चाहे जैसे सवाल करे तो उसके पेट में क्या है और उसकी मान्यता में क्या भूल है ? – यह उसे पकड़ाकर समझाया जा सकता है। सन्मुख आकर सीधा प्रश्न करे और समझने की बुद्धि से धैर्य रखकर सुने तो सभी प्रश्नों का हल है। कुछ कल्पना से कहने की बात नहीं है।

देह से आत्मा भिन्न है और नित्य है – ऐसा समझ में न आये, तब तक सामान्य बालक जैसे सवाल भी पूछे जा सकते हैं। लोगों को यह नयी बात सुनकर खलबली मच जाती है कि आत्मा पर का कुछ कर न सके – ऐसा कैसे हो? किन्तु अनन्त ज्ञानियों ने ऐसा कहा है और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। जीव को अपना ज्ञान करना, ज्ञान की प्रतीति व ज्ञान में टिके रहना, राग-द्वेष की उपाधि से रहित स्वाधीनतापूर्वक, ज्ञानरूप से ज्ञान में स्थिर होना – यही कर्तव्य है। इसमें बहुत कुछ करने का आया; दोष से वचने में तो बहुत मेहनत आवश्यक है। किन्तु उसमें ऐसा नहीं आया कि हाथ-पैर हिलाना; यों क्रिया करनी या दूसरों का भला कर देना। इसमें बहुत सारे न्याय हैं। बाहर की क्रिया आत्मा के अधीन नहीं है। पुण्य की रुचिवाले को हम पर का कुछ कर सकते हैं – यह भाव मन में से किसी तरह खिसकता नहीं है। जब तक पुण्य कुछ ठीक है, तब तक माने कि हम इच्छित काम को पार उतार देते हैं। आत्मा तो जैसे कोई वस्तु ही न हो – इस प्रकार प्रवर्तन करता है। जब कभी निर्धारित काम न हो तो तब दूसरों का दोष निकालता है, अथवा कहता है कि ऐसा करते तो ऐसा होता। इस प्रकार कल्पना करके समाधान करता है किन्तु उससे पर का कर्तृत्व,

अहंभाव नहीं मिटता। जो स्वयं जिज्ञासु होकर सवाल नहीं पूछता, उसे जबरदस्ती कौन समझाये ? इस चौथी गाथा में विनयसहित प्रश्न है कि संसार के सभी मतधारी लोग जो मोक्षउपाय बताते हैं, उससे आप कुछ अलग कह रहे हो। अतः मेरे अन्तर की शङ्का का समाधान करके समझाइये। जो सत्उपाय हो, वह बताओ। जो 'है', उसे समझने आया हूँ। सत् तीन काल में बदल नहीं सकता – ऐसी अन्दर से पुकार आती है। जिसे सत् की जिज्ञासा है, उसे सत् की कितनी लगन होती है ! वह कहता है कि इस कारण से मेरे अन्तर में आग लगी है; अतः जो सत् हो, वह समझाइये। समझनेवाला ऐसा होना चाहिए। थोड़ी विचारणा करके एवं यथार्थ हेतुपूर्वक दलील करके अपने आप उसका निर्णय कर सके, ऐसा होना चाहिए। प्रश्न पूछने से मेरा मान नहीं रहेगा, ऐसा भाव यहाँ पर शिष्य को नहीं है किन्तु मेरी शङ्का मिटेगी, उसी का उसे लक्ष्य है। **४८.**

अब, श्रीगुरु उपरोक्त प्रश्नों का जवाब देते हैं। इस गाथा में ४५ वीं गाथा का उत्तर इसवाली गाथा में है –

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान;
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान।। ४९।।

भासा देहाध्यास से, आत्मा देह-समान।
पर वे दोनों भिन्न हैं, लक्षण भिन्न प्रमाण।।४९।।

शिष्य ने प्रथम शङ्का में, दृष्टि में आत्मा नहीं आ रहा, उसका कुछ रूप नहीं दिखता एवं अनुभव में नहीं आता – ये तीन बातें कही। उसमें ऐसा आया कि जो अनन्त-अनन्त देह धारण किये, उन संयोगों के निमित्त में ही मेरी उपस्थिति है। इस प्रकार देहाध्यास के लक्षण से ही जीव का लक्षण माना है। शरीर में ज़रा पीड़ा हो जाए तो मुझे पीड़ा हुई; भूख लगे तो मुझे भूख लगी; स्त्री का देह हो तो मैं स्त्री; वैश्य का देह हो तो मैं वैश्य; बालकरूप में देह दिखे तो मैं बालक;

पशु का देह धारण किया तो मैं पशु; – ऐसे मानता है। वर्तमान में चौबीसों घण्टे देह की जो क्रिया हो रही है, वह मेरे से ही हो रही है – ऐसा लक्ष्य होने से देह और आत्मा एक ही हैं, ऐसा निश्चित हो गया है। लोग कहते हैं कि हम कुछ अच्छा करें किन्तु जीव ने अनन्त काल से पर के लक्ष्य से निजधर्म माना है, जीव ने अपनी भिन्नता जानी नहीं है। यथार्थरूप से यदि जीव का सच्चा लक्षण जाना होता तो संसार में भटकना नहीं पड़ता; जन्म-मरण की उपाधि नहीं होती। जड़ व चेतन दो पदार्थ हैं। समस्त अचेतन, अजीव पदार्थों से जीव का भिन्न लक्षण चेतना है। उसका नित्यपना, भिन्नत्व जैसा है, वैसा पूर्व में कभी जीव ने जाना नहीं। मन के शुभविकल्प भी जीव का लक्षण नहीं है। पूर्व में पर के लक्ष्य से तथा निमित्त के आश्रय से आत्मा का धर्म माना था, उस भूल को जीव ने कभी जानी नहीं है। मन के शुभविकल्प भी जीव का लक्षण नहीं हैं। पूर्व में पर के लक्ष्य से तथा निमित्त के आश्रय से आत्मा का धर्म माना था, इस भूल को जीव ने कभी जानी नहीं है। आत्मा के साथ अनादि काल से निरन्तर आठ कर्म की महीन रज का आवरण है। पुराने आवरण टल जाते हैं और जीव के राग-द्वेष व अज्ञान का निमित्त पाकर नये आवरणरूप जड़कर्म एक क्षेत्र में आते हैं। इस जड़देह में कर्तृत्व, ममत्व व राग के कारण संसार की उपाधि है, जिससे जीव जन्म-मरण करता है। वह मानता है कि यदि मैं देह को ठीक नहीं रखूँगा, तो जल्दी मर जाऊँगा। ऐसा करुँ, इस प्रकार लूँ, इस प्रकार रखूँ और इस प्रकार करूँ तो ठीक रहेगा। डॉक्टर ने यों दवायी नहीं की, माँ-बाप ने मेरी संभाल नहीं की, मैंने ध्यान नहीं रखा – इसलिये ऐसा हो गया। ऐसा किया होता तो ऐसा नहीं होता। इस प्रकार जहाँ-जहाँ देह धारण किया, वहाँ-वहाँ मिथ्याअभिमान किया। घर में मैं बहुत सुविधा रखता हूँ – ऐसा मानता है; शरीर में कुछ भी दिक्कत खड़ी हो तो तुरन्त ही मैं ठीक कर देता हूँ - ऐसा मानता है। इस हेतु से लोग घरों में कई प्रकार की दवाइयाँ रखते हैं और मानो देह के प्रति राग का पोषण करने हेतु ही जीवन मिला हो, उस प्रकार व्यवहार करते हैं। इस प्रकार समस्त निमित्त साधनों पर ही अपनी सलामती का आधार मानता है। शरीर को कुछ भी बाधा न पहुँचे, इसके लिये टाइमटेबुल इत्यादि बहुत व्यवस्था रखते हैं, फिर भी

सोचा हुआ तो नहीं होता। जब तक पुण्ययोग हो, तब तक बाह्यदृष्टि से योगानुयोग इच्छानुसार हो रहा है – ऐसा आंशिकरूप से थोड़े समय तक दिखता है किन्तु शरीर में लकवा हो जाए, या कोई ऐसा दर्द हो और मिटे नहीं, तब इच्छानुसार नहीं होने पर दूसरों का दोष निकले किन्तु देह की क्रिया होना यह आत्मा के हाथ की बात नहीं है, – ऐसी सच्ची समझ करे नहीं। फिर मरते समय सब सौंप दे कि ऐसे रखना, इतना दान देना, ऐसी मरणोत्तर क्रिया करना – इस प्रकार खुद समाधान करता। यदि परलोक में यहाँ का 'चेक' चलता तो सब कुछ बेचकर चेक ले जाता और बच्चों के लिये कुछ छोड़ता नहीं क्योंकि स्वयं उस समय जानता है कि मेरी कमायी ये भोगेंगे; उसका मुझे तो कुछ लाभ नहीं है किन्तु अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिये मरते समय 'वसियत' करता है कि बच्चो ! मेरा सब कुछ ठीक से रखना; इस प्रकार मरते समय भी अनन्ती ममता-तृष्णा साथ में ले जाता है। अनन्त काल से देहादि के भाव की ममता लेकर अपने आत्मा की संभाल खुद ने कभी नहीं की, इसलिये आत्मा की बात रुचती नहीं है। ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा पर का अकर्ता ही है। पर का कुछ भी कार्य जीव कर ही नहीं सकता। पुण्य भी जड़आश्रित क्रिया है। एक तिनके को तोड़ने का सामर्थ्य चैतन्य में नहीं है। यह बात अन्दर में बैठना बहुत कठिन है। पुण्य से भी आत्मा को लाभ नहीं है। ऐसा सुनते ही 'हाय हाय ! यह कैसे हो सकता है !' इस प्रकार चीखता है।

आत्मा की सच्ची बात सुनी भी न हो और खुद ने आत्मा का जो लक्षण व गुण मान रखे हो, उससे अलग लगे, इसलिये रुचता नहीं है। वह प्रश्न भी नहीं कर सकता क्योंकि संघ में, बिरादरी में, समाज में मेरी चलती है – ऐसा खुद मानता है और प्रश्न पूछने से मेरा बड़प्पन चला जायेगा, ऐसा उसे भय है। ऐसे जीव को देह से आत्मा भिन्न है – ऐसा अन्तरङ्ग में भान कैसे हो ? मैंने जड़ को छोड़ा, ग्रहण किया, जड़ का काम किया इत्यादि जड़ के व देह के प्रेम से, अध्यास से जीव की देहात्मबुद्धि दृढ़ हो गयी है। अतः आत्मा के असङ्गपने की, दुःख से मुक्त होने की, एकत्व की बात सुनने से द्वेष उठता है। इस भाव को अनन्त संसार का बन्धभाव कहते हैं।

जीव ने मनुष्यत्व पाकर नया क्या किया ? कौओे-कुत्ते भी पेट भरते हैं और आयुष्य पूरा होने पर दूसरा शरीर धारण करते हैं। अनन्त काल से अनभिज्ञ ऐसे अपूर्वतत्त्व की बात जल्दी न समझ में आये तो धैर्य से समझनी किन्तु इन्कार नहीं करना। यहाँ गुरु कहते हैं कि तुझे अनन्त काल से देह की ममता के अध्यास के कारण ऐसा लगता है किन्तु आत्मा व देह दोनों भिन्न हैं और प्रगट लक्षण से इसका भान होता है, यह बता रहा हूँ ! आत्मा केवल ज्ञाता है, देहादि से भिन्न है। जीव का लक्षण ज्ञान है। ज्ञान में शान्ति है। जगत में अनन्त जीवद्रव्य हैं। वह प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। पदार्थ को पहचानने की विधि शास्त्र में कही है कि नय, निक्षेप, लक्षण और प्रमाण द्वारा अनेक पदार्थों में से एक पदार्थ को अलग करके जाना जा सकता है। वह लक्षण निर्दोष होना चाहिए। प्रत्येक क्षण उसकी सत्ता में व्याप्त होकर रहना चाहिए। आत्मा ज्ञायकमात्र है; अतः उसका लक्षण जानना है, ज्ञान उसका कर्म है। पदार्थ का बोध करनेवाला जो जाना, उसकी स्मृति रखनेवाला पदार्थ जीव है। चेतना, ज्ञान, बोध, समझ – इन संज्ञा का धारक प्रत्येक आत्मा है। चेतना उसका लक्षण है। वह गुण तीनों काल जीव में ही रहता है, वह दूसरे द्रव्य में नहीं है। अतिसूक्ष्म देह में जीव जन्मे यानी निगोद में – आलू, कन्द, वनस्पति में जाए – वहाँ भी सुख-दुःख के भावरूप चेतना ही जीव का लक्षण है। अतः जड़रूप, जड़ के लक्षणरूप आत्मा कदापि नहीं होता। दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण प्रगट समझ में आते हैं। शिष्य कहता है कि आत्मा कहीं भी दिख नहीं रहा, तब गुरु कहते हैं कि प्रत्यक्ष, प्रगट लक्षण से जानने में आ रहा है।

कोई कहता है कि देह के दुःख से आत्मा को दुःख होता है किन्तु वह सही नहीं है। खिड़की में ऊँगली दबती है और चीखता है। यह ऊँगली दबने का दुःख नहीं है किन्तु देह के प्रति की तीव्र ममता के कारण वह चीख उठी है। तीव्र वेदना से कोई जीव बेहोश हो जाता है, इसलिये उसे दुःख नहीं है – ऐसा नहीं; अव्यक्तरूप से अनन्ती वेदना है। जिस दुःख को मन द्वारा प्रगटरूप से जान सकता था, वह ज्ञान कुण्ठित हो गया। इसको दुःख का अभाव कहनेवाले ज्ञान की शक्ति कम होने में सुख माननेवाले हैं – यह उनकी विपरीत मान्यता

है। क्लोरोफार्म सूँधते समय ज्ञान पर अनन्त आवरण आता है; अतः पागलपनरूप ज्ञान में दु:ख का असर दिखता नहीं है। बेहोशी यह सूचित करती है कि वेदना अत्यन्त है। पुनश्च, यदि देह की व्याधि के कारण दु:ख होता तो धर्मात्मा ज्ञानी को देह की व्याधि का दु:ख होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता; अतः ऐसा नियम नहीं है।

अनादि काल से लोगों को आत्मा का सच्चा लक्षण समझ में नहीं आया। आत्मा का लक्षण ज्ञान है और जड़पुद्गल के लक्षण गलना, मिलना, हिलना, चलना, सड़ना, गिरना, अवस्थान्तर होना इत्यादि हैं। चैतन्यभगवान आत्मा केवल ज्ञानमात्र है, अविनाशी है, अरूपी है, सत्‌रूप, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित द्रव्य है। ज्ञान लक्षण है और आत्मा उसका लक्ष्य है। पुद्गल परमाणु द्रव्यों में ज्ञान का अंशमात्र नहीं है – ऐसा त्रिकाल नियम है। देहादि अजीव वस्तुओं में जो कुछ क्रिया होती हुई दिखती है, वह स्वतन्त्र है और उन-उन जड़ पदार्थों के आधार से है। वह जैसा है, वैसा यथार्थ जानना हो तो पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा।

जिसका ज्ञानस्वभाव है, उसमें अंशमात्र भी कमी नहीं हो सकती। जिसका लक्षण ज्ञान है, वह किसे न जाने ? जीव को चाहे जितना आवरण आ जाए, फिर भी वह जानना थोड़े-बहुत अंश में तो टिका ही रहता है। सदा चेतनामय जिसका लक्षण है, वही जीव है। कोयले के भिन्न-भिन्न आकार होते हैं। उसमें अग्नि का प्रवेश होने पर अग्नि अनेक आकार से दिखती है, फिर भी सुलगते हुए कोयले को पानी में डालो तो दोनों के लक्षण भिन्न है – ऐसा दिखेगा। इस प्रकार देह अनेक दिखते हैं, उसके आकार भिन्न-भिन्न हैं किन्तु देह का लक्षण व अरूपी ज्ञाता आत्मा का लक्षण एक दूसरे से भिन्न है। ६० साल का बूढ़ा हो, उससे पूछे कि पिताजी ! हमारा फलाँ दस्तावेज कहाँ रखा है ? तो वह मरते समय भी जब तक बोल सकता होगा तब तक कहेगा कि फलाँ तिजोरी में, फलाँ खाने में रखा है। वह तिजोरी दो दूर तीसरे कमरे में है। आँख से दिख नहीं रहा, फिर भी खुद ने रखा है, इसलिये बहुत समय पहले की वस्तु उसके स्मरण में प्रत्यक्ष दिख रही है। यह जाननेवाला क्या देह व इन्द्रिय सबसे भिन्न नहीं है ? भिन्न नहीं होता तो मर जाने के बाद देह व इन्द्रिय तो उपस्थित है, फिर भी

चेतनता धारण करनेवाला जीव उसमें नहीं है। अतः मृत्यु के बाद कुछ जवाब नहीं मिलता। **४९.**

अब, दृष्टान्त द्वारा कहते हैं :-

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान;
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान।।५०।।

भासा देहाध्यास से, आत्मा देह-समान।
पर वे दोनों भिन्न हैं, जैसे असि अरु म्यान।।५०।।

हे भाई ! अज्ञान के कारण अनन्त भव के देहाध्यास से तुझे देह व आत्मा एक लगता है। किन्तु तलवार व म्यान जिस प्रकार भिन्न है, उस प्रकार देह व चैतन्य दोनों भिन्न है। दोनों के लक्षण भिन्न है और वे स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं। उसके पूर्ण आनन्द के अनुभव के लिये शरीर में बिराजमान चैतन्यआत्मा सत्समागम द्वारा अपने स्वरूप को जैसा है, वैसा जाने और उसका ध्यान करे तो देह से आत्मा भिन्न होने के कारण वह देह से अलग होकर मुक्त होता है; अतः उसमें शाश्वत स्वरूप का अव्याबाध आनन्द है – वह प्रगट होता है। आत्मा का अनुभव तो वर्तमान में देह के रहते हुए भी होता है। यानी आत्मा को आत्मा में सुख का अनुभव होता है और देह का अभाव होने पर जीव संसार से मुक्त होता है। **५०.**

दिनाङ्क - १९-१०-१९३९

देह व आत्मा के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, यह कारणसहित बतलाते हैं -

जे दृष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप;
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप।। ५१।।

जो दृष्टा है दृष्टि का, जो जानत है रूप।
अबाध्य अनुभव जो रहे, वह है जीव-स्वरूप।।५१।।

भाई ! तू कहता है कि आत्मा, दृष्टि यानी आँख द्वारा दिखता नहीं है किन्तु वह आँख द्वारा कैसे दिखे ? आँख को जाननेवाला आँख से भिन्न है। आँख तो बाह्यपदार्थ को देखने में निमित्त है। आँख को देखनेवाला आत्मा, आँख द्वारा कैसे जानने में आये ? इन्द्रियाँ आत्मा से पर हैं; अतः वे परवस्तु को जानने में निमित्त होती है किन्तु आत्मा को जानने में निमित्त कैसे हों ? क्योंकि वह तो इन्द्रिय आदि को देखनेवाला है; स्थूल -सूक्ष्म दोनों को वह जानता है। पेट के बीच में कुछ हो रहा हो, उसे बाह्यइन्द्रियाँ तो जानती नहीं है, फिर भी जाननेवाला तो सीधा जान लेता है। कान के भीतर पीड़ा हो रही हो या दिमाग में कुछ शूल उठा हो तो उसे आत्मा स्पष्ट जानता है। बाह्यइन्द्रियों के निमित्त बिना, सूक्ष्म रति-अरति को भी जीव जानता है। देहादि परमाणुओं में जो कुछ विचित्र स्थिति होती है, उसकी सभी अवस्थाओं को निरन्तर जाननेवाला जीव उससे भिन्न है। मेरी आँत में कुछ है, मल बँध गया है, छाती में कफ हो गया है – यह कुछ इन्द्रिय से जाना ? ऐसी प्रकृति की अनेक वेदना को तथा दुःखरूप आकुलता को प्रत्यक्षरूप से जाननेवाला ज्ञायकरूप से ही टिका रहता है। क्रोधादि तथा वेदना का स्वरूप बदल जाए तो भी स्वयं तो निरन्तररूप से जानता है। इससे निश्चित होता

है कि मैं तो रहता हूँ और उपाधियाँ टल जाती हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष भिन्न, नित्य समझसंज्ञाधारक लक्षण, देह-इन्द्रिय से भिन्न दिखता है। प्रश्न पूछनेवाले ने तर्कपूर्वक प्रश्न रखा था। उसका यथार्थसमाधान करानेवाली दलील मिली।

अब, शिष्य के सवाल भी विचारपूर्वक के आयेंगे और उनके जवाब मिलने पर विरोधरहित छहों पद से सर्वाङ्गरूप से समझ में आ जायेगा। इस विषय में आगे आयेगा कि –

'षट्पदनां षट् प्रश्न तें, पूछ्या करी विचार;
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार।'

जिस विधि से मार्ग कहा है, वह मार्ग हो तो परमार्थ हेतु सधे और इष्टसाध्य जो कि इष्टपद (मुक्तिपद) है, उसे लहे (पाये)। फिर कहेंगे कि सभी जीव सदा सिद्ध परमात्मा समान (शक्तिरूप से) हैं किन्तु जो अपनी यथार्थता समझे, वह सिद्ध हो जाए।

बड़े-बड़े विशाल समुद्र को एवं अनन्त-अनन्त आकाश को जाननेवाला भी तू ही है। पूर्व में कालचक्र के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनन्त-अनन्त बार पलट गये, फिर भी तू तो उन संयोगों को स्मरण में रखनेवाला अभी नित्य विद्यमान है। देह में ज़रा-सी भी पीड़ा होती है या वह दूर होती है, उसका तुझे पता लगता है; देह को पता नहीं लगता। अतः भगवान आत्मा पाँचों इन्द्रियों को जाननेवाला है। उसका विचार करके मन एवं पाँच इन्द्रियों से भिन्न होकर आत्मरूप से आत्मा का विचार करके देख और स्थिर हो जा! तो तू अपना बेहद सुखमय, पवित्र ज्ञानानन्दस्वभाव का अपने आप से ही प्रगट अनुभव कर सकेगा।

कोई कहता है कि आज कल मेरा मन बराबर काम नहीं कर रहा। देखो! मन तो दिखता नहीं है, फिर भी मन की बात पता लगी न ! यह बताता है कि जीव मन से भिन्न साक्षीरूप है। मन से भिन्न नहीं होता तो मन को कुछ हुआ है, यह कैसे जान सकता ? स्थूल व सूक्ष्मरूप को जीव जानता है और जो अबाध्य अनुभव रहे, वह जीवस्वरूप है। मैं स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, देह नहीं, मन नहीं, ठीक-अठीक, सङ्कल्प-विकल्प भी मैं नहीं, अन्दर आठ कर्मों की महीन रज भी मैं नहीं - इस प्रकार परद्रव्यों को विवेकपूर्वक भिन्न करते-करते बाकी जो ज्ञायकस्वरूप,

सभी का अनुभव करनेवाला बाकी रहा, वह मैं हूँ। इस प्रकार जो सदाकाल जानता रहे, वह जाननेवाला, जाने हुए का स्मरण करनेवाला, ज्ञातारूप अस्तित्व का धारक नित्य-निरन्तर टिका रहता है – वही जीव का स्वरूप है। जिस प्रकार मक्खी को मन नहीं है, फिर भी शक्कर की डली व फिटकरी की डली साथ में रखी हो तो भी दोनों का विवेक करके स्वाद लेती है, उस प्रकार देहादि से आत्मा भिन्न है। फिटकरी की माफिक यह देह, इन्द्रिय, मन आदि मैं नहीं; क्रमशः धीरे-धीरे इन्द्रियाधीन जानना है, वह मैं नहीं; कलुषितता के भाव दिख रहे हैं, वह मैं नहीं; किन्तु बाकी की साक्षीरूप वस्तु है, वह मैं हूँ। जो शान्ति, समतारूप समझ की विद्यमानता है, उसे रखकर बाकी सभी परपदार्थ अलग करने पर जो अनुभव बाकी रह जाता है, वह ज्ञायकता जीव का स्वरूप है। इस प्रकार यहाँ पर विचार की श्रेणी बतायी है। इस विधि से प्रगट अनुभव होता है। इस प्रकार गाथा ४५ का उत्तर गाथा ५१ में आया। **५१.**

अब, ४६वीं गाथा का उत्तर देते हैं :-

छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान;
पांच इन्द्रियना विषयनुं, पण आत्माने भान।।५२।।

है इन्द्रिय प्रत्येक को, निज-निज विषय का ज्ञान।
पाँच इन्द्रिय विषय का, पर आत्मा को भान।।५२।।

इस गाथा में ऊपरीदृष्टि से तो निमित्त से बात की है। कर्णेन्द्रिय से सुना; वहाँ पर कर्णेन्द्रिय जानने में निमित्त हुई। किन्तु चक्षुइन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय का कार्य कर नहीं सकती। जाननेवाला तो आत्मा है; कान का पर्दा तो निमित्त है। 'चक्षुइन्द्रिय द्वारा जाना हुआ, कर्णेन्द्रिय ने नहीं जाना।' इस प्रकार जो एक इन्द्रिय का विषय है, उसका कार्य दूसरी इन्द्रिय कर नहीं सकती। एक-एक इन्द्रिय एक-एक विषय को जानने में निमित्त होती है किन्तु पाँचों इन्द्रिय को जाननेवाला आत्मा अकेला

भिन्न है। यदि कान से ही जाना जाता अथवा रूप को जाननेवाले जितना ही आत्मा हो तो स्पर्शना विषय के समय आत्मा स्पर्शना विषय नहीं कर सकता। जड़इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता किन्तु जीव स्वयं ही ज्ञान होने से रूप, रसादि में से जिस किसी एक को जाने तो ही वह इन्द्रिय निमित्त कहलाती है। इन्द्रियाँ पाँच होने के बावजूद पाँचों का ज्ञान एक साथ नहीं होता; अतः इन्द्रियों से ज्ञान नहीं है। समयसार की ३१ वीं गाथा में कहते हैं कि सूक्ष्म, अखण्ड, असङ्ग – ऐसे ज्ञानस्वभाव से मन, इन्द्रिय व प्राण को भिन्न जानकर फिर अपने स्वभाव में स्थित हो, वह ज्ञानी है।

'जीती इन्द्रियो ज्ञानस्वभावे, अधिक जाणे आत्मने;
निश्चय विषे स्थित साधुओ, भाखे जितेन्द्रिय तेहने।'
(समयसार गाथा - ३१)

एक-एक इन्द्रिय, एक-एक विषय को जानती है, – ऐसा इस गाथा में कहा है। यह निमित्त से, उपचार से कहा है। पाँचों इन्द्रियों के ग्रहण किये हुए विषय को जो जानता है, वह आत्मा है। देह पड़ी रहती है, इसलिये भी कहा जाता है कि जाननेवाला चला गया; इस प्रकार इन्द्रिय से आत्मा को बताया। **इस आत्मसिद्धि में कोई अपूर्व घटना है।** समझनेवाले और समझानेवाली की शैली बहुत ही सरल व स्पष्ट है। विचारवान जीव झट से समझ जाए – ऐसी है। शिष्य भी चतुर है। वह कहेगा कि गुरुजी ! आपका कहा हुआ मैं समझ गया हूँ। यह बात निम्न गाथा में कही है :-

'आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार;
संभव तेनो थाय छे, अंतर कर्ये विचार।'

शिष्य सम्यक् प्रकार से निर्णय करता है, किन्तु लोगों को विचार, मनन का कुछ परिचय नहीं है और अन्तरङ्ग विचारपूर्वक जानने का प्रयास करते नहीं हैं। संसार के प्रसङ्ग की बात हो तो जो-जो करना चाहिए, वह करता है किन्तु इसमें अन्तर से विचार करके मिलान करे नहीं। किसी तरह का निर्णय करे नहीं और हाँ करे कि 'आप कह रहे हो, इसलिये आत्मा ऐसा होगा।' खुद सवाल करके निर्णय करना चाहिए। यह शिष्य तो कहता है कि मैंने अपनी समझ की धारणा

से विचारपूर्वक निर्णय किया है; अतः मैं पात्र हूँ। आपने जो कहा, वह मैं समझा हूँ। **५२.**

अब, समाधान करने के लिये विशेष कारण कहते हैं :-

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण;
आत्मानी सत्ता वडे, तेह प्रवर्ते जाण।।५३।।

देह न जानत विषय को, जानें न इन्द्रिय-प्राण।
पर आत्मा की सत्ता से, होत विषय पहिचान।।५३।।

यहाँ पर आत्मा को सामान्य प्रकार से सिद्ध करना है। अतः निमित्त द्वारा पहचान कराते हैं।

देह, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास तथा प्राण भी आत्मा को नहीं जानते । देह को पता नहीं है कि आँख इत्यादि इस जगह पर है। आत्मा परमार्थ से तो असङ्ग है, ज्ञाता है किन्तु पूर्व कर्म, देहादि की क्रिया एवं मन, वाणी, देह के योग के अवलम्बन से अन्दर कम्पन होता है। जब तक देह है, तब तक कम ज्यादा श्वासोच्छ्वास आदि की क्रिया जानने में आती है। आत्मा देह में से निकल जाने पर इस देह में से कार्मण शरीर छूटकर जीव के साथ, जीव जहाँ दूसरी देह धारण करे, वहाँ जाता है। यह कार्मणशरीर अतिसूक्ष्म धूल का पिण्ड है। वह जब जीव से छूट जाता है, तब जीव सम्पूर्णशुद्ध व मुक्त होता है। आत्मा श्वास लेता नहीं है, वह तो जड़ रजकणों की क्रिया पूर्व प्रारब्धानुसार होती रहती है। जीव को मृत्यु के समय श्वासोच्छ्वास मन्द हो जाते हैं अथवा तेज़ी से चलते हैं। इससे कई समझदार लोग समझ सकते हैं कि अब मृत्यु नज़दीक है। देह छोड़ने का अवसर आता है, तब ज्ञानी, आत्मार्थी, धर्मात्मा यह समाधिमरण करने का अपूर्व अवसर है - इस प्रकार पहचान लेते हैं। पवित्र धर्मात्मा को पता लग जाता है। जब मृत्यु का आखरी दबाव मालूम पड़े, उस समय उनका अपूर्व उत्साह व

आत्मा की सौम्यता झलक उठती है। जिनका प्रत्येक क्षण आत्मभान की जागृति में रहता है – ऐसे पवित्र धर्मात्मा, देह की स्थिति पूरी होते समय आत्मभान में बलवानरूप से प्रवर्तन करते हैं। श्रीमद्जी ने देह छूटते समय कहा था कि, '**अब मैं अपने आत्मस्वरूप में लीन हो रहा हूँ, मुझे कोई बुलाना मत।**' धर्मात्मा को समाधिमरण के वक्त पहले से पता लग जाता है और अन्दर ज्ञानबल के उग्र पुरुषार्थ का इतना उत्साह प्रगट होता है कि यह अपूर्वभाव कोई अनोखी जाति का होता है। वे जानते हैं कि इस वर्तमानकाल में मोक्ष नहीं है किन्तु एक भव करके मुक्ति पायी जा सकती है। धर्मात्मा मृत्यु के समय इस प्रकार आत्मसमाधिपूर्वक देह छोड़ते हैं।

इस गाथा में यह कहना है कि जब तक जीव की देह में उपस्थिति है, तब तक देह की सुन्दरता तथा चेतना दिखती है। पं. बनारसीदास कहते हैं कि–

'समता, रमता, ऊर्ध्वता, ज्ञायकता सुखभास;
वेदकता चैतन्यता, ये सब जीव विलास।'

(पं. बनारसीदासजी ने 'समयसारनाटक' में जीव के लक्षण का इस प्रकार वर्णन किया है) **५३.**

अब, इस गाथा में आत्मा की निशानी बताते हैं –

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय;
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए अेंधाण सदाय।।५४।।

सर्व अवस्था में सदा, भिन्न रूप जनाय।
प्रगट रूप चैतन्यमय, लक्षण यही सदाय।।५४।।

यहाँ पर नित्यता के आसार हैं।

शिष्य ने पूछा था कि जीव का लक्षण देह से भिन्न क्यों नहीं दिखता ? यहाँ श्रीगुरु कहते हैं कि '**प्रगटरूप चैतन्यमय, ए अेंधाण सदाय।**' कोई

कहे कि मुझे बहुत अच्छी नींद आ गयी। उस अवस्था को जाननेवाला नित्य है। अत: उसका अनुभव बताता है कि बहुत गहरी नींद आ गयी, ऐसा स्वप्न आया इत्यादि। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने किशोरावस्था में पुष्पमाला में पहला पैरा लिखा है कि **'रात्रि बीत गई, प्रभात हुआ, निद्रा से मुक्त हुए। भावनिद्रा को दूर करने का प्रयत्न करें।'** अनादि की अज्ञानरूप भावनिद्रा मिटाओ – ऐसा कहा है।

जागृत, स्वप्न, व निद्रा – इन तीनों अवस्थाओं को जाननेवाला उस-उस अवस्था से भिन्न है; मात्र उस-उस अवस्थारूप नहीं है। इस प्रकार रोग, नीरोग, बालक, वृद्ध, स्त्री, राजा, रङ्क आदि देहों की सभी अवस्थाओं को जाननेवाला उस-उस अवस्थारूप होता नहीं है। उस-उस अवस्था के व्यतीत होने पर भी जिसकी मौजूदगी है और उस अवस्था को जो जानता है – ऐसा प्रगट स्वरूप, चैतन्यमय खुद जानता ही रहता है, ऐसा उसका प्रगट स्वभाव है। शीत व उष्ण स्पर्श, वर्ण, गन्ध व रस आदि संयोग को जाननेवाला वह उस रूप नहीं है, उस-उस वस्तुरूप नहीं है; मात्र सदा ज्ञाता, दृष्टा, साक्षी, ज्ञायक – यही निशानी जीव की सदा विद्यमान है। किसी समय वह जानने के लक्षण से अलग नहीं होता।

आत्मा का प्रगट लक्षण ज्ञान है; चेतनागुण ज्ञानरूप है – वह निशानी सदा जीव का निर्दोष लक्षण है। यह प्रगट लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति व असम्भवदोष – इन तीनों दोषों से रहित है। इससे यह निश्चित हुआ कि जानना – यह आत्मा का लक्षण है। अत: पर का कुछ करना; मन, वाणी, देहादि पुण्य, पाप, रागद्वेष की क्रिया करना – यह जीव का लक्षण नहीं है। वह निर्बाध हेतु से चेतना लक्षण द्वारा सिद्ध है। एकेन्द्रिय निगोददशा में छोटे-छोटे सूक्ष्मजीवों को भी चेतना लक्षण है। उनमें भी केवलज्ञान शक्तिरूप से है। अर्हन्त और सिद्धभगवान को केवलज्ञान प्रगट, व्यक्तरूप से है। ४६वीं गाथा में कहा था कि **'मिथ्या जुदो मानवो, नहीं जुदुं एंधाण।'** यहाँ पर उसके उत्तररूप में भिन्न चिह्न विशेषरुप से बताया है। **५४.**

अब, ४७ वीं गाथा में प्रश्न था कि घट, पट आदि ज्यों प्रत्यक्ष नज़र आते हैं, उस प्रकार आत्मा दिखता हो तो मानें। इसके लिये कहते हैं कि –

घट, पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान;
जाणनारने मान नहि, कहिये केवुं ज्ञान ?।। ५५।।

जानत घट-पट आदि तू, तातें ताको मान।
ज्ञाता को मानत नहीं, यह कैसो तुझ ज्ञान।।५५।।

हे भाई ! घट, पट, रथादि का जाननेवाला तो तू ही है किन्तु जाननेवाला चैतन्यतत्त्व नित्य है, उसे तू मान नहीं। यह तेरा कैसा जानपना ? जाननेवाले को माने नहीं और जो परवस्तु है, उसे जाननेवाला, माननेवाला तू कैसा है ? – उसका भान नहीं है। ऐसे तेरे ज्ञान को कैसा कहें ? घट, पट, रथादि हैं – वह जानने में आते हैं। कदापि वे सन्मुख न हों, फिर भी स्मरण द्वारा भी जानता ही रहता है। वह स्वयं को क्यों नहीं जानता ? जिस-जिस वस्तु को वह जानता है, तो यह जाननेवाला बाह्यवस्तु से भिन्न है। लोग ओघसंज्ञा से आत्मा है – ऐसा दूसरों के कहने से हाँ कर देते हैं परन्तु खुद शङ्का करके वह किस प्रकार से है, कैसा है, कितना बड़ा है ? – इसका विचार करके कभी सवाल भी नहीं पूछ पाते; जानना ही नहीं चाहते। इनसे तो जो विचार करके सवाल पूछते हैं, वे योग्य हैं। वास्तव में तो ये सब घट, पट आदि जो जड़पदार्थ दिखते हैं, वहाँ भी विकसितज्ञान ही दिखता है और उसमें ज्ञान के विषय दिखते हैं। ज्ञान में ही स्व-पर दिखता है। अपने ज्ञान की प्रतिक्षण हो रही अवस्था में परपदार्थ सहज दिखता है। आत्मा का ऐसा स्व-परप्रकाशक सहजज्ञानस्वभाव है। लोग तत्त्व की रुचि करें और विचार-मनन करें तो सब कुछ समझ में आ सके – ऐसा है किन्तु कौन जाने क्या होगा ? ऐसी निराशा में से लोग बाहर निकलते नहीं हैं और बुद्धि के तर्कपूर्वक प्रश्न लाते नहीं हैं। **५५.**

अब, ४८ वीं गाथा का उत्तर कहते हैं :-

परम बुद्धि कृष देहमां, स्थूळ देह मति अल्प;
देह होय जो आतमा, घटे न आम विकल्प।।५६।।

परम बुद्धि कृश देह में, स्थूल देह मति अल्प।
देह होय यदि आत्मा, घटित न हों ये विकल्प।।५६।।

तू कहता है कि देह, इन्द्रिय, प्राण और आत्मा एक हैं; भिन्न नहीं हैं तो मोटे शरीरवाले को बहुत ज्ञान होना चाहिए व पतले शरीरवाले को थोड़ा ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। यदि देह ही आत्मा होवे तो ऐसा विकल्प माने विरोध खड़ा होने का प्रसङ्ग बने ही नहीं। युक्ति व प्रमाण से जो वस्तुस्वभाव है, उसका निर्णय होता है किन्तु लोगों को यथार्थतत्त्व का निर्णय करना नहीं है। धीरे-धीरे अपने आप समझ में आ जायेगा, इस प्रकार निमित्त पर दारोमदार रखकर बैठा है। इस देह में आठ कर्मों की सूक्ष्म, महीन रज है। इस कारण से बाहर से देह का बल दिखता है, उस पर आत्मबल का आधार नहीं है। लोग कहते हैं कि यह आदमी बहुत काम कर सकता है, थकता नहीं है। मन, वाणी, देह से बहुत क्रिया कर रहा हो, उसे पुरुषार्थ कहते हैं किन्तु यह बात झूठी है। कोई बहुत लिखता ही रहता हो, कोई वक्ता बहुत भाषण कर सकता हो, कोई मौन रह सकता हो – ऐसा दिखे किन्तु यह कोई आत्मबल नहीं है, पुरुषार्थ नहीं है। देह की क्रिया को जो आत्मबल मानता है, वह औंधा नाप है; वह बाह्यदृष्टि है। कई लोग कहते हैं कि 'शरीर से अभी बहुत काम लेने हैं। धर्म का, संसार का तथा आत्मा का कल्याण करने के लिये शरीर की रक्षा करना, सम्हाल करना जरूरी है।' – ऐसा माननेवाला कदापि यों भी कहे कि 'आत्मा असहाय है, भिन्न है' तो भी उनका कथन कहनेमात्र है; उन्हें सच्ची बात समझ में नहीं आयी है।

प्रश्न - शरीर में रोग होवे तो राग-द्वेष नहीं होगा ?

उत्तर - ऐसा ही हो तो निरोगी शरीरवाला वीतराग होगा ही। शरीर रोगी हो तो द्वेष नहीं करना और शरीर अच्छा हो तो राग नहीं करना – ऐसा दृढ़अभिप्राय होना चाहिए। शरीर है, वह मैं नहीं हूँ – इस प्रकार एक बार हाँ तो लाओ। शरीर नहीं कहता कि आप ऐसा करो तो ठीक-अठीक होगा। निमित्त किसी को जबरदस्ती राग-द्वेष करवाता नहीं है। जिसने शरीर के कारण धर्म माना, उसे आत्मा की श्रद्धा ही नहीं है। यदि जड़ की क्रिया से आत्मा का कार्य होता तो मुनिराज

ध्यान में बैठे, तब उनको बाह्यक्रिया नहीं है; इसलिये उनको तो कोई लाभ होना नहीं चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। पुनश्च, देह की क्रिया से तथा शुभपरिणाम से, यानी परनिमित्त से यदि चैतन्य का कल्याण होता हो तो चैतन्य में कुछ दम नहीं होना चाहिए, शक्तिरहित होना चाहिए और यदि आत्मा में शक्ति न हो तो जो नहीं है, वह कभी किसी के द्वारा प्राप्त होगी नहीं। जो शक्ति, जो गुण अपने में न हो, उसे कोई दूसरा कैसे परिणमित कर सकेगा ? देहादि साधन से उसका गुण कैसे प्रगट हो ? आत्मा में जो नहीं है, वह बाहर से नया कहाँ से आयेगा? और यदि स्वयं स्वशक्तिसहित नित्य है, तो उसको निमित्त ने क्या दिया ? ऐसा राग हो, ऐसे निमित्त हो; तब आत्मा में वीतरागधर्म होगा – ऐसा नहीं है। अतः निमित्त, व्यवहार या क्रिया-काण्ड से आत्मा को लाभ है – ऐसा नहीं है।

प्रश्न - मनुष्यभव मोक्ष का कारण नहीं है; निमित्त तो है न ?

उत्तर - न्याय समझो। देह की ममता रखने से मोक्ष होगा या ममता छोड़ने से मोक्ष होगा ? देहादि की क्रिया व देह है, सो मैं नहीं। इस प्रकार परद्रव्य व उसकी ममता का निरोध किया। तब निमित्त को व्यवहार से कारण कहा गया किन्तु देह से धर्म नहीं होता। यदि देह से धर्म होता तो सभी को धर्म होना चाहिए। अतः देह की क्रिया से या निमित्त के आधार से आत्मा को गुण होता है – ऐसा मानना ही महाअज्ञान है। कोई कहता है कि **'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'**। किन्तु ऐसा माननेवाले और बोलनेवाले सब नास्तिक हैं। उनको आत्मस्वरूप की कुछ खबर ही नहीं है। उनकी बोली में भी दोष है। जड़ को आत्मा माननेवाले हैं क्योंकि इसे रखूँ – ऐसा भाव आया किन्तु देहादि उपाधि को न रखूँ – ऐसा नहीं आया। मूलश्रद्धा में ही विपरीतता है। निर्मोहता द्वारा देह के ममत्व का छेदन करे, इन्द्रियादि विषयों से सम्बन्धित राग का छेदन करे तो अरागीपने से लाभ होगा। पर निमित्त से आत्मा को गुण होता हो तो सभी को होना चाहिए। जहाँ निमित्त पर या कर्म पर वज़न आये, वहाँ सच्चा पुरुषार्थ हो नहीं सकता।

जितने अंश में मन, इन्द्रिय, देहादि का अवलम्बन टूटे, इतना (ही) धर्म है। जड़ के अवलम्बन से आत्मा को लाभ हो – इस प्रकार जिसने अपने कल्याण को पराश्रित माना है, उसकी मान्यता बिल्कुल विपरीत है। देह को रखने के भाव

से धर्म नहीं होता। शरीर में रोग हो, उस समय कमज़ोरी के कारण राग-द्वेष हो जाए, यह अलग बात है किन्तु राग-द्वेष करने पड़ते हैं – ऐसा जिसको भाव है, उसने देह व आत्मा दोनों को भिन्न जाना ही नहीं है। पाँच साल ज्यादा जीने से मैं धर्मध्यान ज्यादा कर सकूँ – यह दृष्टि ही मिथ्या है। आत्मा अविनाशी, ज्ञाता, दृष्टा, निर्मल, सिद्धरूप है। ऐसी श्रद्धा होना ही अपूर्वता है; कोरी बातें नहीं हैं। जिसने पुरुषार्थ किया है, वह ज्ञानदशा जानता है। देह की व बाहर की असुविधा या सुविधा पर आत्मधर्म की प्राप्ति का आधार नहीं है। इस बारे में बहुत बार कहा जा चुका है। धर्मात्मा को शरीर में महारोग आदि व्याधि होने पर भी धर्मात्मा ज्ञानध्यान में मस्त रहते हैं। वेदनीयकर्म का तीव्र उदय हो, कदापि मुख से चीख भी निकल जाए, फिर भी अन्तर में समता है, शान्त समाधि है। आत्मा कहाँ चिल्लाया है ? देह का धर्म देह में निहित है। ऐसे धर्मात्मा समाधिमरण करके एक-दो भव में मुक्त होते हैं। सनतकुमार चक्रवर्ती को सात सौ वर्ष तक कोढ़ की अवस्था शरीर में रही थी। पहले महारूपवन्त थे, फिर छह खण्ड का राज्य छोड़कर जङ्गल में जाकर ध्यान करते थे। पूर्व में बाँधे हुए अशातावेदनीय के प्रारब्धकर्म का उदय भोगना था। वह दशा सात-सौ वर्ष तक रही। उनकी शान्ति देखकर देव वैद्य का रूप लेकर आये और कहा कि मुनिराज ! हम आपका इलाज करेंगे। मुनिराज ने कहा – रोग की अवधि पूरी हुए बिना तुम्हारे द्वारा रोग कैसे मिट सकता है ? स्वयं को शक्तिलब्धि प्रगट हुई थी। थूक लगाते ही कोढ़ मिट जाए, – ऐसी लब्धि थी। देव से कहा कि तुम पूर्व के प्रारब्धकर्म को बदल सकते हो ? देव ने कहा, नहीं। पूर्व में भूल करके अशातावेदनीयकर्म जिस-जिस प्रकार से बाँधे थे, उस-उस प्रकार से देह में व्याधि आनेवाली थी किन्तु इससे आत्मा को क्या ? कुछ नहीं। इसलिये रोग है, वह आत्मा का ज्ञेयमात्र है। रोग हो जाए तो राग मिटा नहीं सकूँगा – ऐसा जिसने माना, उसने देह व आत्मा को एक माना है।

प्रश्न - ऐसा पवित्र आत्मा भुलावे में क्यों पड़ा है ?

उत्तर - जीव ने अनादि काल से पर को अपना माना है। प्रथम शुद्धअवस्थारूप था, ऐसा नहीं; अनादि से बन्धअवस्था है। द्रव्यस्वभाव से, शक्तिरूप से प्रत्येक आत्मा

शुद्ध है, निर्मल है किन्तु भूलवाली अज्ञान अवस्थारूप से राग-द्वेष-मोह-ममता का कर्ता होता है। वह अपने ज्ञान में उल्टी मान्यता कर रहा है। पर में अपनत्व की बुद्धि की है, इस कारण से अनादि काल से अज्ञानरूप होकर संसार में भटकता है। उसमें खुद तो सदा ऐसा का ऐसा नित्य है, शक्तिरूप से शुद्ध ही है।

किसी के शरीर में व्याधि न हो और दुःख दिखे नहीं, उस प्रकार मर जाए; इससे वह धर्मात्मा था – ऐसा नहीं है। कोई महामिथ्यात्वी, अज्ञानी होने के बावजूद भी पीड़ा का पता न लगे, उस प्रकार मर जाता है। मरण के समय अशाता न हो किन्तु भाव बहुत दुष्ट हों और मरकर नरक में जाए क्योंकि अन्दर में अनन्त आर्तध्यान करता ही रहता है; महाममता से भरा हुआ है। कोई बाहर से शान्त दिखता हो किन्तु जिसकी दृष्टि उल्टी है, अज्ञानभाव है – उसे कोई धर्मी नहीं कहा जाता।

गजसुकुमार बालवय में ज्ञान-ध्यान में बैठे थे। सिर पर अग्नि की अँगीठी जलायी किन्तु आत्मा चिदानन्द ज्ञाता, पवित्र शान्तस्वरूप है। इसलिये उन्होंने माना कि देह, देह में (जड़ में) और अग्नि के परमाणु, अग्नि में; इसमें आत्मा को क्या ? वे शुक्लध्यान की श्रेणी लगाकर, आत्मज्ञान की उज्ज्वलदशा प्रगट करके, निर्वाण को प्राप्त हुए। पूरी खोपड़ी जल गयी किन्तु उससे आत्मा को क्या ? जिस प्रकार घर के मण्डप में आग लगने से आकाश नहीं जल जाता; उस प्रकार जिसे आत्मभान विद्यमान है, उसे देह की अशाता स्पर्श नहीं करती। पुरुषार्थ मन्द होवे तो भी देह में ममत्वबुद्धि न करे। जो हो रहा है, उसे जाने। धर्मात्मा को कदापि मृत्यु के समय अशातावेदनीय का उदय हो, मरते समय असाध्य सा दिखे, छाती भर जाए, तब भी वे तो जाने कि परमाणुओं का योग ऐसा ही होता है। ज्ञाता तो आनन्द में झूलता हुआ, स्वरूपस्थिति में ही स्थिति, शान्ति व आनन्द में ही देह छोड़ता है। उसी भव में वे मोक्ष जाए अथवा एक-दो भव में जाए। देह के दुःख से मैं दुःखी और देह की सुविधा से मैं सुखी; देह की अनुकूलता से धर्म या धर्मसाधन होता है – ऐसा मानना महाभ्रमणा है। दर्शनमोह मिथ्यात्व है। शरीर निरोगी हो तो धर्मसाधन ठीक हो – ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि है। उनको आत्मा की श्रद्धा ही नहीं है। मुख से कहे कि देह मेरा नहीं है, वह नाशवन्त है; मैं

तो अविनाशी हूँ किन्तु अभिप्राय में जिसे देहात्मबुद्धि है, उसकी भाषा व भाव छिपे नहीं रहेंगे। इसलिये अच्छे निमित्त हो, बाहर में मनपसन्द सुविधा हो तो धर्मसाधन ठीक हो – यह मिथ्यामान्यता निकाल देनी और तत्त्व जैसा है, वैसा समझने का पुरुषार्थ करना। **५६.**

अब, जड़ (और) चेतन तीनों काल भिन्न ही है – ऐसा कहते हैं –

जड़ चेतननो भिन्न छे, केवळ प्रगट स्वभाव;
एकपणुं पामे नहि, त्रणे काल द्वयभाव।। ५७।।

जड़-चेतन का भिन्न है, केवल प्रगट स्वभाव।
एकपना पावे नहीं, तीन काल द्वयभाव।।५७।।

आत्मा, ज्ञाता-दृष्टा, अरूपी है। उसका चैतन्य स्वभाव है। वह निर्मल शान्तमूर्ति भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। देहादि जड़पदार्थ उससे बिल्कुल भिन्न हैं। तीनों काल जड़ तो जड़ है, अजीव है, अचेतन है और आत्मा ज्ञाता, चैतन्य है। इन दोनों की अवस्था एक क्षेत्र में दिखने पर भी उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। जिस क्षेत्र में आत्मा है, उस क्षेत्र में जड़कर्म के आठ पर्दे (आवरण) भी हैं। उसकी दशा प्रतिक्षण बदलती है। उसमें कर्तृत्व, ममत्व द्वारा सङ्कल्प-विकल्प जन्म लेते हैं। देहादि की क्रिया हो रही है – वही मैं हूँ। इस प्रकार अज्ञानी जीव भूल करता है। वह अवस्था क्षणिक होने से प्रतिक्षण नाश को प्राप्त होती है किन्तु **'जो है, सो जाए नहीं और जो न हो, वह नया पैदा हो नहीं'**–इस न्याय से आत्मा नित्य टिका रहता है। देह, सङ्कल्प-विकल्प तथा पूर्व अवस्था पलट जाती है। वे आत्मा के साथ नित्य रहनेवाले नहीं हैं। आत्मा सभी दोष, आठ कर्म के आवरण और देहादि रजकणों से भिन्न होकर मोक्ष में जाता है और कर्म के रजकण तथा देह के रजकण दूसरी अवस्था को धारण करते हैं।

जगत में जड़ परमाणु अनन्ते हैं। वे सत् हैं, वस्तु हैं, पदार्थ हैं और चैतन्यद्रव्य

उनसे भिन्न है। **'कभी किसी वस्तु का केवल नाश न होवे'**, यह महान सिद्धान्त है। पदार्थों का अवस्थान्तर होता है किन्तु वे अपनी स्वसत्ता छोड़ते नहीं है। एक वस्तु दूसरी वस्तु का कारण बन नहीं सकती। मोक्षदशा होने पर भी एक आत्मा दूसरे आत्मा में या जड़तत्त्व में मिश्रित नहीं हो जाता। जड़ व चैतन्य दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न-भिन्न रहते हैं। किसी समय जिसमें जानने का गुण है ही नहीं, वह जड़ और जिसका स्वभाव ही सदा सर्वदा जानने का है, ऐसा चैतन्य – इन दोनों का स्वभाव बिल्कुल भिन्न है। लोग मुँह से तो कहते हैं कि देह से आत्मा भिन्न है किन्तु वस्तु का स्वभाव जैसा है, वैसा बराबर समझें तो आत्मस्वरूप का निर्णय हो। देहादि की ममता छोड़े बिना और परमार्थ का प्रेम हुए बिना पदार्थ का निर्णय नहीं होता। तत्त्वज्ञान लोगों को कठिन लगता है। अतः अपने स्वच्छन्दपूर्वक जैसा ठीक लगे, वैसा मानते हैं। पर का आश्रय लेकर सन्तोष माने; अतः या तो ईश्वर को कर्ता माने या जड़ व जीव का एकत्व माने; या तो रागद्वेष व सङ्कल्प-विकल्प को अपना स्वरूप माने। इस प्रकार खुद को इष्ट लगे, वह माने किन्तु जब तक अपनी मेहनत से अतीन्द्रियज्ञान का पुरुषार्थ यथार्थ विधि द्वारा न करे, तब तक भटकने का दोष व दुःख मिटे नहीं। सच्ची बात जाने, तो भ्रमणा रहे नहीं।

आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप है – ऐसा एकबार दृढ़तापूर्वक यथार्थरूप से निर्णय हो जाए तो एक क्षण के पुरुषार्थ से अनन्त भव के जन्म-मरण का अन्त दिखे; निःसन्देह प्रतीति हो जाए। अन्दर से स्वयं को साक्षी मिलती है कि अब मेरा भवभ्रमण नहीं है। जहाँ-तहाँ पूछने जाना नहीं पड़ेगा। सत् का यथार्थ-निर्णय करे तो मार्ग मिले और साध्य की पहचान होने पर उस रास्ते पर चल पड़े। भावनगर कैसा है, कैसे पहुँचा जाए – यह जाने बिना अन्धत्वपूर्वक चले तो जरूर परेशान हो जाए। बाहर में तो जहाँ-तहाँ पूछने से पता लग सकता है किन्तु यह तो लोकोत्तर मार्ग, अतीन्द्रिय स्वरूप को जानने की विधि अनूठी है। उसका निर्णय खुद की तैयारी से हो सकता है। बाह्यसाधन से आत्मा खिलता नहीं है। वस्तुस्वभाव जाने बिना, अन्य विपरीत साधन जैसे कि देह, मन व वाणी का चाहे जैसा विकास करे किन्तु वे सारे साधन निष्फल हैं। अन्य कुछ करने से अन्यथा ही होगा। जड़भाव का कर्ता होकर पुण्यपरिणाम करे तो जड़भाव से जड़ ही फलेगा। इसलिये

अपूर्वतत्त्व की खोज करो और जागो। इस काल में भी एक-दो देह धारण करके आत्मा कर्म उपाधि से सर्वथा मुक्त होकर अपने स्वाधीन मोक्षस्वरूप को पुरुषार्थ द्वारा अवश्य प्राप्त कर सकता है। वर्तमान काल में उसकी साक्षी, प्रतीति एवं अनुभव हो सकता है। अत: प्रथम जड़-चेतन की भिन्नता जानने के लिये वस्तुस्वभाव जैसा है, वैसा अपने निर्णयपूर्वक जानो। जड़ व चेतन – ये तीनों काल में द्विभावपना छोड़कर एकत्व को प्राप्त नहीं हो सकते।

प्रश्न – मोक्ष में जीव कैसे रहता है ?

उत्तर – सभी आत्मा हमेशा भिन्न हैं क्योंकि एक को यदि रोग हो तो दूसरे को नहीं होता। उसी प्रकार एक मोक्ष में जाए, तब दूसरा नहीं जाता। रुपये का वज़न व कीमत सभी रुपयों में समानरूप से है किन्तु संख्यारूप से सब भिन्न-भिन्न हैं। एक है, वह दूसरा नहीं है। इस प्रकार मोक्ष में जाए, (तो) वहाँ भी एक नहीं होता।

पुद्गलपरमाणु भी स्वतन्त्र जड़पदार्थ हैं। उनसे जीवचैतन्य की त्रिकाल भिन्नता है; इस प्रकार दोनों द्रव्य की भिन्नता, द्वैतभाव है। वह कभी एकभाव नहीं होते। **५७.**

अड़तालीसवीं गाथा में कहा था कि आत्मा ही नहीं है तो मोक्ष कहाँ से हो ? उसका अन्तिम उत्तर कहते हैं कि -

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप;
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप।।५८।।

आत्मा की शंका करे, आत्मा स्वयं ही आप।
शंका का कर्ता वही, अचरज यही अमाप।।५८।।

विचार करके समझने के लिये समय निकाले; विचारपूर्वक प्रश्न करे तो समझ में आये न ? तत्त्व क्या है, वस्तुस्वभाव की प्रतीति कैसे हो ? – इसकी विधि

समझना चाहे तो समझ में आये। जानने के लिये प्रश्न किस प्रकार करने ? – इसके लिये भी विचार-मनन चाहिए। अपनी तैयारी के बिना कोई मुफ्त में दे सके – ऐसा नहीं है। पात्रता के बिना वस्तु रखोगे किसमें ? अत: प्रथम विचारदशा का अभ्यास (विकास) करना चाहिए। वास्तव में अगर देखा जाए तो स्वयं ही साधन व अपनी पूर्ण शुद्धता – वह साध्यदशा है। इसलिये परमार्थ से आत्मा स्वयं साध्य है। उसमें प्रवेश करे, तब विचार, मनन, सत्समागम, अभ्यास व श्रवण साधन कहलाते हैं।

प्रथम यह समझ करनी है। समझने हेतु विचारमन्थन करे और अन्तरङ्ग से शङ्का करे कि **'ए अन्तर शङ्का तणो, समजावो सदुपाय'** और समझने के लिये धैर्यवान हो, तो उसे समझानेवाले निमित्त उपकारी होंगे। तैयारी खुद की चाहिए। यहाँ कहते हैं कि जाननेवाला स्वयं निरन्तर विद्यमान है। उसे ही शङ्का हो रही है कि मैं हूँ या नहीं? जिस प्रकार कमरे में किसी को देखने भेजा और कहा कि उस कमरे में कौन -कौन है – यह देखकर आओ। आकर वह उत्तर देता हैं कि वहाँ कोई नहीं है। सेठ ने कहा कि मुझे किसी का काम है। तब नौकर ने फिर से जवाब दिया कि वहाँ कोई नहीं है। कोई नहीं है – ऐसा तय किसने किया ? स्वयं शङ्का करे और शङ्का के कर्ता को ही देखता नहीं है। यह आश्चर्य की बात है।

एक गुरु ने शिष्य से कहा कि कोई देखे नहीं, ऐसे इस रुपयों की थैली को गाड़ देना। शिष्य गया और गाड़कर आया। गुरु से कहता है कि मैंने कोई देखे नहीं, ऐसे उस चीज़ को गाड़ दी है। गुरु ने पूछा – किसी को इसकी खबर नहीं है न ? उत्तर – नहीं। गुरु ने कहा – अपने आप को भूलकर गाड़ने की बात मैंने कब की थी ? इस प्रकार आत्मा प्रत्येक क्षण साक्षीरूप से मौजूद है, फिर भी वह स्वयं नहीं है, ऐसा मानना – यह कितने आश्चर्य की, अचरज की बात है। आत्मा है – ऐसा बहुत जीव मानते हैं किन्तु वह कैसा है, कैसा नहीं है ? – उसकी कुछ प्रतीति उनको नहीं है। वे कहते हैं कि हम तो अज्ञानी हैं, हमें तो कुछ आता नहीं है। उसकी ए.बी.सी.डी का भी हमें पता नहीं है। किन्तु भाई ! यह बात तय की, उसकी खबर किसको है? पर का निर्णय स्वयं

करे और कहे कि आत्मा का निर्णय हो नहीं सकता। किन्तु मध्यस्थता से, धैर्य से गहरीविचारणा करे, तो खुद को आत्मा जानने में आये – ऐसा है। स्वयं तो जागृत अनन्त ज्ञानी है, स्वभाव को आविर्भूत कर सकता है।

अपनी ही बात है। यहाँ श्रीगुरु कहते हैं कि विपरीतता के कारण शङ्का करके तू कहता है कि आत्मा ही नहीं है; जाननेवाला ही नहीं है। यदि कोई कहे कि 'मेरी माता बाँझ है' तो उसका मज़ाक बनता है। इस प्रकार 'मैं नहीं हूँ' – ऐसी तेरी बुद्धि के लिये अमाप आश्चर्य होता है। आत्मा की सूक्ष्मबात हमें समझ में नहीं आती – ऐसा कहनेवाले सभी आश्चर्यरूप हैं। अब शिष्य कबूल करने की भाषा में दूसरी शङ्का व्यक्त करेगा। आत्मा है, यह तो निर्णय हुआ किन्तु वह नित्य है कि नहीं? इसकी शङ्का कहेगा। आपने जो-जो न्याय कहे, उनको मैंने ख्याल में रखे हैं – ऐसा भी कहेगा। किन्तु यहाँ तो लोगों को रोज़ सुनना और घर जाकर कुछ विचार-मनन करना नहीं और भूल जाना। ५०-६० वर्षों तक सामायिक-प्रतिक्रमण के नाम से आसन फाड़े, धर्मक्षेत्रों का सेवन किया, फिर भी ऐसे प्रश्न करके सत् को समझने की लगन किसी को लगी ? शिष्य ऐसा होना चाहिए कि बराबर एकाग्रता से जो न्याय आये, उसे पकड़ सके और उसे स्पष्टरूप से समझने के लिये प्रश्न करे।

आत्मा है और नित्य है। ऐसी बातें ओघसंज्ञा से बहुत लोग करते हैं किन्तु विचार द्वारा स्वयं निर्णय करनेवाले बहुत कम होते हैं। शास्त्र पढ़े किन्तु निर्णय न करे कि ऐसा ही है और वह इस न्याय से है। श्रीमद्जी ने स्वयं ही शिष्य की जिज्ञासा की हू-बहू रचना की है और हृदय में आर-पार उत्तर जाए, ऐसी हृदयवेधक भाषा में संवाद की रचना की है। **५८.**

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २१-१०-१९३९

अब, आत्मा की नित्यता की शङ्का करने से पहले 'आत्मा है' – ऐसा बतानेवाले न्याय का खुद ने अन्तर में विचार किया है, ऐसा शिष्य बताता है –

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार;
संभव तेनो थाय छे, अंतर कर्ये विचार।।५९।।

आत्मा के अस्तित्व के, आप जु कहे प्रकार।
सम्भव उसका होय है, अन्तर किया विचार।।५९।।

आपने जो 'आत्मा है', इसके प्रकार हैं – उसका अन्तर विचार करने पर 'आत्मा है' ऐसा मुझे लगता है – ऐसा शिष्य बता रहा है। आपके दिये हुए न्यायों को पहचानकर मैंने उनका बहुमान किया है और स्वयं अपने उपादान की जागृति से 'आत्मा है' – ऐसा मैंने अन्तर में विचार करके निर्णय किया है। आत्मा को स्वरूप जानकर यह निर्णय मैंने किया है। अत: अब दूसरी शङ्का हो रही है। उसे दूर करने का सदुपाय बताओ।

आत्मा अविनाशी है, ऐसी बातें कई लोग करते हैं किन्तु अनित्य वस्तु प्रति का प्रेम तो कम होता नहीं है। वे बहुत से शास्त्र पढ़ते हों तो इससे क्या ? उन्होंने आत्मा को नित्य जाना ही नहीं है क्योंकि संसार में उनको प्रेम वर्तता है। सत् की पहचान नहीं है, तब तक अपना नित्यत्व भासित ही नहीं हुआ है। **५९.**

अब, शिष्य यहाँ पर दूसरी शङ्का प्रस्तुत करता है -

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहि अविनाश;
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश।।६०।।

दूजी शंका हो यहाँ, आत्मा नहिं अविनाश।
उपजे देह-संयोग से, देह-वियोग से नाश।।६०।।

आगे आयेगा कि आत्मतत्त्व के निर्णय हेतु तथा सत् की प्राप्ति के लिये सही औषध विचार और ध्यान हैं। कई जीव प्रश्न पूछने से झिझकते हैं और शङ्का का समाधान नहीं करते। हमारी कीमत (आबरू) कम हो जायेगी, – इस प्रकार मान में रहने से पूछ नहीं पाते एवं विचार भी नहीं करते किन्तु यहाँ तो श्रीगुरु कहेंगे कि –

'षट्पदनां षट्प्रश्न तें, पूछ्यां करी विचार,
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार।'

यहाँ पर तो क्रमबद्ध विचारणापूर्वक प्रश्न किये हैं। इस पर से प्रश्नकार कैसा होना चाहिए – यह समझना है। यहाँ पर शिष्य की शङ्का है कि जिस प्रकार घड़ी आदि यन्त्र की फिटिङ्ग होने पर चलने लगती है, उस प्रकार आत्मा देह के संयोग से उत्पन्न होता हो और देह के नाश से नाश होता हो तो ? तीनों काल 'आत्मा' पदार्थ रहता हो, ऐसा मुझे लगता नहीं है।

कई चीज़ें इकट्ठी होने से दारू नाम के पदार्थ में मादकता पैदा होती है। इस प्रकार कई जड़पदार्थ इकट्ठे होने से संयोगीरसायन के रूप में आत्मा तैयार हो जाता हो तो ? इस प्रकार दलील करके अपनी शङ्का गुरु के सामने जाहिर करके समाधान के लिये प्रार्थना करता है। **६०.**

अब, शिष्य 'नित्यता' के शङ्का के और कारण बताता है -

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय;
अे अनुभवथी पण नहि, आत्मा नित्य जणाय।। ६१।।

अथवा वस्तु क्षणिक है, क्षण-क्षण में पलटाय।
इस अनुभव से भी नहीं, आतमा नित्य जनाय।।६१।।

आत्मा है – ऐसा तो हम मानते हैं। देह व इन्द्रियों से भिन्न है, जाननेवाला है – यह तुम्हारी बात सही है किन्तु देह का नाश होने के बाद कोई जीव कहने नहीं आता कि 'हम हैं।' पुनश्च, प्रतिक्षण शुभाशुभभाव, इच्छा आदि परिणाम होकर नाश को प्राप्त होते हैं। कभी तीव्र लोभ, कभी उदारता, कभी क्रोध, कभी क्षमा – इस प्रकार वस्तु बदलकर नाश हो जाती है। अतः वस्तु नित्य लगती नहीं है किन्तु उत्पत्ति व लय (नाश) होता ही रहता है। यह बौधदर्शन की मान्यता है किन्तु यह पक्ष एकान्त है। जिनेश्वर भगवान सर्वज्ञ ज्ञान से कहते हैं कि युक्ति, न्याय व अनुभव से सिद्ध है, (कि) आत्मा नित्य टिकता हुआ बदलता है। द्रव्य से नित्य है और पर्याय से पलटता है – यह न्याय आगे आयेगा। यहाँ पर शिष्य कहता है कि गुण के समय आत्मा कुछ और तथा दोष के समय कुछ और; क्रोध के समय कुछ और तथा क्षमा के समय कुछ और, – ऐसा हो तो ? अतः नित्यता तो लगती नहीं है। इसका कोई सच्चा उपाय हो तो बताओ। श्रीसद्गुरु कहेंगे कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है और नित्य है। **६१.**

देह मात्र संयोग छे, वळी जड़, रूपी, दृश्य;
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य ?।। ६२ ।।

देह मात्र संयोग है, अरु जड़ रूपी दृश्य।
चेतन के उत्पाद-व्यय, किसके अनुभव वश्य ?।।६२।।

'देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश' इस ६०वीं गाथा के उत्तर में गुरु शिष्य से कहते हैं कि तुझे ऐसा नहीं लगता कि आत्मा सहज स्वभावी और अनुभवरूप है ? लक्षण दो प्रकार के हैं। उसमें एक संयोगी, निमित्तरूप, अनात्मभूत और दूसरा तादात्म्यसम्बन्धरूप आत्मभूत। देह है, वह तो केवल परमाणुओं का संयोग है। देह तो अनन्त-अनन्त रजकणों के संयोगवाली अवस्था है। वह आत्मा से भिन्न है; यह तो कहा जा चुका है। अनन्त सूक्ष्मपरमाणु परस्पर के स्वभाव अनुसार चिपककर

देह के रूप में पिण्डरूप बन गये हैं। उसका नाम शरीर कहने में आता है। उसका आत्मा के साथ मात्र संयोगीसम्बन्ध है। मृत्यु के समय आत्मा जब जाता है, तब उसके साथ देह का जाना नहीं होता। चैतन्य जीवत्व जो देह में दिख रहा था, वह मृत्यु के बाद दिखता नहीं है। जाननेवाला तो चैतन्य है। वह तो अरूपी यानी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरहित है। देह है, वह तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शसहित है और वह जड़रूप दिखे, ऐसा मूर्तिक है। पुनश्च, देह, ज्ञान का विषय (ज्ञेय) है। वह जड़पदार्थ, अतीन्द्रिय ऐसे चैतन्य की उत्पत्ति व नाश को कैसे जान सके ? यह देह मेरी नहीं है, वह क्षणिक है और मैं अविनाशी हूँ – इतनी बात का दृढ़निर्णय करे तो देह की अनन्ती ममता छूट जाती है और निन्दा, स्तुति, राग, तृष्णा, कषायादि की रुचि टल जाती है। लोग अपने आप इतना भी निर्णय नहीं करते हैं; देह का नाश होने पर जीव का नाश होता है – ऐसा मानते हैं। कुछेक कहते हैं कि देह में से जीव चले जाने के बाद घर-द्वार, रुपयों का कुछ भी हो; मरने के बाद **'गोलण गाडां (बैलगाड़ियाँ) भरे।'** तो कुछ लोग मात्र कहते हैं कि देह नाशवन्त है – ऐसी उनकी बात तो सही है किन्तु उनका भाव सही नहीं है क्योंकि आत्मस्वरूप स्वसे स्वाधीन नित्य है। ऐसा जिसने निश्चितरूप से जाना हो, उसे परवस्तु में क्षोभ, ममता, बन्धन नहीं होतौ। यहाँ पर ज्ञानी, शिष्य को तर्क व न्याय से कहते हैं कि 'हे शिष्य, देह की उत्पत्ति व लय को तूने जाना कैसे ? नाश होनेवाला नाश व उत्पत्ति को जान नहीं सकता। वह उपजती हुई और विलय होती हुई अवस्था को जाननेवाला कैसा है, उसका अनुभव किसे होता है – यह कहते हैं।'

जो रजकण जड़ व रूपी हैं, उसमें से चेतन की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और उसके वियोग से चेतन का नाश होना भी सम्भव नहीं है। यह बहुत बलवान न्याय है क्योंकि जो-जो परमाणु-रजकण की अवस्था है, उसमें चेतनता, जानपना नहीं है। उससे चेतन की उत्पत्ति हो नहीं सकती। यदि देह में जीवतत्त्व मिश्रित हो जाता तो जड़ में चेतन की कोई अवस्था होनी चाहिए किन्तु आयुष्य पूर्ण होने पर देह के किसी अङ्ग में जीवत्व दिखता नहीं है। जाननेवाला चले जाने के बाद शरीर का छेदन करो, काटो, मारो; फिर भी उसके अन्दर कोई जाननेवाला नहीं

होने के कारण देह को पता नहीं लगता। शरीर पर प्रहार करने में आये और शरीर के प्रति राग न हो तो आत्मा को कुछ दु:ख नहीं होता। जिस प्रकार आकाश में प्रहार करने से आकाश को कुछ दु:ख नहीं होता; उस प्रकार जब देह में चेतनआत्मा हो, तब उस शरीर की ममता, राग-द्वेष करे तो जीव को दु:ख की अनुभूति होती है। जीव जड़, स्थूलरूपी पदार्थों में एकमेक नहीं हुआ है। एकमेक हो गया हो तो मृत्यु के बाद देह में जीवत्व मालूम पड़ना चाहिए।

बौद्धदर्शन की मान्यता है कि वस्तु नाशवान है किन्तु यहाँ पर तो कहना चाहते हैं कि जिसे आत्मा अविनाशी है – ऐसी यथार्थ श्रद्धा नहीं है, वह बौद्ध ही है; मिथ्यादृष्टि है। जिसे बाह्यपदार्थ पर रति-अरति होती हो और पुत्र, स्त्री, लक्ष्मी का नाश हुआ दिखने पर शोक होता है और उनके संयोग से हर्षित होता है, वह अज्ञानी है, बौद्ध है। यहाँ तो शिष्य समझकर प्रश्न करता है। उसे गुरु यथार्थ न्याय से समझाते हैं कि तू ऐसा कहेगा कि देह के संयोग से जीव की उत्पत्ति होती है और देह का नाश होने पर जीव का नाश हो तो यह बात जानी किसने ? वह अनुभव हुआ किसे ? अत: देह से पहले भी जो था और देह के बाद भी जो है, वह अनुभवस्वरूप आत्मा नित्य है, जाननेवाला है; वह नित्यजाणक है। उत्पत्ति व नाश होना – इन दोनों को लक्ष्य में लेनेवाला नित्य ध्रुव है। पिछले माह की बात इस माह में याद रहती है और एक माह बाद दीपावली पर्व आयेगा, इसकी खबर है। इस भूतकाल एवं भविष्यकाल – इस प्रकार दोनों पूर्व एवं पश्चात्काल का एक सेकण्ड में निर्णय करनेवाला नित्य है। वह स्मृति का अनुभव टिकाये रखता है। प्रत्येक क्षण एवं प्रत्येक पल त्रिकालीपना दर्शाता है।

परमाणु की क्रिया तो क्रमश: होती है और ज्ञान तो क्षण में दीर्घकाल का विचार, स्मरण कर सकता है। दो साल का बच्चा भी एक बार अग्नि से जल जाए तो वह अग्नि को दुबारा छूने से डरता है और स्मरण को टिकाये रखता है। अत: जानना यह आत्मा का नित्य स्वभाव है। जिसका जो स्वभाव हो, वह हमेशा टिकता है। जड़पदार्थ एक सूक्ष्मपरमाणु है। वह भी अपनी सत्ता में त्रिकाल टिका रहनेवाला नित्य है। जो पदार्थ अस्तित्वरूप है, वह किसी काल में न हो – ऐसा नहीं बन सकता। **'एक समय ते सौ समय, भेद अवस्था जोई।'** नित्यपदार्थ

की अवस्था क्षण-क्षण में बदलती है किन्तु वस्तुरूप में वह टिका रहता है। तो जिसका लक्षण चैतन्य है, जो लक्षण जड़पदार्थ में नहीं है – वह स्वतन्त्ररूप से क्यों टिक नहीं सकता ? अतः श्रीगुरु कहते हैं कि जीव की अवस्था हर्ष, शोक, रति, अरति, दया, क्षमा व क्रोधरूप जानने में आती है किन्तु उसे जाननेवाला नित्य रहता है, ध्रुव है। आनन्दघनजी कहते हैं कि –

'स्थिरता एक समयमां ठाणे ऊपजे विणसे तबहिं,
उलट पलट ध्रुव सत्ता राखे या हम सुनीहिं न कबहिं।
अबधु नटनागरकी बाजी।'

आत्मा में अवस्थादृष्टि से देखें तो क्रोध का नाश व क्षमा की उत्पत्ति होती है और आत्मा चैतन्यसत्ता ध्रुव-नित्य रहता है। इस प्रकार प्रतिक्षण समय-समयवर्ती पूर्व अवस्था का नाश व उत्तर (नयी) अवस्था की उत्पत्ति है और जाननेवाली ज्ञाता चैतन्यसत्ता नित्य ध्रुव है। यह न्याय यथार्थ समझ में आये तो तीन लोक, तीन काल में खुद का सत्रूप है – ऐसा दृढ़ हो जाए। ये सब समझने के लिये खुद की तैयारी चाहिए। क्रोध के परिणाम होते थे, वहाँ जाना कि यह ठीक नहीं है; फिर क्षमा धारण की। दोनों अवस्था में स्वयं टिका रहा। उस अवस्था को पलटने में बीच में किसी की सहायता नहीं रही। यदि देह के कारण समता रहती हो तो देह तो ज्ञानी मुनि व ज्ञानी गृहस्थ को भी है, फिर भी दोनों को समान समता नहीं रहती। अपने अनुभव से प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि क्रोध को मिटाकर क्षमा रखने में दूसरे का आधार नहीं लेना पड़ता। क्षमास्वभाव टिकाये रखने में देह इन्कार नहीं कर सकती। आत्मा नित्य, अविनाशी है – ऐसी जिसे प्रतीति हो, उसे अनित्यवस्तु के प्रति प्रेममोह नहीं होता। वह परवस्तु का – मन, वाणी, देह का कर्ता खुद को नहीं मानता; जड़ वस्तु का स्वामी नहीं होता। अतः जब तक जीव की नित्यता जीव को यथार्थरूप से भासित नहीं होती, तब तक उसे विचारना है। यदि कदापि यों कहे कि चेतन की उत्पत्ति होना व नाश होना – उसे आत्मा जाने, यानी मेरा नाश हुआ और मैं पैदा हुआ, ऐसा जाने तो वह बोलनेवाला, जाननेवाला मिथ्यामान्यतावाला हुआ। यह वचन अपसिद्धान्त हुआ। कोई कहे कि मेरे मुँह में जीभ नहीं है, ऐसा हुआ। भाषा का ज्ञान करनेवाला नित्य है। इस प्रकार जाननेवाले

की तो नित्यता दिखती है। इस प्रकार आत्मा है, वह नित्य है – ऐसा बहुत से न्याय से सिद्ध होता है। **६२.**

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २२-१०-१९३९

गाथा ६२वीं का सार गाथा ६३ में है :-

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं ज्ञान;
ते तेथी जुदा विना, थाय न केमे भान।। ६३ ।।

जिसके अनुभव वश में यह, उत्पाद-व्यय का ज्ञान।
होय नहीं यदि भिन्न वह, कैसे उसको भान ?।।६३ ।।

बासठवीं गाथा में न्याय कहा। अब, ६३ में उसका सिद्धान्त कहते हैं। जिसके अनुभव में उत्पत्ति व नाश का ज्ञान विद्यमान है, वह जाननेवाला उससे भिन्न रहे बिना किसी प्रकार से उसे उत्पन्न-लय (नाश) का ज्ञान सम्भव नहीं है अथवा चेतन की उत्पत्ति व लय होते हैं – ऐसा अनुभव किसी को भी होने योग्य नहीं है। स्वप्न में किसी को अपनी मृत्यु का भास हो, फिर भी जागृत होने पर ऐसा नहीं लगता। पहले का व बाद का ज्ञान करनेवाला तो स्वयं नित्य ही है। समुद्र में लहरें उत्पन्न होती हैं और विलय होती हैं किन्तु उसे देखनेवाला न तो उत्पन्न होता है, ना ही नाश को प्राप्त होता है। जाननेवाला तो नित्य ही है। जाननेवाला तो उन दोनों काल को निरन्तर जाननेवाला है। ६२वीं गाथा में उत्तर है कि जिस समय देह का नाश होता है, उस समय जीव का नाश होता तो गम्भीर बीमारी के समय अपने को लगे कि अब यह शरीर नहीं रहेगा, – ऐसा जो अप्रगटभान

है, वह अनित्य देह को जाननेवाला खुद अनित्य कैसे हो सकता है ? यह देह नहीं रहेगी – ऐसा जाना। उसी के साथ ही यह आया कि मैं निर्णय करनेवाला तो नित्य रहनेवाला हूँ। अनित्य का निर्णय करनेवाला अनित्य हो तो दूसरे पल में किसने जाना कि पहले मैं था। लोग कहते हैं कि आत्मा नित्य है किन्तु यथार्थ युक्तिपूर्वक, न्याय से, अन्तरविचारणा से वे अपनी नित्यता का निर्णय करते ही नहीं हैं। जिसे अपनी यथार्थता भासित हुई, उसकी राग -द्वेष, अज्ञान व ममत्वभाव में स्थिरता नहीं होती; अनित्य में ठहरना नहीं होता। उसे स्वानुभव की जरूरत है। **६३.**

अब, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष है, ऐसा बताते हैं –

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य;
ऊपजे नहि संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष।। ६४ ।।

देहादिक संयोग सब, अनुभव से हों दृश्य।
उपजे नहिं संयोग से, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष।।६४ ।।

जो-जो दृश्यपदार्थ देखने में आते हैं, वे जाननेवाले के ज्ञेय हैं, पर हैं; उन-उन संयोगों की अनित्यता दिखती है। संयोगीपने का विचार करते-करते क्रमपूर्वक भेद पड़ते हैं, इससे जाननेवाला कोई भेदरूप नहीं हो जाता। काल की अवस्था का भेद पड़ता है किन्तु तीनों अवस्था में निरन्तररूप से परसंयोग को जाननेवाला कोई संयोगरूप नहीं है। संयोग को जाननेवाला असंयोगी, स्वाभाविक पदार्थ है क्योंकि किसी भी संयोग में से चेतनत्व (अनुभव) उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। आत्मा इस प्रकार अनुत्पन्न है; असंयोगी होने के कारण अविनाशी है। जिसकी उत्पत्ति किसी संयोग से नहीं है, उसका किसी संयोग से लय भी नहीं होता। अनाज, भोजन, आहार से आत्मा का टिकना नहीं है। बहुत से संयोग मिलकर किसी जड़वस्तु, मकान आदि की रचना होती है और वे बिखरकर अन्य अवस्थारूप हो

जाते हैं किन्तु उससे कोई चेतन (जाणक) पदार्थ की उत्पत्ति व नाश सम्भव नहीं है। जो-जो संयोग दिखते हैं, उन-उन संयोग की अवस्था को बदलते (पलटते) हुए, देखनेवाला खुद पलट नहीं जाता। जानने में क्रम पड़ता है किन्तु स्वयं तो निरन्तर अनुभवस्वरूप नित्य है। कोई कहे कि संयोग से ज्ञान होता है तो वह बात झूठी है।

यदि आत्मा में जाननशक्ति न हो तो क्या जड़पदार्थ ज्ञान की शक्ति दे सकता है? यदि ऐसा हो तो ज्ञान, समझ पराधीन बन जाए और ऐसा मानने में बहुत विरोध आये। जाननेवाला संयोग को जानता है किन्तु संयोग कोई जाननेवाले को नहीं जानता। आत्मा, बालक के देह में छोटा दिखता है और देह के क्षेत्र का विस्तार होने से आत्मा के क्षेत्र का विस्तार होता है किन्तु वह कोई देह के आधार से नहीं है। आयुष्य पूर्ण होने पर देह व जीव का अलगाव हो जाता है लेकिन देह में जीवत्व नहीं लगता। सपने में भी जिन्दगी में नहीं देखा हुआ पदार्थ, ग्राम, नगर, अनेक क्षेत्र आदि रचना ज्ञान में दिखती है; पूर्वजन्म के स्मरण दिखते हैं। यह सब बताता है कि अनुभवस्वरूप आत्मा पर से भिन्न, अस्पर्श, नित्य है। परमाणु में स्पर्शादि रूपी गुण हैं – चिकनापन, रूखापन, वर्ण, गन्ध, रस होते हैं। उन पदार्थों के इकट्ठा होने से अस्पर्शता पैदा नहीं हो सकती। स्पर्शादि इकट्ठा होवे तो बहुत स्पर्श हो किन्तु उससे अरूपी, अस्पर्शतत्त्व कैसे उत्पन्न हो ? अतः चेतना संयोगभावरूप नहीं है। जितने पदार्थ दृष्टि से दिखते हैं, उन सब में स्पर्श है – उसमें बन्धन पिण्डरूप होने का कारण रूखापन, चिकनापन है – ऐसा स्वभाव तो परमाणु-पुद्गल में है। जिस जीव को अपने ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है, वह राग-द्वेष करता है, पर की चिकनाइ की आसक्ति का आरोप अपने में करता है; रति-अरति, ठीक-अठीकपना करनेरूप मान्यता – यह परवस्तु की चिकनाहट का स्वीकार है। जीव में ऐसी योग्यता है कि वह अपने निर्मल ज्ञानगुण को विपरीतरूप में मान सकता है। फिर भी परमाणु का स्वभाव जो स्पर्शादि है, उस रूप जीव हो नहीं सकता। अतः अस्पर्शी ऐसा आत्मा उस संयोग के भावरूप स्पर्श को प्राप्त नहीं होता। स्पर्शवाली संयोगीवस्तुओं में ज्ञायकभाव नहीं है। संयोगीपदार्थ ऐसे मन, वाणी, देह स्पर्शरूप हैं। इतना यदि जीव जाने तो अनुभवस्वरूप आत्मा नित्य व अस्पर्शी है – ऐसा वह

निर्णय कर सकता है। यह अन्तर विचार से जानने का है। जैसा है, वैसा समझना है। लोगों को निमित्त, संयोग के प्रति प्रेम होने से उसके आश्रय की रुचि रहती है। संयोग है, वहाँ वियोग है। पुद्‌गलद्रव्य का गलन व मिलन, यह जड़पदार्थ का स्वाभाविक गुण है। संयोग उत्पन्न - लयवाले ही होते हैं। आत्मा उनसे विलक्षण है। आत्मा स्पर्शित नहीं होता, उस रूप नहीं होता। यह न्याय जिस जीव को यथार्थरूप से समझ में आये, उसे निर्दोष ज्ञानदशा प्रगट होगी। इसमें जड़ व चेतन की भिन्नता का न्याय आ जाता है। जीव यदि स्पर्शादि का आरोप अपने में करे तो परप्रसङ्ग में रुक जाता है।

आत्मा का मोक्षस्वभाव है, फिर भी पर्याय में बन्ध में, अटकने की योग्यता है। संयोगी, स्पर्शादि गुणवाले पुद्‌गल में बन्धस्वभाव है और भिन्न होने की योग्यता है। आत्मा का व्यवहार जड़पदार्थ से विलक्षण है। आत्मा अविनाशी, असंयोगी, अनुत्पन्न है; वह नित्य अनुभव, ज्ञायकस्वरूप है। हे शिष्य ! तू उसे जान। अज्ञानी जीव परपदार्थ में राग, द्वेष, ममता करता है और संसार के क्षणिक पदार्थों की पलटती हुई अवस्था में हर्ष, शोक, रागादि करता है। अपने आप को भूलकर संयोगी पदार्थ में अपना अस्तित्व मानने का कारण खुद का अज्ञान है। लोग मनन नहीं करते। **'आत्मसिद्धि' में अद्‌भुत रचना की है। देखो तो सही ! ज्ञानी कैसा परम उपकार कर गये हैं।** सरल भाषा में, मर्मवेधकभाव से आत्मा की ऐसी सिद्धि की है कि जिसका कोई इन्कार कर नहीं सकता। **६४.**

अब, जड़ से चेतन या चेतन से जड़ उत्पन्न नहीं होता, ऐसा बताते हैं -

जडथी चेतन ऊपजे, चेतनथी जड थाय;
एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय।।६५।।

जड़ से चेतन उपजता, चेतन से जड़ होय।
ऐसा अनुभव किसी को, नहीं कभी भी होय।।६५।।

जड़वस्तु में से जीव की उत्पत्ति नहीं होती और चेतन से जड़ की उत्पत्ति नहीं होती। एक का लक्षण अन्यरूप हो, ऐसा अनुभव किसी जीव को कदापि (तीन काल में) हो सके, ऐसा नहीं बनता।

जड़ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की अवस्था को धारण करता है और उसके संयोग से हुए स्थूलपिण्ड इन्द्रियों द्वारा दिखते हैं किन्तु उसके द्वारा आत्मा जाना नहीं जा सकता। संयोग पलटते हैं, अनेक रूप धारण करते हैं किन्तु आत्मा नित्य, अविनाशी, ज्ञायक है। जो है, उसका नाश नहीं होता। जो सत्ता चैतन्यमूर्ति है और जो सत्ता जड़रूप है, उसका अस्तित्व पलटकर अन्यथा, अन्य सत्तारूप होना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। **६५.**

अब, आत्मा असंयोगी होने से भविष्य में भी नित्य रहता है, ऐसा बताते हैं :-

कोई संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय;
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय।। ६६।।

कोई भी संयोग से, कभी नहीं उपजाय।
नाश न होता किसी में, इससे नित्य सदाय।।६६।।

आत्मा अनुत्पन्न, अमिलन व अनादि-अनन्त है; इसलिये वह नित्य है। उसकी उत्पत्ति किसी भी जड़परमाणुओं के संयोग से नहीं हो सकती। पुनर्जन्म की प्रतीति के लिये सर्प का दृष्टान्त आयेगा। अन्य अनेक लक्षण प्रगट पूर्वजन्म की गवाही देते हैं। कई लोगों को पूर्वजन्म के सुसंस्कारों का स्मरण होता है। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने छोटी उम्र में काव्य लिखा था कि **'लघुवयथी अद्‌भुत थयो तत्त्वज्ञाननो बोध, ए ज सूचवे एम के गति-आगति कां शोध ?'** अब तत्त्व खोजने जाना पड़े, ऐसा नहीं है या भवभ्रमण करना पड़े, ऐसा नहीं है। पूर्वभव के अपूर्व संस्कार जागृत हुए, इससे जाना कि वर्तमान ज़ोर पूर्व प्रयत्न का सूचक है। आत्मवीर्य का उघाड़ (खिलना) भूतकाल की सन्धि ही दिखाता है।

धर्मध्यान के चार प्रकार में भी नित्यता का विचार है। यहाँ धर्मध्यान के चार प्रकार का स्वरूप कहने में आता है। (१) वीतराग आज्ञाविचार, साधकदशा का विचार। मैं वर्तमान में किस भूमिका में हूँ, (२) बाधकता का विचार, विघ्न कितना बाकी है, वह और दु:ख के कारणों का विचार, (३) विपाकविचार, कर्मउदयजन्य कषायभाव की अस्थिरता मिटाने का विचार, (४) संस्थानविचार, कर्मोदय की सत्ता का कब नाश होगा और मेरे शुद्धआत्मद्रव्य का प्रगट निरावरण संस्थान कैसे पुरुषार्थ से प्रगट होगा ? शुद्धउपयोग की आकृतिसहित अगुरुलघुगुण की स्वभावअर्थपर्याय और स्वभाव-व्यञ्जनपर्याय का स्वयंस्थिर शुद्ध आकार कब प्रगट होगा, उसका विचार नित्यता का विचार है। यह परमार्थ धर्मध्यान का विचार है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २३-१०-१९३९

साठवीं गाथा का उत्तर ६६ में चलता है कि किसी भी संयोग से आत्मा उत्पन्न नहीं हो तो फिर भी उसे उत्पत्तिवाला मानना, वह मिथ्या बात है। जो वस्तु स्वयं ही स्वाधीन स्वभाव से हो, उसका नाश नहीं होता है। उसका नाश कैसे हो ? आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसका नाश होकर परमाणुओं में एकमेक नहीं हो सकता। आत्मा यदि न हो तो उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जो वस्तु है (ही) नहीं, वह नवीन कैसे उत्पन्न हो ? है, वह सत् है; है वह त्रिकाल है। इसलिये भूतकाल में वह नहीं था, ऐसा नहीं है। खरगोश के सींग किसी ने देखे नहीं हैं; आकाश में पुष्प किसी ने देखे नहीं हैं। अत: जो नहीं है, वह तीनों काल नहीं है; जो है, वह तीनों काल है। हो, वह त्रिकाल रहे। अवस्थान्तर (बदलना) होता है किन्तु सत्रूप से तो नित्य टिका रहता है।

प्रारम्भ में कहे छह बोलों की यथार्थ विचारणा के बिना आत्मा के सच्चे स्वरूप की प्रतीति हो नहीं सकती। अत: बहुत मनन करने की जरूरत है। आचार्यों ने प्रथम कहा है कि ये छह बोल सम्यग्दर्शन का कारण हैं; अत: उसका मनन

करना चाहिए। रुचि के बिना, दृढ़निर्णय के बिना आगे कैसे बढ़ा जाए ? पंछी को उड़ना हो तो पंख में शक्ति है किन्तु नीचे की भूमि सख्त हो तो ही उड़ सकता है। उस प्रकार आत्मा की सहज स्वाभाविकता अपने में है किन्तु सख्त भूमिरूप नित्यता का दृढ़निर्णय हुए बिना स्थिरता का पुरुषार्थ कैसे हो सके ? प्रथम यथार्थ न्यायपूर्वक विचारणा होनी चाहिए। लोगों को मौन होकर बैठना पसन्द है; अन्य चीजों के बारे में सोचना पसन्द है किन्तु तत्त्व की यथार्थ विचारणा में बहुत मुश्किली मानता है क्योंकि उसमें प्रेम नहीं है; परन्तु संसार में प्रेम है।

बहुत लोगों को बातें सुननी अच्छी लगती हैं किन्तु खुद का तत्त्व किस प्रकार से है, इसकी सूक्ष्मविचारणा करना पसन्द नहीं है। जो नहीं हो सकता, उसे करने के अरमान रखता है और जो सही हित है, वह न करे – सभी लोगों की अधिकाँश यह मनोवृत्ति है। आत्मा चैतन्यमूर्ति है, उसके साथ आठ कर्म के रजकण हैं। उस कर्म का फल यह नोकर्म, स्थूलदेह है। पूर्व के प्रारब्धयोग से देहादि पिण्ड की रचना होती है। आयुष्य पूर्ण होने पर जीव उस देह को छोड़कर दूसरी देह धारण करने के लिये माता के उदर में अथवा किसी प्रकार की योनि में (उत्पत्तिस्थान में) आये, तब उसके साथ आया हुआ जो सूक्ष्म कार्मणशरीर है, उसमें से आयुष्यकर्म व नामकर्म के कारण अन्य अनेक परमाणुओं के सम्बन्ध से प्रथम छोटी देह होती है। उस देह का विकास होने पर बड़ी स्थूलदेह बन जाती है। देह के साथ जीव को ममता के कारण बँधना पड़ा है, फिर भी उसमें मिलकर एकमेक नहीं हुआ। यदि मिश्रित होकर एकरूप हो जाता तो फिर से उत्पन्न नहीं हो सकता। परसंयोग से जीव अनुत्पन्न है। ज्ञानस्वरूप भगवान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में मिश्रित होने योग्य नहीं है। यथार्थ विचार करने से इस प्रकार आत्मा का नित्यपना उचित लगेगा। **६६.**

अब, न्याय देते हैं कि :-

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय;
पूर्वजन्म संस्कार ते, जीव-नित्यता त्यांय।। ६७ ।।

क्रोधादिक तरतम्यता, सर्पादिक में होय।
पूर्व-जन्म-संस्कार यह, जीव-नित्यता सोय।।६७।।

क्रोधादि प्रकृति की अधिकता सर्पादिक जीवों में अधिक दिखती है। छोटा सर्प हो किन्तु उसमें वीर्य की बहुत उग्रता होती है। फूंकार करके दूसरों को भयभीत करे – ऐसे क्रोध, मानादि प्रकृति की विशेषता है। उसने वर्तमान में तो क्रोध का अभ्यास किया नहीं है। सर्प के बच्चे पैदा होते ही, उसकी माता उन्हें तुरन्त मार देती है, फिर भी उनमें से कोई बच्चा खिसक जाता है। उसे वर्तमान में उसके माता-पिता ने कुछ सिखाया नहीं है किन्तु पूर्वजन्म के संस्कार से क्रोध आदि प्रकृति की विशेषता उसमें दिखती है।

क्षत्रियकुल का छोटा-सा बालक हो, फिर भी उसकी आँखों में और प्रकृति में मान का बड़प्पन आदि संस्कार ज्यादा दिखते हैं। इस तरह बहुत प्रकार से देखने पर पूर्वजन्म के संस्कार दिखते हैं। लोगों को बाहर की स्थूलवस्तु का प्रेम अधिक है, इसलिये उसकी जानकारी करना चाहे तो देर नहीं लगती। किन्तु 'मैं कौन (हूँ) और कहाँ से हुआ ? मेरा वास्तविकस्वरूप क्या है ?' इसका न्यायपूर्वक निर्णय करने की गरज नहीं है, इसलिये सही समझे बिना अनन्त काल का भ्रमण खड़ा है। भव का भाव टाला नहीं है, तब तक चैन से नींद कैसे आये ? दूसरों की हाँ में हाँ मिला दे कि आत्मा होगा क्योंकि सब लोग कह रहे हैं किन्तु जब तक खुद ने यथार्थ निर्णय किया नहीं है, तब तक यदि कोई ऐसा कुयुक्तिवाला मिल गया तो उल्टे रास्ते पर ले जायेगा। खुद की सत्ता क्या, शक्ति क्या, स्वाधीनता क्या, त्रिकालपना व पूर्ण स्वाधीन सुखस्वरूप क्या ? – उसका निर्णय करने की विधि जानने का प्रयत्न किये बिना, सत् की रुचि बिना पुरुषार्थ कैसे करेगा ?

यहाँ तो नित्यता सिद्ध करनी है। सर्प के अन्दर जन्म से क्रोध की अधिकता दिखती है और कबूतर में दूसरे जीव की हिंसा नहीं करनी – ऐसी प्रकृति देखने में आती है। खटिया में खटमल पसीने के निमित्त से होते हैं अथवा सागौन की लकड़ी से सहज उत्पन्न होते हैं। उनको पकड़ने की चेष्टा करें तो वे दूर हट

जाते हैं, भयभीत होते हैं – यह भयसंज्ञा की अधिकता पूर्वजन्म के संस्कार हैं।

भेड़ को पीछे से कोई काटे तो उसे दु:ख मालूम नहीं पड़ता और घास खाती रहता है। यह उसके पूर्वजन्म की प्रकृति के संस्कार हैं। किसी सास-बहू के बीच क्लेश होने पर मिट्टी का तेल छिड़ककर जल जाती है। वह मान के कारण अनन्ती पीड़ा सह लेती है किन्तु चिल्लाती नहीं है। किसी को सनक चढ़ जाती है, तब विपरीतता की उग्रता कर देता है। बनिया, क्षत्रिय व ब्राह्मण आदि जाति में विशेष प्रकार की प्रकृति के संस्कार दिखते हैं। इस प्रकार बहुत से न्याय द्वारा पूर्वजन्म की नित्यता सिद्ध होती है।

किसी जीव को दूसरे जीव के देह के प्रति बहुत प्रेम देखने में आता है और किसी को दूसरे के प्रति द्वेष, बैर रहता है। जगत में बहुत से जीवों में से किसी खास एकाध जीव के साथ प्रेम, एकाध जीव के साथ बैर – ऐसी विचित्रता क्यों दिखती है ? ये भी पूर्वजन्म के संस्कार हैं। श्रीकृष्ण–वासुदेव व उनके भाई श्रीबलदेव का उत्कृष्टप्रेम था। इस प्रकार पूर्वजन्म के ऐसे बलवान संस्कार अनेक जगह प्रत्यक्ष दिखते हैं; इसलिये जीव की नित्यता सिद्ध होती है। कई जीवों में जन्म से ही भीरुता, कुछ में निर्भयता, कुछ में गम्भीरता, कुछेक में हँसी-मजाक, कौतूहलता, कुछेक में असरलता, कुछेक में सरलता, कुछेक में निर्बलता, रोगीष्टता, किसी में विशेष भयसंज्ञा, कुछेक को आहार आदि की गृद्धि दिखती है। ये सब पूर्वजन्म के संस्कार का फल है। कोई धर्मात्मा को जन्म से ही कामवासना आदि से वैराग्य, असङ्गता, संसार से अनुत्साह, और बाह्यप्रसङ्ग की अरुचि दिखती है और इस प्रकार विचित्रता दिखायी देती है। इस तरह जीव की नित्यता दिखती है। कई जीवों को आत्मा की बात कान में पड़ने पर सुहाती नहीं है, द्वेष दिखायी देता है और काम-भोग-बन्धन की कथा, संसार के विषयादि प्रसङ्गों की कथादि में प्रेम दिखायी देता है; जबकि एकाध पात्रजीव को धर्म की एक बात सुनते ही अन्दर में उमङ्ग और तत्त्व की जिज्ञासा बढ़ जाती है; ज्ञानी के वचन सुनते ही अन्दर से 'हकार' – हाँ आती है कि आत्मा की बात ऐसी ही है। इस प्रकार अन्तर में सत् का बहुमान आता है। छोटी उम्र में ही वैराग्यवन्त नौ साल के बालक भी देखे हैं। ऐवन्तासुकुमाल की बात है कि गौतमस्वामी आहार लेने निकले

हैं। ऐवन्तासुकुमाल राजकुमार है। उनकी काया अति कोमल है। मुनिश्री को जाते हुए देखकर आहार का समय जानकर वे मुनि से आग्रह करते हैं कि हे मुनि ! आहार ग्रहण करने के लिये पधारिये। जैसे खुद को महान लाभ हुआ हो, उस प्रकार माँ को बधायी, खुशखबरी देता है। माता हर्षित होती है। मुनिश्री से वे पूछते हैं कि मैं आपके साथ आऊँ ? बताओ ! कैसा उत्कृष्ट धर्मप्रेम, नौ साल की उम्र में ? मुनि का ऐसा आदर, यह पूर्व के बलवान संस्कार की गवाही देते हैं।

कई लोग कहते हैं कि धर्म ने तो समाज को कायर बना दिया है; कुछ करना नहीं, सेवाक्रिया कुछ नहीं करना, सिर्फ एक आत्मा ही आत्मा करके बातूनी बनकर फालतू ही निवृत्त होकर बैठे हैं। ऐसा कहनेवाले पूर्व में स्वयं आत्मा की विराधना करके आये हैं। वे मानते हैं कि हम पर का कर सकते हैं। आत्मा भी जड़ ही है, ऐसी उनकी मान्यता है। उससे कोई आत्मा की सच्ची बात कहता है कि आत्मा अक्रिय, निर्मल, ज्ञाता, राग-द्वेष रहित है, शुभराग-पुण्यादि रहित है और मन, वाणी तथा देह की क्रिया आत्मा करे – ऐसा मानना मिथ्यात्व है तो वह इतना सुनते ही कहनेवाले के प्रति द्वेषपूर्वक दहाड़कर बोलता है कि तुम्हारी बात झूठी है। इस प्रकार जहाँ सत् की प्रामाणिक बात आये, उसका निषेध करने की बुद्धि और संसार के प्रति तीव्रप्रेम की बुद्धि इत्यादि कारण पूर्वजन्म के संस्कार सिद्ध करते हैं और उसके द्वारा आत्मा की निरन्तरता, नित्यता निश्चित होती है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २४-१०-१९३९

यदि कोई ऐसी दलील करे कि माता-पिता के वीर्य-रज के गुण के कारण उसकी उत्पत्ति हो तो ? पूर्वजन्म उसमें कारणभूत नहीं है। उसका उत्तर यों है कि वीर्य-रज को जड़ रजकणों से जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उस वीर्य की जाति में से जीव की उत्पत्ति होना सम्भव हो तो जो माता-पिता कामभोग के लिये विशेष प्रीतिवन्त दिखते हैं, उनके पुत्र कई बार बचपन से ही वैराग्यवन्त दिखते हैं। ऐसा कैसे बनता है ? पूर्वजन्म के ब्रह्मचर्य व वैराग्य के सुसंस्कार लेकर वे जीव आते हैं जो कि पूर्वजन्म की गवाही देते हैं। इसी प्रकार पूर्व के आत्मज्ञान के संस्कारसहित, ब्रह्मचर्य के प्रेमवाले, परम समतावन्त पुत्र होते हैं। ये पूर्व के बलवान संस्कार है। श्रीमद्जी भी कहते हैं कि हम पूर्वजन्म के आत्मज्ञान का, सत्स्वरूप की आराधना का बल लेकर आये हैं और एक भव के पश्चात् आत्मा की पूर्ण, शुद्ध, पवित्रदशा प्रगट करेंगे। ऐसे आसार छोटी उम्र में कहाँ से आये? सोलहवें साल में कहा कि मैं सच्चिदानन्द शुद्ध स्वरूपी आत्मा हूँ। लोग में कहावत है कि थोर (कँटीला पेड़) के पेड़ पर केले पक गये। माता-पिता साधारण हो और निम्नकुल का योग हो, फिर भी कोई पुत्री या पुत्र बचपन से महापवित्र सुसंस्कारवाले दिखते हैं।

इसमें भी चौभङ्गी समझनी। (१) माता-पिता संस्कारी, उत्तमकुल के हों और उनके पुत्र व्यभिचारी व नीच कार्यप्रसङ्ग में प्रवर्तन करें; (२) अच्छे माँ-बाप के अच्छे पुत्र भी हो, (३) माता-पिता दुष्ट हों और पुत्र अच्छे गुणों के धारक हों, (४) दुष्ट माता -पिता के दुष्टपुत्र भी हो किन्तु यहाँ तो परम पवित्र वीतरागी पुत्ररत्न कैसे बनते हैं ? – उसका दृष्टान्त अतिमुक्तमुनि का है। उनकी उम्र नौ साल की है। मुनि को देखा और उनके अन्तर में अनेकानेक अपूर्वभाव की ऊर्मि उल्लसित होती हैं। मुनिराज से प्रार्थना करके घर पर आहार के लिये प्रेमपूर्वक लेकर लाते हैं। आहारविधि के पश्चात वे माता के पास अनुमति माँगते हैं। माता उसके गहरे, गम्भीर प्रश्नों से सोच में पड़ जाती है। माता के प्रश्नों के उत्तर

में कहता है कि मैं पूर्व में था किन्तु कौन से भव में, कौन था ? – इसका पता नहीं है। मुझे अब भवभ्रमण नहीं चाहिए। भव के कारणों का मैंने सेवन किया, यह मैं जानता हूँ। पूर्वभव में पुण्यपाप के कारणों का सेवन किया है, इसलिये यह भव करना पड़ा। मैं नहीं जानता कि इस शरीर की स्थिति कब और किस क्षेत्र में छूट जायेगी ? परन्तु यह भान है कि आत्मा देहरहित नित्य है। मैं जानता हूँ कि आत्मा असंयोगी, स्वाधीनतत्त्व है, उसे विनाशी पदार्थ का सङ्ग नहीं चाहिए। खुद को परभाव से तथा भव से मुक्त होने की यानी स्वतत्त्व में थम जाने की लगन लगी है। माता ! मुझे अनुमति दो तो मैं मुनि के साथ जाऊँ। आत्मा, परप्रसङ्ग बिना का व रागरहित है। निर्मल शान्त है – ऐसा अन्तर में गहरायी में मनन कहाँ से आया जिससे कि बालवय में आत्मज्ञानदशा प्राप्त करके फिर केवलज्ञान प्राप्त किया। यह दर्शित करता है कि जीव की नित्यता है।

पुनश्च, कोई माता-पिता क्रोधी होते हैं तो उनका पुत्र बहुत समतावान दिखता है। वह आत्मा के गुण पूर्व से लेकर आया है। कहीं से आया हुआ आत्मा, माता के उदर में नौ मास रहता है, इससे उसकी उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु जड़पुद्गलों का संग्रह होकर देह पिण्ड बनता है, इसके निमित्त से जीव देहधारी कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, ममता आदि दोष व समता, क्षमा, दया, शान्ति, आनन्द, इत्यादि गुण चैतन्य की अवस्था में मालूम पड़ते हैं किन्तु जड़रूपी अजीव पदार्थ में तो ऐसे गुण-दोष दिखते नहीं हैं। देह-देवल में भगवान आत्मा अपने पूर्व भव के संस्कार लेकर आया है। जड़पदार्थ किसी के साथ क्लेश नहीं कर सकता। श्वान भी अपने मालिक के घर की रक्षा करने में कभी क्रोध करता है तो कभी क्षमा धारण करता है। इस प्रकार जहाँ क्रोध होता है, वहाँ क्षमा भी दी जा सकती है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग विकार तो परमार्थ से चेतन का स्वभाव नहीं है किन्तु जड़प्रकृति के निमित्त से भूल होने पर राग-द्वेषरूप अशुद्धता दिखती है तथा मन की वासना, राग-द्वेष दिखते हैं। उन्हें मोही जीव अपनी क्रिया मानता है और उसमें भूल करता है। लोगों की वह स्थूलदृष्टि है। जिस प्रकार भैंस खूँटे के साथ साङ्कल से बँधी हुई है, वह खूँटे के निमित्त से छूटने

के लिये खींचातानी की चेष्टा करती है। स्थूलदृष्टिवाले भैंस की चेष्टा देखकर भैंस बहुत बलवान है – ऐसा मानते हैं। वास्तव में तो खूँटा स्थिर है, अक्रिय है। लोग सक्रियता जो कि जड़ की क्रिया है, उसकी तरफ देखते हैं किन्तु आत्मा त्रिकाल अक्रिय है, पर की क्रिया से रहित है – उसे देखते नहीं हैं। मन, वाणी, देह की क्रिया, पुण्य-पाप, राग-द्वेष – ये औपाधिक विभावभाव हैं, उसके लक्ष्य से बाह्यदृष्टि जीव देखते हैं। आत्मा तो ज्ञानघन शुद्धस्वभावरूप है; अविनाशी, ज्ञाता, दृष्टा, पवित्र, साक्षीरूप है। उसके गुण में व जड़प्रकृति के गुण में जो भिन्नत्व है, उसे स्पष्टरूप से जानने से यथार्थ वस्तुतत्त्व की नित्यता, असंयोगीपना, अस्पर्शता मालूम पड़ती है। आत्मा, सहज शान्तस्वरूप है। उसमें कभी क्षमा तो कभी क्रोध, कभी सत्य तो कभी असत्य बोलने के भाव आते हैं; इस प्रकार पल-पल रति-अरति, गुण-दोष के विकल्प, इच्छा-अनिच्छारूप मन की प्रवृत्ति का संक्रमण मालूम पड़ता है। उसका विचार करके देखोगे तो उन सबको जाननेवाला चैतन्यजीव इन सब विकल्पों से भिन्न मालूम पड़ेगा। वास्तव में तो जीव इच्छा-अनिच्छा का ज्ञायक है। वह अपने आप को (निरन्तर ज्ञायक हूँ, यह) भूलकर इष्ट-अनिष्टरूप मानता है।

क्रोध कम करके क्षमा हो सकती है। जड़वस्तु में ऐसा होना सम्भव नहीं है। उस प्रकार वीर्य माने रज – जड़ रूपी पदार्थ में जीव के गुण-दोष, क्रोध, मान, माया, लोभ और दया, शान्ति, समता, क्षमा दिखते नहीं हैं। अत: जड़वीर्य में से चेतन की और चेतन के गुण-दोष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। छोटे आठ साल के बच्चे में बहुत दुर्गुण दिखते हैं। किसी अन्य बालक में शान्ति, वैराग्य दिखते हैं। ध्रुवजी बालक थे। उनको विचलित करने के लिये अप्सरा अपने सुन्दर अङ्गों का प्रदर्शन करती है और कहती है कि देखो ! मेरे अङ्ग कैसे हैं ? तब ध्रुवजी कहते हैं कि यदि मुझे अभी दूसरा भव करना हो तो तेरे जैसी माता के उदर में अवतार धारण करेंगे और तेरे स्तन का पय:पान करेंगे किन्तु हे माता ! हमें अब दूसरा जन्म धारण करने का भाव नहीं है, विकल्प नहीं है। इस प्रकार सद्गुणी संस्कार कई लोगों में देखने में आते हैं। २१ साल में ब्रह्मचर्य लेनेवाले दम्पती भी होते हैं और कई ६० साल में भी विषय, काम-भोग की इच्छा करनेवाले

होते हैं। पूर्वभव में ज्ञान के विराधक हुए बहुत से जीवों को वर्तमान में धर्म की, सत् की बात सुनना अच्छा नहीं लगता और अन्दर में निन्दा करते हैं। उनसे लाख सच्ची बात कही जाए, फिर भी दिमाग में बैठती नहीं है और सत् का अनादर करते हैं और कोई-कोई जीव को सच्ची बात तुरन्त ही अन्दर में बैठ जाती है और उसका बहुमान भी करते हैं और सत् का विवेक, विनय क्षण में जागृत करते हैं। इस तरह कई प्रकार से पूर्व संस्कार के फल होते हैं। देहादि, पुण्य-पाप के संयोग - यह आत्मा का कार्य नहीं है किन्तु पूर्वजन्म की वासना का फल है। **'हुन्नर करो हजार भाग्य विण न मळे कोडी'** कुलवान, धनवान परिवार के पुत्रों को भीख माँगनी पड़ती है और भिखारी धनवान हो जाता है। इससे पूर्वकर्म व जीव की नित्यता सहज सिद्ध होती है। **६७.**

'अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय;
अे अनुभवथी पण नहि, आत्मा नित्य जणाय।'

इस गाथा का उत्तर इस अन्तिम तीन गाथाओं में है कि :-

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय;
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय।। ६८।।

आत्मा द्रव्य से नित्य है, पर्याय से पलटाय।
बाल आदि वय तीन का, ज्ञान एक को होय।।६८।।

शिष्य की शङ्का है कि पल में इच्छा, पल में अनिच्छा – इस प्रकार वृत्ति का परिवर्तन होता रहता है; अत: आत्मा अनित्य है। यहाँ उत्तर है कि आत्मा द्रव्य है। वह सदा टिककर अवस्थारूप से बदलता रहता है; अत: उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसहित सत् है। क्षण-क्षण पर उसकी समझ की, ज्ञान की अवस्था पलटती रहती है। वह पर्याय क्षण-क्षण में बदलती है और उस प्रत्येक अवस्था को धारण करनेवाली सत्तावान वस्तु नित्य है। बालक पूर्व में संस्कार का उघाड़ (विकास)

लेकर आया है किन्तु अभी उस शक्ति के उपयोग की प्रगटता नहीं हुई। पहले वह बालक एक अक्षर जानता नहीं था, फिर मैट्रिक, बी.ए., एल.एल.बी आदि परिणामों का जानपना हुआ। इसमें जाननेवाला निरन्तर सभी सालों से वही का वही है, यानी क्षण-क्षणवर्ती अवस्था को बदलता हुआ भी स्वयं टिका ही रहता है। ज्ञानादि भावपरिणाम नित्य द्रव्यपने की उपस्थिति रखकर होते हैं।

टिकनेवाला टिककर बदलता है। जिस प्रकार समुद्र पूरा नहीं पलटता है किन्तु केवल लहरें पलटती हैं। इस प्रकार आत्मा सत्द्रव्य है, वस्तुरूप से नित्य है। वह अपने भावान्तररूप से बदलता हुआ नित्य है। स्वयं अवस्थारूप से पलटता हुआ टिका रहता है। बाल अवस्था थी, तब अपने को बालक मानता था; युवान हुआ, तब युवान और वृद्धावस्था में वृद्ध मालूम पड़ा। पूर्व अवस्था तो नाश को प्राप्त हुई किन्तु उन पलटाव को जाननेवाला तो नित्य रहा। तीनों अवस्था में उसकी नित्यता के भेद नहीं हुए। आठ साल की बात ६० साल में भी याद रहती है। यहाँ पर देह के निमित्त से बात की है। देहादि संयोग से रहित आत्मा स्वयं सत्रूप द्रव्य है। '**द्रवतीति द्रव्यं**' जो अपने गुण-पर्यायों को द्रवित करता है, वह द्रव्य है। शक्तिरूप से जो ज्ञान, सुख, शान्ति आदि गुण हैं, उनको आत्मा नयी-नयी अवस्थारूप से बदलता है। उन तीनों काल की अवस्था को जाननेवाला स्वयं देह की अवस्थारूप होता नहीं है। तीनों अवस्था की स्मृति रखनेवाला, उस-उस अवस्था को जाननेवाला स्वयं नित्य है।

आत्मार्थी मुमुक्षु को इतनी सरल भाषा से इस शास्त्र में समझाया - उन ज्ञानी का अनन्त उपकार है। अतः उसका यथार्थ विचार करके दृढ़निर्णय करने की जरूरत है। बहुत सालों से बहुत कुछ सुना किन्तु सच्चा हित समझ में नहीं आया। उसका कारण खुद की तत्त्व के प्रति अरुचि है। इस **'आत्मसिद्धिशास्त्र' में यथार्थ उपाय व समझ की विधि बतायी है।** जीव की नित्यता दृढ़निर्णय से समझ में आये तो राग-द्वेषी होनेरूप अज्ञानदशा नहीं होती। भूल को जाननेवाला भूल जितना ही नहीं है। भृगु पुरोहित की बात है। अपने पुत्रों से वह पुरोहित कहता है कि 'भाई ! आत्मा अनित्य है। इस संसार के कामभोग भोग लो, इन्द्रियों के सुख भोग लो।' उनको अपने पुत्र सम्बोधन करते

हैं कि हे माता-पिता ! इन्द्रिय, देह, आदि मूर्तपदार्थ जो-जो हैं, वे अनित्य हैं और उनको जाननेवाला आत्मा नित्य है, निरुपाधिक है, अविनाशी है। उसे आप अनित्य कह रहे हो – यह आपकी विपरीत श्रद्धा है। पिता कहते हैं कि आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है और आप बालक हो; अतः संसार के सुखों का उपभोग करो। पुत्रों को जातिस्मरण ज्ञान हुआ है। वे कहने लगे कि हम आपको बहुत से न्यायप्रमाण द्वारा आत्मा की नित्यता बता सकते हैं; अतः उसकी श्रद्धा करो। आपकी विपरीतश्रद्धा है – वह अनन्त संसार के जन्ममरण के दुःखों में भटकने का कारण है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २५-१०-१९३९

आत्मा द्रव्य से पलटता नहीं है किन्तु ज्ञानादि गुण की क्षण-क्षणवर्ती अवस्था से बदलता है। समूचा नहीं बदल जाता किन्तु टिककर बदलता है। ऐसा सत् द्रव्य-नित्यवस्तु का स्वभाव है। **६८.**

अब, इस बारे में विशेष कहते हैं :-

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार;
वदनारो ते क्षणिक नहि, कर अनुभव निर्धार।। ६९।।

अथवा ज्ञान क्षणिक का, जो ज्ञाता कहनार।
कहने वाला क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार।।६९।।

अमुक पदार्थ क्षणिक हैं, ऐसा जो जानता है, जानकर क्षणिकपना बताता है – वह खुद क्षणिक नहीं हो सकता। बोलने में तो वाणी है, वाणी भी बदलती है। वाणी, इच्छा इत्यादि बदलती हुई सभी अवस्थाओं को निरन्तर जाननेवाला तो

नित्य है। वाणी द्वारा कहनेवाला वाणी को जाननेवाला है; वह क्षणिक हो नहीं सकता। क्योंकि प्रथम क्षण में जो अनुभव हुआ, वह अनुभव दूसरी क्षण में कहा जा सकता है। उस दूसरी क्षण में स्वयं जाननेवाला न हो तो कहाँ से कहे ? अत: निरन्तर नित्य के अनुभव से भी आत्मा की नित्यता का तू विचारकर। यहाँ पर व्यवहारभाषा समझनेवाले को सरल लगे, इसलिये कही है। बोलनेवाला आत्मा नहीं है – यह बात यहाँ पर सिद्ध नहीं करनी। बोलते समय भाषा के अनन्त परमाणु, जो स्वतन्त्र रजकण हैं, उसकी क्रिया चेतन के अधीन नहीं है किन्तु व्यवहार से, उपचार से कहा जाता है कि 'मैं बात कह रहा हूँ।' जिस स्थान में न्याय का जो हेतु हो, वह कहा जाता है। सर्वज्ञ भगवान की वाणी का बहुमान धर्मात्मा करे, इससे कोई वाणी के परमाणुओं का परिणमन कराना, यह चेतन का कार्य नहीं हो जाता। यहाँ तो भाषा-वचन के प्रतिक्षण होनेवाले व्यापार को निरन्तर जाननेवाला केवल क्षणिक नहीं है; नित्य है – ऐसा बताया है। प्रथम की अवस्था पलटी और नाश हुई; भूतकालरूप हो गयी किन्तु उसको स्मृतिरूप से जाननेवाला साक्षी – वह टिकनेवाला आत्मा हमेशा नित्य है। भगवान आत्मा को कोई बिल्कुल नित्य मानता है। यदि एकान्त, कूटस्थ, अपरिणामी हो तो वह पुरुषार्थ कर नहीं सकता; राग मिटाकर अरागी हो नहीं सकता; क्रोध मिटाकर क्षमा तथा संसार की मलिन अवस्था को पलटकर निर्मल, निरुपाधिक, पवित्र अवस्था हो नहीं सकती। किन्तु आँखों से देखते हैं कि अवस्था से जीव का पलटना और द्रव्य से नित्यरूप टिके रहना– इस प्रकार नित्य-अनित्यता है। द्रव्य के अविनाशी स्वभाव से जीवत्वपना नित्य है और बदलती अवस्था से अनित्य है किन्तु सर्वथा नाश होने योग्य नहीं है। **६९.**

यथार्थ अनुभव से आत्मा की नित्यता का निर्णय करने का अब कहते हैं–

क्यारे कोई वस्तुनो, केवळ होय न नाश;
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास।। ७०।।

कभी न कोई वस्तु का, केवल होय न नाश।
चेतन पावे नाश तो, किसमें मिले तलाश।।७०।।

कहते हैं कि तू अपनी खोजकर कि तू किसमें मिल जाए – ऐसा और नाश को प्राप्त हो, ऐसा है ? जो है, उसका सर्वथा बदलकर नाश नहीं हो सकता। यदि चैतन्यवस्तु का नाश होवे तो वह किस चीज़ में मिल जाए, इसकी खोजकर। जगत में छह द्रव्य सत् हैं, अविनाशी हैं। जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल - इन छहों जाति की वस्तु का किसी समय नाश नहीं होता। लकड़ी जलकर राखरूप हो, राख की मिट्टी हो, मिट्टी में से पत्थर हो, इस प्रकार परमाणु की अवस्था बदलकर अनेक पर्याय धारण करे किन्तु वस्तु अपना अस्तित्व, सत्पना किसी काल नहीं छोड़ता। चेतन की कोई अवस्था पुद्गलरूप, परमाणु की अवस्थारूप होने योग्य है या नहीं, इसकी खोजकर। जो चैतन्यमूर्ति, ज्ञाता, अरूपी है, उसका सत् वस्तुपना पलटकर जड़रूप को प्राप्त होता हो तो उसकी खोजकर। जिस प्रकार धूल में से घड़े की उत्पत्ति हो, फिर जिस प्रकार घड़े का टूटना और टुकड़ों का उत्पन्न होना, फिर उसकी मिट्टी व धूल - रजकण बन जाए, तथा सुवर्ण के अनेक गहने बने, अनेक आकारत्व को प्राप्त करे किन्तु सुवर्णत्व का अभाव नहीं होता; इस प्रकार आत्मा ८४ लाख देहस्थान योनि में अवस्थान्तर होता हुआ लगता है। आत्मा की अज्ञानदशा, रागदशा को पुरुषार्थ द्वारा पलटकर अरागी, निर्दोष, परमात्मदशा हो सकती है किन्तु उसमें क्या अपने वस्तुत्व का नाश होता है ? जो आत्मा में था, वह हुआ है। जगत में से एक परमाणु भी कम नहीं हो जाता। क्षेत्र में छोटा-बड़ापन दिखता है; वह उसकी अनेकरूप हुई अवस्था है किन्तु उसका नितान्त नाश होना सम्भव नहीं है। कई जीव वस्तु का गलना, मिलना, टलना – ऐसी जड़पदार्थों की अनित्य अवस्था देखकर हर्ष -शोक करते हैं किन्तु यदि स्वाधीन-नित्यता का भान हो तो उसे परवस्तु में मोह का अभाव होने से राग-द्वेष, हर्ष-शोक मिटकर सुख होता है। वस्तु की अवस्था (पर्याय) उत्पन्न होती है, नाश होती है किन्तु उसका सर्वथा नाश नहीं होता।

'केम घटनो मुगट कर्यो, कुमारे मस्तक धर्यो;
कुमारीने शोक थयो, हैये राजा मध्यस्थ रह्यो।'

स्याद्वाद समझकर समभाव में रहें।

इसमें नित्यवस्तु को देखनेवाला राजा राग-द्वेष रहित है। सुवर्ण की निरन्तरता

नित्य है – ऐसा जानकर हर्षशोक नहीं करता। कुँवरी को सुवर्णघट की अवस्था मिट जाने से शोक हुआ और कुँवर को उस सुवर्ण के घट की अवस्था मिटकर मुकुट अवस्था होने से हर्ष हुआ; उसका कारण स्थूल पर्यायदृष्टि है। गलत हिसाब-किताब करनेवाली अपनी पर्यायबुद्धि ही सुख-दु:ख, हर्ष-शोक करानेवाली है और दोषित है। यहाँ कहते हैं कि जिस प्रकार घड़े के परमाणु घड़ा टूटकर अनेक रजकणरूप पड़े रहते हैं, उस प्रकार चेतन किस वस्तु में मिलने योग्य है, उसकी खोजकर, अर्थात् उस प्रकार तू अनुभव करके देखेगा तो किसी में नहीं मिलने योग्य अथवा परस्वरूप अवस्थान्तर नहीं होने योग्य, ऐसा चैतनत्व तुझे मालूम पड़ेगा। वस्तु-पदार्थ स्वतन्त्र है, उसकी अवस्था का उसकी स्वसत्ता में टिककर बदलना होता है। परवस्तु-संयोग आदि जो -जो जानने में आता है, वह जीव की अवस्था नहीं है; जीव का लक्षण नहीं है। जीव का लक्षण चैतन्य है, वह पुण्यपापरूप नहीं है; मन, वाणी, देह की क्रियारूप नहीं है। जिसकी क्षेत्राकार दृष्टि है, उसे दो द्रव्य अलग भासित नहीं होते। एकताबुद्धि रखता है, इसलिये एक क्षेत्र में देह की चेष्टा पर से देहाध्यासवश (देहात्मबुद्धि से) भ्रान्ति हुई है। अत: स्वयं को अनित्यवस्तु का मिथ्याभास होने से राग-द्वेष होते हैं। अब शिष्य को नित्यता की प्रतीति होने पर कहता है कि हे गुरु ! –

'आत्मानी नित्यताना, आपे कह्या प्रकार;
संभव तेनो थाय छे, अंतर कर्ये विचार।'

यह पंक्ति प्रत्येक नये पद के प्रश्न के समय समझा हुआ शिष्य कहता है, यों समझना।

शिष्य गुरु से कहता है कि आत्मा की नित्यता की सारी दलील व न्याय का निर्णय अन्तर में विचार करने से मुझे हुआ है। आत्मा है व नित्य है – इसका निर्णय टिकाए रखकर अब नयी दलील, आशङ्का शिष्य करता है। ज्ञान, जानने से इन्कार नहीं करता। अपनी शङ्काओं को जाननेवाला और उन शङ्काओं को टालकर निर्णय करके स्वयं आगे बढ़कर, अपनी अधिक विचारणा श्रीगुरु के समक्ष प्रस्तुत करता है। छोटी-से-छोटी बात कह देना और कदापि डाँट मिले तो अपमान सह लेना – यह शिष्य का विनयगुण है। श्रीगुरु, शिष्य का अपमान करे, डाँट

लगाये – यह भी शिष्य के भाग्य की बात है। जिस प्रकार माँ अपने बच्चे को डाँटे तो उसका डँक-खेद बच्चे को नहीं होता, इस प्रकार गुरु-शिष्य के बारे में जानना। यहाँ पर शिष्य पिछली शङ्का का आलोचन करता है। शिष्य ने जो निर्णय किया, उसे वह भूल जाए – ऐसा नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक न्याय की अधिक ज़ोरदार दलील युक्तिपूर्वक रखने में सत्स्वरूप की पुष्टि करने का हेतु है। वह हेतु, उसका कारण तथा उसका फल होनेरूप कार्य – उसे समझने का शिष्य का प्रयत्न है। अत: जिसे अपना सच्चा हित करना है, उसे प्रश्न किस प्रकार करने, विचार किस प्रकार करना तथा किस प्रकार समझना ? – उसकी तैयारी रखना व समझने का पुरुषार्थ करना। **७०.**

कर्ता पद सम्बन्धित शिष्य की आशङ्का

अब, जीव कर्म का कर्ता किस प्रकार है ? – यह समझने के लिये शिष्य शङ्का प्रस्तुत करता है –

कर्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्ता कर्म;
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म।। ७१।।

कर्ता जीव न कर्म का, कर्म ही कर्ता कर्म।
अथवा सहज स्वभाव या, कर्म जीव का धर्म।।७१।।

लोगों को इस कर्ता-कर्म के बारे में बहुत उलझन है। जीव को कर्म का कर्ता कहने में क्या दोष आते हैं तथा किस दृष्टि से कर्ता कहने में आता है ? – इसका खुलासा आगे आयेगा। यह यथार्थ समझने पर काफी शङ्का का समाधान होता है और सारी उलझनें मिट जाती हैं।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि हे गुरु ! आत्मा, कर्म का कर्ता नहीं है; कर्म का कर्ता, कर्म ही लगता है। जीव तो अरूपी है, वह रूपी पदार्थ का कार्य किस प्रकार कर सके ?

उत्तर - कर्ता का इष्ट, वह कर्म। आत्मा का कर्म अथवा कार्य तीन प्रकार से है। एक तो आत्मा का स्वभाव स्वलक्षण ज्ञान है। उस ज्ञान में सुख है। इस प्रकार जिसे रुचि हुई, वह ज्ञान की रुचिवाला ज्ञान में तन्मय होकर ज्ञानक्रिया, जानना, देखना करता है। अन्य कुछ नहीं करता। खुद का कर्तृत्व स्वयं के ज्ञानगुण की अवस्था में है।

दोहरा

'कर्ता परिणामी द्रव्य, कर्मरूप परिणाम;
क्रिया पर्यायकी फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम।'
(समयसार नाटक)

कर्ता उसे कहें जो स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य करे। कर्ता का इष्ट, वह कर्म। कर्ता द्वारा जो कार्य हुआ, वह उसका कर्म है। ज्ञान में ज्ञान का कार्य है, इस प्रकार पोषण (रुचि) हुआ तो वह इष्टकर्म हुआ।

(१) ज्ञानी का इष्ट कार्य-ज्ञान, माने अपना सच्चा हित।

(२) अज्ञानी का कार्य राग-द्वेष है, वह जीव का लक्षण नहीं है। राग-द्वेष अपना स्वभाव नहीं है किन्तु अपने स्वभाव की भ्रान्ति से, अपने आप को भूलकर मैं राग -द्वेष, पुण्यरूप हूँ तथा पुण्य-पाप का कर्ता हूँ – ऐसा अज्ञानरूप राग-द्वेष जीव का कार्य हुआ। उस रागादि का निमित्त पाकर नये पुद्गलकर्म की महीन धूल का पुराने कर्म के साथ बन्धन हुआ।

(३) उस जड़कर्म व देहादि के कर्तापना का आरोप जीव पर करने में आता है। यह असद्भूतव्यवहार से, यानी ऊपरी दृष्टि से देह, मन, वाणी आदि जड़कर्म का कर्ता जीव को कहने में आता है। यहाँ तो शङ्का है कि कर्म हो जाते हैं किन्तु जीव परद्रव्य का कर्ता हो – ऐसा नहीं लगता।

यहाँ शिष्य कहता है कि जीव यदि पुद्गल का कर्ता हो तो वह जीव का स्वभाव, निजगुण हो जायेगा। अतः जीव, कर्म रजकणों का कर्ता नहीं है। यदि जीव को उसका कर्ता कहो तो फिर वह जड़ का धर्म जीवत्वपना प्राप्त कर लेवे। इस शङ्का का समाधान तो आगे आयेगा किन्तु यहाँ पर उसका उत्तर संक्षिप्त में समझाने में आता है। आत्मा को राग-द्वेष का निमित्त जो जड़कर्म - उसके

उदय के समय जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भूलकर पुण्य-पापरूप, यानी राग-द्वेष के शुभ-अशुभ परिणाम को करे और मैं कर्ता हूँ, - ऐसा अज्ञानदृष्टि से माने तो जीव को ज्ञानावरण आदि आठ कर्म तथा देहादि नोकर्म का असद्‌भुतव्यवहार से कर्ता कहने में आता है।

जीव तीन प्रकार से कर्ता हो सकता है :-

(१) अपने अशुद्धउपादान द्वारा अपनी मलिन अवस्था का यानी शुभाशुभपरिणाम का कर्ता है।

(२) शुद्धदृष्टि द्वारा शुद्धज्ञान का कर्ता है।

(३) जीव के रागादि परिणाम नये कर्म का निमित्त होने से आत्मा ऊपरी दृष्टि से कर्म का कर्ता है।

आत्मा के ऊपर अपनी जाति से विरुद्धरूप विजाति का आवरण है, वह जड़ कर्म आत्मा का कार्य है - ऐसा निमित्त, उपचारदृष्टि से कहने में आता है। जीव ने क्रोध करने पर जो कर्मबन्धन किया, उसका विपाक होने पर अर्थात् कर्म की उदयरूप अवस्था होने से जीव यदि क्रोध करे तो उसे निमित्त कहने में आता है - यह सम्बन्ध आगे बतायेंगे।

दिनाङ्क - २६-१०-१९३९

यहाँ पर ७१वीं गाथा में शिष्य की तीसरे पद की शङ्का है कि आत्मा अपने से भिन्न ऐसे जड़कर्मों का कर्ता किस प्रकार हो सकता है ? उस जड़ की क्रिया अपने आप होती है। आत्मा को ऐसी उपाधि क्यों करनी पड़े ? मुझे तो आत्मा अकर्ता ही लगता है। कर्म तो अनादि से चला आ रहा है; उसका कार्य अपने आप होता रहता है अथवा आत्मा की इच्छा के बिना सहज होता रहता है। इस तरह अनेक प्रकार से शिष्य का मन्थन है, अनेक विचारणा से उसे सच्चा अन्तरङ्ग समाधान करना है। उसने समझने का लक्ष्य रखकर दलीलपूर्वक सवाल रखा है। यहाँ शिष्य कहता है कि ये पुण्य, पाप, मन, वाणी, देह, राग, द्वेष इत्यादि जीव का कार्य होता तो वह जीव का धर्म सिद्ध हो जाए और ऐसा होने पर जीव उससे कभी भी निवृत्त नहीं हो सकता।

(यह प्रश्नकार कैसे-कैसे विचारपूर्वक निर्णय करना चाहता है ! लोगों को तो जैसे-तैसे मनमाने तरीके से, दूसरे को कहा हुआ धारण कर लेना है किन्तु अपने आप मननपूर्वक सही क्या ? – उसे समझने की जिज्ञासा बहुत कम है) **७१.**

अब, शिष्य आत्मा के अबन्धपने के अन्य कारण प्रस्तुत करता है –

आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध;
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध।।७२।।

आत्म सदा असंग अरु, करे प्रकृति बन्ध।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, जातैं जीव अबन्ध।।७२।।

आत्मा, द्रव्यदृष्टि से सदा शुद्ध है। वर्तमान अवस्था में भी शुद्ध है – ऐसा

एक (सदाशिव का) मत है। सही अभिप्राय यह है कि आत्मा, द्रव्यदृष्टि से सदा शिवरूप है तो सही किन्तु जब वर्तमान मलिन उपाधि को पुरुषार्थ द्वारा मिटाये, तब मोक्षदशा (शिवरूपदशा) प्रगट होगी। सदाशिव मतवाले एकान्त निश्चयाभासी हैं। वर्तमान रागदशा का व्यवहार से भी जीव कर्ता नहीं है – ऐसा मान लें तो फिर यह संसार किसका है ?

यहाँ पर दूसरी शङ्का में कहना है कि कर्ता का इष्ट, वह कर्म है और इस कर्म की उपाधि जीव को जँचती नहीं है; अतः इस सृष्टि आदि का कर्म तथा देहादि का कार्य करने की प्रेरणा ईश्वर करता है और ईश्वरेच्छा से ये कर्म होने के कारण, जीव उन कर्मों से अबन्ध है। पुण्य-पाप अपने हाथ की बात नहीं है, ईश्वर की मरजी हो तो पुण्य करवाये; ईश्वर की इच्छा हो, तो पाप करवाये और ईश्वर की इच्छा हो तो मोक्ष करवाये – इस प्रकार शिष्य ने शङ्का की। उसका समाधान बाद में आयेगा किन्तु यहाँ उसका संक्षिप्त खुलासा किया जा रहा है। यदि ऐसा हो, तो आत्मा के हाथ में कुछ रहा ही नहीं; वह तो पराधीन हुआ। ईश्वर तो स्वयं ही चैतन्य भगवान जाणनहार है – इस बात को भूलकर ईश्वर को उपाधिवाला मानना, यह वृथावचन है। जो जीव राग-द्वेष, अज्ञान व इच्छारहित हुआ, वह ईश्वर है। उसे उपाधिवाला मानना, यह महाअज्ञान है।

शिष्य कहता है कि आत्मा सदा पवित्र है, अबन्ध है और रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण – इन प्रकृति के बन्ध अपने आप होते हैं। ऐसा न हो तो जीव को कर्म करने की प्रेरणा ईश्वर करता है; अतः ईश्वर की इच्छानुसार बन्ध-मोक्ष होता है। (किन्तु वास्तव में यदि ईश्वर सभी जीवों के बन्ध-मोक्ष का कर्ता है तो आज तक ईश्वर ने क्रूरता क्यों बरती और सभी जीवों को मोक्षसुख क्यों नहीं दिया ? ईश्वर तो पूर्ण, पवित्र, कृतकृत्य, इच्छारहित, सर्वज्ञभगवान है; निर्मल, निरूपाधिक है, देहरहित है; वह अपनी स्वाधीनता छोड़कर पराधीनता में उपाधियुक्त हो जाए, यह सम्भव नहीं है। इस प्रकार शिष्य की शङ्का का समाधान है किन्तु इसका खुलासा आगे गाथा द्वारा करेंगे। **७२.**

अब, शिष्य कहता है कि मोक्षउपाय का कोई हेतु जानने में नहीं आ रहा –

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय;
कर्मतणुं कर्तापणुं, कां नहीं, कां नहीं जाय।। ७३।।

तातैं मोक्ष उपाय का, कोई न हेतु लखात।
जीव कर्म-कर्तृत्व नहीं, हो यदि, तो न नशात।।७३।।

शिष्य कहता है कि बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, करना; नहीं करना आदि उपदेश का कोई हेतु नहीं लग रहा क्योंकि मैंने कहे, उन उपरोक्त कारणों को लेकर आत्मा कुछ करता ही नहीं है तो फिर उसे बन्ध-मोक्ष होने का हेतु कहाँ रहता है ? अतः राग, द्वेष, इच्छा, अनिच्छा इत्यादि कुछ भी कार्य आत्मा नहीं कर सकता है। इस प्रकार मैं राग, द्वेष, पुण्य, पाप का कर्ता नहीं हूँ; अतः कुछ पुरुषार्थ या मोक्ष का उपाय अपने आप कर सकूँ – ऐसा नहीं है। और यदि जीव को कर्म का कर्तापना हो तो वह उसका स्वभाव हुआ और इसलिए वह मिटने योग्य नहीं है।

इस शङ्का का समाधान आगे आयेगा किन्तु संक्षिप्त में उसका उत्तर ऐसा है कि आत्मा मन, वाणी व देह की क्रिया कर नहीं सकता यानी आत्मा ज्ञान के अलावा कुछ क्रिया कर नहीं सकता। आत्मा अनादि अनन्त, पवित्र, ज्ञाता-दृष्टा है, चिदानन्द, स्वतन्त्र है; अतः किसी के आधार से नहीं है। जीव अपने ज्ञानस्वभाव का कर्ता-भोक्ता, स्वाभाविकशुद्ध, आनन्दमय शक्तिरूप से है किन्तु वर्तमान में स्वयं भूल करता है, इसलिए अपनी अवस्था में मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषरूप अस्थिरता दिखती है। वह कैसे मिटे ? कि सच्चे अभिप्राय द्वारा शुद्धआत्मा की श्रद्धा करके अपने में ज्ञान की स्थिरतारूप पुरुषार्थ द्वारा क्रमशः सभी दोष मिटाकर जीव पूर्ण शिवसुखरूप हो सकता है।

ऐसे परमार्थभूत व्यवहार व शुद्धस्वरूप की प्राप्ति शिष्य को हुई नहीं है और शिष्य सच्चा तत्त्व समझने का कामी है; अतः शङ्का करता है कि यह बात मुझे समझ में नहीं आ रही। अतः **'ए अन्तर शङ्कातणो समजावो सदुपाय।'** – ऐसा

कहकर श्रीगुरु को समाधान करने हेतु विनंती करता है। **७३.**

श्री सद्गुरु समाधान

होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ?
जडस्वभाव नहि प्रेरणा, जुओ विचारी धर्म।। ७४।।

होय न चेतन-प्रेरणा, कौन ग्रहे फिर कर्म ?
जड़-स्वभाव नहिं प्रेरणा, खोजो याको मर्म।।७४।।

यहाँ निमित्त से कथन है कि यदि जीव की अशुद्धशक्ति न हो तो जड़ में संचालन कौन करे ? सहज, शुद्ध, ज्ञायकस्वभाव को भूलकर मैं राग-द्वेष हूँ – ऐसा जीव अज्ञानतापूर्वक मनन न करे तो पुद्गलकर्म का, आवरण का बन्ध कैसे हो ? यदि जीव की दशा नितान्तशुद्ध हो तो निमित्त-नैमित्तिकपना, यानी बन्धदशा सम्भव नहीं है। शुद्धनिश्चयदृष्टि से आत्मा शुद्धचिदानन्दज्ञाता है; पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ कर्मरहित है। उसका निर्दोष-लक्षण ज्ञातापना है। उसे भूलकर रागादि करने लायक हैं; मैं राग -द्वेषरूप हूँ – यह मैं और यह मेरा, इस प्रकार परवस्तु में ममता कौन करता है ? अथवा ऐसा मनन कौन करता है ? जिसके अन्दर सोचने की शक्ति है, जानपना है, वह स्वरूप को भूलकर जड़पदार्थ में राग करके अटक जाए किन्तु जड़वस्तु का स्वभाव तो कुछ राग-द्वेषरूप होने की प्रेरणा करने का नहीं है। जीव के ज्ञान को आवरण होने में निमित्त; दृष्टाशक्ति को रोकने में निमित्त; जीव को भ्रान्ति होने में निमित्त; इत्यादि प्रकार से आठ कर्म हैं। उसका उदय होना तो जड़ की अवस्था है। ज्ञान उन्हें जानता है किन्तु सिर्फ ज्ञान नहीं करके जीव उसमें ममत्व की भ्रान्ति करता है।

जिस प्रकार निर्मल शीशे में उसके सामने रहे कोयले, मल, सोने के गहने इत्यादि दिखते हैं; उसमें शीशे का दोष नहीं है। उस प्रकार आत्मा को वस्तुओं

को जानने में दोष नहीं है। आत्मा चैतन्यज्ञाता है; शान्त, अविकारी, वीतराग है लेकिन वह अपना निर्दोष ज्ञातापना भूलकर वर्तमान अवस्था में शुभ-अशुभ राग करता है; पर में इष्ट - अनिष्टपने की कल्पना व राग-द्वेष द्वारा मनन करता है। इस तरह अज्ञानपूर्वक परभावरूप मनन करता है। अतः उन राग-द्वेष का निमित्त पाकर नवीन रजकण, आवरण का बन्ध होता है। जड़ में मनन करने की शक्ति नहीं है। जीव में प्रेरणा माने मनरूप चिदाभास है; उसके निमित्त से जड़कर्म का बन्ध होता है। राग-द्वेष, इच्छा जीव करता है। यह ठीक है, यह अठीक है, यह मैंने किया, यह मेरा कर्म है - इत्यादि राग -द्वेषमय विकारी परिणाम करनेवाला जीव है। भूलनेवाला कहीं पर भूल करके परभाव में मोहभाव द्वारा रुका है। अतः शुभाशुभभाव में, विकार में मनन करने लगा कि मैंने इसका भला किया, मेरा इस जीव ने भला किया; इस जीव ने मेरा अनिष्ट किया, इत्यादि आर्तध्यान राग-द्वेष द्वारा जीव परवस्तु में अटका। उस भाव का निमित्त पाकर, जड़वस्तु में योग्यता है; अतः वह जीव के साथ आकर एक क्षेत्र में बँधती है। राग के कारण राग की क्रिया; जड़परमाणुओं के कारण मन, वाणी, देह की क्रिया होती हुई दिखती है। आत्मा ज्ञान में ही रुके और मैं पुण्यवाला, रागवाला इत्यादि अनेक सुख-दुःख की कल्पना में रुके नहीं तो जड़कर्म कैसे चिपकें?

जीव के राग-द्वेषरूप भावकर्म के निमित्त से जड़कर्म आते हैं और इसलिए जीव को जड़कर्म का कर्तापना उपचार से कहने में आता है। आत्मा की इच्छा व चञ्चल परिणाम की वृत्ति के बिना रजकण, महीन धूल किस प्रकार चिपकेगी ? जीव के अन्दर राग-द्वेष की चिकनायी हो तो धूल आकर चिपके। जीव के मूलस्वभाव, द्रव्यस्वभाव में चिकनाहट नहीं है किन्तु मैं चिकनायीवाला हूँ – ऐसी मान्यता जीव करता है, अज्ञान करता है। ऐसी जीव की वैभाविकशक्ति की योग्यता से रागरूप-अशुद्ध अवस्था जीव में होती है। उसका निमित्त पाकर नये कर्म सहज प्रेरणा पाकर आते हैं। ऐसी योग्यता कार्मणवर्गणा में है किन्तु दीवार, खम्भा, मकान, पत्थर इत्यादि जड़वस्तु में ऐसी योग्यता नहीं है। अतः वे कर्मरूप परिणमन नहीं करते। समस्त लोक में कार्मणवर्गणा के अनन्त सूक्ष्म महीन रजकण पड़े हैं, उनमें ऐसी योग्यता है कि जीव रागद्वेष करे कि उसी वक्त वे कर्मरूप में बन्ध जाते हैं।

जिस प्रकार कार्मणवर्गणा की कर्मरूप परिणमने की योग्यता है, उस प्रकार मोहनीय का निमित्त पाकर जीव को इच्छा उठती है। मन में चञ्चल परिणाम होने पर अध्यवसाय (वृत्तियाँ) उठती हैं। इन शुभाशुभपरिणामों को जीव अज्ञानभाव से अपनेरूप जानता है और रागरूप परिणमन करके वह राग में रुक जाता है और स्वयं खण्ड-खण्ड होकर ज्ञान करता है। इस कारण से नये परमाणु आते हैं। जीव ने पूर्व में अज्ञान किया था, इस कारण से कर्म बँधे थे। पुनश्च, उनका उदय होने पर जीव ने नया अज्ञान किया। इस प्रकार जीव की जब तक अज्ञानदशा न मिटे, तब तक परम्परा चलती है। कार्मणवर्गणा के सूक्ष्मस्कन्ध समस्त लोक में खचाखच भरे हुए हैं। उनमें गलना, मिलना, टल जाना, बिखरना, अलग हो जाना – ऐसा स्वभाव है। उनमें सक्रियता है किन्तु चेतनता नहीं है। देह में अशातावेदनीय कर्म के उदय से भूख की वेदना होती है, उसमें मोहभाव के कारण राग-द्वेष होते हैं। जीव राग -द्वेष करे कि मैं ऐसे खाऊँ, ऐसे करूँ, लूँ, रखूँ किन्तु उसकी धारणा के अनुसार नहीं होता एवं आहार पेट में जाने पर आहार को तो पता नहीं है कि मैं खून, माँस, हड्डी, नाखून, बाल आदिरूप परिणमन करूँ। किन्तु जड़ का स्वभाव है कि उसकी योग्यता के नियमानुसार वह परिणमन करे। जीव का व कर्म का एक क्षेत्र में संयोगीसम्बन्ध है। जीव के भाव की अस्थिरता व जड़कर्म के बीच निमित्त-नैमित्तिकता है।

जिस प्रकार सूई को पता नहीं है कि मैं खींचकर लोहचुम्बक के पास जाऊँ किन्तु लोहे की सूई में खींच जाने की योग्यता है और पत्थर में चुम्बकरस के कारण उसको खींचने की योग्यता है। इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिकता दो वस्तुओं के बीच हो सकती है। कोई चीज़ अपने कारण से बाधारूप नहीं हो सकती किन्तु उसे दूसरा निमित्तकारण होवे और उसमें वह जुड़ान करे तो उसकी विकारी (बाधारूप) अवस्था होती है। जिस प्रकार सुवर्ण, सुवर्ण के कारण मलिन नहीं कहा जाता किन्तु ताँबे के मिश्रण के कारण मलिन कहा जाता है। जीव की अशुद्धता में जड़वस्तु निमित्त है। उस निमित्त के वश होने पर जीव को संसारी, अज्ञानी, रागी, द्वेषी, क्रोधी इत्यादि कहने में आता है। अतः जीव अज्ञान अवस्था में उपचार से देहादि, नोकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का कर्ता कहा जाता है। जहाँ-जहाँ

रागी आत्मा है, वहाँ-वहाँ बन्ध होने की योग्यतावाले रजकण पड़े हैं और आत्मा जितनी मात्रा में अपने में राग-द्वेष करे, उतनी मात्रा में नये रजकण, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध से चैतन्य के साथ बँध जाते हैं। जड़ को मालूम नहीं है कि हमें जीव को अमुक फल देना है; मुँह में आहार का प्रवेश होने पर आहार को भान नहीं है कि हमें किस प्रकार परिणमन करना है; विष व अमृत को पता नहीं है कि हमें इसका फल देना है किन्तु जो खाये, उसे वैसा फल होवे। इस प्रकार जीव पर का कर्ता हुए बिना, उसका कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध कहा नहीं जाता; जीव की अशुद्धअवस्था को उस कारण से उपचार द्वारा कर्ता कहने में आता है।

जीव परमार्थ से, शक्तिरूप से परमात्मा समान शुद्ध है किन्तु अवस्था से अशुद्ध है। अवस्था में भी यदि बिल्कुल शुद्ध हो तो प्रगट शुद्ध परमात्मदशा चाहिए। यदि जीव को प्रगटरूप से नितान्त शुद्धता हो तो उपदेश सुनने की जरूरत नहीं रहती और देहातीत वीतरागदशा, पूर्ण पवित्रदशा होनी चाहिए किन्तु ऐसी शुद्धता तो मालूम नहीं पड़ती। शुद्धता के लिये पुरुषार्थ भी नहीं है और कथनमात्र को रट रखा है कि आत्मा सदा असङ्ग शुद्ध है। यदि आत्मा अवस्था से भी वास्तव में असङ्ग हो तो तुझे यह अशुद्ध संसारीदशा क्यों दिखती है ? अतः अशुद्धभाव का कर्तापना है – ऐसा मानो। जिस प्रकार लोहे का गोला अग्नि से गर्म किया हुआ हो और उसे पानी में रखो तो पानी को सोख लेता है। अग्नि का प्रत्यक्ष व्यापार नहीं दिखता, फिर भी अग्नि का कार्य प्रत्यक्ष दिखता है; उस प्रकार चैतन्यघन आत्मा, ज्ञाता, निर्दोष है किन्तु वह ज्ञातापना भूलकर यदि राग-द्वेषरूप कषाय; अग्निरूप क्रोध, मान, माया, लोभ का मनन करे तो उस मलिनता का निमित्त पाकर (जिस प्रकार धधकता गोला पानी सोख लेता है, उस प्रकार) आत्मप्रदेश में जड़कर्म ग्रहण हो जाते हैं। पुण्य-पाप मेरे; राग-द्वेष का मैं कर्ता; मन, वाणी, देह की क्रिया, शुभाशुभभाव मेरे द्वारा होते हैं – ऐसी परवस्तु की जो कर्तृत्वबुद्धि रहती है, वह अशुद्धभाव का निमित्त पाकर नवीन कर्मवर्गणा आत्मा की ओर खींचकर बँधत्व को प्राप्त होती है। अतः जीव को पुद्गलकर्म का कर्ता निमित्तदृष्टि से, उपचरित व्यवहार से कहने में आता है। वर्तमान में जीव की अशुद्ध अवस्था दिखती है, फिर भी परमार्थदृष्टि

से देखो तो आत्मा का बन्धस्वभाव नहीं है। जीव पर का कर्ता नहीं है; अज्ञानवश रागभाव का कर्ता होता है। जड़पुद्‌गल परमाणुद्रव्य स्वतन्त्र है। उनकी जो-जो अवस्था बन्धरूप से होती है, उनमें जिस प्रकार से बन्ध होने की योग्यता है, उस प्रकार से जीव के अज्ञानमय राग-द्वेष का निमित्त पाकर रजकण चिपकते हैं। अत: उपचार से जीव, कर्म का कर्ता कहा जाता है। असद्‌भुतव्यवहार से जीव को जड़कर्म का कर्ता कहा जाता है। व्यवहार, माने निमित्त-उपचार। जिस प्रकार घी व मिट्टी का घड़ा दोनों भिन्न हैं किन्तु उनका संयोगीसम्बन्ध होने के कारण लोकभाषा में (व्यवहार से) घी का घड़ा कहने में आता है। घड़ा कोई घी का बना हुआ नहीं है। उस प्रकार निश्चय से जीव पुद्‌गलकर्म का कर्ता नहीं है किन्तु उसे कर्म का कर्ता कहना – यह निमित्त का ज्ञान करानेवाला व्यवहार है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २७-१०-१९३९

तीसरी शङ्का में शिष्य ने कहा कि हे गुरु ! जीव कुछ नहीं करता किन्तु कर्म अपने आप होते रहते हैं। प्रकृति ही अनादि से अपने आप बन्ध-मुक्तपना करती रहती है; अत: मुझे पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं लगती और कदापि ईश्वर भी कर्म का कर्ता हो अथवा जीव का धर्म कर्म करने का हो तो अपनी स्वतन्त्रता से तो छूट नहीं सकता। अत: मोक्ष का उपाय करने की जरूरत मुझे नहीं लगती। इस कर्तापने की सूक्ष्मसंधि कहाँ है ? उसका सदुपाय जो हो, वह समझाइये। इसमें एक प्रश्न ऐसा है कि कर्म का कर्ता कर्म है या नहीं ? इसका उत्तर ७४-७५ वीं गाथा में है कि आत्मा ज्ञाता, निर्दोष, ज्ञानमात्र है – ऐसी यथार्थ प्रतीतिपूर्वक अपने में स्थिर हो तो वह कर्म को प्रेरित करने में निमित्त है ही नहीं किन्तु अज्ञानावस्था में जड़ को कर्मरूप परिणमन कराने में निमित्त होने की एक वैभाविक शक्तिरूप जीव की योग्यता है। क्रोध, मान आदि कलुषितता, हर्ष, शोक, रति, अरति, खेद इत्यादि भाव जीव करता है, तब मिथ्यादृष्टिवश जीव परमाणु में

हो रही अवस्था में राग-द्वेष करता है। ठीक -अठीक मानकर स्वयं परवस्तु में उलझ जाता है और वह निमित्त-नैमित्तिकभाव जड़वस्तु में प्रेरणारूप में प्रतिभासित होता है। अतः उपचारदृष्टि से अज्ञानभाव से, वह अशुद्धरूप से जीव का धर्म है– ऐसा विचार करके देखो। **७४.**

आगे कहते हैं कि :-

जो चेतन करतुं नथी, नथी थतां तो कर्म;
तेथी सहज स्वभाव नहि, तेम ज नहि जीवधर्म।। ७५।।

यदि चेतन करता नहीं, तो नहिं होता कर्म।
तातैं सहज स्वभाव नहिं, नहीं जीव का धर्म।।७५।।

स्वाश्रयदृष्टि के बलपूर्वक औपाधिकभाव से अलग होकर यदि भगवान आत्मा माने कि मैं निर्मल, शुद्ध ज्ञाता निर्दोष हूँ; शान्ति, आनन्द से समतामय हूँ – इस प्रकार प्रथम श्रद्धा में ज्ञानस्वरूप रहे तो पुण्य-पाप, राग-द्वेष का कर्ता नहीं होता और इसलिये कर्म भी नहीं बँधते – ऐसा नियम है। पूर्वकर्म के उदय में जुड़कर शुभाशुभभाव करने का धर्म आत्मा का कोई निजधर्म नहीं है। यदि आत्मा उसका स्वामी तथा कर्ता न होवे तो जड़कर्म कोई जबरदस्ती चिपकते नहीं हैं। शुभाशुभभाव भी मेरे नहीं हैं; मेरा धर्म नहीं है; मैं ज्ञाता, साक्षी, ज्ञायकमात्र हूँ – ऐसा समझकर यदि राग में न रुके और ज्ञान में स्थिर रहे, ज्ञानरूप में टिका रहे तो फिर उन कर्मबन्धन के होने में जीव का अपना निमित्त नहीं रहता। अतः कर्म करने का आत्मा का सहज स्वभाव नहीं है। यदि ऐसा हो तो संसार से मुक्त, सिद्ध परमात्मावस्था प्रगट न हो और सदा कर्म की उपाधि रहे; अतः कर्म करना, यह जीव का स्वाभाविकधर्म नहीं है। पुण्य-पाप, राग-द्वेष, शुभाशुभभाव करना, ऐसा यदि आत्मा का निजधर्म हो तो धर्मी से धर्म किसी भी क्षण भिन्न नहीं रह सकता। जिस प्रकार गुड़ की मिठास किसी भी क्षण गुड़ से भिन्न नहीं हो सकती, उस प्रकार

कर्ता का कार्य (कर्म) कर्ता से क्षणभर भी भिन्न हो नहीं सकता। अत: परमार्थ से क्रोधादि का कर्तृत्व नहीं है और कर्म अनायास तो आत्मा से चिपकते नहीं हैं एवं कोई ईश्वर आदि उस कर्म को चिपकाते नहीं। यदि ऐसा हो और अनायास कर्म होते रहते हों तो कभी भी जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा, ममता आदि से निवृत्त नहीं हो सकता। कर्म करने का जीव का स्वभाव हो तो वह किसी क्षण उस क्रिया से रहित नहीं हो सकता। वह क्रिया छूट नहीं सकती किन्तु ऐसा तो है नहीं। सिद्धभगवान में वह क्रिया नहीं है। उनमें तो ज्ञानमात्रपना है। इस प्रकार वर्तमान में भी प्रत्येक जीव ज्ञान ही करता है, फिर भी अपनी भ्रमणा से मानता है और कल्पना करता है कि मैं पर का करता हूँ अथवा पर मेरा करता है। परवस्तु में अपनत्व की और कर्तृत्व की मान्यता जीव अज्ञानभाव से कर सकता है किन्तु पर का कार्य नहीं कर सकता; मात्र राग द्वारा विविध कल्पना में रत रहता है किन्तु जड़ की क्रिया कर ही नहीं सकता। सूक्ष्मरूप से विचार करे तो जीव, ज्ञान के अलावा कुछ कर नहीं सकता।

कई लोग पूछते हैं कि हमें क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर – भेदज्ञान करके ज्ञानमात्र स्वभाव में रहना ही आत्मा का कार्य है, धर्म है – वह करना। ज्ञानधर्म प्रत्येक क्षण विद्यमान है, हो रहा है; अत: ज्ञान में ठहरकर ज्ञान करना। कोई किसी को कुछ दे सके, ले सके, रख सके या बोलना, चलना ये कोई क्रिया आत्मा से होती नहीं है किन्तु मैं करता हूँ, मेरे द्वारा होता है – इस प्रकार असत्कल्पना जीव करता है। बाहर में मैं कुछ करूँ तो मुझे लाभ हो – ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। जिसे धर्म माना, वह यदि वास्तव में धर्म हो तो कभी भी वह भाव छूट नहीं सकता। शुभराग, दया का भाव, इच्छा, पुण्यपरिणाम आदि जीव का निजस्वभाव नहीं है। आत्मज्ञान प्राप्त करके पुरुषार्थ द्वारा जो लोग मोक्षदशा प्राप्त करते हैं, उनको इच्छा, राग आदि कोई कर्म नहीं रहता। शुभरागादि पराश्रितकर्म है और चेतन का स्वाधीन ज्ञानकर्म है।

आत्मा कैसे कर्ता है, कैसे अकर्ता है ? – इतना यथार्थ जाने तो अनन्त काल में नहीं प्रगट हुआ – ऐसा अपूर्वतत्त्व प्रगट करने का वह उपाय है। निजपद की समझ तो परमसुख प्राप्त करने का यथार्थ उपाय है। लोगों को अनादि से

जड़भाव के कर्तृत्व की मान्यता ऐसी दृढ़ पकड़वाली हो गयी है कि कोई इससे अन्य कुछ कहे तो माने नहीं क्योंकि पूर्व में पराधीनता में ठीक माना है। जिसे ठीक समझा, अपना कर्तव्य समझा, उस मान्यता को कैसे छोड़े ? मैं दूसरों को सुखी कर सकूँ, दूसरों पर उपकार कर सकता हूँ, मैं पर का कार्य कर सकता हूँ – यह मान्यता महापाप है क्योंकि यह अनन्ता अज्ञानभाव है। जिसका पुण्य का उदय हो, उस पर सामनेवाले जीव को उपकार करने की इच्छा, राग आये बिना रहता ही नहीं है। तूने उसे कोई अपना कर्म नहीं दिया है। यदि पर का हो सकता तो तू जितना करना चाहे, उतना हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। कोई कहे कि मैं पर का हर एक कार्य अपनी धारणा अनुसार कर सकता हूँ – ऐसा जो अभिमान है, वह अज्ञान है। देहादि की क्रिया मैं कर सकता हूँ, दान दे सकता हूँ, मैं सेवा करता हूँ, दया पालन करता हूँ – ऐसा अज्ञानी का अभिमान वास्तव में वृथा है। वास्तविकता तो ऐसी है कि जिसे जहाँ से, जिस समय, जिस प्रकार से व्यवहार से निमित्त होना हो, उस समय वह हुए बिना नहीं रहता और नहीं होनेवाला हो, तो बहुत इच्छा करे तो भी कार्य नहीं होता। सच्चे तत्त्व का कारण-कार्य जाने बिना, तत्त्व के भान बिना महामोह के वश होकर मैं दूसरों को सुखी करूँ, दुःखी करूँ, मैं जिन्दा रख सकता हूँ, मैं मार सकता हूँ – ऐसी मान्यता में जो जीव उत्साह रखता है और हर्ष में पागल होता है और उसी में धर्म मानता है; वह अज्ञानी है। ज्ञाता का धर्म क्या ? मैं किसका कर्ता हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? आत्मा कौनसा कार्य कर सकता है ? – उसका विचार कभी धैर्य रखकर करता नहीं है किन्तु भेड़चाल की माफिक जिस मान्यता से संसारी जीव चलते हैं, उस तरह की मान्यता व व्यवहार स्वयं करता है किन्तु मेरा स्वाधीनतत्त्व क्या है ? वह मेरे से ही प्रज्ज्वलित हो सकता है, उसकी विधि क्या है ? – यह जानने का वास्तविक प्रयास तो कुछ करते नहीं है। जगत जो मान रहा है, उससे यह बात निराली है; संसार से बिल्कुल विपरीत है।

दया, दान, सेवा आदि का शुभभाव रागदशा के कारण आ जाए, यह अलग बात है किन्तु इस राग से मेरा भला होगा, राग करने लायक है – यह मान्यता मिथ्या है। लोग बाह्यक्रिया से, सेवा से व पुण्य से धर्म मानते हैं और कहते हैं

कि हम अपना कर्तव्य निभा रहे हैं। अनासक्ति से कर्तव्य करते हैं। ऐसी असत् कल्पना से राग की रुचि में खुद धर्म मानकर बैठे हैं, वे संसार में चाहे जितने चतुर हों किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि वे बिल्कुल मूढ़ हैं। संसार के समझदार व जगत के चतुर – वे मोक्षमार्ग से विपरीत व अनन्त संसार में भटकनेवाले हैं। लोगों को बाहर के स्थूल दिखावे के भुलावे में बहुत ज्यादा मोह हो रहा है। रागी को इच्छा उठे और कदापि योगानुयोग क्रिया होती हुई दिखे, इससे माने कि मैंने सामनेवाले का ऐसा किया, ऐसा नहीं होने दिया किन्तु ये मान्यताएँ भ्रम हैं। क्या हो रहा है, किससे व किस प्रकार से हो रहा है ? – यह देखने की फुर्सत नहीं है। स्वयं अपनी भूल के कारण जगत के जीव संसार में भटकते हैं और सही न्याय यानी सद्धर्म की, आत्मा के घर की बात आती है, वहाँ निषेध करते हैं किन्तु सत्य व सत्य की बात तो त्रिकाल जैसी है, वैसी रहेगी। सत् को संख्या की जरूरत नहीं है।

लोग मानें या न मानें – धर्मात्मा ज्ञानी को इसकी चिन्ता नहीं रहती। जिसे गरज़ हो, वह सत्य की खोज करे। ज्ञानी जगत को सुधारने हेतु रुक नहीं जाते। प्राय: अज्ञानीजनों को ज्ञानी की बात जल्दी से हृदय में बैठती नहीं है। तीनों काल के ज्ञानी एक ही बोध दे गये हैं कि आत्मा स्वस्वरूप के भानपूर्वक अपने ज्ञानभाव का कर्ता है। आत्मा का धर्म पर का कुछ करना – यह नहीं है। आत्मा की यथार्थ प्रतीति और उस रूप श्रद्धा, ज्ञान में टिके रहना – यह ज्ञान का कार्य है। फिर भी उल्टा चले और अपने गुण को विपरीतरूप से माने तो अज्ञानभाव से राग-द्वेष, क्रोधादि करे – इस दृष्टि से तो मिथ्याज्ञान का कर्ता होवे। जड़ की क्रिया मैं करता हूँ, इस भाव से तो भटकना होगा। अत: शुभअशुभराग तथा अपने अधीन नहीं ऐसी बाह्य क्रिया का कर्तापना मेरा है, इत्यादि अभिमान छोड़े तो धर्म की जाति क्या है ? – यह मालूम पड़ता है, समझ में आता है।

प्रश्न - अन्तर में विचार करें तो अन्तरनाद नहीं आता कि तेरा कर्तव्य ऐसा ही है ?

उत्तर - जब तक यथार्थ वस्तुतत्त्व का भान नहीं है, तब तक उसका ज्ञान विपरीत (अज्ञानमय) है। हिंसा करनेवाले, बकरों को काटनेवाले कसाई को क्या

अन्तरनाद आयेगा ? ज्ञान में उल्टा बैठा है; अतः वह उल्टा ज्ञान करता है। मैं राग-द्वेष, पुण्य -पाप, मन-वाणी-देह की क्रिया का कर्ता हूँ, वह मेरा कर्तव्य है, शुभपरिणाम मेरे हैं – इस प्रकार अपने आप को भूला होने से ऐसा मानता है कि यही मेरा धर्म है अथवा ये सब ईश्वराधीनतापूर्वक हुआ करता है – ऐसा मानता है और जो प्रारब्धानुसार होता है, उसमें ठीक-अठीक की कल्पना द्वारा कर्तृत्व-ममत्वबुद्धि करता है।

अनन्त कर्मपरमाणु-पुद्गलों का नाटक हो रहा है। शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप की वृत्ति से ऊपजाता है। उसमें निरन्तर कर्तृत्व, ममत्व कायम रखकर स्वयं अपने ज्ञान में विपरीत पड़ा होने के कारण जड़ के रस का वेदन करता है और अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कर्ता, व सुख-दुःख की पराधीनता का भोक्ता होता है।

अन्तरङ्ग घातिकर्म जो मोह हैं, वे सूक्ष्म रजकण धूल हैं। उसके उदय में जुड़ने से अज्ञानी जीव को इष्ट-अनिष्ट की वृत्ति उठती है। इन्हें अपने स्वभाव में निकलती हुई मानकर परवस्तु में अपनेपन की भ्रान्तिवश ऐसा करूँ तो ठीक, ऐसा करूँ तो दया का पालन हो, इत्यादि अनेक भूलवाली मान्यता रखकर अज्ञानदशा में जीव टिका हुआ है। जो कार्य जड़ की अवस्था में होता है, उसमें अपना अधिकार मानकर अपनी अशुद्धता बनाये रखना – यही संसार है।

'जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत;
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत।'

जगत के जीव सुख के कामी हैं; दुःख किसी को नहीं चाहिए। इसलिए प्रथम बात रखी कि दुःख चाहिए नहीं, फिर भी क्यों आता है ? तो कहते हैं कि अपने स्वरूप की यथार्थ समझ के अभाव के कारण दुःख आता है किन्तु यों नहीं कहा कि अमुक पुण्य, अमुक देहादि की क्रिया, शुभराग इत्यादि नहीं किया, इस वज़ह से दुःख आया। जीव का कर्म, कार्य तो ज्ञानमय है; ज्ञान से वह भिन्न नहीं है और उसमें कहा है कि स्वयं अनादि अनन्त है। अपने आप को भूला, इसलिए उल्टा पड़ा और अनन्त दुःख पाए और यदि अभी भी नहीं समझा तो भविष्यकाल में भी अनन्त दुःख को प्राप्त होगा। उस दुःख के मूल का छेदन जिनके बोध से किया, ऐसे श्रीसद्गुरुभगवन्त को नमस्कार करता हूँ।

जीवमात्र का कार्य एक सच्ची समझ करना ही है। जैसा स्वरूप का ज्ञान लक्षण है, वैसा उसे नहीं मानकर अन्यथा स्वीकार किया। उस भूल को कैसे मिटाना– उस विधि की लोगों को खबर नहीं है। लोगों को लौकिक उपदेश चाहिए तो ऐसे स्कूल बहुत हैं। वहाँ कहते हैं कि कुछ करो, सक्रियकार्य करो, ऐसा करना चाहिए, इत्यादि-इत्यादि। उसकी वाह-वाह करनेवाले भी बहुत होते हैं क्योंकि इस प्रकार आसान बातों में धर्म माना है। उन्हें मध्यस्थापूर्वक सच्चा तत्त्व समझना नहीं है। देहादि की क्रिया को अपनी मानने का अभ्यास अनादि से है; इसलिए कुछ करूँ, पुण्य करूँ, दया करूँ तो मुझे सुख हो। इस प्रकार कुछ इच्छा करूँ, विकार करूँ, (तो) उससे कुछ लाभ होगा – ऐसा मानते हैं।

शुभाशुभरागभाव से अरागीपना, यानी विभाव से निजगुणरूप स्वभाव का विकास करना चाहता है किन्तु ऐसा नहीं बनता। कभी किसी समय कर्तृत्वबुद्धि में योगानुयोग ऐसा होता हुआ दिखता है किन्तु गहरायी से सोचे तो अपनी इच्छानुसार नहीं हुआ– ऐसा मालूम पड़ता है। इच्छा है, वह दुःख का लक्षण है। यदि सुख हो तो इच्छा नहीं होती। इच्छा होती है, उसमें परनिमित्त की आड़ है; उसमें विरुद्धता ही है। जीव सुख हेतु बहुत कुछ करते हैं, फिर भी सच्चा सुख मिलता नहीं है। परवस्तु में सुख है – ऐसी मान्यता के कारण पराश्रित सुखबुद्धि नहीं मिटती। परवस्तु में कदापि सुख नहीं है। जड़ का कार्य चेतन के अधीन नहीं है; आत्मा का कार्य ज्ञानमात्र है। जिस प्रकार गन्ने के अन्दर रस है, उस प्रकार ज्ञाता चैतन्य आत्मा केवल ज्ञानरसवाला ज्ञायक ही है; पुण्य-पाप आदि क्रिया करने का उसका धर्म नहीं है। पर के कर्तृत्व अपना मानना – यह महापाप है, स्वरूप की हिंसा है, ज्ञान का आवरण बढ़ाने का उपाय है। अज्ञानभावपूर्वक जो राग-द्वेष का कर्तापना है, वह जीव का मूलधर्म नहीं है किन्तु जीव की कल्पना है। उल्टी मान्यता है; अतः वह जीव का धर्म नहीं है। **७५.**

आगे शिष्य ने आशङ्का की थी कि '**आत्मा सदा असङ्ग ने करे प्रकृति बन्ध**' इसका उत्तर अब इस गाथा में देते हैं कि :-

केवळ होत असंग जो, भासत तने न केम ?असंग छे
परमार्थथी, पण निजभाने तेम।। ७६।।

है असंग यदि सर्वथा, तुझे न भासे क्यों ?
असंग है परमार्थ से, यदि निज अनुभव त्यों।।७६।।

तेरा स्वरूप शुद्धशक्तिरूप से है; अवस्था से भी केवल असङ्ग व निर्मल होता तो तुझे शुरू से ही क्यों भासित नहीं हुआ ? असङ्ग शुद्ध तो निजभान होने पर पुरुषार्थ से प्रगट होता है। शक्ति से, स्वरूप से, द्रव्य स्वभाव से तो शुद्ध परमात्मपना है। जिस प्रकार तिल में तेल शक्तिरूप से है तथा गन्ने में रस है, उस प्रकार; किन्तु उसे पीसकर उस तरह की क्रिया करे बिना वैसे ही उसका स्वाद लिया नहीं जा सकता। उस प्रकार आत्मा आनन्दमूर्ति, ज्ञाता-दृष्टा भगवान है। वह परमार्थ से तो ज्ञानानन्द शुद्धपवित्र है किन्तु वर्तमान अवस्था में भूल है, मलिनता है। उस उपाधि से रहित मैं नित्यस्वभाव से पूर्णशुद्ध कृतकृत्य हूँ – ऐसी सच्ची श्रद्धा द्वारा रागादिक से भिन्न होकर, पुरुषार्थ द्वारा प्रथम से ही उज्ज्वलता करे और यथार्थ स्वानुभव की प्रतीति, सम्यग्ज्ञान और चैतन्यतत्त्व में टिके रहनेरूप एकाग्रता द्वारा जैसा तत्त्व है, वैसा जाने -अनुभव करे, तो वर्तमान अवस्था में ज्ञानानन्द, असङ्ग, शुद्ध हो सकता है। तू स्वभाव से तो पुण्य-पाप रागादि वाला नहीं है, केवल असङ्ग हो; द्रव्यस्वभाव से असङ्ग हो। परमार्थ से तेरा स्वरूप असङ्ग है, शुद्ध है किन्तु सर्वथा असङ्ग नहीं है, यानी अवस्था में असङ्ग (शुद्ध) नहीं है। किन्तु पर में रुचिपूर्वक, राग की रुचिपूर्वक मलिनता, अशुद्धता है – उस अशुद्धता को पुरुषार्थ द्वारा मिटाकर शुद्धदशा प्रगट हो तब असङ्ग हुआ जा सकता है।

शिष्य ने शङ्का की थी कि ईश्वर की प्रेरणा से ही काम होते हों और मेरा कर्तव्य सब ईश्वराधीन होता हो तो मुझे पुरुषार्थ करने का कोई मतलब नहीं है। मेरा मोक्ष ईश्वर की कृपा से होगा किन्तु यह ठीक नहीं है। उसका अर्थ तो ऐसा होता है कि अब तक संसार में तुझे भटकानेवाला ईश्वर हुआ। गुनाह करनेवाला तू और उसे टालनेवाला ईश्वर किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। अत: जिस विधि से मार्ग है, उस विधि से समझे, तो ही मार्ग समझ में आ सकता है। **७६.**

अब, ईश्वर का वास्तविक स्वरूप कहते हैं :-

कर्ता ईश्वर कोई नहि, ईश्वर शुद्ध स्वभाव;
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव।। ७७।।

कर्ता ईश्वर कोई नहिं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
अथवा प्रेरक मानें तो, ईश्वर दोष-प्रभाव।।७७।।

प्रगटदशा में भी जिसका स्वभाव पूर्णशुद्ध हुआ है, जो राग-द्वेष, इच्छा-उपाधिरहित हैं, सबसे आखरी की पूर्णदशा, ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वभाव जिसे प्रगट हुआ है – उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहता। यदि कुछ करने का बाकी रहे तो व्याकुलता रहती है और जिसे व्याकुलता हो, उसे ईश्वर नहीं कहा जाता। यदि ईश्वर को कुछ करना बाकी रहे तो उसे ईश्वर नहीं कहा जाता। आत्मा का स्वभाव ऐसा अगुरुलघु है कि पूर्णशुद्धता प्रगट हो जाए, उसके बाद उसमें वृद्धिगत होने के लिये कुछ बाकी नहीं रहता। पूर्णशुद्धता बेहद, अमर्यादित है। आत्मा जब सभी कर्म कलङ्क उपाधि से मुक्त हो, तब उसमें अशुद्धता का कोई अंश नहीं रहता। ऐसा पूर्णशुद्ध आत्मस्वभाव जिसे प्रगट हुआ है, वह ईश्वर है। उसे जगत की उपाधियों का कर्ता या इच्छावाला कहना – वह दोषपूर्ण है। वस्तु का स्वभाव अगुरुलघु है। अगुरु माने पूर्णता हुई, फिर वह पूर्णशुद्धता की मर्यादा छोड़कर बढ़ नहीं सकता; अलघु माने संसार अवस्था में ज्ञानगुण को बहुत आवरण आ जाए और चेतनाशक्ति अत्यन्त कम हो जाए, फिर भी ज्ञान की अल्पतम खिलवट (लघुज्ञान) तो किसी भी समय नहीं मिटती। जिसकी दशा पूर्ण कृतकृत्य हुई और अवस्था से शुद्धपरमात्मा हुए, वे ईश्वर हैं। वे जगत के जीवों का कुछ नहीं करते। सृष्टि का कोई कार्य नहीं करते, नाहीं करवाते हैं। जीवों को राग-द्वेष के लिये प्रेरणा करे – ऐसा आरोप ईश्वर पर लगाना, यह ईश्वर को दोषयुक्त मानने जैसा हुआ। जिसे स्वतन्त्र सच्चा पुरुषार्थ करना नहीं है, वह कुछ-कुछ कल्पना कर बैठता है और पराश्रितापूर्वक मोक्षसाधन मानता है अथवा कुछ करने से मोक्ष हो जायेगा – ऐसा मानता है किन्तु

ऐसा है नहीं। स्वयं ही अपना ईश्वर है। इस प्रकार अपना यथार्थस्वरूप सत्समागम द्वारा जानने में आये तो स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा राग का अभाव होनेरूप ज्ञानदशा का अभ्यास और ज्ञान की स्थिरतारूप साधन, क्रिया से इष्टसुख की प्राप्ति होती है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २८-१०-१९३९

बहत्तरवीं गाथा का उत्तर ७६, ७७वीं गाथा में कहा कि दोष करनेवाला तो स्वयं अशुद्धआत्मा है; स्वयं अपने आप को भूलकर परवस्तु को निमित्त बनाता है। इस प्रकार अज्ञानी को अज्ञान का कर्तृत्व है। जो करे, सो भुगते – इसमें ईश्वर का हाथ होना सम्भव नहीं है और स्वयं को, जो करनेवाला कार्य है, उसे ईश्वर कर दे – ऐसा होना सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वाधीन है। उसके गुण-दोष की अवस्था कोई दूसरा पलट दे तो पराधीनता आये और वस्तु का अभाव होनेरूप दोष आ जाए।

आत्मा अवस्था से यदि बिल्कुल निर्मल, शुद्ध ही हो तो उसे कुछ उपाधि नहीं होनी चाहिए किन्तु ऐसा है नहीं। कर्म अनायास ही होते रहते हों तो उसका अर्थ यों हुआ कि जीव ने स्वयं ने इच्छा नहीं की और कर्मप्रकृति का अपने आप, रागादि के निमित्त बिना, बन्धन-छूटना हुआ ही करे। यदि ऐसा हो तो उस प्रसङ्ग से मुक्त होने का उपाय सम्भव नहीं है। ईश्वरादि कोई जबरदस्ती कर्म चिपका दे तो जीव कभी मुक्त हो ही नहीं सकता। अज्ञानपूर्वक जीव स्वयं औंधा पुरुषार्थ कर सकता है और सत्यपुरुषार्थ द्वारा शुद्ध हो सकता है।

पूर्व के कर्म, जीव के साथ बँधे हुए हैं। वे जीव को अवरोधरूप हैं – ऐसा नहीं है किन्तु पूर्व में स्वयं ने भूल की है; वर्तमान में ऐसी भूल करना चालू रखे तो उन्हें निमित्त कहा जाता है। जिन लोगों को अतीन्द्रियज्ञान का पुरुषार्थ करना नहीं है, वे कहते हैं कि क्या करें ? – अन्तरायकर्म आड़े आते हैं। वास्तव

में तो तत्त्व की रुचि नहीं होने के कारण पुरुषार्थ करता नहीं और पर को यानी कर्म को, निमित्त को दोषी ठहराता है और कहता है कि मुझे इतना अन्तराय है, इसलिए मेरे से कुछ हो नहीं रहा; जो कुछ होता है, वह कर्मप्रकृति के आधार से होता है। इस प्रकार पुरुषार्थहीन होकर संसार में भटकता है। फिर कोई कहता है कि अपने करने से कुछ नहीं होता। कुछ भक्ति करें, दानपुण्य करें तो ईश्वरकृपा हो। सारा कार्य ईश्वरेच्छानुसार होता है; अपना सोचा हुआ कुछ नहीं होता। यह मान्यता भी झूठी है। स्वयं गहरायी से भीतर में सोचे कि मैं कुछ राग-द्वेष की चिन्तवना करता हूँ या नहीं और इन्द्रियाँदि परवस्तु में और पुण्यादि में मुझे सुखबुद्धि, ममत्वबुद्धि होती है या नहीं ? इस प्रकार सोचने से मालूम पड़ता है कि भूल तो मेरी होती है। भूल तो स्वयं करे और माने यों कि भूल करवाने और गुण करवाने कोई और आता है – यह कैसे सम्भव हो ? खुद को अतीन्द्रिय वस्तुतत्त्व का पुरुषार्थ करना नहीं है और दोष निकालना है दूसरे का कि मुझे अन्य लोग रागी-द्वेषी, सुखी-दु:खी करते हैं, अथवा सब कुछ ईश्वरेच्छानुसार हुआ करता है। **'हरि ने सोचा हो सो होवे,'** हम तो कुछ करते ही नहीं हैं, सब कुछ उसके आधार से हो रहा है। यदि ऐसा हो तो गुण-दोष का कर्ता जीव साबित नहीं हुआ और ऐसा मानने पर तो बहुत दोष खड़े हो जायेंगे।

'हरि' का अर्थ ऐसा है कि पुण्य-पाप, राग-द्वेष, शुभ-अशुभवृत्ति की मलिनतारूप पाप के समूह को हर ले, नाश कर दे। वह चैतन्यआत्मा हरि है; अन्य कोई हरि नहीं है। जड़ में भी अपनी वस्तुशक्ति से ईश्वरत्व है। जड़प्रकृति की क्रिया भी स्वतन्त्र है। उसका पलटना भी नियमबद्ध होता है किन्तु उसमें ज्ञान नहीं है। श्रीमद्जी ने उनको जड़ेश्वर कहा है। जड़ में चैतनत्व नहीं है; जीव तो प्रत्यक्ष चिन्तवन करता है। राग -द्वेष मैंने किये, मन-वाणी-देह के कार्य मैं करता हूँ, दया-सेवा करुँ – ऐसा अज्ञानी जीव मानता है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया इत्यादि चिन्तवना तथा ग्रहण, अग्रहण के विकल्प करता है और ठीक-अठीक मानता है।

जड़वस्तु का ग्रहण आत्मा नहीं करता; फिर भी अज्ञानदशा में जीव मानता है कि मैं परवस्तु का ग्रहण-त्याग करता हूँ। यह मान्यता विपरीत है। अपने ज्ञान में विपरीत मान्यता करनेवाला जीव स्वयं स्वतन्त्र है। क्षमा, दया, क्रोधादि भाव से

यदि जीव प्रवर्तन नहीं करता तो उसे किसी तरह जड़ का सङ्ग नहीं होता। क्रोध न करे तो स्वयं क्रोधी नहीं होता। पूर्व में रागादि के निमित्त से बँधे हुए शुभ-अशुभकर्म का जीव के साथ संयोग, सम्बन्ध है। जीव स्वयं प्रकृति के उदय में जुड़े तो नये राग-द्वेष होते हैं और इससे नया कर्मबन्धन होता है। अपने अपराध के कारण देहधारी बनकर जीव को भटकना पड़ता है; अशान्ति होती है। वह जीव की अपनी भूल का फल है। अज्ञानी परवस्तु में इष्ट-अनिष्टपना मानता है, इसलिये बन्धन होता है किन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को जड़ व चेतन की भिन्नता, स्वतन्त्रता स्पष्ट दिखती है; वे जानते हैं कि मैं शुद्ध हूँ, अविनाशी हूँ, रागादि पुण्य-पाप तथा देहादि का कर्ता नहीं हूँ, उसका स्वामी नहीं हूँ। इस प्रकार असङ्ग, निर्मल, वीतरागदृष्टि के भान द्वारा वे मानते हैं कि मुझमें व सिद्ध परमात्मा में परमार्थ से तो कोई फ़र्क नहीं है। मैं निर्दोष, वीतराग ज्ञाता-दृष्टा हूँ। ऐसी निर्दोषदृष्टि होने के कारण ज्ञानी को आत्मतत्त्व का निरन्तर, धाराप्रवाहरूप ज्ञान विद्यमान ही रहता है। स्वयं (के पुरुषार्थ) की थोड़ी कमज़ोरी के कारण रागादिक की अल्प अस्थिरता आती है किन्तु रागादि की इच्छा व रुचि उन्हें नहीं होने के कारण तत्त्वदृष्टि से वह आत्मा का कार्य नहीं है। आत्मा पर का कर्ता तो नहीं है किन्तु धर्मी जीव परमार्थ से रागादि का कर्ता भी नहीं है क्योंकि उसे वीतरागदृष्टि है। पुरुषार्थ की कमज़ोरी के कारण मेरी वर्तमान अवस्था मलिन है, यह दोष है। ऐसा जानने के कारण अपना सत्य पुरुषार्थ बढ़ाता है। मैं परमार्थ से निर्दोष हूँ, ऐसा सोचकर अस्थिरता से होनेवाले रागादि का भी त्याग करता है। रागादि का त्याग करना यानी रागरहित अपने ज्ञान में जमना, टिकना – यह कर्ता का धर्मकार्य है किन्तु पुण्य-पाप, शुभाशुभभाव धर्म नहीं है। धर्म तो स्वच्छ, उज्ज्वल, निर्मल है। सम्यग्दर्शन का बल ऐसा है कि मिथ्यात्वसम्बन्धित कोई दोष उत्पन्न होने नहीं देता। अत: सम्यग्ज्ञानी उपाधिभाव का कर्ता नहीं है किन्तु ज्ञाता है। पुरुषार्थ की कमज़ोरी के कारण अस्थिर होने से वर्तमान में अल्प बन्ध होता है, उसे दृष्टि की अपेक्षा से बन्ध नहीं माना। मैं निर्मल, निर्दोष, स्वाधीन तत्त्व हूँ; पर का कर्तव्य मेरे अधीन नहीं है। मैं ज्ञायकमात्र, ज्ञान का कर्ता हूँ। इस प्रकार अभिप्राय बदल गया; अत: त्रिकाल शुद्धस्वभाव का दृढ़ अभिप्राय हुआ। ऐसा दृढ़ अभिप्राय होने पर जड़प्रकृति का ज़ोर भासित नहीं

होता। अनन्त संसारभ्रमण का कारण जो मिथ्याभाव है, वही मिट गया; अतः अब अल्पकाल संसार में रहना होगा। यदि तीव्र ज्ञानदशा की स्थिरता का पुरुषार्थ करे तो शीघ्र मुक्ति होवे और मन्द हो तो थोड़ा ज्यादा समय लगे। आत्मा का भान होने पर अन्तः क्रोड़ाक्रोड़ी सागर की कर्मस्थिति रहती है किन्तु अधिक बन्धन नहीं होता। धर्मात्मा को संसारप्रसङ्ग में रहना होता है, फिर भी उन्हें ज्ञानी व निर्दोष, वीतरागदृष्टिवन्त बताया है क्योंकि उनकी मान्यता अन्यथा नहीं है; मिथ्याप्रवर्तन नहीं है। वे सम्यक्प्रतीति, सम्यग्ज्ञान व उसकी दशा के अनुपात में सम्यक्चारित्ररुप स्वगुण में टिके हुए हैं किन्तु जिसे तत्त्व का, हित-अहित का भान नहीं है और (सिर्फ) बातें करे और माने कि मैं शुद्ध हूँ; रागादि में एकमेक होकर बैठा हूँ, फिर भी कहता है कि कर्म अपने आप होते रहते हैं, मैं उनका कर्ता नहीं हूँ; आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप कुछ नहीं है क्योंकि सिद्धपरमात्मा में भी नहीं है तो ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। उसके बारे में आगे आयेगा कि –

'मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर छूट्यो न मोह;
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह।'

आत्मा शक्तिस्वभाव से शुद्ध है किन्तु अवस्था से वर्तमान में अशुद्ध है – यह तो देखे नहीं और खुद को शुद्ध ही माने और सत्यपुरुषार्थ करे नहीं, उनको मिथ्यादृष्टि मानना। आत्मा अपने आप को भूलकर क्रोधादि राग-द्वेष में प्रवर्तन करता है। अपराध किये बिना ही जबरदस्ती बन्ध हो, ऐसा सम्भव नहीं है किन्तु जीव तो प्रत्यक्ष राग -द्वेष का चिन्तवन करता है, यह जाना जा सकता है।

ईश्वरादि, कर्म जबरन् थोप दे अथवा मुक्त कर दे – यह मान्यता वाजिब नहीं है क्योंकि इसमें जीव स्वयं तो पराधीन हो गया। जो पराश्रित होता है, वह सुखी या स्वाधीन नहीं हो सकता। अतः ईश्वर दूसरे जीवों में गुण-दोष उत्पन्न नहीं करते; अतः प्रथम ईश्वर का स्वरूप निश्चित करना चाहिए। इसे समझे बिना अनादि से जगत में पराधीन मनोदशा अपनी भूल से चली आ रही है। अतः किसी के ऊपर गुण-दोष का आरोप करता है। मेरी अपनी भूल है और भूल को दूर करना आवश्यक है – ऐसा उसे नहीं लगता और इसलिये दोषरहित होने का सत्यपुरुषार्थ वह करता नहीं है।

लोगों में एक ऐसा अभिप्राय है कि ईश्वर कर्ता है। वह सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला व विनाश करनेवाला है, इत्यादि जो मान्यताएँ खड़ी की हुई हैं; उन गलत मान्यताओं को स्वीकार करने से स्वयं अपनी स्वाधीनता समझ नहीं सकते और स्वाधीन पुरुषार्थ उठा नहीं सकते। जगत को सुख-स्वाधीनता चाहिए, फिर भी पराधीन मान्यता रखनी है, यह कैसे सम्भव है ? उल्टी मान्यता के बहुत सारे प्रकार हैं। कोई मानता है कि क्या करें, हमारे कुल का नियम है; ऐसा करें तो ही देव-देवियों की कृपा रहे; शान्तिनाथ भगवान की माला फेरे तो शान्ति होवे, कुछ खो गया हो, कोई बीमार पड़ा हो तो मन्नत रखे कि कोई देवी कृपा करेगी या ईश्वर दे देगा; – इस प्रकार धर्म के बहाने से कई तरह की मिथ्या मान्यताएँ प्रवर्तमान हैं। गिनती करो तो उनका अन्त नहीं आ सकता। कुछेक कहते हैं कि हमारे अन्दर कुछ करने की शक्ति नहीं है; अतः ईश्वर की भक्ति करें, किन्तु ईश्वर कौन है ? कैसा है ? इसकी खबर तो उसे है नहीं तो भक्ति करेगा किसकी? बनारसीदासजी कहते हैं कि **'दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहाँसे होय ?'** हे नाथ! मेरा उद्धार करना। तू मेरा आधार है, तू जगत का पालन-पोषण करनेवाला है, इत्यादि प्रकार की भक्ति से कल्याण की इच्छा करता है किन्तु कल्याण क्या और कैसे हो? उसकी खबर तो है नहीं; अतः वह सिर्फ राग की भक्ति करता है।

प्रश्न - लोक में ईश्वरकृपा की बात कही जाती है न ?

उत्तर - पुण्य के रजकण योगानुयोग उदय में आये, तब जीव कल्पना करता है कि ईश्वर की कृपा हुई; उसे वस्तुतत्त्व का भान नहीं है। वह औंधी खतौनी करता है और ईश्वर जगत का कर्ता है, इत्यादि अनेक प्रकार की कल्पना खड़ी करता है। वास्तव में तो सभी आत्मा स्वतन्त्र हैं। चैतन्यमूर्ति आत्मा की यथार्थश्रद्धा, ज्ञान व अनुभव स्वयं से ही होते हैं। जन्म-मरण, सुख-दुःख, राग-द्वेष व मिथ्या मान्यता भी स्वयं से ही होती है। अपने ज्ञानगुण का उल्टापन या सुल्टापन अन्य कोई नहीं कर सकता। यदि कोई अन्य कर सके तो जीवतत्त्व का अभाव मानने का प्रसङ्ग आये। दोष करना जीव का स्वाभाविकधर्म नहीं है किन्तु पर्यायधर्म है। इष्ट-अनिष्टपने की मान्यता स्वयं ही करता है। मैं ऐसा करूँ, मैं ऐसा न करूँ –

ऐसे मानता है किन्तु कार्य तो उस-उस वस्तु में, उस-उस वस्तु के कारण होनेवाला हो, तभी होता है। फिर भी बीच में अपना कर्तृत्व व ममत्व स्थापित करता है। उन्हें वस्तु का भान नहीं है। वस्तुतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। वे मानते हैं कि मैं दूसरों को सुखी कर सकता हूँ, दु:खी कर सकता हूँ; उपकार कर दूँ, रख लूँ। और मानते हैं कि देव की श्रद्धा रखे तो ठीक हो जायेगा तथा इस प्रकार व्यवस्था रखें, तो सुखी हो जाए। इस आदमी ने ऐसा कर दिया, इससे मुझे सुख होगा, इत्यादि कल्पना द्वारा तथा पराधीन मान्यता द्वारा वे परवस्तु में सुखबुद्धि के इच्छुक रहते हैं।

पुण्य के बिना बाहर के संयोग नहीं मिलते, – इतनी श्रद्धा जिसे नहीं होती, उसे आत्मा का अनुभव कैसे हो ? कभी पुण्यादि का योग हो, तब ऊपरी दृष्टि से मेरा धारा (विचारा) हुआ होता है – ऐसा माने और जब पुण्य का इस प्रकार का संयोग न हो और अपनी इच्छानुसार न हो, तब दूसरे को देव, ईश्वर आदि व्यक्ति की कल्पना करके माँगता है कि हे देव ! हे नाथ ! मेरा भला करना। आप अनाथ के नाथ हो, इत्यादि-इत्यादि। हम सब इकट्ठे होकर प्रार्थना करेंगे तो ईश्वर दु:ख दूर करेंगे – ऐसा बहुत लोग मानते हैं किन्तु आत्मा स्वयं ही शुद्ध, अविकारी सुख, आनन्द से भरपूर है। उसे पहचानकर उसमें जम जाए तो सारे दु:ख मिट जाते हैं, फिर भी स्वयं सत्स्वरूप आत्मा को भूलकर खुद का नुकसान करे; उस भूल का फल स्वयं भुगते और माने के ईश्वरादि हमारा दु:ख हर लेंगे, हमें दु:ख भोगने नहीं पड़ेंगे किन्तु यह मान्यता विपरीत है। वास्तव में तो अज्ञानभाव का कर्ता स्वयं ही है। ईश्वरपना तो आत्मा का शुद्धस्वभाव है; वह इच्छारहित एवं देहरहित होता है।

फिर भी यहाँ पर ईश्वर या विष्णु आदि जगतकर्ता का किसी तरह दृष्टान्त के तौर पर स्वीकार करें और उस पर विचार करें। यदि ईश्वर आदि कर्म को लिपटानेवाले हो, तब तो फिर बीच में जीव नाम का कोई पदार्थ भी नहीं रहा क्योंकि ज्ञान, प्रेरणा आदि धर्मयुक्त जीव का अस्तित्व नहीं रहा और इस प्रकार तो जीव नाम की स्वतन्त्र वस्तु नहीं रही क्योंकि प्रथम तो राग-द्वेष, इच्छा-अनिच्छा की चिन्तवना करनेवाला जीव मान्य रखें, तब तो जीव स्वतन्त्र व भूल करनेवाला

सिद्ध होवे किन्तु यहाँ तो ईश्वर को गुण-दोष का उत्पादक सिद्ध किया। इसलिए ईश्वर करे, करवाये तो ईश्वर कर्ता सिद्ध हो। जीव कुछ गुण-दोष करे नहीं। गुण का यदि भान न हो तो उसे चैतन्य कहा नहीं जाता। आत्मा स्वतन्त्र होने से ज्ञाता के रूप में रहकर गुण करे तो दोष न होवे; आनन्द होवे। दोषादि न करे तो रागादि भूलरहित अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखे किन्तु यहाँ तो गुण-अवगुण करनेवाला कोई दूसरा यानी ईश्वर हुआ – ऐसा मानें तो इसके बारे में सोचना पड़ेगा, अर्थात् ऐसा होना सम्भव नहीं है। यह दलील बहुत ऊँची है। गुण-अवगुण करने की शक्ति जिसके अन्दर नहीं है, वह तो अवस्तु सिद्ध होगी, मिथ्याकल्पना साबित होगी। किसी के आधार से बात करनेवाला आकाशपुष्प की आशा करता है। शास्त्र में ऐसा लिखा है, इसलिये हमें ऐसा लगता है, इत्यादि कुतर्क करता है। जो स्वयं न्यायपूर्वक वस्तुतत्त्व का सत् अपने द्वारा सिद्ध न करे और ईश्वरेच्छा बलवान है, इत्यादि अभिप्राय माने, वह अपना अस्तित्व देखता नहीं है। कई लोग बात करते हैं कि मोह दु:ख का कारण है किन्तु ममता कैसे कम करनी ? – उसकी तो कुछ खबर नहीं है। विषय-भोग, धन, स्त्री, पुत्रादि के प्रति प्रेम, ममता रहे और कहे कि सब कुछ ईश्वरेच्छानुसार होता है। लड्डू खाये तो वह ईश्वरेच्छा; पाँच इन्द्रियों के विषय, काम-भोग-तृष्णा में स्वयं टिका है और डालता है ईश्वर के ऊपर। शास्त्रादि सुनकर कहे कि आत्मा नित्य है; ऐसा है, वैसा है इत्यादि किन्तु वास्तव में तो उसे परमार्थतत्त्व की नित्यता भासित ही नहीं हुई है। क्रोधादि तथा इच्छा, विचार-मनन आदि धर्म द्वारा चेतन का अस्तित्व (हयाती) दिखता है, उसे चूककर क्रोधादि, प्रेरणादि ईश्वरकृत मान लिये। अत: ये तो ईश्वर के गुण सिद्ध हुए, तो फिर जीव का बाकी क्या स्वरूप रहा कि उसे जीव यानी आत्मा कहें! इससे सिद्ध होता है कि कर्म ईश्वरप्रेरित नहीं है किन्तु आत्मा के स्वयं के ही किये हुए मानना उचित है।

जो स्वयं ममतावश होकर दु:ख मोड़ ले और दूसरों के ऊपर डाल दे, उसने जीव का स्वाधीन सुख, निरूपाधिक तत्त्व नित्य है, – ऐसा नहीं माना। विपरीत अभिप्राय अनन्त संसार में भटकने का बीजभूत कारण है, वही स्वयं हिंसा है; स्वयं का अपराध है। बहुत लोग कहते हैं कि हम 'आत्मा हैं, नित्य हैं' – ऐसा मानते

हैं किन्तु अपनी कल्पना को रुचे, उस प्रकार उनका मानना होता है। विरोधरहित ज्ञान क्या है ? – वह जाना ही नहीं है। सच्चा जाना हो, उसके अभिप्राय में बिल्कुल निर्दोषता होनी चाहिए। सच्चा अभिप्राय हुआ कि छुटकारे का द्वार खुल गया। जो तत्त्व अनन्त काल में समझ में नहीं आया, उसे समझने का तथा समझकर तद्अनुसार पुरुषार्थ करने का मार्ग कोई अपूर्व व अलौकिक होना चाहिए। यह समझने के लिये कोई अपूर्व विचारदशा, मुमुक्षुता चाहिए; इसका कुछ विचार, मनन नहीं है और लोकसंज्ञा से औघिक मान्यता के पीछे अन्धी दौड़ लगाये ! सही क्या ? हितअहित क्या ? उसकी परीक्षा न करे, और माने कि हमें धर्म होगा किन्तु ऐसा बने नहीं। कई लोग कहते हैं 'हे भगवान ! मेरा दु:ख ले लेना, मेरा पाप मिटा देना' किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि दु:ख व दोष मिटानेवाला तू स्वयं ही है। ज्ञानी कहते हैं कि भगवान तो आत्मा की ज्ञानमात्र शुद्ध अवस्था है; अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञान की मूर्ति है। अत: उसकी श्रद्धा कर और पुण्य-पाप रागादि रहित; मन, वाणी, देह की क्रियारहित; निमित्त के आश्रयरहित ज्ञान कर। उस ज्ञान में जमना, ज्ञान में टिकना – यही तेरा कर्तव्य है। तब मिथ्यादृष्टि कहता है कि ऐसा नहीं होता, मेरे से यह कैसे हो ? और कुछ करने का कहो। तब ज्ञानी कहते हैं कि जीव से और कुछ नहीं हो सकता। जो हो सकता है, उसी की बात कर रहे हैं; नयी बात नहीं कर रहे। आत्मा जड़ की क्रिया नहीं करता; उसका वह कर्म नहीं है। जीव ज्ञाता है व ज्ञाता का कार्य ज्ञान है, फिर सम्यक् करे या मिथ्या करे। श्रीयोगीन्द्रदेव कहते हैं कि –

'जन्म मरण पोते करे, भोग भोगवे आप;
दुर्गति शिवपद आप ले, दृढ़धारी अे छाप।'

इस प्रकार स्वयं ही अज्ञान द्वारा अशुद्ध निश्चयनय से राग-द्वेष, पुण्य-पाप का कर्ता है। वह निमित्त-उपचार की दृष्टि से, व्यवहारदृष्टि से कर्म का कर्ता तथा अशुद्ध निश्चयनय से सुख-दु:ख का जीव भोक्ता है। मैं रागादि रहित, कर्मोपाधि से मुक्त हूँ; केवल ज्ञाता-दृष्टा वीतराग हूँ – ऐसी यथार्थश्रद्धा, ज्ञान व ज्ञान की स्थिरता के पुरुषार्थ द्वारा शिवपद कर्मकलङ्क उपाधिरहित शुद्ध आत्मपद जीव स्वयं ही प्राप्त करता है किन्तु जब तक जीव ने स्वतन्त्ररूप से तत्त्वस्वरूप जाना नहीं

है, तब तक जीव चाहे जितने शास्त्र जानता हो, फिर भी वह नास्तिक है। खुद कहे कि आत्मा ऐसा है किन्तु अन्य बहुत प्रकार से उसके अभावरूप, अनादररूप उसकी मान्यता है। जहाँ पर विपरीत मान्यता का आदर एक अंश में भी है, वहाँ धर्म नहीं है। किसी एक प्रकार से, एक दृष्टि से सही मान रहा हो किन्तु अन्य बहुत प्रकार से अन्यथा मान्यता होने के कारण उसका अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है।

ईश्वर के कर्तापने की मीमांसा हेतु श्रीमद्जी कहते हैं कि प्रेरणादि धर्म द्वारा गुण-अवगुण का कर्ता जीव नहीं है किन्तु ईश्वर है – ऐसा जिसने माना, उसने ईश्वर का कर्तापना माना, फिर जीव का अस्तित्व तो रहा नहीं। यदि जीव की स्वाधीनता - हयाती है तो पूर्वकर्म भी है। उसके उदय में स्वयं जुड़ता है, इसलिए वर्तमान गुण-दोष, सुख -दु:खादि भी है। प्रत्यक्ष मलिन अवस्था दिखती है, फिर भी तू माने कि आत्मा में कुछ भी नहीं है और ईश्वर की प्रेरणा से ये सब हो रहा है तो वह मान्यता झूठी है। यदि गुण-अवगुण ईश्वरप्रेरणा से होते हो तो जीवतत्त्व का (इसमें) अभाव हो जाता है क्योंकि जीव की सत्ता में (तत्त्व में) गुण या दोषपना नहीं आया किन्तु ईश्वराधीन आया; ईश्वर पर का कर्ता-हर्ता हुआ। नियम ऐसा है कि जिस के अन्दर जो शक्ति न हो, उसे अन्य कोई दे नहीं सकता और यदि शक्ति हो तो दूसरे ने उसे क्या दिया ? इससे सिद्ध होता है कि ईश्वरादि कोई किसी का कर्ता नहीं है किन्तु जीव स्वयं ही भूलभरी मान्यता का कर्ता होता है और भूल को मिटाकर दोषरहित निर्मल हो सकता है। तत्त्व का निजस्वभाव अपने (ही) कारण से उपाधिरूप हो नहीं सकता किन्तु पर यानी निमित्त के लक्ष्य से अनादि की भूलभरी मान्यता है; अत: कर्मबन्धयुक्त अवस्था के संयोग में रहना होता है। उस उपाधि से निवृत्त हुआ जा सकता है। भूल कोई तत्त्व का स्वभाव नहीं है। राग-द्वेष, यह अपना निजगुण नहीं है। सुवर्ण अपने कारण से मलिन नहीं है, मलिनता तो पराश्रित उपाधि है। स्व एवं पर तत्त्व की भिन्नता का यथार्थ निर्णय जीव कर सकता है। इस बारे में आगे कहा जायेगा।

दिनाङ्क - २९-१०-१९३९

(स्थान - श्रीमद् राजचन्द्र समाधिमन्दिर, सम्वत् १९९५ आसोज वदि १।)

श्रीमद्राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि की रचना सम्वत १९५२ में की। उसको आज ४३ वाँ वर्ष चल रहा है। उसमें छह पद की सर्वाङ्गता बहुत प्रकार से लेकर गुरु-शिष्य के संवादरूप अद्भुतरचना की है। उसमें आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण किया है। आत्मा है, नित्य है, किसी अपेक्षा से कर्म का कर्ता एवं भोक्ता है, मोक्ष है व मोक्ष का उपाय भी है। इन छह बोल विषयक प्रश्न लायक शिष्य ने अन्तरविचारणा से पूछे। उसका विवेचन होने के बाद श्रीगुरु कहते हैं कि -

'षट्पदना षट्प्रश्न ते, पूछ्या करी विचार;
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार।'

स्वयं ने ही प्रश्नोत्तररूप में तत्त्वबोध की सङ्कलना अद्भुत तरीके से की है। चारों ओर के न्याय सोचकर जो प्रश्न किये हैं, उसकी सर्वाङ्गता बतायी है। विचार एवं मननपूर्वक छह पदों के न्याय की समझ होने पर सच्चे हितस्वरूप, परमोत्कृष्ट सुख देनेवाले सम्यक्बोधबीज की प्राप्ति होती है।

श्रीमद्जी ने ऐसी अपूर्वघटना की रचना की है कि उसमें कोई अङ्ग बाकी न रह जाए। इस प्रकार संक्षेप में सत्तत्त्व को जाहिर किया है। अनन्त काल में अज्ञानभाव से जो भटकना हुआ, उस अज्ञानभावरूप मूल का छेदन जिस भाव से किया ? - उस भाव से सद्गुरु को नमस्कार करके माङ्गलिक किया है। गुजरात-सौराष्ट्र में आत्मतत्त्व की ऐसी स्पष्ट बात गुजरातीभाषा में करके, अध्यात्मशास्त्र बनाया; इससे भव्यजीवों पर बहुत उपकार हुआ है। हज़ारों जीव उस कृपाप्रसाद से आत्मशान्ति की भावना भाते हैं। श्रीमद्जी ने बालवय में पूर्वजन्म के बलवान संस्कार द्वारा आत्मा की गुंजार जाहिर की है। उनका जीवनचरित्र बहुत उत्कृष्ट था। 'आत्मसिद्धि' में अध्यात्मतत्त्व

का बहुत गहरा रहस्य भरा है। इसमें ग्यारह अधिकार में विवेचन किया है। प्रारम्भ की ३३ गाथा में भूमिका बनायी है। 'आत्मा कर्ता है' - यह छठा अधिकार वर्तमान में चल रहा है। १० वें अधिकार में शिष्य को बोधबीज की प्राप्ति होती है और उस भाव से भवभ्रमण का अभाव दिखता है। अत: अपूर्व वीर्योल्लास द्वारा अपना बेहद सुख, शिष्य को अपने आत्मा में भासित होता है। अपने में निर्दोषगुण की उज्ज्वलता का अंश प्रगट होने पर, सत्पुरुष का बहुमान करता है कि अहो ! अहो ! श्रीसद्‌गुरु ! आपने ही आत्मा दिया। श्रीसद्‌गुरु का बहुमान परमार्थ से तो स्वयं का ही बहुमान है। यह **'आत्मसिद्धिशास्त्र' आत्मार्थीजीवों को बहुत उपकार का कारण होने से उसका बहुमान करना चाहिए। भाषा भी इतनी सरल है कि बाल-गोपाल, भाई-बहिन, सब समझ सकें - ऐसा है।** इन छह पद से सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप ज्ञानी के भाववचनों को अङ्गीकार करने पर सहज में प्रगट होता है। आगे आयेगा कि :-

'जाति वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय;
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय।'

उपरोक्त मार्ग कि जिसे अनन्त ज्ञानियों ने जाना है, माना है - वह आत्मा का लोकोत्तरमार्ग तीनों काल में एक ही होता है। उस परमपद, निजआत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय इस 'आत्मसिद्धि' में है। समझनेवाले की तैयारी चाहिए और उसके लिये स्वच्छन्द का त्याग करने को कहा है। स्वच्छन्द माने दर्शनमोह, जो कि विपरीत मान्यता कही जाती है। मिथ्यात्वमोह की श्रीमद्‌जी ने 'विभाव' नाम से पहिचान करवायी है।

'कोटी वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय;
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय।'

जो परवस्तु में एकत्वबुद्धि है, अपने सत्स्वरूप में अनादि से जो भ्रमणा है और परभाव को अपना माना है, वह विभाव है; उसे मिथ्यात्व कहा जाता है। वह महान शत्रु, आत्मा का अहित करनेवाला है जो कि अपनी विपरीत मान्यता है। आत्मा पुण्य-पाप, रागादि रहित है; मन, वाणी, देह की क्रियारहित है। फिर भी उसमें कर्तृत्वबुद्धि, ममत्व, सुखबुद्धि करना - वह मिथ्यादर्शनशल्य है। संक्षिप्त में, मिथ्यात्व

का लक्षण यह है कि शुभ-अशुभ विकल्प आदि परभावों को अपना मानना; ज्ञान के अलावा कुछ भी अपना मानना, वह दर्शनमोह-मिथ्यात्व है। इस भूल को मिटाने की एक ही विधि है और वह यह है कि आत्मतत्त्व जैसा है, वैसा समझने पर विभाव मिटते हैं। अन्धकार को सूप भर-भर के या मूसल से खिसकाना चाहे तो अन्धकार मिटेगा नहीं। कागज पर स्याही या लेखनी द्वारा 'लाख मन अग्नि' लिख दो तो अग्नि के एक कण के बराबर भी कार्य वे अक्षर दे नहीं सकते। उस प्रकार जब तक आत्मतत्त्व को समझने की सच्ची लगन लगी नहीं है, तब तक दु:खों का अन्त नहीं आयेगा। दु:ख का मूल मिथ्यामान्यता है। उसके बराबर कोई बड़ा पाप नहीं है।

सद्गुरु के आश्रय से आत्मा का स्वरूप समझो कि आत्मा निर्मल, निर्दोष, शान्तस्वरूप, ज्ञानमात्र है; ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप है। उसका ज्ञाता-दृष्टा, साक्षीस्वभाव भूलकर प्रकृति के किसी भी कार्य को अपना मान लेना – उसका नाम अज्ञान है। आत्मा में परवस्तु का लेना, रखना, यानी ग्रहण-त्याग नहीं है, फिर भी मानना कि मैं पर को ग्रहण करता हूँ – यह चोरी है। अपने ज्ञानस्वभाव में ज्ञानरूप नहीं रहना और परवस्तु में वृत्ति को दौड़ाना; राग को व पुण्यभाव को अपना मानना – यह संसारभाव की रुचि है और स्व की हिंसा है। अपने ज्ञायकभाव में नहीं टिककर परवस्तु के राग में तन्मय होना, राग में अपना अस्तित्व मानना – वह परिग्रह है। दोषरहित की सच्ची दृष्टि के बिना जो कोई भी ऐसा माने कि मैं सही बोलता हूँ, मैं ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ, मैं अनासक्त हूँ, अपरिग्रही हूँ – वह परमार्थहीन है; आत्मधर्म से विमुख है, यानी मिथ्यात्वी है। इस शास्त्र में आगे कहा है कि :-

'मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर छूट्यो न मोह;
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह।'

'आत्मसिद्धि' पर विशेष विवेचन कितना हो सके ? वाणीयोग द्वारा कितना कहा जा सकता है ? उसमें आत्मा की जो सिद्धि की है, वह वास्तव में यथातथ्य ही है। उसका गहरायी से अवगाहन करना; विचार, मनन, द्वारा पात्रतापूर्वक तत्त्व की सच्ची श्रद्धा होती है। विपरीत मान्यता को मिटाकर जब ऐसी सच्ची श्रद्धा करे कि आत्मा निर्विकार, अविनाशी, ज्ञाता है; अबन्ध है, असङ्ग है; रागरूप या

पररूप नहीं है; तब यथार्थ प्रतीति होनेपर अनादि काल का विभाव दूर होकर स्वहिंसा व अनन्त दोष का मूल मिट जाता है।

श्रीमद्जी कहते हैं कि अपने स्वरूप को विपरीतरूप से मानकर '**क्षण-क्षण भयङ्कर भावमरणे में कां अहो राची रहो !?**' भावमरण से बचना हो और अनन्त भव में भटकने का मिथ्याभाव मिटाना हो तो सही क्या है ? – यह समझना पड़ेगा। **उन समर्थ, पवित्र आत्मा की (श्रीमद्जी की) देह की स्पर्शना इस भूमि से हुई है। वे अनन्त भव का अभाव कर गये हैं। वह अपूर्वभाव कैसा होगा कि जिस भाव से अनन्त भाव का अभाव होकर एक ही भव के बाद मोक्ष जानेवाले हैं ?**

आत्मा की सबसे अन्तिम पूर्ण पवित्रदशा पाने का बीज सम्यक् श्रद्धा व सच्चे ज्ञान की प्राप्ति है। उसके विकास द्वारा भव का अभाव हो जाता है। अत: मिथ्यात्व और सम्यक्त्व किसे कहा जाता है ? – यह समझने की और जानने की जरूरत है। समझने में पर का कुछ करने का कहाँ आया ? पुण्य, दान, बाह्यव्रत, देह की क्रिया तथा त्याग करके जङ्गल में जाना – ऐसा बाहर से कुछ करना नहीं है किन्तु तत्त्व जैसा है, वैसा उसे विरोध मिटाकर यथार्थ समझना है। जाननेवाले को जाना, उसमें सब कुछ आ जाता है। शुभपरिणाम, व्रत, त्याग, वैराग्य, सब कुछ उसकी दशा के अनुपात में आता है किन्तु पुण्यशुभपरिणाम – यह परमार्थ से धर्म नहीं है; धर्म का कारण भी नहीं है। आत्मशान्ति के लाभ का कारण सच्ची समझ है। उसमें परम उपकारी इष्टनिमित्त यह 'आत्मसिद्धिशास्त्र' है। इसका बहुमान करने की खास जरूरत है। संसार में जिसकी महत्ता मानी गयी है, उस रागभाव को पलटकर सत्पुरुष को पहचानकर उनके प्रति बहुमान करना चाहिए। सत् के, सत्साधन के बहुमान में अपना कल्याण है। प्रथम गाथा में माङ्गलिक किया है।

'जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दु:ख अनंत;
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत रे।
गुणवंता ज्ञानी अमृत वरस्या रे पंचमकाळमां।'

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञभगवान के कथन का रहस्य इस प्रथम गाथा में है।

अमृतस्वरूप भगवान आत्मा का अपूर्वभाव, अध्यात्म अमृतरस श्रीमद्जी ने १९५२ की साल में बरसाया। पूर्ण केवलज्ञान पर दृष्टि लगाके यह 'आत्मसिद्धि' लिखी है। यह इस प्रकार कि **'जे स्वरूप पोतानुं छे ते समज्या विना पाम्यो दुःख अनन्त, समजाव्युं ते पद नमुं श्री सद्गुरु भगवन्त। गुणवन्ता ज्ञानी... अमृत वरस्या रे पञ्चमकाळमां जी।'** जगत के प्राणी सुख चाहते हैं किन्तु सुख (प्राप्त करने) का उपाय समझते नहीं हैं। कार्य की इच्छा रखे और उसके परमार्थकारण का सेवन न करे तो साध्य की सिद्धि कैसे हो ?

वस्तुतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा के बिना सुख कहाँ से हो ? समझे बिना खुद जो -जो साधन करता है, वे बन्धनरूप होते हैं। उपाधि के कारणों से निरुपाधिकतत्त्व कैसे प्रगट हो ? कहते हैं कि हे भगवान ! हे गुरुदेव ! मैंने अनन्त दुःख पाये क्योंकि मेरा स्वरूप जैसा है, वैसा मैंने समझा नहीं। इसमें यह बात आयी कि मैं दुःखमय -दुःखरूप नहीं हूँ; दुःख से मैं भिन्न हूँ। पुनश्च, मैंने खुद ने बहुत दुःख पाये, ऐसा कहा। इसमें अपनी भूल व अनन्त काल की अपनी हयाती मानकर पर में सुखबुद्धि की मान्यता द्वारा मैंने अनन्त दुःख पाये। किन्तु जब सद्गुरुप्रसाद से मुझे समझ में आया, तब अनन्त दुःख के मूल का छेद हुआ। अतः आपको मैं नमस्कार करता हूँ। इस गाथा में शुरू में ही दो कारण बताये कि मेरी समझ के बिना मैंने अनन्त दुःख पाये और जिन्होंने समझाया, उन पद को, वे श्रीसद्गुरु – इस प्रकार सत् और सत्साधन को पहचानकर निमित्त का बहुमान हो, यही लोकोत्तरविनय और अपूर्व गुणमहिमा है। इसकी तीनों काल में दुर्लभता है।

पञ्चम काल में अनन्त भवभ्रमण को टालकर एक भव में मोक्ष प्राप्त हो सके – ऐसा यह अपूर्वयोग है। **श्रीमद्जी भी एकावतारी हो गये।** जो समझे, सो हो जाए। यथार्थ निर्णय करे तो भव रहेंगे नहीं। परवस्तु को पर जाने, खुद का स्वरूप अन्तर विचारपूर्वक जैसा है, वैसा माने – उनको अपने सामर्थ्य का पूरा-पूरा विश्वास होता है। वे रोना नहीं रोते; नित्यता के भावपूर्वक जो जागृत हुआ, वह कैसे बदल जाए ? पुण्यादि अनित्य हैं। उसका आधार लेनेवाला भले ही रोता रहे। यहाँ तो प्रथम गाथा में ही माङ्गलिक किया है कि मैं अनन्त में से यानी नित्य में से जागा हूँ। इस प्रकार चुनौती दी है और दुःख मिट गये हैं – ऐसा

बताया है। अपना स्वरूप समझा, इसलिए स्वहिंसा मिट गयी। आत्मस्वभाव का धर्म खुला, इसलिए अपनी अहिंसा जाग उठी। आत्मधर्म में पर के निमित्त की उपाधि नहीं है – ऐसा जाना और पूर्ण निर्दोषता का निर्णय हुआ। यही आत्मा की सिद्धि यानी आत्मा का ज्ञान है। जो सत्पुरुष बन जाते हैं, उनके चरणकमल में इन्द्र भी नमन करते हैं। ऐसे सत्पुरुष ही जगत के लायक जीवों का अनन्त कल्याण करते हैं। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने कुछ अपनी कल्पना से नहीं कहा। जो भाववचन तीनों काल के ज्ञानी कहते हैं, वही उन्होंने कहा है। यहाँ पर प्रथम गाथा में माङ्गलिक कहा है।

मङ्गल = (मं=पाप, गल=गलाये) पाप को गलाये, अथवा (मङ्ग=पवित्रता, ल=लाना= प्राप्त कराये) पवित्रता को प्राप्त कराये, सो मङ्गल। संसार के माङ्गलिक कार्य विनाशक हैं। इस 'आत्मसिद्धि' के माङ्गलिक से सव् का सर्वाङ्ग निर्णय हुआ कि अविनाशी आत्मा ऐसा ही हो सकता है – यह निर्णय सदा परम माङ्गलिक है; परिवर्तित न हो, ऐसा है। उसका सम्यग्ज्ञान सदा मङ्गलरूप है। श्रीमद्जी ने कहा है कि '**सत्पुरुष का योगबल जगत का कल्याण करो।**' स्वयं के साधकस्वभाव की ऐसी भावना है कि जगत के सभी जीव परम आत्मकल्याणरूप आत्मधर्म को प्राप्त हो। इसमें ऐसा आया कि मेरा साधकस्वभाव जयवन्त हो; पुरुषार्थ फटकर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो जाओ।

इस आत्मसिद्धिरूप सुपुत्र का जन्म होने से सभी सुखों को देनेवाला पूर्ण, महिमावन्त सम्यग्बोध पूर्णतत्त्व का सन्देश घोषित हुआ है। इस 'आत्मसिद्धि' का जन्मदिन सर्व प्रथम यहाँ पर मनाया जा रहा है। जिसने 'आत्मसिद्धि' के सर्वाङ्ग में प्रवेश किया, उसने निजघर में प्रवेश किया। यह नित्य माङ्गलिक है। संसार की ममता और पुण्य के ठाठबाट सब अनित्य है। लोग घर-हवेली का वास्तुपूजन करें, उसे माङ्गलिक कहते हैं। किन्तु 'लपसी बनाते हुए लपट लग जाए (लापसी करतां लागे झाळ)' तो उसके रङ्ग-रोगन के कारण क्षण में वह सुलग जाए। **किन्तु इस 'आत्मसिद्धि' की नींव डिगेगी नहीं।** जिसे अपना सच्चा हित करना है, उसे यह समझना पड़ेगा। तत्त्व के विचारक जिज्ञासु ऐसे होने चाहिए कि जिसे सत् की हकार अन्तरङ्ग विचारपूर्वक आये;

अन्ध श्रद्धापूर्वक नहीं। ऐसे लायक जीव से श्रीगुरु कहते हैं कि :-

'षट्पदना षट्प्रश्न तें, पूछ्या करी विचार;
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार।'

जिस यथार्थ मननपूर्वक आत्मतत्त्व का निर्धार हुआ, वह नित्य माङ्गलिक पीछे नहीं हट सकता।

'हे वीर ! आत्मा जिस प्रकार है, उस प्रकार माना – वह अटलगामी है। अरे वीर ! लोकोत्तरमार्ग कठिन तो जरूर तेरा, किन्तु वह '**अनियट्ट गामीण**' जिस रस्ते चल पड़ा, वह आत्मा की नित्यता के बीज विकसित करके पूर्ण होने के लक्ष्य से अप्रतिहतभाव से चल पड़ा है। अतीन्द्रिय ज्ञानरूपी साधन पूर्ण पवित्र केवलज्ञानरूपी कार्य अवश्य लाकर ही रहेगा।'

'श्रीमद्जी ने जो बीज बोये हैं, उसका फल वर्तमान में आ रहा है। इससे बहुतसे पात्र जीव शान्ति-समाधि के भाव द्वारा आत्मबल प्राप्त करते हैं। यह आत्मसिद्धि मुमुक्षु के हृदय की अमृतबेल है।' १४२वीं गाथा में खास प्रेरणादायी भाववचन हैं।

'देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत,
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणित रे।
गुणवंता ज्ञानी अमृत वरस्यारे पंचमकाळमां।'

मैं पूर्ण पवित्र ज्ञायक ही हूँ, असङ्ग हूँ – यह निश्चय व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये साधन, यानी पूर्णता के लक्ष्य से स्थिरता का पुरुषार्थ, यही परमार्थहेतु व्यवहार है। देह है, फिर भी देहातीतदशा, यानी स्वरूपस्थिति जिसको विद्यमान है – ऐसे ज्ञानी पुरुष को '**हो वन्दन अगणित**' यानी बेहद अपरिमित आत्मस्वभाव, पूर्ण साध्य की ओर, मेरे ध्येय के लक्ष्य की ओर मेरा बहुमान अगणित हो। इसमें श्रीमद्जी स्वयं अप्रतिहतभाव बता रहे हैं। 'साध्य' माने आत्मा सिद्धभगवान समान है। लोगस्स के पाठ में आता है कि '**सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु।**' हे सिद्ध भगवान ! मुझे मेरा पूर्ण पवित्र पद दीजिए और '**आरूग्गं बोहिलाभं**' शिवरूप निरोग भावबोधि दीजिए। बनिया हो, वह पूर्णसुख ही माँगे किन्तु उस प्रकार का कारण भी प्राप्त करना चाहिए। लोगों को तो बाहर की पुण्यादि क्रियाकष्ट से धर्म चाहिए किन्तु ऐसा

तो पूर्व में अनन्त बार किया, इस काल में भी यदि कोई इस धर्म को समझे तो उसका फल अवश्य मिले – ऐसा है। इस अन्तिम गाथा में महामङ्गलरूप – ऐसा अपूर्वभाव उठाते हैं कि बीच में विघ्न न आये। जिस भाव से पूर्णतत्त्व का अंश प्रगट हुआ, उस भाव से पूर्ण केवलज्ञान, शुद्धात्मतत्त्व प्रगट होनेवाला है। उस पूर्णतत्त्व की दृष्टि रखकर यह महामङ्गल किया है। **ऐसे ज्ञानी सत्पुरुषों का प्रभाव जो-जो मुमुक्षु स्वीकार करते हैं, उनको यह 'आत्मसिद्धि' शास्त्र परमकल्याण का कारण है।**

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ३०-१०-१९३९

कर्ता ईश्वर कोई नहि, ईश्वर शुद्ध स्वभाव;
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोष प्रभाव।।७७।।

कर्ता ईश्वर कोई नहिं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
अथवा प्रेरक मानें तो, ईश्वर दोष-प्रभाव।।७७।।

यदि ईश्वर कर्ता होवे तो जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि गुण या अवगुण, जीवकृत सिद्ध नहीं हुए तो जीव नाम का पदार्थ नहीं रहा, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः ईश्वर कर्ता नहीं है और ईश्वर प्रेरक भी नहीं है किन्तु आत्मा स्वयं ही अपने ज्ञानगुण का गुणरूप में अथवा अवगुण के रूप में कर्ता है और वही योग्य है।

अब, एक प्रकार ऐसा कह रहे हैं कि प्रकृति आदि जबरन लिपट जाने से कर्म हो रहे हों तो वह विकल्प भी यथार्थ नहीं है। प्रकृति आदि जबरन आकर अनायास लिपटती हो, यानी प्रकृति कर्मरूप होती रहती हो और जीव का उससे

चिपकना होता हो तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि प्रकृति जड़ है; उसके अन्दर मनन करने की शक्ति नहीं है। जड़द्रव्य तो आत्मा से भिन्न जाति के हैं। जड़ रूपी है; आत्मा अरूपी है। आत्मा का विकारीभाव यदि किसी प्रकार से निमित्त न होवे तो कैसे कोई उससे चिपक सकता है ? पुण्य-पाप के रजकणों में, जड़ में ज्ञान, विचारशक्ति नहीं है किन्तु आत्मा ही मनन करता है। रागादि द्वारा अज्ञानभावपूर्वक आत्मा अवगुण का कर्ता है। वह स्वयं ही इस दोष को पहचाने और दोष को मिटाकर गुण प्रगट करे तो ऐसा हो सकता है। द्रव्यकर्म का दूसरा नाम जड़प्रकृति है। जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं, वे आत्मा अपनी शक्ति को व्यक्त न करे तो आवरण में वे निमित्तमात्र हैं; वे महीन रजधूल है। उन जड़कर्मों को द्रव्यकर्म कहने में आता है। उनमें मनन करने का स्वभाव नहीं है; अतः उनमें प्रेरणादि धर्म नहीं है। जीव में निर्दोष ज्ञायकता-ज्ञान है, उसे भूलकर परवस्तु के मनन में रुके तो निमित्त बनने की योग्यता जड़ में है और जीव के अन्दर भी निमित्त की ओर रुझान करने की योग्यता है किन्तु जीव स्वयं राग न करे, निर्दोष ज्ञातारूप से टिका रहे तो नवीन कर्मबन्धन नहीं होता। जिस प्रकार से राग-द्वेष करे, उसी प्रकार से कर्मप्रकृति की छवि, बन्ध उसमें पड़ता है – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जड़ मन (अन्तःकरण) रूपी साधन द्वारा कर्मग्रहण होता हो अथवा आत्मा नितान्त असङ्ग, निर्लेप, शुद्ध रहता हो तो कर्म मिटाने का प्रसङ्ग ही खड़ा नहीं होता। आत्मा की अशुद्धअवस्था में भूल करने की योग्यता है। जीव स्वयं ही प्रेरणादिभावरूप अशुद्धता न करे तो अन्दर के जड़मन को निमित्त साधन कहा नहीं जा सकता। कारण दो प्रकार के होते हैं : (१) अन्तरङ्ग मूलकारण, (२) निमित्तकारण अर्थात् उपचारकारण। इसमें यदि मूलकारण जीव स्वयं शुभाशुभरूप न हो तो निमित्त (जड़कर्म) का बन्ध होवे नहीं। कोई कहता है कि **'मनः एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः'** – यह बात उचित नहीं है। ऐसा कहने में दोष आता है। आत्मा स्वयं मन एवं बन्ध-मोक्ष अवस्था से बिल्कुल असङ्ग, तटस्थ, मध्यस्थ रहता हो और अवस्था में भी भूला हुआ न हो – ऐसा एकान्तपक्ष माने तो आत्मा सर्वथा शुद्ध सिद्ध हो और आत्मा का विकारभाव निमित्तरूप भी साबित न हो। इस पक्ष को टिकाये रखने के लिये केवल कल्पना ही करनी पड़े कि

जगत केवल भ्रम है।

आत्मा विकारभाव का बिल्कुल अकर्ता हो तो फिर वर्तमान में यह संसार किसको है ? रागादिरूप तथा देहधारीरूप जो मलिन अवस्था दिखती है, वही मेरा स्वभाव है, इस प्रकार यदि एकान्त मत ग्रहण करे तो ऐसा बनना भी सम्भव नहीं है। निश्चय से द्रव्यस्वभाव त्रिकाली शुद्ध है। जिसे आत्मभान हुआ है कि मेरा स्वभाव शुद्ध है; शक्तिरूप से मैं सिद्ध परमात्मा जैसा सदा असङ्ग हूँ, निर्मल हूँ और वर्तमान अवस्था में जो मलिनता, रागादि उपाधि मालूम पड़ती है, वह मैं नहीं हूँ; मेरा स्वभाव नहीं है। उसने मिथ्या मान्यतारूप भूल पुरुषार्थपूर्वक मिटायी है। इसलिए कहता है कि मैं पूर्ण शुद्ध हूँ। इस अभिप्राय को एवं वर्तमान में पुरुषार्थ करना बाकी है – इस प्रकार दोनों दृष्टियों को जैसी है, वैसी यथावत् समझे तो मोक्षमार्ग है।

यदि आत्मा हमेशा असङ्ग ही होता या कर्म अपने आप होते ही रहते तो खुद को पुरुषार्थ करना बाकी नहीं रहता किन्तु चञ्चलता, अस्थिरता तो दिखती है। फिर भी न माने तो उसका पुरुषार्थ उल्टा होता है। संसारी जीवों को दो प्रकार का पुरुषार्थ होता है – या तो उल्टा या फिर सुल्टा। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है; अतः ज्ञान में भूल या निर्दोषता कर सकता है। वह भूले, तब द्रव्यकर्म का उदय इत्यादि निमित्त है। उस भूल का निमित्त पाकर नवीनकर्म आते हैं। इसलिए निमित्तरूप से, व्यवहार से जीव को कर्म का कर्तृत्व कहा जाता है परन्तु निश्चय से (वास्तव में) तो आत्मा जड़ की अवस्था का कर्ता नहीं है। अज्ञानी जीव अपने आप को निमित्तकर्ता मानता है, यह बताने के लिये व्यवहार से (घी का घड़ा - इस उदाहरण अनुसार) जीव को कर्म का कर्ता कहने में आता है। भूलयुक्त अवस्था का कर्ता आत्मा है किन्तु जड़ रजकणों की अवस्था का कर्ता आत्मा नहीं है क्योंकि परमाणु भी सत् द्रव्य है; वह भी नित्यवस्तु है। उस जड़ की अवस्था की हयाती प्रतिक्षण अपने से है। यदि उसकी अवस्था का कर्ता निश्चय से (वास्तव में) जीव है – ऐसा कहें तो जड़वस्तुत्व का अभाव हो जाये। जड़वस्तु है और उसकी उस-उस समय की अवस्था होनेरूप, उसकी त्रिकाल शक्ति नित्य है। फिर भी यदि ऐसा माने कि उसका कर्ता जीव है तो उस नियम का भङ्ग होता है। जिसके अन्दर जो शक्ति विद्यमान न हो, उसे अन्य कोई दे नहीं सकता और

यदि उसमें शक्ति हो तो जीव ने जड़ को क्या दिया ? क्या किया ? अत: आत्मा स्वयं निश्चय से (वास्तव में) जड़वस्तु का कर्ता नहीं है। मात्र जीव की अशुद्धअवस्था कर्म होने में निमित्त है। ऐसी अशुद्धता जीव में है किन्तु जड़ को हिलाने में मेरा हाथ है ही नहीं। इस प्रकार परद्रव्य में मेरा कर्तृत्व है ही नहीं – ऐसा मानने से सम्यग्ज्ञानी व स्वतन्त्र हुआ जाता है किन्तु लोगों के पास तो बाहर की, स्थूलपदार्थ की दृष्टि है। अत: यह सब क्या है ? वह समझ में नहीं आता। स्वाधीनतत्त्व का मनन किये बिना, रुचि के बिना समझ में कैसे आये ? जड़ एवं आत्मा भिन्न है। वे त्रिकाल भिन्न है और सब अपने-अपने में स्वाधीन है; फिर भी मान्यता में पर का कर्तापना, पराधीनपना मान रखा है। प्रत्येक द्रव्य की क्षण-क्षणवर्ती अवस्था सदा अपने द्वारा होती है। यदि जड़ में स्वाधीनरूप से परिणमन करने की शक्ति न हो और जीव उसका कर्ता बने और मन, वाणी, देह की क्रिया कर सकता हो तो जिस प्रकार ईश्वर कर्ता है, ऐसा मानने से जीव का अभाव होने का दोष आ जाता था; उस प्रकार जीव को कर्म का कर्ता मानने से जड़वस्तु का अभाव सिद्ध हो जाए क्योंकि ऐसा नियम है कि '**जो हो, वही बनता है; जो न हो, वह नया नहीं बनता।**' अत: जो शक्ति जड़ में न होवे, वह नयी उत्पन्न नहीं होती। फिर भी परमार्थ से जीव को जड़कर्म का कर्ता माने तो जड़वस्तु अवस्तु सिद्ध होती है। अत: जड़ की अवस्था का कर्ता जीव नहीं है। जीव के विकारीभाव का उसमें निमित्ततत्त्व है – यह सत्य है।

इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र' में बहुत से न्याय का खुलासा होता है। जीव जो भाव करता है, उस भाव का वह कर्ता बनता है। यथार्थतया समझे तो सच्चा ज्ञान हो सकता है। अनन्त ज्ञानियों द्वारा कहा हुआ तत्त्वज्ञान इस काल में भी समझा जा सकता है। इसमें बहुत से प्रमाण व न्याय हैं। यथार्थयुक्ति, आगम और स्वानुभव से सिद्ध है। कोई जिज्ञासु तैयार होकर आये तो उसे समझ में आ जाए – ऐसा है। **यहाँ तो सरलभाषा है और गुजरातीभाषा में 'आत्मसिद्धि' में समझने के लिये बहुत माल (तत्त्व) भरा है। मत, दर्शन का आग्रह छोड़कर सही समझने की तैयारी करे, उसे यह 'आत्मसिद्धिशास्त्र' परम उपकारी कारण बन जाए – ऐसा है।**

प्रथम तो जीव पदार्थ क्या है, वह कैसा है, कितना बड़ा है, वह क्या कर सकता है तथा क्या नहीं कर सकता ? – यह जानने की जरूरत है। जड़पदार्थ की क्रिया में अपने कर्तृत्व की खतौनी कहाँ-कहाँ कर बैठते हैं – यह जानने की जरूरत है। आत्मा स्वभाव से अनन्त शुद्ध है किन्तु अवस्था में भूला हुआ है। अज्ञान द्वारा इसने जड़प्रकृति से सम्बन्ध किस प्रकार मान लिया है ? – यह सोचना चाहिए। जीव की भूल के कारण अनादि से जड़कर्म का सम्बन्ध है, वह जीव का धर्मस्वभाव नहीं होने के कारण, पुरुषार्थ से वह मिट सकता है। जब तक अपने स्वरूप की यथार्थश्रद्धा नहीं है, तब तक उसकी मलिन अवस्था, यानी अज्ञानदशा होने के कारण राग-द्वेष व द्रव्यकर्म का निमित्त-नैमित्तिकपना है। शुभ-अशुभभाव का स्वामी होकर, रागादिवाला होकर वह परवस्तु का कर्तृत्व मानता है किन्तु जिस क्षण स्वयं अपना सच्चा तत्त्वरूप जाने और शुभाशुभरूप मैं नहीं; मैं तो पर से भिन्न हूँ – इस प्रकार अनुभव द्वारा ज्ञानमात्ररूप से ज्ञानी बन जाए, उसी क्षण उसे बन्ध की शङ्का खत्म हो जाती है। पुरुषार्थ द्वारा स्व-पर के विवेक द्वारा ज्ञान में टिके रहनेरूप पुरुषार्थ बढ़ते-बढ़ते क्रमशः रागादि का अभाव होकर अल्पकाल में पूर्ण पवित्र हुआ जा सकता है। इस मार्ग की विधि यथार्थरूप से समझने का प्रयत्न स्वयं अपने को करना है।

यदि आत्मा उपाधिरहित, मुक्त न हो सकता हो तो फिर उसे सभी दुःखों का क्षय करनेरूप के मार्ग का जो उपदेश है – वह किसलिये है ?

जैनदर्शन में तत्त्व की किसी तरह से पूर्वापरविरोधीता नहीं है। जीव स्वयं शुद्धस्वरूप से भूला हुआ है। अतः उसकी मान्यता में मिथ्यात्व है और अवस्था में भूल करता है। परवस्तु में जीव मोह करता है; अतः उस मोह का फल भोगने का प्रसङ्ग उसे प्राप्त होता है। जीव अज्ञानतापूर्वक कर्तापने की मान्यता रखता है। चैतन्य में ज़रा भी दुःख का वेदन होता न हो और हड्डियों को और देह को होता हो तो चैतन्य को कोई फल भुगतना न पड़े और ऐसा हो तो संसारदशा भी होगी नहीं।

जब तक आत्मज्ञान नहीं है, तब तक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति भी नहीं हो सकती – ऐसा उपदेश तो वेदातान्दि भी करते हैं। यदि संसारअवस्था ही न

हो, दु:ख का संयोग ही न हो तो उसे टालने का उपदेश, शास्त्रादि वृथा सिद्ध होते हैं। यदि जीव का अज्ञानभाव से कर्तापना न हो तो भोक्तपना भी सम्भव नहीं है किन्तु वर्तमान में जीवों की अशुद्धअवस्था प्रत्यक्ष दिखती है। अत: विचार करने से जीव को भावकर्म का कर्तृत्व सिद्ध होता है और द्रव्यकर्म का निमित्तत्व सिद्ध होता है।

अब, प्रश्न होता है कि यदि जीव को कर्म का कर्तृत्व हो तो वह उसका स्वभाव हुआ और जो वस्तु का जो धर्म सिद्ध हुआ, उसका कभी भी नाश नहीं होता और इसलिये कर्म का कर्तृत्व भिन्न किया नहीं जा सकता, जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अथवा प्रकाश। उत्तर- जीव को कर्तापना अग्नि व उष्णता के सम्बन्ध की भाँति नहीं है क्योंकि सम्बन्ध दो प्रकार से होता है : एक, संयोगीसम्बन्ध। जिस प्रकार प्रथम दो पदार्थ भिन्न हों और फिर मिल जाए, फिर अलग हो सके – यह संयोगीसम्बन्ध है। दूसरा, तादात्म्यसम्बन्ध। अग्नि व उष्णता अथवा प्रकाश का तादात्म्यसम्बन्ध है, वे अलग नहीं हो सकते। जीव व कर्म का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं है किन्तु संयोगीसम्बन्ध है। अत: कर्म का कर्तृत्व जीव का सहजस्वभाव नहीं है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ३१-१०-१९३९

आत्मा कर्ता है या नहीं, इस विषय में लोगों को बहुत भ्रम है। लोग स्वच्छन्दतापूर्वक शास्त्र पढ़ते हैं और समझे बिना ही एक पक्ष को ग्रहण करते हैं। आशय या न्याय समझे बिना एकान्त में खिंच जाते हैं। कहाँ भूल हो रही है, यह स्वयं को समझ में नहीं आता और समझने की रुचि भी नहीं है। जीव का कार्य क्या है, जीव को गुण से मतलब है या दोष से मतलब है ? – उसका निर्णय नहीं करता। किस दृष्टि से, कौन-सी बात, किस हद तक (मर्यादा तक) सही है ? – उसकी परीक्षा करते नहीं हैं और चाहे जैसी कल्पना द्वारा स्वरूप

का निर्धारण कर लेते हैं। सुख चाहिए, फिर भी सुख नहीं मिलता। अतः उसका सही उपाय समझना बाकी है – ऐसा निर्णय करना चाहिए और सद्गुरु के पास जाकर तत्त्वविचार से सम्बन्धित प्रश्न पूछने चाहिए। श्रीमद्जी ने इस शास्त्र में ऐसी रचना की है कि जो ऐसा विचारवान शिष्य होगा, उसे ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

शिष्य पूछता है कि हे गुरु ! आत्मा को कर्म का कर्ता कहो तो वह उसका स्वभाव हो जाता है क्योंकि कर्ता का (जो) इष्ट कर्म है, वह कर्ता से भिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार युक्तिपूर्वक प्रश्न करनेवाला विचारक होना चाहिए। लोग अन्धश्रद्धा में पड़े हैं और बोलते हैं कि ज्ञानी ने जाना हो, वह सही है किन्तु ज्ञानी किसे कहें ? उसका स्वरूप जाने बिना आप किसका कहा सही बता रहे हो ?

ऐसी अन्धश्रद्धा तो दूर रही किन्तु नौ पूर्व जितना ज्ञान कण्ठस्थ किया हो तो वह भी सच्चा ज्ञान नहीं है। अतः सही समझने की जरूरत है। लोग सही समझने के हेतु से शङ्का करके कुछ पूछते नहीं हैं। संसार से निवृत्ति लेकर, तत्त्व का मनन करे तो कुछ उत्थान हो। यहाँ पर शिष्य ने कहा कि यदि जीव का धर्म, कर्म करने का ही हो तो जिस प्रकार अग्नि का धर्म उष्णता व प्रकाश है, उस प्रकार वह जीव का गुण साबित हो और इसलिए उसकी निवृत्ति हो नहीं सकती। अथवा ईश्वर, कर्ता हो तो भी जीव को कुछ करना नहीं रहता। अथवा जीव असङ्ग हो तो भी उसे कोई उपाधि नहीं रहती। यदि कर्म अपने आप होते हो तो भी इसमें जीव को कुछ करना-धरना नहीं रहता। अतः कर्तृत्व जीव को कैसे है, इसका '**समजाओ सदुपाय।**' इसका उत्तर बताते हैं कि एकान्त कथन वस्तुस्वरूप को बतानेवाले नहीं होने से मिथ्या हैं। जीव को सुख की इच्छा होती है किन्तु इच्छा स्वयं दुःख की भूमिका है, फिर भी मैं इच्छा करुँ, इस प्रकार खुद अन्दर में भाव करता है और उस भाव को अपना स्वभाव मानता है। यह भी अनादि की भूल है। मैं पर का कुछ करूँ, पुण्य करूँ, बड़ा आदमी बन जाऊँ, धन कमा लूँ इत्यादि परधर्मयुक्त अनादि से हो रहा है। इसका मतलब उसे असन्तोष है, वह विभाव है। उसे सच्चे ज्ञान का – प्रमाण का लक्ष्य नहीं है।

न्यायशास्त्र में सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और श्रुतप्रमाण के अंश को

नय कहते हैं। आत्मा, गुण-पर्याय से भरा स्वाधीन पूर्ण ज्ञानस्वरूप है। उसमें वर्तमान ज्ञान की अवस्था और त्रिकाल, निरन्तर अखण्ड ज्ञायकपना - इन दोनों पक्षों को एकसाथ यथार्थतापूर्वक ग्रहण करे तो प्रमाण कहा जाता है। समग्र वस्तु को ख्याल में ले, उसका नाम प्रमाण है। वस्तु को मुख्य रखे और उस वस्तु के दूसरे गुण को गौण रखे अथवा द्रव्य को गौणता में रखे और उसके एक गुण-धर्म को (प्रयोजनवश) मुख्य रखे - उस दृष्टि को नय अथवा सापेक्षदृष्टि कही जाती है।

जीवद्रव्य स्वतन्त्र है। उसमें बन्ध की अवस्था क्षणवर्ती है और निर्दोष, अबन्ध, निर्मल वस्तुस्वभावपना है, वह त्रिकाली है – ऐसा यथार्थतापूर्वक ख्याल में लेना, वह प्रमाण है। जीव को किस दृष्टि से कर्तापना है और किस दृष्टि से नहीं है, इस प्रकार दोनों दृष्टि समझने की जरूरत है। अज्ञानभाव से सिर्फ अवस्थादृष्टि देखने से जीव राग-द्वेष का कर्ता है, ऐसा सिद्ध होता है और सच्ची दृष्टि यानी द्रव्यदृष्टि से देखो तो जीव, दोष एवं दुःख का कर्ता नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो वह दोष तथा दुःख त्रिकाल रहे, जीव उसको मिटा नहीं सकता किन्तु ऐसा है नहीं। आत्मा त्रिकाली शुद्ध है, इसे भूलकर कुछ करने की इच्छा होती है, यह अवस्था तो क्षणिक है। जिस प्रकार समुद्र में अनेक तरङ्गपना दिखता है, उसमें केवल एक तरङ्ग में गन्दा तृण दिखता है, वह सारी तरङ्गों में नहीं है; उस प्रकार आत्मा निरन्तर त्रिकाली है। अपने ज्ञानगुण की केवल एक समय की अवस्था में भूल से माना था कि मैं इच्छा, राग, द्वेष, पुण्यादि व देहादि का कर्ता हूँ। अज्ञानदशा में जो इस प्रकार की मान्यता की थी, वह मिट सकती है। अतः वह जीव का कोई त्रिकाली धर्म नहीं हो जाता। इस न्याय का स्वयं मनन करो, घोलन करो तो समझ में आ जाए – ऐसा है। आत्मा अनादि अनन्त त्रिकाली है; उसकी प्रतिक्षण अवस्थाएँ होती हैं। अवस्था का जो परिवर्तन है, वह समूचे द्रव्य का परिवर्तन नहीं है। यदि अवस्था में भी द्रव्य-गुण का परिवर्तन न हो तो क्रोध मिटाकर क्षमा नहीं हो सकती। जीव, पुण्य या पापभाव की जो अवस्था धारण करता है, वह विकारी अवस्था है। वह जीव का मूल स्वभावभाव नहीं है फिर भी वह जीव का अपना नित्य स्वभाव है, ऐसा भूल से माना गया है। यह अवगुण अनित्य स्वभाव है। उसे अपना स्वरूप एवं कर्तव्य मानता है, यह अज्ञानरूप

मान्यता है। इस मान्यता की पकड़ अथवा भूल का ग्रहण स्वयं ने किया है, वह भूल स्वयं त्रिकाली निर्दोषता के लक्ष्य से मिटा सकती है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप – यह मेरा धर्म नहीं है; देहादि की क्रिया मेरा कर्तव्य नहीं है; पर का मैं कुछ कर नहीं सकता, फिर भी उसकी चेष्टा करने की शुभ-अशुभ वृत्ति दिखती है, वह मेरा धर्म नहीं है। पर निमित्त का आश्रय स्वयं करता है। इस दोष से मुक्त होकर मैं निर्दोष ज्ञानमात्ररूप हूँ – ऐसा भान हो सकता है। अज्ञान से राग-द्वेष की अवस्था का एवं कर्म का जीव कर्ता है, यह उपचारदृष्टि से कहा है। जिसे सच्चा विचार हो, वह दूसरी दृष्टि से यथार्थतायुक्त विचार समझे कि वह भूल करनी ही पड़े – ऐसा स्वभाव मेरा नहीं है। मेरे से भिन्न वस्तु में कर्तृत्व, ममत्व मान बैठा हूँ, वह भूल है और वह मिटाने योग्य है। भूल मिटानेवाला भूलस्वरूप नहीं है किन्तु निर्दोष सुखस्वरूप है। सुख अन्तर में है, इसे भूलकर जीव राग-द्वेषरूप होवे तो कर्म आते हैं। कोई कहे कि जड़कर्म कोई वस्तु नहीं है तो वह भ्रान्ति ही है। आत्मा के साथ ही आठ कर्म की वर्गणा आवरणरूप है। वह भी सत् वस्तु है, जड़ है। उनके निमित्त में शुभ-अशुभ का रागी आत्मा टेढ़ी दृष्टि करता है, परवस्तु में अनेक प्रकार की कल्पना करता है और उसमें कर्तृत्व, ममत्व स्थापित करता है। स्वयं ज्ञाता ही है, फिर भी उस बात को चूककर पर में सुख-दुःख की बुद्धि करे तो स्वयं उस वर्तमान एक अवस्था में भूल का कर्ता होता है। जब तक भूल करके परवस्तु में रुकता है, तब तक भूल की मान्यता का कर्ता कहा जाता है।

स्वयं दोष एवं दुःख का कर्ता है, ऐसा पर्यायदृष्टिपूर्वक माना है। उस मान्यता की भूल मिटाए, परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर रुक न जाए और अपनी यथार्थता निरन्तर जाने तो खुद का ज्ञानस्वभाव नित्य है। उसमें कुछ गलत नहीं है – ऐसा लगे किन्तु जीव ज्ञाता-दृष्टा, साक्षीपना भूल जाए और पुण्य-पाप, रागादि, देहादि की क्रिया मेरी है, ऐसा माने और भूलभरी अवस्था न मिटाए, तब तक अज्ञान है। वर्तमान अवस्था में भूल है किन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में भूल नहीं है। भूल है, वह स्वभाव नहीं है किन्तु दोषयुक्त मान्यता है। दोनों दृष्टि समझनी चाहिए। संसारदृष्टि है, वह स्थूल पर्यायदृष्टि है; वह तो वक्रदृष्टिरूप अज्ञानभाव है अपना त्रिकाली द्रव्यस्वभाव

दोष या दु:खरूप नहीं है। पुण्य-पाप, रागादिक मैं - इस खयालरूप दोष को मिटाकर अपने असङ्ग स्वरूप का भान करके उस भूलभरी दृष्टि को मिटाया, पलटाया जा सकता है।

त्रिकाली ज्ञानस्वरूप दृष्टि को चूककर परवस्तु में सुख-दु:खपना माना है, वह मान्यता वर्तमान अवस्था तक ही सीमित है। वह भूल एक क्षण में (समयमात्र में) मिट सकने योग्य है। यदि भूल स्वभाव हो तो मिट नहीं सकती। कई जीव मानते हैं कि शुभाशुभभाव का स्वामित्व हमारा है, इत्यादि कर्तृत्वपना अपने लिये मानते हैं। उसे भले ही पता न हो तो भी ऐसा मानने पर शुभाशुभभाव, जीव का स्वभाव सिद्ध होता है, यह बड़ा दोष हो जायेगा। अज्ञान के कारण खतौनी में उससे बड़ी गलती हो जाती है, इसका विचार उसे करना आवश्यक है। खुद को समझ में न आये तो आत्मज्ञानी पुरुष के पास जाकर प्रश्न पूछने और वे जो कहें उसका विचार करना किन्तु जो एकान्तदृष्टि में रुक जाता है, उसे सही स्वरूप समझ में नहीं आता।

प्रश्नकार का कहना था कि कर्म अपने आप होते रहते हैं या प्रकृति करती है या ईश्वर करता है या उस कर्म को करने का जीव का धर्म है ? किन्तु उसकी एक भी बात प्रमाण न्याययुक्त नहीं है। अपनी भूल अपने से होती है, ऐसा यदि विचार करे तो उस भूल (को)मिटाने का प्रसङ्ग बने। अन्य कोई कहता है, इसलिये मुझे ऐसा होता है। इस प्रकार परनिमित्त के ऊपर गुण-दोष का आरोपण करना, यह जायज़ नहीं है। दोनों दृष्टि यानी निश्चय व व्यवहार जैसा है, वैसा समझो। जिस समय जिसकी बात हो, उसको स्थापित की जाती है। जो शुष्कज्ञान में अटका हो और मानता हो कि मैं सदा शुद्ध, असङ्ग हूँ – तो उसे ज्ञानी कहते हैं कि अगर तेरी वर्तमानदशा शुद्ध है तो यह संसार किसका ? रागद्वेष का कर्ता तू है; अत: रागादि छोड़। जीव के निमित्त से ही कर्मबन्धन होता है। वर्तमान अवस्था में जो भूल करते हैं, वह भूल मिटायी जा सकती है। यदि भूल करनेरूप ही धर्म होता तो वह छोड़ा नहीं जा सकता किन्तु क्रोध पलटकर क्षमा हो सकती है। जो परवस्तु में सुखबुद्धि, इष्ट-अनिष्टपना माना है, उसका आश्रय माना है – वह परवस्तु तेरे से भिन्न है। उसमें कर्तृत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धिवाली मिथ्या मान्यता छोड़ना

चाहे तो छूट सकती है और रागादि ममतारूप मोह छूटने पर उसके निमित्त भी छूटने योग्य हैं। ये सब कारण सोचते हुए भूल करना जीव का धर्म नहीं है – ऐसा ज्ञान होता है किन्तु जब तक वह दोष तथा दुःखरूपबुद्धि को पकड़कर रखता है, तब तक दोष अपने में रहे किन्तु मैं ज्ञान हूँ, निर्दोष हूँ – ऐसा निरन्तर निर्दोषता का भान करे तथा उसमें सावधान रहे तो अपने आप वह दोष व दुःख मिट जाते हैं।

जो मिट सकता है, जो छोड़ा जा सकता है, वह अपना गुण नहीं हो सकता। जिस प्रकार किसी दुश्मन को भूल से मित्र माना, उसका साथ किया किन्तु जाना कि उसका साथ मुझे दुःखरूप है। प्रथम मैंने उससे अपना हित माना था किन्तु उससे मुझे हित नहीं है – ऐसा जाननेपर उसका साथ छोड़ा जा सकता है; उसी प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का संयोग जीव के साथ है किन्तु उसका धर्म उसकी सत्ता में है। जड़ की प्रत्येक अवस्था जड़ कर्म में है और चेतन की अवस्था चेतन में है। एक आकाशक्षेत्र में तो छहों पदार्थ एक साथ रहते हैं, वे सब हमेशा अपने निज-निज धर्मरूप रहते हैं। एक-दूसरा अपना धर्म छोड़कर पररूप नहीं हो जाता। जीव अज्ञानभाव से पर का कर्तृत्व मानता है किन्तु इससे कोई वह जीव का धर्म नहीं हो जाता। वह कर्तापना जीव को व्यवहार से कहा है। अज्ञान से राग-द्वेष, क्रोधादि का कर्तापना जीव को कहा है, वह सर्वथा गलत नहीं है। जीव को कर्म का संयोग रागादि तथा ममत्वबुद्धि द्वारा होता है और यह संयोग होने का कारण पर में सुख माननेरूप मोहभाव है। इसे बराबर पहचानकर उसका त्याग (अभाव) हो सकता है। कारण का अभाव होने पर उपाधिरूप कार्य का भी अभाव होता है। कर्म निमित्तमात्र हैं, उसमें जुड़ान न करे तो उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि वह भूल में कारण बने। कर्म का कर्तापना जीव की अज्ञानता के कारण है, उससे वह निवृत्त हो सकता है। इतना सङ्क्षेप में समझना चाहिए कि जो-जो भ्रम होते हैं, वे-वे वस्तु की विपरीत स्थिति की मान्यतारूप होते हैं और इस कारण वह मान्यता बदली जा सकती है; यह भूल मिटाने योग्य है। कहने का हेतु यह है कि अज्ञानपूर्वक भी यदि आत्मा को कर्म का कर्तापना मान्यतारूप में नहीं होता तो उपदेश आदि का श्रवण, विचार, ज्ञान आदि समझने

का हेतु नहीं रहता।

जिस प्रकार मृगमरीचिका में जलबुद्धि होना भ्रम है, उसका परमार्थ समझना चाहिए। मृगमरीचिका में यदि पानी हो तो शीतलता आनी चाहिए। उस ओर से हवा आ रही हो और उस स्थान तक पहुँच जाने के बावजूद भी शीतलता नहीं आये तो उसने पानी का सच्चा लक्षण नहीं जाना। मूर्ख हिरने जल का शीतल लक्षण न जानें और अन्धी दौड़ लगाते रहें। ऐसा न सोचें कि तीन-तीन मील दौड़कर पैर दुःखने लगे, फिर भी पानी क्यों नहीं मिला ? इस प्रकार वस्तुतत्त्व की सच्ची पहचान बिना, उसके नाम से बाहर की क्रिया, पुण्य-पाप परिणाम, देहादि का तप बार-बार करने के बावजूद भी अभी कुछ लाभ नहीं दिख रहा; अतः उसे शङ्का व अन्तरक्षोभ है तथा ज्ञानी ने जाना, वह सही होगा या नहीं – इस प्रकार उसे सन्देह रहता है। खुद को निःसन्देहता नहीं है; अतः अन्तर में शङ्का रहती है कि कौन जाने क्या होगा ? ढके हुए कर्म का किसे पता लगता है ? हम तो कुछ पुण्यादि क्रिया करें तो धर्म का फल पायेंगे। धीरे-धीरे फल आयेगा किन्तु ऐसा नहीं होता। कारण का सेवन करे और उसका आंशिककार्य भी न दिखे तो वह मार्ग गलत है। धर्म तो अपना स्वभाव है। यहाँ पर वर्तमान में शान्ति, अतीन्द्रियसुख की समता न दिखे तो फिर भविष्य में कहाँ से होगी ? सच्चा ज्ञान होने पर वर्तमान में बेहद सुख-समता की शीतलता आंशिकरूप से भी दिखनी चाहिए। फल वर्तमान में प्रत्यक्ष न दिखे तो फिर भविष्य में तो दिखेगा कहाँ से ? अतः तत्त्व के बारे में बहुत कुछ समझना, विचारना है कि भूल कहाँ हो रही है ? खतौनी में क्या भूल है ? – इसे जानने का और जानकर भूल मिटाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जिसे सच्चा सुख चाहिए, उसे स्वयं प्रयत्न करना पड़ेगा।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १-११-१९३९

(गाथा ७७ वीं चल रही है)

आत्मा अज्ञानरूप से रागद्वेष का कर्ता है। यदि भ्रमरूप से भी अज्ञानरूप क्रोध, मान, माया, लोभ का कर्ता नहीं होता तो वह सर्वथा अकर्ता ही होगा। तो फिर उसे उपदेश, श्रवण, मनन करने की बात कहाँ रही ? जो मान्यता भूलरूप की थी, उस भूल को कबूल कर ले तो उस भूलरहित हुआ जा सकता है। भूल मेरा स्वभाव नहीं है। आत्मा राग-द्वेष रहित, बिल्कुल निर्मल शान्तस्वरूप है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि द्वारा पर्यायबुद्धि की भूल मिटाए तो सम्यग्नय (सच्ची दृष्टि) द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो सकती है। त्रिकाली नित्य शुद्ध द्रव्यस्वभाव और वर्तमान विभाव अथवा एक अवस्था समझने पर प्रमाणज्ञान होता है। न्यायपक्ष की परस्पर सापेक्षता जाने तो राग-द्वेष को मिटाकर ज्ञान में शान्ति-समता टिका सकता है। सच्चे अभिप्राय से अवस्था की शुद्धि हो सकती है। सुल्टी दृष्टि के बिना, सापेक्षवाद के बिना, एकान्त पक्षपातदृष्टि – वह दोषवान दृष्टि है। अज्ञानरूप से आत्मा राग-द्वेष का कर्ता होता है और ज्ञानभाव से दोष एवं भूल मिटा सकता है। ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का कर्ता भी आत्मा ही है। इस ज्ञान की स्थिरता का पुरुषार्थ वही परमार्थहेतु व्यवहार है। सम्यग्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय अभेद रत्नत्रय – यह मोक्षमार्ग है।

कोई कहे कि हम पुण्यादि क्रिया द्वारा धर्म करते हैं तो वह बात झूठी है। पुण्यपरिणाम यानी शुभराग द्वारा धर्म नहीं है; संवर-निर्जरा भी नहीं है। उससे आत्मा को गुण मानना, वह चैतन्यगुण की हिंसा ही है। प्रत्येक जीवद्रव्य दूसरे जीव-अजीव द्रव्यों से भिन्न है, ज्ञानमात्र स्वाधीन तत्त्व है; उसे पराश्रितता नहीं है। मन, वाणी, देह की क्रिया का कर्तृत्व नहीं है। धर्म, पुण्य के अधीन नहीं है। मैं ज्ञानमात्र केवल ज्ञाता ही हूँ, पर का अकर्ता हूँ – इस तरह एक बार अन्दर से उमङ्गपूर्वक हाँ तो लाओ ! सच्चा अभिप्राय तो लाओ ! जो पुण्य अज्ञानी बाँधता है, उससे अनेक गुना उत्कृष्ट पुण्य ज्ञानी को सहज बन्ध जाता है। मैं चैतन्य ज्ञाता हूँ; पर

का कर्ता नहीं हूँ, निश्चय से असङ्ग, निर्मल, अबन्ध हूँ – ऐसे भान की भूमिका में सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को लोकोत्तर पुण्य बन्ध जाता है; महान तीर्थङ्करपद का पुण्य सहज बन्ध जाता है। इच्छा बिना होनेवाला पुण्य, पुण्यानुबन्धी पुण्य है। उसके फल में इन्द्र, चक्रवर्ती आदि महान पद का योग होता है। अत: सत् एवं पुण्य की उत्कृष्टता चाहिए तो सत् को समझो। धर्मात्मा को पुण्यादि सभी परवस्तु की इच्छा का निषेध है। फिर भी पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है, तब तक पुण्य अपने आप बन्ध जाता है और अकषाय अभिप्राय की सम्हाल करता हुआ, कषाय तोड़ता-तोड़ता, स्वरूपस्थिति की जागृति में पुरुषार्थ के बल द्वारा मोक्ष हथेली में देखता हुआ, अल्पकाल में सर्व कषायों से मुक्त हो जाता है।

मोक्षसाधन में पुण्य का साथ नहीं है किन्तु अकषायरूप ज्ञानबल का पुरुषार्थ काम का है। यदि पुण्य से धर्मसाधन होता तो पञ्च महाव्रती अभव्य को तथा दूसरे अज्ञानी को धर्म होना चाहिए। मन, वचन, काया तथा पुण्य-पाप की क्रियारहित, अबन्ध, असंयोगी शुद्धात्मा की यथार्थ प्रतीति यदि मनुष्यत्व पाकर नहीं की, अपना यथार्थरूप नहीं जाना तो वह भले ही पुण्यवान हो, पुण्य करता हो किन्तु वह आत्मगुण का विराधक होने के कारण निगोद में अवश्य अनन्त काल तक रहनेवाला है। लौकिक नीति, दया, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि शुभराग ज्ञानी को अमुक्तदशा तक आता है किन्तु यदि ऐसे राग को अच्छा माने, राग का कर्ता बने तो कर्ता होनेवाले ने ज्ञातापना जाना नहीं है। जिसने उस शुभभाव को अपना कर्तव्य माना, उसमें ठीकपना माना – वह कदापि पुण्य बाँधे और अज्ञानभावपूर्वक बाँधे हुए पुण्य से कदापि देव, भूत आदि बन जाए, फिर भी वह नरक-निगोद में जानेवाला है। लोगों में नीतिमान माना जाता हो, लाखों-करोड़ों का जनसमूह उसे वन्दनीय, पूजनीय मानता हो, उसे (खुद) ठीक मानता हो तो वह धर्मी नहीं है क्योंकि आत्मस्वरूप से अनजान जीव महा-अपराधी है। अपनी विपरीत मान्यता के पोषण द्वारा वह ज्ञान को आच्छादित करता है, आवरण पैदा करता है। वह इस भव से छूटने के बाद दूसरे भव में जाकर मूढ़ हो जायेगा। बाहर से धर्म माना हुआ है कि अमुक कपड़े पहनने, विशेष प्रकार से लेना-रखना इत्यादि यह आत्मा जड़ की क्रिया कर नहीं सकता। इस प्रकार डंके की चोट पर अनन्त ज्ञानियों की साक्षीपूर्वक कहते

हैं। जिसे नरक-निगोद में जाना हो, वह यह बात न माने।

जड़ की क्रिया दिखती है, वह आत्मा के अधीन नहीं है। जड़ ने जड़ का कार्य किया, उसमें मोहीजीव ने मेरापना माना। अनन्त परमाणु की क्रिया उन परमाणुओं में स्वतन्त्ररूप से होती है। उसकी क्रिया जिस समय, जिस प्रकार से होनीवाली है, वह अपने उपादान के आधार से होती है, उस समय सामनेवाले रागी जीव को निमित्त कहा जाता है। इच्छा है, वह उपाधि है; वह जीव का कार्य नहीं है। दृष्टान्त : यह वस्त्र अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है। इसमें हिलने की योग्यता न हो तो उसे अन्य पदार्थ कैसे हिला सके ? सूक्ष्म में सूक्ष्म परमाणु अन्य परमाणुओं के अधीन नहीं है। उस परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस है और स्पर्श की चिकनायी है, इस कारण से उसमें बन्धस्वभाव है; अतः अनन्त परमाणु इकट्ठे होकर उनसे स्थूलपिण्ड बनता है। जगत के अज्ञानिओं को संयोग में एकताबुद्धि होने के कारण उसमें भ्रम होता है कि मैंने इसकी क्रिया की। इस प्रकार मानता हुआ अपने ज्ञान में उसके कर्तृत्व के विभाव का स्थापन करता है। यदि वस्त्र में हिलने का सामर्थ्य न हो तो कुदरती नियम है कि जिसमें जो शक्ति न हो, उसमें नवीन उत्पादकता कोई दे नहीं सकता और जिस-जिस पदार्थ में उस-उस प्रकार से पलटने की शक्ति है तो दूसरे ने उसे क्या दिया ? कोई माने कि मैं निमित्त होता हूँ – यह बात भी झूठी है। योगानुयोग कभी-कभी समय, इच्छा एवं देहादि की या वस्त्रादि की उस प्रकार की क्रिया होती हुई दिखने में आती है। स्थूलदृष्टि से कभी इच्छानुसार होता हुआ लगता है किन्तु उन अनन्त परमाणुओं के समूह में उस समय उसरूप होने का स्वभाव है। उन अनन्त परमाणुओं के समूह के पलटाव का और जीव की इच्छा का कई बार योगानुयोग दिखता है। इस प्रकार बहुभाग जड़ की क्रिया व जीव की इच्छा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु एक-दूसरें का कर्तृत्व नहीं है। जड़ की उस क्रिया के समय, कभी अन्दर की इच्छा का योग भी दिखे और लेने-रखने की क्रिया भी योगानुयोग होती हुई दिखे, वहाँ मिथ्यादृष्टि द्वारा जीव भ्रान्ति में पड़ता है।

यदि जीव जड़ आदि की क्रिया कर सकता हो तो लकवा मार जाए, तब अङ्ग या अन्य जड़पदार्थ को क्यों हिला नहीं सकता ? यदि जड़ की क्रिया जीव

कर सकता हो तो जब-जब वह देहादि की क्रिया करना चाहे, तब-तब कर सके किन्तु ऐसा होता नहीं है। पुनश्च, तन्दुरुस्त आदमी भी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता। छींक। उबासी, शरीर की अनेक चेष्टा कई बार इच्छा से विपरीत व अरुचिकररूप से हो जाती है। अतः देहादि की क्रिया, जड़ की क्रिया मेरे करने से होती है, ऐसा मानना महापाप है। देहादि जड़धर्म और अपना चैतनधर्म - दोनों सदा भिन्न एवं स्वतन्त्र होने के बावजूद जो जड़ का कर्तृत्व मानता है, वह आत्मा को नहीं मानता; अतः वह भावहिंसा करनेवाला पापी है। लाखों-करोड़ों अज्ञानी जो मानते हैं, उससे हम अनोखी बात बता रहे हैं। इस न्याय को समझे बिना परमार्थतत्त्व समझा नहीं जा सकता। यह बात तीन काल के ज्ञानियों की सम्मत (मान्य) की हुई है; यह बात न्याय, युक्ति, आगम व अनुभव से सिद्ध है। आत्मा का ज्ञान के अलावा अन्य कोई कर्तृत्व नहीं है। ज्ञान किसी समय जाननपने से रुकता नहीं है, जानने से इन्कार करता नहीं है। कोई भी देहादि की क्रिया करने को जीव चाहे किन्तु बहुत बार उसके अनुसार होती ही नहीं है, फिर भी मैं करता हूँ, ऐसी भ्रमभरी मान्यता जीव कर सकता है। लोगों को अपूर्व विचार से तत्त्व का मनन नहीं है और परवस्तु से ही कल्याण (सुख) होता हो, उस प्रकार बाहर से कर्तव्य माना गया है, भले (ही) मुख से कहता है कि देह एवं आत्मा दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी परवस्तु के संयोग से, पुण्यादि से मुझे लाभ है, फायदा है, धर्म होता है - ऐसा वह जब तक मानता है, तब तक तत्त्व की पहचान नहीं है।

किसी आत्मा में एक तिनके को तोड़ने की शक्ति तीन काल में नहीं है। सामनेवाले तिनके में उस समय हिलने की योग्यता थी, तब जीव को कषायभाव से इच्छा हुई कि इस तिनके को मैं हिलाऊँ, (जीव ने कभी हिलाया नहीं है किन्तु मिथ्याअभिमान किया है)। इस सामान्य दृष्टान्त से समझ में आयेगा कि व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्मपना हो नहीं सकता। अतः गहरायी से विचार एवं मनन करने की जरूरत है। जो मान्यता है कि हम कहते हैं, लेते हैं, रखते हैं; पुण्य-दया के कार्य, सेवा के कार्य हमारा कर्तव्य है; अतः हम कर सकते हैं - यह अनादि के देहाध्यासवश माना गया है। यह मान्यता भूल भरी है। कार्य

करने की इच्छा होना, यह जीव के चारित्रगुण की अशुद्धदशा है। जड़ का वह कार्य जिस काल होनेवाला होता है, उस काल में मोहीजीव स्वयं कषायभावरूप (क्रोध, मान, माया, व लोभरूप) परिणमता है। जो कार्य होनेवाला था, उसके होने पर वह उसका कर्ता व मालिक हो जाता है और मानता है कि मैंने उपकार किया, मैंने सेवा की, दवाई की, हास्पिटल बनवाया, मेरे द्वारा यह हुआ और मेरे द्वारा लाभ हुआ – इस प्रकार जड़ की क्रिया का वह स्वामी होता है। बैलगाड़ी के नीचे कुत्ता चले और कहे कि मैं चलाता हूँ, उस प्रकार अज्ञानी संसार की क्रिया का मिथ्याअभिमान करता है।

प्रश्न - किन्तु लोग यदि ऐसा मानेंगे तो कोई दया, सेवा, दानादि कार्य करेंगे नहीं?

उत्तर - वह कार्य होनेवाला हो, उस समय हुए बिना रहेगा नहीं किन्तु आत्मा उस क्रिया का कर्ता नहीं है। सामनेवाले रागी जीवों को उस प्रकार का पुण्योदय होवे तो उन्हें निमित्त बनने का विकल्प आये बिना नहीं रहेगा। उसके उपादान के लायक जो-जो देह निमित्त होनेवाली हैं, वे होंगी ही; उसे कोई रोक नहीं सकता। ज्ञानी गृहस्थ भी दानादि कार्य करते हैं, फिर भी उसे वे अपना कार्य एवं मोक्षमार्ग नहीं मानते। क्रिया हो जड़ की और लाभ हो आत्मा को, ऐसा मानना मिथ्यात्व है। जड़भाव से ज़हर फलेगा और दूसरे भव में जीव को मूढ़वत् बना देगा, यह स्वयं के अपराध का फल है। कोई जीव यों माने कि पुण्य से परम्परा से अच्छे भव मिलेंगे, उसमें कभी सत्पुरुष का योग हो जायेगा तो यह सही नहीं है। उसने मूलतः ज़हर से फायदा माना है किन्तु ज़हर का कारण फायदेरूप कैसे हो ? अज्ञानभावपूर्वक शुभपरिणाम किये और माना कि हाँ ! मैंने बहुत अच्छा किया। जीव बचा, उसमें सामनेवाले का आयुष्य था, फिर भी वह मेरे कारण बचा, मैंने बहुत अच्छा किया – इस प्रकार जड़ की क्रिया का स्वामी होनेवाला जीव, भगवान अक्रिय ज्ञाता आत्मा पर बन्धनरूप पराधीनता के आवरण डालता है; ज्ञाता-दृष्टा, साक्षीपना भूलकर जड़भाव का आदर करता है। यही ज्ञानभाव का अनादर है। यह स्पष्ट न्याय भी मोह से अन्धे हुए जीव को समझ में नहीं आयेगा।

त्रिकाली अकषाय स्वभाव के आश्रय द्वारा भूल को भूल जाने और मैं उपाधिरूप

या पराधीनतारूप नहीं हूँ – इस प्रकार जीव सुल्टे, सम्यक्अभिप्राय की सम्हाल करे; प्रत्येक वस्तुतत्त्व की स्वतन्त्रता के कारण दोनों द्रव्य के लक्षण भिन्न हैं, कार्य भिन्न हैं – इस प्रकार यथार्थरूप से जाने – माने तो ही समभाव में, समतास्वरूप में ज्ञाता -दृष्टारूप से निर्दोषतापूर्वक रहा जा सकता है और वही समग्र जगत को उपकारी निमित्त है। सत् को समझे बिना उपकार क्या हो सकता है ? सच्चा ज्ञान होने के बाद धर्मात्मा को पूर्व का योग एवं शुभराग की वृत्ति हो, तब तक दया-दान के विकल्प आते हैं और कार्य हो जाता है। सामनेवाले के पुण्य के अनुसार उसके देहादि की क्रिया उसकी योग्यतानुसार हुए बिना नहीं रहती। धर्मात्मा उस देहादि, रागादि तथा पुण्य की क्रिया का भी कर्ता एवं स्वामी नहीं होता; मात्र जानता है कि परद्रव्य का कार्य उसके उपादान के अधीन स्वतन्त्र है। आत्मा अरूपी ज्ञानस्वरूप है; वह देहादि, वस्त्रादि का कर्ता हो तो उसकी क्रिया जब करना चाहे, तब कर सके किन्तु ऐसा नहीं होता।

वस्तु का नियम समझो कि कर्ता उसे कहें कि जिस समय करना चाहे, तब कर सके। चेतन का कर्म, ज्ञान है; ज्ञान के अलावा दूसरा कुछ कार्य हो नहीं सकता। सदा जानता ही रहे – ऐसा ज्ञानलक्षण, वही आत्मा का कर्म आत्मा में ही है। त्रिकाल निश्चित नियम है कि एक द्रव्य की क्रिया दूसरा द्रव्य कर नहीं सकता। देह में कहीं कम्पन होता है, अनेक प्रकार से अरुचिकर क्रिया हो जाती है तो वैसा करने की इच्छा नहीं होते हुए भी देहादि की क्रिया जो होने योग्य हो, वह होती है। अब, इस पर से कोई कहे कि तो क्या हम पापक्रिया करें ? आत्मा उसका अकर्ता है। पाप का विकल्प आये तो क्या करें ? उत्तर - अमुक गुण प्रगट हुआ, इसलिए राग-द्वेष का तीखापन व दुष्टकर्म करने पड़े, ऐसे कर्म का उदय ही नहीं होता, इच्छा भी नहीं उठती। जिसने माँस नहीं खाना, ऐसा दृढ़ निर्णय किया है उसे माँस खाने की इच्छा ही नहीं होती; वैसी भाषा व निमित्त भी नहीं होता। जिसकी ब्रह्मचर्यरूप दशा हुई, उसको स्त्रीसमागम की इच्छा नहीं होती। ब्रह्मचर्यव्रत का पालन होना अलग बात है किन्तु कोई अपने शरीर से स्त्री की देह को नहीं छूने का नियम रखे और माने कि मैं उस जड़ का संयोग छोड़ सका हूँ, मैं जड़ का त्याग कर सकता हूँ, मैं देह से ब्रह्मचर्य

का पालन करता हूँ तो ऐसा माननेवाला महाव्यभिचारी है। मैं जड़ की क्रिया कर सकूँ, लूँ – छोड़ दूँ – इस प्रकार पर का ग्रहण-त्याग करनेरूप मिथ्याअभिमान छोड़ते ही छुटकारा है। आत्मा के घर की सही बात जिसे न बैठे, उसे जड़भाव व मूढ़ता पसन्द है, पराधीनता की रुचि है। जड़ की क्रिया मेरे से होती है – ऐसा माने, वह आत्मस्वरूप का, ज्ञायकता का महाविराधक है; स्व का हिंसक है। बाहर से अहिंसा का पालन करता हो, पञ्च महाव्रत का पालन करता हो, फिर भी तत्त्वज्ञान (की दृष्टि) से महा-अधर्मी है। मिथ्यात्वसहित पुण्य बाँधता है, फिर भी उसे पापी कहा है। आत्मा अरूपी, ज्ञानमूर्ति है। जड़ व चेतन की भिन्न-भिन्न स्वाधीन क्रिया है। अत: तद्सम्बन्धित समझ का बहुत विचार करना चाहिए। निवृत्ति लेकर उसका मनन करो और खुद के निर्णय द्वारा उसे मानो। यह समझे बिना राग-द्वेष व ममत्व मिट नहीं सकता। जैसा स्वरूप है, वैसा समझे बिना अनन्त काल में भटकना हुआ है। इस समझ के बिना अन्य बाह्यसाधन पूर्व में अनन्त बार किये हैं। अत: जीव को विचार करना चाहिए कि मेरा ज्ञातातत्त्व कैसा है ? मैं कितना बड़ा (महान) हूँ ? कर्ता-भोक्तापना कहाँ, किस प्रकार लागू होता है ? इसका यथार्थ अन्तरविचार उगे बिना धर्म कहाँ से हो ? लोगों ने आसानी में धर्म मान रखा है। पराश्रितपने पर चौकड़ी लगानी पड़ेगी। प्रथम, श्रद्धा में सर्वज्ञ, वीतरागकथित स्वाश्रयता का ग्रहण होने पर, पराश्रय की श्रद्धा का सर्वथा त्याग हो जाता है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २-११-१९३९

कर्ता क्या है ? – उसका अधिकार चल रहा है। आत्मा ज्ञानघन है, वह बाह्य जड़ आदि परपदार्थों का कर्ता नहीं है। रागरूप कर्तापने के भाव से पर में कर्तृत्व माना था, उसका भान होने पर अकर्ता हो सकता है। **७७.**

अब, जीव को परमार्थ से जो कर्तापना है, उसकी बात करते हैं :-

चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव;
वर्ते नहि निज भानमां, कर्ता कर्म प्रभाव।। ७८।।

चेतन जो निज-भान में, कर्ता आप स्वभाव।
रहे नहिं निजभान में, कर्ता कर्म-प्रभाव।।७८।।

यह बात सूक्ष्म लगती है। इसका कारण लोगों को तत्त्व का मनन नहीं है। खुद विचार न करे (तो) उसे क्या लाभ होवे ? तीर्थङ्कर आदि ज्ञानीपुरुष का उत्कृष्ट निमित्त मिले, फिर भी निमित्त को पहचानकर उपकारी कारण स्वयं न बनाए तो क्या उपकार हो ? पुण्य-पाप, रागादि परवस्तु का अकर्ता होकर, 'मैं निर्मल ज्ञाता ही हूँ' – इस प्रकार अपनी दृढ़ता करे, निश्चल अभिप्राय करे तो राग-द्वेष की भावना मिटे और जड़ का कर्ता न होवे और अपने ज्ञान का कर्ता हो जाए। देहादि जड़ परमाणु, शुभ-अशुभ आदि की क्रिया धर्म नहीं है। इस प्रकार पराधीनता से छूटकर रागादि से रहित निर्मल ज्ञानस्वभाव में जीव स्थिर हो, तब ज्ञान का कर्ता हो – वह सम्यग्दर्शन हुआ। इस भूमिका को चौथी भूमिका कहते हैं। गृहस्थ भेष में स्थित राजा हो, अन्य हो, कोई भी स्त्री हो – फिर भी तत्त्व में निर्दोषदृष्टि द्वारा स्वाधीन धर्म पा सकता है। उसे स्वधर्म की सिद्धि होने से अपनी जागृति में, भान में वह अति सुखी है।

मैं ज्ञान का कर्ता हूँ, यानी रागादि तथा जड़ की क्रिया में स्वामीत्व था, वह टल गया और अपने पूर्ण पवित्र, बेहद सुखस्वरूप का अहंपना, निर्दोषपना हुआ – इस ज्ञान में टिकना, वही चारित्र है। मन, वाणी, देह की क्रिया में धर्म मानकर, पुण्यादि में अटकाव अज्ञानवश होता था, उसे विभाव जानकर, वह मेरा धर्म नहीं है - इस प्रकार वह उपाधि से भिन्न होकर निर्मल श्रद्धा-ज्ञान द्वारा ज्ञाता-दृष्टा-साक्षीभाव से टिका; इसलिए विकार का कर्ता नहीं हुआ किन्तु अपने निर्दोष ज्ञान का कर्ता हुआ।

स्वभाव माने केवल ज्ञानमय आत्मधर्म को जानना। उसमें पुण्यादि तथा देहादि का कर्तृत्व या स्वमित्व कहाँ आया ? ज़रा मध्यस्थतापूर्वक विचार करो ! अपने अभिप्राय की खतौनी में, सँभाल में कहाँ भूल होती है ? – उसका गहरायी से विचार करो। जो स्वरूप सत्रूप है, स्वाधीन है – उसे अन्यथा मानना, यह क्या महान अपराध नहीं है ? स्वहिंसा नहीं है ? पर को अपना मानना, यह महापाप है, मिथ्यात्व है। मैं पर से भिन्न ज्ञाता हूँ, ऐसा ज्ञान व इस ज्ञान का भरोसा करनेवाली श्रद्धा ही परम दुर्लभ है। ज्ञान में स्थिर हुए बिना ज्ञान की श्रद्धा नहीं होती। आत्मा में स्थिर हुए बिना शान्ति नहीं होती। पुण्यादि भाव तो मोहकर्म की सन्तति है, उपाधि है; उससे शान्ति कैसे हो ? धीरे-धीरे न्याय को समझना चाहिए कि सुख का, शान्ति का सत्तास्थान कहाँ है ? यदि पर में सुख हो तो बताओ ! कोई कहता है कि संसार में रहकर ज्ञान नहीं होता किन्तु हम कहते हैं कि संसारभाव से रहित रहनेवाला कहीं भी ज्ञानी बन सकता है। इसमें कोई इन्कार कर सके, ऐसा नहीं है। आत्मा, निरुपाधिक स्वाधीन तत्त्व है – ऐसा निर्णय करनेवाला अपने निर्दोष ज्ञान का कर्ता हुआ। तब तो प्रथम भूमिका, सम्यग्दर्शन जो कि जैन का एक का अङ्क ही (सब से प्रारम्भ की बात) कहलाता है। चेतन यदि निजभान में हो तो वह सम्यग्दर्शन है; वह कोई दोष या दु:ख का कारण नहीं है। पुण्य, पाप, रागादि में उसका टिकना नहीं होता। जिसने परमार्थस्वरूप जानकर अपने में ज्ञातापना माना है, वह लौकिक में अच्छे कहे जानेवाले कार्यों को भी अपना नहीं मानता। मात्र ज्ञान मेरा, मेरी मर्यादा यहाँ तक है – इस प्रकार ज्ञान में जागृत रहता है, स्वात्मविचार करता है। ज्ञान को ही जाने, वही धर्म है। देह की क्रिया

उसकी योग्यतानुसार होती रहे, पुण्यादि या देहादि की किसी क्रिया का कर्ता एवं स्वामी नहीं होता। ज्ञान पर का कुछ करे नहीं, ऐसे ज्ञान को अपना मानना, वह ज्ञान की श्रद्धा का कर्तृत्व है। ज्ञान करना, वह ज्ञान का कर्ता; ज्ञान में टिकना, वह चारित्र का कर्ता है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा व रागरहित ज्ञान में एकाग्रता करनी चाहिए। ज्ञान व ज्ञान में जागृति का प्रयत्न करनेरूप परमार्थभूत व्यवहार, यह सब ज्ञान से भिन्न नहीं होता। आत्मा का व्यवहाररूप पुरुषार्थ पुण्यादि, रागादि, देहादि में नहीं होता। लोकोत्तर परमार्थमार्ग में ज्ञाता की कार्यवाही ज्ञानरूप ही है, पर की अथवा पुण्यपाप की कार्यवाही नहीं है, ऐसा भान प्रथम सीढ़ी है। इस न्याय को विशालता से समझे बिना रागादि उपाधि से रहित नहीं हुआ जा सकता। वस्तु का पूर्ण स्वभाव जैसा है, वैसा मानने को कहा है। स्वयं का कर्म, कार्य ज्ञान में है, ऐसा न माने और पुण्य-पाप मेरे हैं, मैंने किये, मेरा कर्तव्य है। मैं पर का ऐसा कर दूँ, रखूँ, लूँ, छोड़ूँ, दूसरे को सुखी करूँ, मैंने फलाँ आदमी की सेवा की, दान किया – ऐसा माननेवाला ज्ञातापने का अनादर करनेवाला है। अत: महा-अपराधी है और भावकर्मरूप अज्ञान का कर्ता है। जिसका रहना ज्ञानमात्र में है, वह ज्ञाता ही है।

'चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव;
वर्ते नहि निज भानमां, कर्ता कर्म प्रभाव।'

इस महापद का गहरायी से अवगाहन करो, मनन करो, यही सार है। इन दो पंक्तियों में ज्ञानी तथा अज्ञानी के रुझान की बात है। हित-अहित जानने के बाद हित का सेवन हो सके। अपने स्वरूप की सच्ची पहचान बिना सम्यग्दर्शन नहीं है और सम्यग्दर्शन बिना धर्म नहीं है। धर्म क्या, मैं कौन, हित क्या, अहित क्या, – ये पुण्य-पाप, रागादि की मलिनता क्या, रोग क्या व नीरोगता क्या ? – ये समझे बिना वह किसका धर्म करेगा ? भान बिना अज्ञान करेगा। स्वरूप समझे बिना जो कुछ मानता है, वह विपरीत है; जो कुछ जानता है, वह जड़ को जानता है। स्वयं को कभी भी नहीं जानता।

प्रश्न - किन्तु जब तक सम्यग्दर्शन न हो, तब तक शुभक्रिया व्रत, तप, दान इत्यादि करें तो क्या दिक्कत है ?

उत्तर - देहादि क्रिया का करना या नहीं करना - यह सब आत्मा पर आधारित नहीं है। मैंने नहीं किया – ऐसा अज्ञानी माने, वहाँ ज्ञान क्या करे। अतः प्रथम आत्मा का स्वरूप तो समझो। यही कर्तव्य है; ज्ञाता का ज्ञान ही कार्य है। मन, वाणी, देहादि परमाणु की क्रिया चेतन के अधीन नहीं है, व्यर्थ मिथ्या अभिमान होता है। फिर भी शुभ को छोड़कर पाप करो, ऐसा नहीं कहना है किन्तु शुभ के द्वारा मुझे लाभ होगा, धर्म होगा; वह मेरा कर्तव्य है, उसे करुँगा तो ठीक होगा – ऐसी बुद्धि ही महामिथ्यात्व का पोषण है। उस मिथ्यामान्यता का अभाव करने हेतु मान्यता बदलने की जरूरत है। प्रथम शुभ करूँ और उसमें से फिर शुद्ध प्रगट होगा, ऐसा मानना यह सच्ची दृष्टि की अपेक्षा से अधर्म है। ज्ञातृत्व की विराधना है। सम्यग्दृष्टि को भी ये कार्य हो जाते हैं किन्तु उनकी समझ में भारी तफावत है। उन्होंने राग का कोई कार्य ठीक नहीं माना है। स्वयं पवित्र ज्ञानरूप में टिके रहने के प्रयास में है; अन्य कुछ नहीं करते। पुण्य-पाप तो आत्मा के चैतन्यस्वभाव के फोड़े हैं, उपाधि है। पुण्यपरिणाम मोहकर्म की सन्तति का फल है। उसे गुण कैसे मानें ? यह विचार करो ! खुद को दोष-दुःखरहित आरोग्यवन्त होना है; अतः धर्मात्मा पूर्ण शुद्धस्वरूप को सम्बोधन करते हैं कि **'आरूग्गं बोहिलाभं'** (लोगस्स की स्तुति) बोहि=बोधि=सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान-चारित्र की एकता; लाभं = मेरे में शक्तिरूप से तो वह समग्र सिद्धत्व है, उसकी मुझे प्राप्ति हो।

'तीथ्थयरा में पसीयंतु' हे जिन वीतराग ! आप मेरे पर प्रसन्न हो ! इस प्रकार शब्द अनुसार अर्थ नहीं होता। वीतराग को राग नहीं है; वे किसी पर प्रसन्न नहीं होते किन्तु खुद वीतराग को पहचानकर जैसा उनका शुद्धस्वरूप है, वैसा ही मेरा है – इस लक्ष्य से अन्दर से पुरुषार्थ उठाकर अपने चेतन की प्रसन्नता करता है और जो भगवन्त हो गये। उनके गुणग्राम करता है। शब्दों में निमित्त की भाषा आये, वह तो सत् का बहुमान है किन्तु कोई शब्द को पकड़कर कहे कि शास्त्र में भगवान की भक्ति करने का कहा है, उससे गुण होता है किन्तु शब्द द्वारा अर्थ करने बैठे तो मेल नहीं बैठेगा। **'ठाणं संपाविउ काम्माणं'** – इसका अर्थ क्या हुआ ? हे भगवान ! आप मोक्षस्थान के कामी हो तो क्या उन वीतरागी पुरुषों को इच्छा होगी ? ऐसा नहीं है किन्तु साधक को अपूर्णता है। अतः अपने परमार्थ

का सम्बोधन कर रहे हैं और स्वयं को पूर्ण होने की कामना है, इसलिए समर्थ का नाम लेते हैं। देव, गुरु, धर्म वीतराग हैं, वे पूर्ण सत्स्वरूप हैं। उनका बहुमान करने के लिये उनके प्रति परम उपकारिता का आरोप करके स्तुति करते हैं; साथ में भान है। शुभविकल्प को कोई आदरणीय माने तो मिथ्यात्व है। वीतरागता का प्रेम, राग का प्रेम नहीं है; राग का आदर नहीं है। यदि राग का राग रखे तो वह वीतरागता का आदर नहीं है। वीतरागी पुरुष हो गये। उनके गुण का बहुमान कौन कर सकता है ? उन्हें यथार्थतापूर्वक पहचानकर पुण्य-पाप-रागादि के रोगरहित आरोग्यमय वीतरागता का पोषण जिनको हुआ हो, वे क्योंकि इस प्रकार अपने अरागभाव को उठाते हैं, वीतराग भगवन्तों की वीतरागता को पहचानकर उनमें उपकारिता का आरोप करते हैं और भगवन्तों का जो बहुमान करते हैं, वह परमार्थ से अपने गुणों का बहुमान है। शास्त्र में तो मुख्यरूप से निमित्त के शब्द ही आते हैं।

षट्आवश्यक आदि क्रिया का शुभराग जघन्यदशा में होता है। ज्ञानी को वह हेयबुद्धि से है। श्रद्धा में तो शुरू से ही उसे बन्धनरूप कार्य मानते हैं। स्वयं तीव्र कषाय मिटाने का पुरुषार्थ करते हैं। साथ में शुभयोग की क्रिया भी जो निमित्तरूप मानी जाती है, उसे जानते हैं कि वह मेरा कार्य नहीं है; उससे मुझे गुण नहीं है। विनय की भाषा आये कि हे भगवान ! मुझे सिद्धपद दीजिए ! तो क्या देहरहित सिद्ध भगवान किसी को कुछ दे सकते हैं ? कदापि नहीं। किन्तु समझदार सोच-समझकर अपने पुरुषार्थ को उछालकर कहता है कि मैं सिद्ध समान ही हूँ। जितना सिद्धपद है, उतना मैं हूँ; जो कार्य सिद्धभगवान के लिये सम्भव है, वही मेरे लिये है – ऐसा निर्णय प्रथम भूमिका में चाहिए। वीतराग एवं वीतरागता के निमित्त का बहुमान होवे, भाषा में विनय, नम्रता ही होवे; अभिमान नहीं होता। अत: बोलने में व्यवहारभाषा आती है। ज्ञानी भी लोकभाषा में बोलते हैं किन्तु अन्तर में खतौनी है कि मैं सिद्ध -समान हूँ, पर का अकर्ता हूँ, ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, ज्ञान मेरा कर्म है। **'चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव'**, यानी अपने निरुपाधिक स्वभाव का आत्मा में कर्तापना है, ऐसा यथार्थ निर्णय हुआ तो फिर पुण्यादि, देहादि परद्रव्य के किसी कार्य को अपना कैसे माने ? जो अपने बस में नहीं है, जो कार्य

अपने से होते नहीं हैं, फिर भी जिस प्रकार रस्सी में सर्प की कल्पना करना मिथ्या है; उस प्रकार पर के कार्य में अपना कर्तव्य है, ऐसी मान्यता मिथ्या है – ऐसा जानना। मैं जानने के अलावा अन्य कुछ कर सकूँ, वह मिथ्यामान्यता है। जीव अपने स्वरूप का कर्ता है, वह पर का कर्ता किसी तरह नहीं है।

'वर्ते नहि निजभानमां, कर्ता कर्म प्रभाव' निर्मल शुद्ध स्वरूप के भानरहित होकर, पुण्य-पाप, देहादि में जो कुछ इच्छा इत्यादि मलिनता में, परभाव में टिका है, उस अज्ञान द्वारा अधर्मीजीव अपने ज्ञानस्वभाव में प्रवर्तमान नहीं रहा, तब कर्म के प्रभाव का कर्ता कहा है। कर्म के दो प्रकार हैं – भावकर्म व द्रव्यकर्म। चौबीस जिनस्तुति (लोगस्स) में आता है कि **'विहुयरयमला'** हे भगवान ! आपने रज व मैल दोनों मिटाए हैं। रज माने ज्ञानावरणादि आठ कर्म की महीन धूल और मल माने रागादि पुण्य-पाप के परिणाम। ये मलरूप भावकर्म हैं। वह चेतन की परवस्तु में मोहवाली विकारी अवस्था है, वह अज्ञानता की भूल है, मिथ्यामान्यता है, भ्रमणा है किन्तु जब शुद्धपरमात्मा को पहचाना कि मैं सिद्ध भगवान जैसा शुद्ध हूँ; उपाधि, भूल, भ्रमणा मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसा जाने तो विभाव की रुचि से, उसके असर से, भ्रान्ति से छूटकर सम्यक् अभिप्राय में स्थिर होता है, यानी विभाव से छूटकर स्वभाव में निश्चितरूप से टिकता है।

आत्मा का यथार्थ निर्धार हुआ, उसी समय रागादि व देहादि संयोग से छूट नहीं सकता किन्तु क्रमशः पुरुषार्थ वृद्धिगत होते-होते अल्पकाल में उस कर्मकलङ्क का निमित्त अपने आप छूट जाता है। अनन्त ज्ञानियों के हृदय में छिपा हुआ यह गूढ़भाव है। मैं पूर्ण शुद्ध हूँ और पूर्ण को साधने का पुरुषार्थ – इन दोनों दृष्टि को लक्ष्य में रखकर जैसा है, वैसा समझकर अन्तर में तत्त्वनिर्णय को जमाओ। तीनों काल में मोक्षमार्ग यही है, दूसरा मार्ग नहीं है। इसमें मतभेद की कोई बात नहीं है। आगे कहा था उसके अनुसार जैसा स्वभाव है, वैसा ही कहा जाता है। अतः यदि मतभेद छोड़कर समझो तो जो अनन्त काल में नहीं समझा हुआ तत्त्व है, वह वर्तमान काल में भी समझ सके, ऐसा योग है; तैयारी अपनी चाहिए। बहुत सारे पहलुओं से (न्याय की अपेक्षा से) एक ही बात कही जा रही है किन्तु लोग मनन करते नहीं हैं तो क्या हो ? स्पष्ट लाजिक (न्याय) से समझे नहीं,

उसे जबरदस्ती कौन समझा सके ? लोग अपनी बुद्धि से अन्यथा मान लें, उससे ज्ञानी को क्या ?

परम (अनन्त) आनन्द के भानसहित आत्मार्थी ज्ञानस्वभाव का ही कर्ता है। सिर्फ जानना ही उसका कर्म है। धर्मी अपने स्वभाव के भान में अन्य किसी कर्मादि का कर्ता नहीं है। मन, वाणी, देह, पुण्यादि अन्य किसी जड़कर्म की प्रकृति के कार्य का जीव कर्ता नहीं है। मैं दूसरे को सुखी करूँ, दुःखी करूँ, मार दूँ, ज़िन्दा रखूँ इत्यादि भले ही माने किन्तु पर के किसी कार्य का जीव कर्ता नहीं है। जब तक इस न्याय का आदर नहीं होगा, तब तक एक सीढ़ी भी तत्त्व के समीप नहीं है।

बाहर का कार्य, देहादि की क्रिया जो होनेवाली है, उसे कोई रोक नहीं सकता। जो अपना कार्य नहीं है, उससे धर्म कैसे हो ? स्वरूप में ज्ञान की स्थिरता ही धर्म है, धर्म की क्रिया है। पुण्यादि क्रिया पर है, उससे चेतन को गुण नहीं है। ज्ञान की प्रतीति, ज्ञान की स्थिरता ही ज्ञाता का कर्म (कार्य) है। पर का कार्य पुण्य-पाप, शुभ -अशुभभाव, तथा देहादि का कार्य अपना मानना – यह भ्रम है, अज्ञान है। कोई कहे कि आप तो निश्चय की बात कर रहे हो परन्तु निश्चय माने सत्य और व्यवहार माने गलत। व्यवहार माने भेद, उपचार, ऊपरी स्थूलदृष्टि है। उस गलत को अपना मानना और उसमें ठीक मानना माने ऐसा हुआ कि ज्ञातापना ठीक नहीं है।

ज्ञानी जानते हैं कि मैं सदा अतीन्द्रिय, अरूपी, असङ्ग, ज्ञानमात्र हूँ। कोई जीव पर का कार्य कर नहीं सकता। मेरा कार्य तथा मेरे गुण-दोष अन्य कोई नहीं करता। मैं दूसरे का कुछ नहीं करता – ऐसा भान नहीं है और स्वयं पर में सुख मानता है; राग की क्रिया को कर्तव्य मानता है, उसे धर्मी कैसे कहें ? जिस प्रकार संस्कारी घराने का पुत्र निजघर छोड़कर वेश्या के घर न जाए, उस प्रकार ज्ञाता पुण्य-पाप का कर्ता नहीं होता। अज्ञानी कर्ता होवे तो अति तुच्छ ऐसी पराधीनता को प्राप्त होता है। उस प्रकार जो सिद्धभगवान का सुजात पुत्र होकर सुकार्य, निर्दोष ज्ञातापना करे, ज्ञान करे, जो-जो संयोग आऐं, उसे जाने परन्तु उसमें कर्तृत्व, ममत्व न माने एवं न चाहे, वही परमपद पाता है। अरागीपना

ही अपना सिद्धपद है – ऐसे भानसहित ज्ञानघर में स्थिर होकर ज्ञान की स्थिरता द्वारा अपने सिद्धपद को साधता है और एक उसे ही अपना कर्तव्य माने, उसे सम्यग्दृष्टि कहें; वही धर्मी है। लोग कहते हैं कि फलाँ तो बहुत अच्छा, ऐसा किया तो ठीक, इसने इतना पुण्य किया तो अच्छा है किन्तु परमार्थ से तो आत्मा के अलावा कुछ अच्छा नहीं है। ज्ञानी का ऐसा अभिप्राय होता है। इसके बिना प्रतिक्षण चेतन का घात होता है, ज्ञातापना भूलकर बन्ध से आच्छादित होता है। उसका फल यह होगा कि अनन्त काल में फिर मनुष्य नहीं होगा, मूढ़ हो जायेगा; अतः प्रथम समझो। सही है, वह जानेवाला नहीं है। ज्ञान होते ही संसार का संयोग छूट जाए, ऐसा नियम नहीं है। आत्मा को पहचानकर, सारे विरोध मिटाकर, निर्दोषतत्त्व का निर्णय जैसा है, वैसा करने के बाद स्वरूप स्थिरता होने में देर लगती है। अल्प शुभ-अशुभ बन्ध भी हो जाता है। सम्यग्ज्ञान हुआ कि तुरन्त ही सारे रागद्वेष मिट जाएँ या संसार छूट जाए, ऐसा नहीं है किन्तु सच्ची दृष्टि के भान में जो रागादिक हो जाते हैं, उसका कर्ता (स्वामी) ज्ञानी नहीं होता; अतः निर्जरा हो जाती है। ज्ञानी होने के बाद पुण्य-रागादि का प्रसङ्ग हो जाता है किन्तु वह जड़पदार्थ में अपनी कार्यवाही नहीं मानता। इस देह की क्रिया जहाँ-जहाँ, जब-जब होनेवाली है, वहाँ-वहाँ तब-तब होगी किन्तु अभिमान करे और माने कि मैंने सेवा की, दान किया, इनको सुखी किया, इत्यादि परवस्तु में ठीक-अठीकपने की बुद्धि, इच्छा और उसकी अल्प भी रुचि है, वह मिथ्यादृष्टि है। न्याय समझो तो यह गूढ़तत्त्व स्पष्ट समझ में आये – ऐसा है।

लोग मानें कि हम इस प्रकार रट लें, अनासक्तरूप से पर का कार्य करें एवं पुण्यादि शुभ धर्मकार्य करें – ऐसा हो तो ठीक किन्तु भाई रे ! हो जाए, वह अलग बात है और उसे अपना मानना, यह बात अलग है। मोहकर्म में जुड़ने से होनेवाले शुभकार्य को अपना मानना, यह मिथ्या अभिप्राय है। जानने में करना नहीं होता। अज्ञानीजीव को मोहकर्म का आश्रयभाव रुचता है, वहाँ उसका निषेध कैसे आये ? मुझे सिद्धपद के अलावा और कुछ नहीं चाहिए – ऐसी हाँ तो लाओ ! सिद्धभगवान का द्रव्य कैसा होता है ? – यह समझो। बाह्य के कार्य जिस-जिस प्रकार से होनेवाले हैं, उस-उस प्रकार से होते हैं, फिर भी उसे आप मानो कि

यह ऐसा ही हो तो ठीक – यह मान्यता बिल्कुल उल्टी है। अत: जो न्याय जिस विधि से कहा जाता है, उस विधि से समझो।

'कुवाडे कापड़ धोयां कुशळ क्यांथी थाशे राम' आत्मा पुण्य-पाप, देहादि साधनवाला नहीं है। परनिमित्त से आत्मा का धर्म नहीं होता, फिर भी उससे धर्म मानना, ठीक मानना – उसने आत्मा को ठीक माना नहीं कहा जाता। अत: बारम्बार कहा जाता है कि निवृत्ति लेकर इसे समझने का पुरुषार्थ करो, इसी की रुचि बढ़ाओ।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ३-११-३९

(गाथा ७८वीं चालू)

'चेतन जो निज भानमां कर्ता आप स्वभाव' यानी राग-द्वेष रहित जीव अपने ज्ञानगुण का ही कर्ता है। अपने ज्ञानगुण में जीव प्रवर्तन न करे तो कहीं ममत्व का स्वीकार करके, परसत्ता का प्रभाव मानकर पर का कर्ता होगा क्योंकि **'कर्ता का इष्ट है, वह कर्म।'** अपना स्वाधीनसुख न रुचे तो परवस्तु में प्रेम करके अटक जाए। साधकस्वभाव में पूर्ण शुद्धस्वरूप के लक्ष्य से ज्ञान का कर्ता होकर ज्ञान में टिके तो ज्ञान का माहात्म्य जीव बढ़ाता है और मैं कौन, उसके भान बिना जीव परभाव, जड़त्व का माहात्म्य बढ़ाता है और मैं उसका कर्ता हूँ - इस प्रकार भूल से मान लेता है किन्तु जीव पर का कुछ कर नहीं सकता। अत: यह निश्चित हुआ कि ज्ञानी ज्ञान का बहुमान करता हुआ मोक्ष में जाए, यानी स्वयं की मोक्ष अवस्था जो शक्तिरूप है, उसकी पूर्ण शुद्धता अपने स्वभाव में टिककर प्रगट करे। जो अपने-अपने को भूलकर जड़ का माहात्म्य करे, वह जड़ – जैसा तुच्छ निगोदिया हो जाए क्योंकि जीव का जो कर्तव्य नहीं है, उसे अपना मानता है।

जीव का कर्तृत्व क्या है ? यह कहते हैं कि परमार्थ से तो जीव रागादि

का कर्ता नहीं है। आत्मा के प्रदेशों का जो कम्पन होता है, पराश्रयरूप रागादि होते हैं, उन्हें करने का जीव का स्वभाव (धर्म) नहीं है किन्तु अशुद्धदशा की योग्यता है। परमार्थ से जीव अक्रिय है किन्तु वर्तमान पर्याय में उसकी क्रियाएँ दो प्रकार की हैं – (१) प्रदेशों का चञ्चलपना, कम्पनपना - यह योगगुण की अशुद्धक्रिया है, और (२) क्षेत्रान्तर गति अथवा गतिपूर्वक स्थिति, वह क्रियावतीशक्ति की क्रिया = पर्याय है। संसार अवस्था में जीव को भूमिकानुसार सक्रियता है तथा मुक्तदशा में शुद्धात्मा का अक्रियपना कहा है। जो देह से मुक्त हुए हैं, वे समस्त अशुद्धक्रिया से रहित हैं; आठ कर्मकलङ्क से रहित हैं। उनमें कुछ भी कम्पनपना नहीं है। वर्तमान देहधारियों का हिलना-डुलना होता है तथा प्रदेशों का कम्पन होता है, फिर भी उनका आत्मा परमार्थ से तो नित्य, ध्रुव, अकम्प है। इसका दृष्टान्त : जिस प्रकार घण्टी के ऊपर बैठी हुई मक्खी तो स्थिर है, फिर भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की ओर फिरती हुई दिखती है किन्तु चक्की की क्रिया उसके द्वारा नहीं होती। इस प्रकार आत्मा पर को करता नहीं है, चलाता नहीं है लेकिन अपनी दशा में क्रिया करता है। जिनप्रवचन में वैदान्तिक जैसा अक्रियआत्मा कहा नहीं है। वेदान्तादिक तो अशुद्ध अवस्था में निमित्त का असर ग्रहण करने की जीव की योग्यता को भी नहीं मानते हैं। जैनदर्शन में अविरुद्ध न्याय से कहते हैं कि जीव का स्वभाव पर में अक्रिय है किन्तु अज्ञानदशा में राग -द्वेष में जुड़ने की अपेक्षा से (रागरूप नैमित्तिक योग्यता से) सक्रिय है। सभी जीव पर में अक्रिय हैं। मुक्तदशा में भी जीव को पर का अक्रियपना है किन्तु वह अपने अनन्त ज्ञानबल का, बेहद सुखगुण के सहजआनन्द का कर्ता है और अपने ही ज्ञान-आनन्द का भोक्ता है। एक-एक सूक्ष्मकाल में (एक ही समय में) अपने ज्ञानादि अनन्त गुणों के पलटनेरूप सक्रियता है। यदि वहाँ पर जीव कूटस्थ रहे, बिल्कुल अक्रिय हो जाए तो दूसरे पल का आनन्द जीव कैसे ले सके ? स्वयं के आधार से अपने अनन्ते सभी गुणों में एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रुवपना है; अत: प्रत्येक द्रव्य में स्वाधीनता है। संसारावस्थित जीव भी क्रोधदशा को पलटकर शान्तदशा धारण करके क्षमारूप परिणमन कर सकता है।

तीनों काल में सभी जीव पर की क्रिया से रहित हैं किन्तु अज्ञानीजीव स्वयं

को भूलकर पर में कर्तृत्व, ममत्व आदि अभिमानरूप मान्यता करते हैं। यदि करना चाहे तो जीव एक ही समय में अवगुण मिटाकर सद्‌गुणरूप ज्ञान का कार्य कर सकता है; नित्य ज्ञानानन्द के लक्ष्य से राग-द्वेष, क्रोधादि दोष मिटाकर अरागीगुण उत्पन्न कर सकता है। सिद्धभगवान में राग, इच्छा या उपाधि नहीं होने के कारण वहाँ राग मिटाने का सवाल ही नहीं है। अत: वहाँ अपने केवलज्ञान के अनुभव से हो रहा आनन्द, अपने बेहद, अक्षय, अनन्त ज्ञान-आनन्दगुण में टिककर बदलता है – यही वस्तुस्वभाव का सक्रियपना है। जीव केवल निर्मल ज्ञानप्रवाहरूप स्वभाव का कर्ता है, यानी पूर्णदशा प्रगट होने पर सर्वरागादि उपाधिरहित शुद्धता में अपने पूर्णशुद्ध ज्ञानगुण की अवस्था का कर्ता है। इस प्रकार मुक्तदशा में अपने स्वभाव का कर्तापना है, परमाणु का या रागादि किसी कार्य का निश्चय से (सच्चीदृष्टि से) जीव को कर्तापना नहीं है; नैमित्तिकपना भी नहीं है। कर्ता उसे कहें कि जो स्वतन्त्ररूप से स्व में रहकर कार्य करे।

'कर्ता परिणामी दरव, कर्मरूप परिणाम;
क्रिया पर्यायकी फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम।'

एक ही द्रव्य में स्वाधीनतापूर्वक अपना ही कर्ता, क्रिया, एवं कर्मपना, एक ही समय में होता है। अवगुणी का अवगुणभाव, गुणी का गुणभाव – वह उसकी प्रत्येक समयवर्ती क्रिया हुई। उसमें पर जाति का आधार सम्भव नहीं है। सिद्धभगवान शुद्ध परमात्मा हैं; उन्हें स्वभाव का सक्रियपना व परभाव का अक्रियपना है। शुद्धता में परयोग का, परभाव का तथा विभाव का कर्ता जीव नहीं है। अत: जीव को पर का अकर्ता कहना योग्य है। संसारावस्था में जीव को उपचार से, व्यवहार से परभाव का यानी पुण्य-पाप का कर्ता कहा है। वह तो श्रद्धा व चारित्रगुण की विपरीततारूप दोष के कारण कहा है। सिद्ध के जीवद्रव्य में प्रगट शुद्धदशा है, वहाँ कर्मकलङ्क की उपाधि नहीं है; वहाँ विकल्प की वृत्ति नहीं है। संसारीदशा में अल्पपुरुषार्थ से भी राग की वृत्ति तोड़ दे और राग को पुन: आने न दे तो पूर्ण पुरुषार्थ प्रगट करे। वह अल्पराग भी कैसे होने दे ? नहीं होने दे। अत: कोई भी जीव मोक्ष में से पुन: संसार में नहीं आता। प्रत्येक आत्मा का पर में अकर्तृत्व है। स्वभाव के भान में विभाव का कर्तापना कहना उचित नहीं है।

जीव अज्ञानदशा, भूलदशा मिटाकर ज्ञानी हो सकता है। अतः **'चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव,'** जैसा शुद्ध स्वरूप है, मात्र उसीका अनुभव करना - यह कर्तापना है।

शिवस्वरूप माने पूर्ण शुद्धता, मोक्षदशा। उसे प्रगट करने के बाद ज्ञानस्वभाव का पूर्ण आनन्दमय बेहद सुख और अनन्त वीर्यरूप स्वभाव का जीव को कर्तापना न हो तो उसका स्वाधीन स्वरूप न रहे। कोई जीव को बिल्कुल कूटस्थ, अपरिणामी कहते हैं - वह बात झूठी है। जीव अज्ञानावस्था में रागादि करनेरूप भूल करता था, उस दोष को मिटाकर गुण कर सकता है और अपने ज्ञानस्वभाव के भान में ज्ञातारूप रह सकता है। जब तक देहधारीपना व साधकदशा है, तब तक कुछ अशुद्धअंश होने के बावजूद भी जीव, ज्ञान में टिक सकता है। मुक्तदशा में भी अपनी चैतन्यसत्ता में अपने बेहद आनन्द आदि गुण का टिककर बदलते रहना प्रत्येक समय है - वह सक्रियपना है। लोगों को अपनी जाति क्या ? - इसकी खबर नहीं है क्योंकि अपने सच्चे हित का प्रेम नहीं है। जात के भान बिना भात (डिज़ाइन) कैसे बने ? साँचे में कुछ नक्काशी न हो तो उसकी छाप (मुहर, निशान) नहीं बनते। उस प्रकार आत्मा में जो चैतन्यशक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन आदि गुण हैं, वे कैसे हैं ? उनका लक्षण क्या है ? - यह जाने बिना स्वयं अपने गुण के प्रति प्रेम व पुरुषार्थ कहाँ से करेगा ? पहचान के बिना प्रेम कैसा ? कुछ नहीं।

आत्मा में योग नाम का गुण (शक्ति) है, वह अकम्प है किन्तु जब तक परद्रव्य का अवलम्बन चालू रखता है, तब तक उसका कम्पन होता है। जब पूर्ण शुद्ध होता है, तब आत्मा के असंख्य, अरूपी, शुद्ध प्रदेश का स्वभाव अकम्प है, वे मुक्तदशा में अकम्प रहते हैं। प्रथम, अज्ञानदशा में परपदार्थ के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण योग्यता थी; अतः देहधारीरूप में कम्पन होता था किन्तु यदि सदा भूल करनी ही पड़े और कम्पन करने का जीवद्रव्य का स्वभाव ही हो तो वह कदापि छूट नहीं सकता। किन्तु संसारावस्था की ऐसी योग्यता मुक्त अवस्था में छूट जाती है और वहाँ पर के सम्बन्धरूप औपाधिकभाव नहीं है; अतः वहाँ कम्पन नहीं होता।

इस गाथा में दो बात सिद्ध की हैं कि आत्मा पर का कर्ता नहीं है किन्तु स्वभाव का कर्ता है; अतः अपने गुण में अपनी सक्रियता है, परिणमन भी है। दूसरी बात यह कही कि यदि जीव में राग-द्वेष व भूल करने की योग्यता ही न हो, अवगुणरूप परिणमन करने की योग्यता ही न हो तो उसे कोई पुद्‌गलपरमाणु निमित्त नहीं हो सकता। किन्तु जीव में चारित्र नाम का गुण है, उसमें वैभाविकपने के कारण परनिमित्त का आश्रय करने पर शुभ या अशुभरूप होने की योग्यता है (स्वभाव नहीं है)। जिस प्रकार श्वेत स्फटिक में योग्यता है, अतः ऊपर लाल पुष्प रखो तो लालरूप दिखता है; उसी प्रकार जीव जब तक मोहकर्म के उदय में जुड़ता है, तब तक अपनी अवस्था में रागरूप अस्थिरता दिखती है और जब वह उपाधि में नहीं जुड़ता, तब अपना नैमित्तिकपना मिट जाने पर और अपने में ज्ञातारूप से टिके रहने पर कर्मोपाधि मिट जाती है। लोगों को अपने बारे में ही विचार-मनन नहीं है एवं अपना स्वतन्त्र आत्मद्रव्य कैसा है ? अपनी योग्यता व स्वभाव क्या है? – उसका अन्तर में विचार व निर्णय करते नहीं हैं।

पुनश्च, कुछ लोग मानते हैं कि आत्मा अपना कुछ नहीं करता क्योंकि वह तो अक्रिय है; अतः अपने को कुछ करने का सवाल ही नहीं रहता। तो यह बात सही नहीं है। पर का कुछ भी कार्य जीव कर नहीं सकता। स्वयं की राग-द्वेष, कषायरूप अवस्था है, उसे मिटाकर कलुषित व अस्थिर अवस्था नहीं होने देनी – इसका विचार भी कभी भी किया ? राग-द्वेष में नहीं जुड़ने का पुरुषार्थ जीव कर सकता है। पुरुषार्थ में सावधान रहना यही कर्तव्य है। देहादि की क्रिया, शुभविकल्प – ये कोई व्यवहाररूप पुरुषार्थ नहीं है। रागरहित अपने ज्ञान में टिके रहने की जागृति रखना, वह साधकस्वभाव है। इसमें सब कर्तव्य आ गये; यही धर्म है। अपने स्वरूप की सावधानी रखने में बेहद पुरुषार्थ की जरूरत है और वह स्वयं से हो सकता है। खुद में अनन्त सामर्थ्य है। स्वयं प्रगट करना चाहे तो कोई इन्कार नहीं कर सकता। अतः उस अतीन्द्रिय ज्ञानबल को समझो। सभी आत्माएँ ज्ञान का बल प्रगट कर सकते हैं। वह सदा स्वाधीनरूप से किया जा सकता है। वह तो करना नहीं है और जो योग की क्रिया, उदयकर्म की अवस्था कि जो अपने बस में नहीं है किन्तु पराधीन है, उसे करने का भाव करना –

यह तो वास्तव में आश्चर्य की बात है। यह सच्ची समझ जैन का प्रथम अङ्क (सबसे प्रारम्भ की बात) ही है। आत्मा का सत्य पुरुषार्थ है, वह व्यवहार है। वह किस प्रकार है, उसे समझे बिना लोग बातें करते हैं कि (वेदान्त एवं सांख्यादि की माफिक) आप पुरुषार्थ उड़ाते हो, एकान्त निश्चय की बातें करते हो किन्तु ऐसा नहीं है। कहते हैं कि कोई क्रिया-काण्ड या देह की क्रिया करने का आप कहते नहीं हो; अतः पुरुषार्थ उड़ा देते हो। हम कुछ पुण्यादि करें तो धर्म हो। सिर्फ आत्मा- आत्मा की बातें करने से धर्म होता है ? देखो ! शास्त्र में लिखा है कि **'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'**, अतः देह की क्रिया और शास्त्रों का ज्ञान, ये दोनों मिलकर मोक्षमार्ग होता है। इस प्रकार दोनों की खतौनी जड़ में की। अब, उसका न्याय समझो। देह की क्रिया तो जड़ है; मन के विकल्प शुभाशुभराग हैं। उस राग द्वारा शास्त्र के ऊपरी ज्ञान की विचारणा को ज्ञान मानता है और देह की क्रिया को व्यवहारचारित्र मानता है। सच्ची दृष्टि से विचार करो कि चेतन माने ज्ञान। उसका व्यवहार क्या जड़ में हो सकता है ? अरागीतत्त्व का पुरुषार्थ राग द्वारा हो सकता है ? यह बात खुद से ही समझ में आ जाए, ऐसी है। शास्त्र में निमित्त की भाषा आये, जैसे कि घी का घड़ा किन्तु वह व्यवहारकथन है। उस प्रकार देह की क्रिया को जीव की बताना, वह निमित्त की भाषा है। देहादि से या पुण्यादि से ज्ञाता को लाभ नहीं है।

व्यवहार यानी उपचार अथवा निमित्त, और निश्चय माने सत्य अथवा उपादान। मैं ज्ञान में ज्ञातारूप टिका रहूँ, ऐसी सावधानी का नाम ही पुरुषार्थ एवं व्यवहार है। मैं ज्ञायक हूँ, यह निश्चय और ज्ञानबल की सावधानी – वही पुरुषार्थ, यानी व्यवहार है। आत्मा त्रिकाल निर्मल है, ज्ञानमात्र है; वह निश्चय है। वह पर का कर्ता नहीं है, रागादि उपाधिरहित है; उसे भूलकर परवस्तु में पुरुषार्थ करूँ – ऐसी मान्यतारूप भूल कर सकता है। क्योंकि अज्ञानभावपूर्वक भूल करने की योग्यता जीव में है किन्तु भूल करनी ही पड़े – ऐसा स्वभाव नहीं है। इस गाथा में अनेक न्याय समाविष्ट हैं। यदि जीव को अशुद्धता न होवे तो संसार किसका ? अतः अज्ञान अवस्था में मान्यतारूप भूल का कर्ता जीव है। वह निमित्त से कर्मरज का कर्ता कहा जाता है किन्तु स्वभाव से रागादि का अकारक, अकर्ता है। स्वरूप

में एकत्व करे तो रागादि शुभ-अशुभ अस्थिरता मिटाकर शुद्ध में स्थिर (चारित्रगुण में एकाग्र) होने से कर्म, उपाधि से मुक्त हो। मुक्त अवस्था हुई, माने त्रिकाल शाश्वत स्वाधीनपना, निरुपाधिकपना हुआ; वहाँ से फिर संसार में आना नहीं होता।

गृहस्थ वेश में भी संसार का प्रेम मिटाकर ज्ञान में ज्ञायकरूप से, यानी अपने स्वभाव की अनुभूतिरूप रहा जा सकता है। ज्ञानमात्र का करना, ज्ञान में ही टिकना, परिणमन करना, अनुभव करना। 'अनु' माने ज्ञान का अनुसरण करके, 'भव' माने प्रवर्तन करना; उस रूप होना। ये सारे शब्द एकार्थ हैं। लोगों को इस तत्त्व का कुछ मनन नहीं है। ५०-६० वर्ष चले गये हो, फिर भी निवृत्ति न ले; प्रश्न पूछने लायक भी तैयारी न हो, वहाँ क्या होवे ? खुद को पुरुषार्थ करके इस सच्चे न्याय की हाँ लानी पड़ेगी। खुद की तैयारी के बिना दूसरे का क्या उपकार हो सकता है ? आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त शक्ति हैं। इन सभी गुणों का स्वतन्त्ररूप से स्वसत्ता में, आत्मद्रव्य में अभेदरूप से टिककर बदलना – वह स्वभावपरिणमन है। टिककर बदलने का स्वभाव होने के कारण प्रत्येक समय निरन्तर अनन्त सुख का उपभोग सिद्धजीव को है किन्तु एक ही समय में पूरा उपभोग हो और उसका प्रतिक्षण पलटना न हो तो दूसरे समय सुख का अनुभव कौन करेगा ? अतः प्रत्येक समय अपने ज्ञानादि गुण का टिककर पलटना व परिणमन है। यह बात अनजान-सी लगे, सूक्ष्म लगे किन्तु निज घर की है, सच्चे हित की बात है; उसे समझने पर ही छुटकारा है। चेतनस्वरूपपना, आत्मा को स्वाभाविक होने से अपनी अवस्था में क्षण-क्षण पर उसका परिणमन होता है, किसी का आधार नहीं है। उस स्वभावपरिणामी द्रव्य का ज्ञानगुण में ज्ञातारूप प्रवर्तन है, इसलिए परमार्थनय से यानी सच्ची दृष्टि से सक्रिय – ऐसा विशेषण मुक्तदशा में भी शुद्ध आत्मा को लागू हो सकता है। निजस्वभाव में परिणमनरूप सक्रियता से निज स्वभावदशा का कर्तृत्व, परिणमन शुद्ध आत्मा को है। मुक्तदशा में केवल शुद्ध स्वधर्म जीव को होने से एकत्वरूप से, ज्ञानमात्ररूप से टिककर पलटता है। अतः निजगुण में, स्वसत्ता में सक्रिय कहने पर दोष नहीं है। जिस-जिस विचार से (जिस न्यायदृष्टि द्वारा) सक्रियता-अक्रियता का जीवद्रव्य में निरूपण किया है, उस-उस न्याय के विचार द्वारा परमार्थ का ग्रहण करके समझना। परिणमन (पर्याय)

अपेक्षा से सक्रियता, और द्रव्यरूप से, सत्रूप से अक्रियता होने में कोई दोष नहीं है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ४-११-३९

(गाथा ७८वीं चल रही है)

परमार्थ से जीव का क्या कर्तृत्व है ? – यह कहना है। लोगों को बाहर से जो करना असम्भव है, वह ठीक लगता है किन्तु अपने स्वभाव का करना ठीक न लगे, इस प्रकार विपरीतता है। जो स्वाधीनतारूप से सदा करता रहे, वह कर्ता। करनेवाला जो कार्य करे, वह अकेला स्वतन्त्र रहकर करे; किसी की सत्ता में रहकर न करे। आत्मा देह में रहा एक स्वतन्त्र तत्त्व है। उसके साथ जो आठ कर्म की महीन रज है, वह भी स्वतन्त्र एवं अनन्त पुद्गल परमाणु हैं। वे आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। आत्मा में निजगुण, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अपने में परिणमित होते रहते हैं, यानी वे अवस्थारूप होते हैं। जो चेतनादि गुण नित्य हैं, स्व-स्वभाव है – उसका कार्य क्या है ? – यह समझने की जरूरत है। जो होता है, वह अपना कार्य है कि नहीं? वह किस प्रकार होता है? – यह न जाने तब तक भटकने की भूल, दोष, दुःख मिटेंगे नहीं और अज्ञान द्वारा रागादि का कर्ता होने के कारण कर्म का सम्बन्ध होता है। मैं निर्दोष ज्ञातारूप ज्ञान का कर्ता हूँ – ऐसा मानकर उसमें टिका रहे तो उसमें रागरूप नहीं होने के कारण कर्म टल जाता है। जब तक जीव ने अपना सुख जाना नहीं है, तब तक उसे पाँच इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियों के विषय में सुखबुद्धि रहा करती है और राग-द्वेष, विषयसुख मेरे हैं, ऐसा मानता है किन्तु भान हुआ कि मैं तो ज्ञान ही हूँ। यह राग-द्वेष करनेवाला, सो मैं नहीं, मेरा धर्म नहीं। इस प्रकार नित्य ज्ञाता के अनुभव द्वारा औपाधिकभाव का आदर मिटाकर अपने शुद्ध ज्ञानरूप हुआ, वह अपने स्वभाव का कर्ता हुआ। अपने स्वभाव का कर्ता हुआ, इसी से पर का

कर्ता हूँ – ऐसा भ्रम नष्ट होकर पर का अकर्ता हुआ। यह सब समझना कठिन पड़ता है क्योंकि लोगों को तत्त्व का मनन नहीं है और जो कल्पना द्वारा परवस्तु से मान लिया है, उस भूल को कैसे मिटानी – इसका विचार नहीं करते। संसार की उलझनें सुलझाने के लिये बहुत मन्थन करते हैं किन्तु अनन्त काल का भवभ्रमण मिटाने का उपाय, जो कि अपने लिये परमहितकर है, उसका विचार या निर्णय करने की रुचि नहीं है। अनादि से पराधीनता में ठीक मानता आया है; अतः छुटकारे की बात का परिचय करने की रुचि नहीं है।

बाहर की सुविधा में रुचि है, तब तक असंयोगी, निरुपाधिक तत्त्व की रुचि कैसे हो ? चेतन यदि अपने ज्ञान में नहीं टिकता तो अपनी भूल का कर्ता है किन्तु किसी जड़ आदि का कर्ता नहीं है। अज्ञानी भूलरूप मान्यता से अज्ञानदशारूप काम करते हैं और पर के कर्तृत्व का अहंभाव मानते हैं। पलटा मारकर पुरुषार्थ द्वारा उपाधि से यानी राग से अलग होवे तो वह भूल मिटी हुई ही है। यानी **'चेतन जो निजभानमां कर्ता आप स्वभाव।'** जीव जैसा स्वयं है, वैसा अपने आप को माने तो स्व में ज्ञातारूप में टिकना, जमना होना चाहिए और अपने आप में टिका तो अपने सुधर्म का कर्ता हुआ, पर का कर्ता नहीं हुआ। भूलभरी मान्यता पलटकर ज्ञानमय अवस्था जीव ने की और ज्ञानरूप हुआ। आत्मा का स्वभाव सहज आनन्द है, उसका परमार्थ से कर्तापना है। प्रथम, अज्ञानदशा में राग मेरा कर्म और पुण्य-पाप, देहादि का मैं कर्ता हूँ – इस मान्यतारूप भूल को भी पलटकर, यानी दोष को पलटकर गुण का कर्ता होता है; स्वभावभाव का कर्ता होता है। आत्मा का यथार्थ भान, यानी कि सम्यग्दर्शन होने के बाद, अल्पकाल में सर्व कर्मकलङ्क के आवरण से रहित मुक्तदशा में होता है। वहाँ भी अपनी चैतन्यता में टिककर बदलाव होता है। अपने अनन्त सुख, आनन्द का उपभोग है। अपने गुण में सक्रियपना न हो तो तीनों काल की अवस्था का उपभोग न हो सके। प्रत्येक क्षण का आनन्द भिन्न है। एक ही समय में उत्पाद, व्यय, ध्रुव, (नित्य) पना प्रत्येक द्रव्य में है। यदि प्रति समय की दशा में स्वतन्त्र सत्पना (हयातीपना) न मानें तो वस्तु के अभाव का दोष आता है।

'स्थिरता एक समयमां ठाणे, उपजे विणसे तबही;

उलट-पलट ध्रुव सत्ता राखे, या हम सुनी न कबही'

प्रत्येक पदार्थ में सूक्ष्म परिणमन है। उसे स्थूल दृष्टान्त से समझाया जा सकता है। जिस प्रकार टेढ़ी ऊँगली सीधी हुई तो वक्रता का नाश, सीधी अवस्था की उत्पत्ति, और ऊँगली नित्य-ध्रुव। लोहे के साथ सान (सराण) की घिसायी होने पर सफेदाई का उपजना, जंग का व्यय, और लोहा ध्रुव। इस प्रकार आत्मा में अज्ञान का मिटना, सम्यग्ज्ञान का उपजना, और ज्ञान का ध्रुवपना है। इस न्याय से संसारावस्था का व्यय, मोक्षदशा का उत्पाद, और जीवद्रव्य ध्रुव है। मुक्तदशा में परमात्मरूप से निजगुण में प्रत्येक क्षण सूक्ष्म उत्पाद, व्यय, ध्रुवपना है। जो अवस्था हो, वह उसका कार्य है और परिणमन करनेवाला अपनी पर्याय का कर्ता होता है। अज्ञानी कर्म के प्रभाव को बढ़ाता है क्योंकि स्वयं को भूलकर वह पर का कर्ता राग-द्वेषरूप होता है। ज्ञानी आत्मा के सहजसुख का कामी, अपने ज्ञानगुण में टिकनेवाला, ज्ञान की प्रत्येक अवस्था का कर्ता है और परिणमन अवस्था का कार्य है। अतः प्रत्येक जीव अपने ही भाव का कर्ता है।

अपनी चेतनात्मकता स्वाभाविकरूप से होने के कारण उसमें अपने ज्ञानादि गुणों का परिणमन होना, अभेदस्वरूप में है। आत्मा अपने रागरहित स्वभाव में परिणमन करे तो वह अरागी स्वभावरूप हो जाए। वह अवस्था कोई अपने से भिन्न नहीं है। प्रथम राग-द्वेष का या देहादि का सक्रियपना ज्ञान में नहीं है, ऐसा तय किया। अब स्वभाव में, स्वरूप में सक्रियता एवं अक्रियता स्थापित करते हैं। आत्मद्रव्य और उसकी अवस्था दोनों एक ही है; अवस्था और अवस्थायी अभेद हैं। उस अभेददृष्टि से भेदरूप कार्य करने का नहीं है। पूर्ण स्वभाव खुला है। वहाँ दोनों अपेक्षा से सक्रियता एवं अक्रियता है, यह कहते हैं। आत्मा अपने स्वरूप से तन्मयरूप से परिणमित होता है; गुणी आत्मा, अपने ज्ञानगुण की अवस्था में प्रत्येक क्षण परिणमित होता है और निरन्तर अभेदरूप टिका रहता है। अतः परमार्थनय से एकदम अभेददृष्टि से (पदार्थ एवं उसकी अवस्था को भेदरूप नहीं गिनना – इस दृष्टि से) तो वहाँ सक्रिय, ऐसा विशेषण आत्मा को नहीं दिया जा सकता। भेदरूप परिणमन होता नहीं है; अतः द्रव्यदृष्टि से तो (अभेद दृष्टि से) आत्मद्रव्य का अक्रियपना है। निजस्वभाव में परिणमनरूप अनुभव, आनन्द में लीनतारूप अनन्त सुख के उपभोगरूप

द्रव्य की अवस्था का बदलना होता है; अत: निजस्वभाव कर्तापना है। लोगों ने 'आत्मसिद्धि' बहुत बार पढ़ी होगी किन्तु उसका गहन अवगाहन नहीं किया। जीव आँख का विषय नहीं है किन्तु हित –अहित का निर्णय करनेवाला अनुभवस्वरूप है। उसे जैसा है, वैसा समझना पड़ेगा। अभेददृष्टि से सिद्धभगवान में और इस आत्मद्रव्य में भेद नहीं है। अपनी अवस्था में परिणमित होना, वह किसी और के कारण से नहीं है किन्तु तीनों काल की अवस्था का, अनन्त सुख का उपभोग वे एक ही समय में कर नहीं सकते। प्रत्येक अवस्था का अनुभव भिन्न-भिन्न है। अवस्था भिन्न-भिन्न है। गुण की अवस्था का एक समय, वह दूसरा समय नहीं है। प्रत्येक क्षण ज्ञान का टिककर बदलना होता है। अत: भेद -अभेदपना, सक्रिय-अक्रियपना है – ऐसा कहने में कुछ दोष नहीं है। अवस्था का होना, वह सक्रिय और अवस्था का द्रव्य में मिल जाना, वह अक्रिय। रागरहित अवस्था का त्रिकाली द्रव्य में मिल जाना अभेदरूप से है। इसमें स्वाधीन आत्मद्रव्य के बहुत न्याय हैं। अज्ञानी मानता है कि मैं रागादिरूप हूँ। इस झूठी मान्यतारूप अज्ञान का वह जीव कर्ता है, वह उसका सक्रियपना है किन्तु हाथ-पैर हिलाना, यह सक्रियपना नहीं है। ज्ञानी पर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करता, इसलिए अक्रिय, और मैं अपने ज्ञान में ज्ञातारूप से ज्ञान को जानता हूँ, उस ज्ञानरूप परिणमन करना, वह ज्ञान का सक्रियपना है। जिस प्रकार वस्तुतत्त्व है, उस प्रकार समझना और निर्णय खुद को करना है। अनेक न्याय से वस्तुतत्त्व का स्वाधीनपना कहने में आता है, वह अपने आप समझे तो सारे प्रश्नों का हल मिल जाता है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ५-११-३९

प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप से अनादि अनन्त है; स्वतन्त्र है। मैं राग-द्वेष का कर्ता, वह मेरा कर्म – ऐसा अज्ञानभाव से माना था किन्तु मैं ज्ञानस्वभाव में ही प्रवर्तन करता हूँ – इस प्रकार ज्ञान में जाननेवाला, परनिमित्त में क्रोध, मान या वासना का कर्ता किस प्रकार हो ? मैं स्वाधीन ज्ञाता हूँ, सुख मेरा स्वरूप है – ऐसा जिसे निर्णय हुआ, वह पर में सुखबुद्धि कैसे करे ? अज्ञानी मानता है कि मैं पुण्यादि का कर्ता हूँ। ऐसी उल्टी मान्यता अनन्त दुःख में भटकने का कारण है। अतः वह अज्ञान का कर्ता है। परपरिणति, परभाव में टिकनेरूप अज्ञान का कर्ता मैं हूँ, इस भूल को मिटाकर ज्ञाता, निजभाव का कर्ता होता है। भूल, वह मेरा कार्य नहीं है; मैं तो सुख एवं शान्ति का कर्ता हूँ। इस प्रकार जो जीव अपनेरूप परिणमित हुआ, उसके लिये कहा गया कि **'चेतन जो निज भानमां कर्ता आप स्वभाव।'** यह सक्रियता मुक्तदशा में, सिद्ध परमात्मा में भी रहती है। वहाँ अपने गुण का, आनन्द का आनन्द अवस्था में ही पलटना है; उस स्वभाव का अनुभव ही सक्रियता है। उसी समय नित्य वस्तुस्वभावरूप टिके रहने की अपेक्षा से अक्रिय है और अवस्था पलटने की दृष्टि से सक्रिय है।

प्रथम, संसारदशा में भूल से पर में व रागादि में सक्रियता मानी थी। उस भूल को टालकर परभाव में, रागादि में नहीं टिककर ज्ञान में टिका, तब **'चेतन जो निजभानमां कर्ता आप स्वभाव'** कहा गया क्योंकि यदि क्रोधादि कषायरूप अवस्था पलटकर ज्ञानी क्षमा, शान्तिरूप अवस्था न कर सके तो ज्ञानी कैसे कहा जाए ? और राग का नाश होने के बाद भी अरागरूप टिककर शान्तिरूप से ज्ञानगुण में पलटना तो है, वह देहातीत मुक्तदशा में भी होता है। प्रत्येक वस्तु सदा स्वतन्त्र ही है, उसका सर्वथा नाश नहीं होता। प्रत्येक वस्तु का द्रव्यस्वभाव से नित्यपना है और अपने गुण की अवस्था से पलटना है। जिस प्रकार बचपने से युवान और युवान अवस्था से वृद्धत्व, इस प्रकार सभी अवस्था में चेतनत्व निरन्तर नित्य है। प्रत्येक क्षण का अनुभव भिन्न-भिन्न है। पूर्ण पवित्रता, निर्दोषता और वीतरागता होने

पर देहरहितपना सहज आनन्दघन, चैतन्यपिण्डपना रहा। मुक्तदशा में भी प्रत्येक पल में गुण का पलटना होता है, वह पर्यायअपेक्षा से सक्रियपना है। उसी वक्त उसका नित्यपना है; अत: द्रव्य के नित्य स्वभाव की दृष्टि से अक्रियपना है और मोक्षदशा में अपनी पूर्ण आनन्ददशा में रहता है, इस दृष्टि से वहाँ भी अक्रियपना है। **७८.**

अब, शिष्य कहता है कि आपने तर्क व न्याय से जो तीन पद समझाये, उसका अन्तर से विचार करने पर समझ में आता है कि वह यथार्थ है किन्तु जीव, कर्म का भोक्ता नहीं लगता। भोक्ता कैसे होगा ? अन्तर की इस शङ्का का सदुपाय समझाओ।

जीव कर्म कर्ता कहो, पण भोक्ता नहि सोय;
शुं समजे जड कर्म के, फळ परिणामी होय ?।। ७९।।

जीव कर्म-कर्ता कहो, पर भोक्ता नहिं सोय।
क्या समझे जड़कर्म जो, फलदाता वह होय ?।।७९।।

अभी तक आपने जिस-जिस न्याय से कर्तापना कहा, वह यथार्थ है किन्तु जीव भोक्ता हो, ऐसा नहीं लगता। कर्म माने कार्य, क्रिया; ज्ञान का कर्म, माने ज्ञान की अवस्था। ज्ञानरूपी कार्य करे, जाने, ज्ञानरूप होना, जीव का धर्म है – यह न्याय शिष्य को अन्तर विचार से समझ में आया है। जड़कर्म का कर्तापना निश्चय से, सही दृष्टि से है ही नहीं – ऐसा भी तय हुआ है। अत: अब कहते हैं कि जड़कर्म रजकण तो अजीव ही हैं, वे क्या समझें कि जो कि जीव को फल देने में क्रियावन्त हो जाएँ; फल दे देवें ? आत्मा, जड़कर्म का कर्ता मैं हूँ – ऐसा मानता है तो भले अज्ञानभाव से माने किन्तु जड़कर्म उसे फल किस तरह दे सके ? (यहाँ पर निमित्त का ज्ञान कराने के लिये जड़कर्म कहा है। वास्तव में तो अज्ञानभाव से जीव स्वयं ही दोष -दु:खरूप विकार का, भावकर्म का कर्ता होता है।) जितने रागादि भाव जीव ने किये हैं, उतना ही कार्यरूप फल

जड़ कैसे दें ? मुझे इसको फल देना है – ऐसी बुद्धि अजीवजड़ को कहाँ है ? शिष्य ने बहुत विचार करके यह सवाल किया है। **७९.**

अब, दूसरा सवाल पूछकर इस बात को तय करना चाहता है कि यदि कोई अपराध करे, उसकी शिक्षा देनेवाला ईश्वर हो तो तब तो वह अवस्था बने किन्तु ऐसा मानने में बड़ा दोष आता है। इसके लिये शिष्य अब प्रश्न प्रस्तुत करता है –

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय;
एम कह्ये ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय।।८०।।

फलदाता ईश्वर गिनें, भोक्तापना सधाय।
ऐसा ईश्वर मानें तो, ईश्वरपना ही जाय।।८०।।

शिष्य ने कहा कि जड़ अपने आप कार्य नहीं कर सकता; अतः बीच में ईश्वर को लाना पड़ेगा किन्तु ऐसा मानने में मुझे पूर्वापर बहुत विरोधाभास लगता है। क्योंकि ऐसा कहने पर ईश्वर की निर्दोषता, ईश्वरपना ही चला जाता है। इतना न्याय समझने की बुद्धि शिष्य में अब प्रगट हुई है कि रागादि रहित ईश्वर तो ऐसा मध्यस्थ होना चाहिए कि किसी के काम में दखल न करे। इतना तो शिष्य को निश्चय हो गया है कि जगत में उठा-पटक अथवा इच्छा करनेवाला ईश्वर सिद्ध नहीं होता। यदि ईश्वर शुद्ध ही होवें, पर का कुछ न कर सकता हो, राग व इच्छा भी न करे तो जगत का कोई नियामक, नियन्ता, व्यवस्थापक न रहे और शुभ-अशुभ कर्मों को भोगने का कोई स्थानक भी न रहे तो फिर पुण्य-पाप का फल भोगने का भी न रहे, यह उसकी शङ्का है।

अब, शुद्ध परमात्मा ऐसे ईश्वर का विचार करें तो ईश्वर माने, पूर्ण शुद्धस्वभाव है; वह पर का अकर्ता है परन्तु यदि अज्ञानभाव से जैसा जीव मानता है, वैसा यदि ईश्वर करता हो तो उसे ईश्वर नहीं कह सकते। किसी का कार्य करने की इच्छा करे तो उसे उपाधिवाला व देहधारी मानना पड़े। जड़ आदि के कार्य करने

में किसी चतुर व्यवस्थापक को बीच में रखे तो वह जड़ एवं जीव की बराबर निगरानी करे, कार्य करे और सभी को फल का बटवारा कर दे – ऐसा माने किन्तु ऐसा सच्चा व चतुर मानने में तो बड़ा विरोध आता है क्योंकि उसमें तो ईश्वर, परमात्मा वीतराग किसे कहना ? – यह प्रथम निश्चित करना पड़ेगा। जो लोग पूर्ण शुद्ध परमात्मा ईश्वर को जगत के कार्यों के फलदाता के रूप में स्वीकार करते हैं, उसे खुद का स्वरूप क्या है ? – इसकी खबर ही नहीं है। मुझे इष्ट करना है। उस इष्ट की पूर्णता कैसे हो सके ? – इसकी खबर बिना लोग कहे कि हम आत्मा को परमात्मा समान मानते हैं तो उनकी बात झूठी है किन्तु उनकी दृष्टि से, अज्ञानरूप से वे सच्ची मानते हैं। जिस इष्ट, अबाधित एवं असिद्ध साध्य तक पहुँचना है, उसे यथार्थरूप से पहचानकर उसकी पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत करनी चाहिए। आत्मा के पूर्ण शुद्धस्वरूप का निर्णय विरोधरहित हो, तब शुरूआत कही जाए। जिसे भावनगर जाना हो उसे गाँव, मार्ग व उसकी विधि जाननी चाहिए। पचास हज़ार की हवेली बनानी हो तो प्रथम उसका नक्शा तय करना चाहिए और उस मकान की पूर्ण स्थिति के लक्ष्य से शुरूआत होनी चाहिए। इस प्रकार इष्ट, अबाधित, साध्य – ऐसा आत्मा पूर्णशुद्ध कैसा होना चाहिए ? उसकी सबसे अन्तिम पूर्ण पवित्रदशा क्या ? – यह प्रथम जानना चाहिए और वैसी ही मान्यता और उसरूप आंशिक वर्तन प्रथम से ही होना चाहिए। इसका नाम पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत है किन्तु सत् क्या ? – इसके भान बिना जगत के बहुत से लोग कहते हैं कि हम धर्म मानते हैं, करते हैं, आत्मा के हित के लिये करते हैं अथवा ईश्वरार्पण यज्ञादि करते हैं, अनासक्तरूप से संसार की सेवा करते हैं; इस प्रकार धर्म के नाम से अन्धेर चलाते हैं। आत्मा के स्वभाव को जैसा है, वैसा नहीं मानकर अन्यथा माने और कहे कि हम ही सही हैं, उसे जबरन् कौन समझा सके? लोगों में सत्स्वरूप के विषय में, आत्मधर्म के विषय में अनादि से भ्रम चला आता है। पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत करनेवाला साधकस्वभाव इसे कहते हैं कि जब जीव ऐसा माने कि मेरे में दोष, दु:ख, भूल तथा पर की क्रिया नहीं है, मात्र ज्ञान मेरा लक्षण है, ज्ञान में टिकना – यह मेरा कर्म है और मेरा स्वाधीन असंयोगी चेतनतत्त्व रागादि उपाधिरहित त्रिकाल पूर्णशुद्ध है। ऐसा लक्ष्य व उस लक्ष्य में ही

टिके रहने का पुरुषार्थ – वह मेरा कार्य है; दूसरा कुछ भी कार्य मेरा नहीं है – यही धर्म है।

यहाँ पर तीन पद के निर्णय से शिष्य की विचारशक्ति खिली है। अत: कहता है कि ईश्वर को पर का कार्य करनेवाला, फल देनेवाला मानें तो पूर्ण पवित्र, स्वाधीन, अतीन्द्रिय स्वरूप में विरोध आयेगा क्योंकि निरुपाधिक शान्तपद है, सो परमात्मपना है। उस पद के साधक को पता है कि पूर्ण शुद्धस्वरूप चैतन्यघन, सहज आनन्दमय वीतरागता मेरे में शक्तिरूप से है, वह पूर्णरूप से खुल जाए, तब उसमें कोई दोष सम्भव नहीं है। वीतराग को रागीपना नहीं होता - ऐसा नियम है। अत: शिष्य ने तय किया है कि मैं पूर्ण होऊँ तो मुझे भी उपाधि न रहे। यदि जगत की उपाधि रहती हो तो रागादि दोष से रहित स्वाधीनरूप से नहीं रह सकते। अत: ऐसा मानने में बड़ा विरोध आता है। जगत में अनेक मिथ्याअभिप्राय हैं। उसमें ऐसा माननेवाले भी हैं कि यज्ञादि कार्यों से धर्म होता है, अग्निकुण्ड में अग्नि जलाऐं, घी जलाऐं, उसका धुआँ आकाश में जाए, उसके बादल बनकर बारिश के रूप में जगत को पोषण मिले; ईश्वर, विष्णु आदि व्यक्ति के नाम से यज्ञ करने पर जगत के जीव सुखी रहे; सब मिलकर प्रार्थना करें तो अपना हित हो, सबके शरीर नीरोगी रहे, धन-धान्य से तृप्ति होवे; ऐसी भावना करें तो उसमें अपना हित हो; अनासक्तरूप से ऐसा कार्य करें, ऐसा करना ही चाहिए। ज्ञातापना क्या ? चैतन्य का धर्म क्या ? – इसकी उन्हें पहचान नहीं और दूसरों से गुण (हित) होता है, ऐसा मानता है। किन्तु विचार करो कि जगत के जीव धर्म के बहाने कहाँ-कहाँ भूल करते हैं ? कार्य हो जाए, वह अलग बात है और करना, वह अलग बात है। धर्म, माने आत्मा का स्वभाव 'ज्ञाता है'। ज्ञाता माने इसमें पर का कर्तृत्व नहीं होता। राग, इच्छा और मन-वाणी-देह की या बाह्य की क्रिया ठीक है; मैं कर सकता हूँ – ऐसा मानना मिथ्या है।

ईश्वर माने परमात्मा, अत्यन्त महिमावन्त, देहरहित, राग-इच्छा-वासना से रहित वीतराग, निर्दोष है।

८१वीं गाथा में शिष्य कहेगा कि इस जगत की व्यवस्था नियमबद्ध चलती रहती है। इस व्यवस्था का कर्ता ईश्वर न हो तो इसकी व्यवस्था नहीं रहती। जीव, पुण्य

-पाप करे और उसका फल देनेवाला ईश्वर न हो तो उस फल को भोगने के स्थानक भी सिद्ध नहीं होते; अतः जड़प्रकृति के कार्य करनेवाला जीव जितने गुण-दोष करे, उसका उतने ही अनुपात में फल देनेवाले को ईश्वर मानना चाहिए। ऐसे अभिप्राय विषयक यथार्थ विचार तो आगे करेंगे। पहले तो जीव ने अज्ञानवश उल्टी दृष्टि से माना था कि मैंने पुण्य-पाप रागादि किये। किन्तु जिस क्षण जाना कि दोष व दुःख मेरा स्वभाव नहीं है, इस प्रकार इस भूल की मान्यता मिटी कि आत्मा राग-द्वेष का कर्ता नहीं है; यदि भूल करने का स्वभाव हो तो वह छूट नहीं सकता। अतः अपने में दोष करने की योग्यता थी, इस भूल को मिटाने पर स्वयं गुणरूप रहा। जो अपने शान्त अविकारी गुणों का उपभोग करनेवाला है, उसे विकारी पुण्य-पाप का भोक्ता कैसे कहें? स्वयं पर को न करे, नाहीं भोगे; मात्र ज्ञान में निरुपाधिक आनन्द, शान्ति को करे, भोगे। जो संसार से मुक्त, देहादि उपाधि से रहित ईश्वर है, वह पर की उपाधि में क्यों पड़े? आत्मा का धर्म जो पुण्य-पाप, रागरहित है; उसे भूलकर उससे विरुद्ध औपाधिकधर्म को अपना माना, इसलिए अधर्मी हुआ। आत्मा मात्र ज्ञाता है; उसे भूलकर अन्य कुछ कर्तृत्व माने तो उसने अपना अनादर किया है और पराधीनता का आदर किया है। जीव जब अपना स्वाधीन ज्ञातापना सभी विरोधों को मिटाकर जैसा है, वैसा समझे, तब पर का, पुण्य-पाप-रागादि उपाधि का कर्ता स्वयं को मानना बन्द करे। फिर भी कुछ समय तक दया, दान, पुण्यादि के विकल्प व क्रिया उदय अनुसार हो जाए, उसे करने की इच्छा भी उठे और कार्य भी हो जाए, फिर भी उस कार्य को अपना नहीं मानता; उसमें परमार्थ नहीं मानता, उससे गुण नहीं मानता।

अज्ञानी मानते हैं कि हम अनासक्तरूप से करते हैं, हमने करवाया, हमने यह ठीक किया – इस प्रकार पुण्यादि, परभाव करवाने में मिठास का अनुभव करते हैं, वे अज्ञानी हैं। वे आत्मस्वभाव की अनन्ती हिंसा करते हैं। ज्ञानपने का अनादर करने से ज्ञातापने अगले भव में अवश्य मूढ़ होनेवाले हैं। लोग कहते हैं कि हम बराबर आत्मा को मानते हैं, निःशङ्क हैं, हमारी श्रद्धा सच्ची है किन्तु दोष क्या है ? खुद के अभिप्राय की खतौनी में भूल कहाँ है ? – यह बात वे नहीं जानते; अतः वे औंधे निःशङ्क हैं। आत्मा, ज्ञान के अलावा कुछ करता

नहीं है। रागरहित है, स्वाधीन है; अपनी शान्ति व आनन्द का कर्ता है – ऐसा जिसे यथार्थतापूर्वक भान नहीं है, वे जरूर अज्ञानपूर्वक रागादि के कर्ता हैं, वे अब्रह्मचारी हैं, हिंसक हैं। लोग धर्म के नाम से सच्चे न्याय का खून करते हैं। स्वभाव जैसा है, वैसा न माने और उल्टी खतौनी करें तो उसे तो सदा अन्याय की उपस्थिति है व न्याय की अनुपस्थिति है।

यहाँ पर इस गाथा में जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न है कि जगत नियन्ता ईश्वर को माने और कर्म के फल ईश्वर दे – ऐसा माने तो वहाँ ईश्वरपना नहीं रहता क्योंकि ईश्वर तो रागरहित, केवलज्ञानस्वरूप, अरूपी, ज्ञानघन, शुद्धस्वभावरूप है। वह प्रकृति का फल देने की प्रवृत्ति क्यों करें ? यदि ऐसा मानें तो उसे देहादि तथा इच्छा आदि उपाधियुक्त मानना पड़े। किसी का कुछ करने में तो शुभ-अशुभ इच्छा आयी; इच्छा करने में मन आया। जिसे मन है, उसे देह है। परमात्मा तो असङ्ग एवं स्वाधीन है, अरूपी है। उसे यदि पर के सङ्गवाला, इच्छावाला, कर्तव्यवाला माने तो बहुत सारे विरोध आयेंगे। स्वयं को भी निरुपाधिक, शान्त, वीतराग परमात्मा होना है; इसलिए प्रथम यथार्थ निर्णय करना पड़ेगा। सिद्धपरमात्मा असङ्ग, अरूपी, देहरहित, पूर्ण शुद्ध, नित्य वीतराग हैं। अपना आत्मा भी स्वभाव से पूर्ण शक्तिरूप है – ऐसा मानना पड़ेगा। आत्मा स्वतन्त्र ज्ञातास्वरूप ही है, वह पर का कुछ कर ही नहीं सकता। तीन काल, तीन लोक में दूसरे का कुछ कार्य कर नहीं सकता। जिसे आत्मधर्म का सच्चा सुख चाहिए, उसे अविरोधी स्वभाव को मानना पड़ेगा। जिसने अपने में पर का कर्तापना, रागपना, पुण्यपना, दयापना, रागी-द्वेषीपना माना है, उसने ईश्वर जगत का कर्ता हो, फलदाता हो – ऐसा माना है। उसको वह मान्यता मिटानी पड़ेगी।

वर्तमान में भी केवली भगवान देहधारी होते हुए भी राग-द्वेष-ममत्वरहित; शुद्धरूप से, शान्तरूप से विकल्परहित रह सकते हैं। जहाँ आत्मा का पूर्ण ऐश्वर्य, देहरहित अरागीपना प्रगट है, वहाँ उपाधि मानना मिथ्या है, गलत है। बहुत लोग कहते हैं कि हम आत्मा को मानते हैं किन्तु भाई ! आत्मा के सिवा पर का सारा अभाव है, वह आत्मा ज्ञान के अलावा कुछ कार्य नहीं करेगा। अत: ज्ञान के आनन्द के अलावा अन्य किसी चीज़ का भोक्ता नहीं है। वह असङ्ग, स्वाधीन तत्त्व कैसा

होगा ? इसका विचार किया है। इन्द्रों के सारे सुख व तीर्थङ्करपद का पुण्य, ऐसे पुण्यभावरहित, पुण्य की इच्छारहित आत्मा है। सभी आत्माएँ जाति अपेक्षा से परमात्मा हैं किन्तु यदि अपनी पूर्णस्वाधीनता समझकर पूर्ण को पाने का, उस जाति का पुरुषार्थ करे तो पूर्ण पवित्र हो सकता है। किन्तु प्रारम्भ से ही जो पूर्णपद को उपाधिवान मानता है, वह रागरहित कैसे होगा ? मेरे में पुण्य-पाप-राग का अंश भी नहीं है, यानी मुझे इन्द्र आदि के सुख भी नहीं चाहिए। मन, इन्द्रिय, देहादि की सहायता की मुझे जरूरत नहीं है। इस प्रकार सभी विकार, वासना से भिन्न होकर मैं शुद्ध हूँ – ऐसी हाँ लाओ ! जैसा सिद्धपरमात्मा का स्वरूप है, वैसा मेरा स्वरूप है – इस प्रकार जैसा आत्मा है, वैसा मानना हो, उसे सभी विरोधरहित निर्दोषतारूप मेरा तत्त्व है – इसकी हाँ करनी पड़ेगी; प्रथम यथार्थस्वरूप की प्रतीति करनी पड़ेगी। जिसे सच्चा परमहित चाहिए, उसे उस रूप मान्यता व उस प्रकार के स्वाधीनपुरुषार्थ का अंश तो अपने में लाना पड़ेगा। इसमें कुछ मन, वाणी, देह का पुरुषार्थ नहीं है या ईश्वर कुछ कर दे – ऐसा नहीं है। जो बहुत-बहुत प्रकार से अन्यथा मानते हैं, आत्मा में पुण्य-पापमय विकारी कार्य की खतौनी करते हैं – वे दौड़कर दुर्गति में जाते हैं। कोई बाहर में पुण्यादि के संयोग के कारण खुद की दृष्टि अनुसार सब कुछ अनुकूल मानता हो और मानता हो कि हम दूसरों के प्रति दया का पालन करते हैं; ब्रह्मचर्य, सत्य इत्यादि लौकिक नीति का पालन करते हैं किन्तु जो आत्मस्वरूप के अभानपूर्वक दूसरों द्वारा भला मान रहा है, वह अपने स्वभाव का घात कर रहा है। परमार्थ से पुण्यभाव भी उपाधि है, बन्धभाव है। लोग बाह्यदृष्टि के उल्टेबल द्वारा मोहभाव की मस्ती के उल्लास में यों मानते हैं कि आत्मा ऐसा पुण्यवाला है। उसे ज्ञानी कहते हैं कि भाई रे ! रुक जा, कुछ विचारकर ! तू जिससे गुण मानता है, वह तो बन्धभाव है; विकारी, औपाधिकभाव है।

प्रश्न - तो क्या आत्मज्ञान हो, उसे पुण्य, दानादि शुभकार्य नहीं करने ?

उत्तर - किसी ने देहादि या परजीव के कार्य किये ही नहीं हैं, केवल तत्सम्बन्धित अभिमान ही किया है। ज्ञानी को राग हो जाता है किन्तु वे उसमें अहंभाव नहीं करते। ज्ञानी गृहस्थ हो, तब तक ऐसा शुभराग हो जाए, फिर भी उसे वे कर्तव्य

नहीं मानते।

आत्मा, ज्ञाता–दृष्टा है; वह ज्ञान में टिककर ज्ञातारूप से ज्ञान को जानता ही रहे – वह उसका नित्यकार्य है। स्वयं स्वाधीन स्वरूप है, जगत का साक्षी है। जैसे केवलज्ञानी परमात्मा जगत के साक्षी हैं, वैसे ही सभी जीवात्मा अपने मोक्षस्वभाव में स्वाधीनतापूर्वक स्थिर होने की शक्ति रखते हैं। कोई जीव दूसरे का सुधार या बिगाड़ नहीं सकता किन्तु केवल जानता है; साक्षी को कुछ हेराफेरी नहीं करनी होती।

लोग संसार की उपाधि के बारे में बहुत ज्यादा विचार करते हैं किन्तु स्वयं का स्वाधीन तत्त्व क्या है ? – इसका विचार नहीं करते। जिसने ईश्वर को दूसरों को फल देनेवाला, जगत की व्यवस्था रखनेवाला या उपाधिवाला माना है, उसने स्वयं का स्वरूप पराधीन उपाधिवाला और रागवाला माना है क्योंकि जो जीव ईश्वर, परमात्मा होवे, उसे उपाधिवाले उन-उन कार्यों को करना चाहिए। यदि ईश्वर कर्म के फल का दे, ऐसा मानें तो वहाँ शुद्धता यानी ईश्वर का ऐश्वर्य ही नहीं रहता। जगत के जीव पुण्य-पाप करें, उसे फल देने आदि उपाधि में प्रवर्तमान ईश्वर को देहादि अनेक प्रकार का सङ्ग होना सम्भव है और इसलिए यथार्थ शुद्धता का भङ्ग होता है। कदापि यों मान ले कि ईश्वर एक ही है, वह सब कुछ करता है। विचार करें तो उसमें भी दोष आता है। सभी मुक्त जीव वीतरागी हैं, परभाव आदि के कर्ता नहीं हैं। यदि वे परभाव आदि के कर्ता होवे तो उन्हें संसार व रागीपना की प्राप्ति होवे एवं ईश्वर, पर को फल देना इत्यादि रूप क्रिया में प्रवर्तन करे तो उसे भी परभाव आदि के कर्तापने के दोष का प्रसङ्ग आये। इससे तो उसको ईश्वरपने का ही उच्छेदन (खण्डन) करने जैसी स्थिति हुई।

शिष्य का भोक्तापने का प्रश्न चल रहा है।

जीव का अज्ञानभावपूर्वक रागादि का कर्तापना कबूल करके कहता है कि जड़कर्म जीव की भूल को पाकर आये किन्तु जड़ कैसे जाने कि हमें ऐसा फल देना है ? और ईश्वर उसकी व्यवस्था करे, फल दे तो ऐसा मानने में बड़ा विरोध आता है क्योंकि '**फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधायः एम कहे ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय**' और '**ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत नियम नहि**

होय; पछी शुभाशुभ कर्मनां भोग्यस्थान नहि कोय।' इस तरह दो प्रकार की विरुद्धता शिष्य को भासित होती है। शिष्य ने इतना तो लक्ष्य में रखा है कि ईश्वर शुद्धस्वभाव है और उसे अन्तर में रखकर, समझकर कहता है कि ईश्वर तो पूर्ण शुद्ध है; वह जगत के प्रपञ्चों में क्यों पड़े ? इस पर से समझना कि शिष्य विचार करनेवाला एवं न्याय को गहरायी से समझ सके, वैसा चाहिए। ऐसे शिष्य की माफिक जिज्ञासु परेशान होकर प्रश्न करे तो उसका समाधान हो।

जिज्ञासु ऐसे होते हैं कि वे वस्तु का विचार करते हैं, वस्तु का लक्षण क्या ? हेतु क्या ? यह बात इस प्रकार कैसे हो सके ? इत्यादि सोचकर उसके प्रश्न कर सकें। जो सत् समझने के लिये प्रश्न करता है, वह अपनी उलझन मिटा सकता है। अपने तत्त्व की बात ही जानना नहीं चाहे और संसार में कुछ करने का आये, तब तैयार हो जाए। उपाधि करनी हो, उसमें रुचि करे; प्रेम से जुड़े किन्तु अपना परमशुद्ध तत्त्व कैसा है ? – यह जानने की दरकार ही नहीं करते। धैर्यपूर्वक बहुत मनन करने की जरूरत है कि ऐसी कौनसी भूल रह जाती है कि जिसके कारण अनन्त काल से भटकना पड़ रहा है ? यहाँ शिष्य को ऐसी खटक लगी है कि पूर्ण परमात्मा शुद्ध होने के बावजूद भी यदि वे जगत की उपाधिवाले रहते हो तो मुझे भी पूर्णशुद्ध होना है तो मुझे भी उपाधि में ही रहना पड़ेगा। अतः स्वयं ने जो मान रखा है, उसमें विरोध आता है; अतः शङ्का, उत्पन्न हुई है। यदि कोई कहे कि रागरहित काम क्यों नहीं कर सकते ? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्ण शुद्धता में, देहरहित दशा में यह सम्भव नहीं है। ज्ञाता जाने या कुछ करे ? करने में तो इच्छा है; इच्छा माने राग और राग ही दुःख है। वह ईश्वर में कैसे सम्भव है ? ईश्वर माने आत्मा की पूर्ण पवित्र स्वाधीनदशा। वह यदि जगत को फल देने में जुड़े तो उसे इच्छा, मन एवं शरीर भी चाहिए और संसारी के समान दशा हो जाए; अतः पूर्णशुद्धता में भङ्ग पड़े। लोगों की समझ में कहाँ-कहाँ भूल होती है, यह खुद को समझना पड़ेगा। मन-वाणी-देह की क्रिया करने का अधिकार अज्ञानी के पास भी नहीं है; अतः वह भी कर ही नहीं सकता और ज्ञानी भी जड़ की अवस्था को तीन काल में नहीं कर सकता तो फिर ईश्वर को जड़ की क्रिया करनी व उसका फल देना – यह कैसे हो सके ?

अज्ञानी अज्ञानभाव से माने कि मैं करता हूँ; संयोग हुए उनका रागभावपूर्वक स्वीकार करे कि वे मेरे और मैं उनका कर्ता हूँ किन्तु सच्ची दृष्टि से देखे तो पुण्य-पाप, रागादिरूप कुछ करना – यह आत्मा का गुण नहीं है। ज्ञानस्वभावरूप आत्मा, ज्ञाता-दृष्टा, साक्षी चैतन्यघन है; उसके अन्दर भूल करने की योग्यता है। अज्ञानपूर्वक माने कि मैं पुण्य -पाप-रागवाला हूँ, कर्ता हूँ, रोटी, देहादि का भोक्ता हूँ किन्तु ऐसा मानने से उनका कोई कार्य नहीं कर सकता किन्तु खुद ने किया, ऐसी कल्पना करता है। आत्मा का अधिकार क्या ? – यह खुद को समझना पड़ेगा। रटा हुआ बोल जाए किन्तु अन्दर ज्ञानभाव का भासन किस प्रकार से है ? – यह सोचे तो मालूम पड़ेगा कि पर का कार्य कोई जीव कर नहीं सकता। फिर भी मैं पुण्य-पाप, राग-द्वेष करता हूँ – ऐसा जो कोई माने और पर का कर्ता हो, उसने खुद को जड़ की क्रिया करने का अधिकार नहीं होने के बावजूद भी उसका स्वीकार किया माना जायेगा किन्तु यह तो भटकने का उपाय है। यूँ ही अनन्त काल बीत गया किन्तु स्वयं का पूर्ण स्वाधीन तत्त्व जैसा है, वैसी उसकी प्रतीति नहीं की और उसका उत्साह भी नहीं आया। लोग तत्त्वज्ञान का विचार किये बिना लौकिक नीति, दान, पुण्य इत्यादि में धर्म मानते हैं। किन्तु जिसे सत्यस्वरूप का भान नहीं है, वह भले ही हज़ारों शास्त्रों का जानकार हो, फिर भी वह परमार्थ से पापी है, और भले ही नौ साल का बालक हो, फिर भी अन्तर में जिसे कर्तापने का अभिमान छूट गया हो और राग-द्वेष उपाधिरहित मैं निर्मल आत्मा हूँ – ऐसा स्वसन्मुख होकर माना हो और पर का स्वामित्व स्वीकार न किया हो, तो सच्चा न्याय उसके हृदय में बैठा होने के कारण वह महापवित्र है क्योंकि उसमें स्वतन्त्रता के बीज़ पड़े हैं। पूर्णज्ञान के अलावा जड़ आदि का कोई कार्य अपना नहीं मानता, कर्ता नहीं होता। यह ज्ञाता की समझ की बलिहारी है। चैतन्य का स्वभाव जानने का है, उसमें करने का कहाँ आया ? अनन्त ज्ञानी ऐसा कह गये हैं कि तेरा तो ज्ञानगुण है; पुण्य-पाप-रागादि तेरा स्वभाव नहीं है, देहादि पर की क्रिया करने का तुझे अधिकार नहीं है; इसलिए कर नहीं सकता। अतः मैं पर का करूँ, कर सकता हूँ – ऐसा मत मानना। यह बात न्यायपूर्वक यथार्थरूप से जिसे अन्तर में बैठी है, उसे राग-द्वेष उपाधिमयदशा में भटकना

नहीं पड़ता।

यहाँ पर शिष्य को शङ्का करने का कारण यह है कि यदि ईश्वर को पर को फल देनेवाला इत्यादि प्रकार से मानूँ तो मेरी पूर्णता को बाधा (विरोध) आती है क्योंकि प्रत्येक आत्मा जाति अपेक्षा से एक-से (एक समान) ईश्वर हैं। जो कर्म की उपाधि से रहित होकर पूर्ण परमात्मा होवे, वे राग-द्वेष इच्छारहित यानी विकल्परहित होने चाहिए। अत: ईश्वर को वीतरागी ज्ञाता सिद्ध करना और उसे जगत के प्रपञ्चवाला भी मानना – यह प्रत्यक्ष विरोध है। जैनदर्शन में ही पूर्णशुद्ध परमात्मा की सिद्धि यथार्थरूप से है। देहधारी अवस्था में भी सर्वज्ञदशा, पूर्ण वीतरागता हो सकती है, उसके अनेक प्रमाण हैं जो कि यथार्थ युक्ति, आगम एवं स्वानुभव से सिद्ध हैं; निश्चित हैं। अनन्त ज्ञानी जो कहते हैं, वही यहाँ कहा जाता है। भले ही करोड़ों की संख्या असत् मार्ग पर हो, इससे सत् कोई नीचा नहीं हो जाता। सत् को संख्या की जरूरत नहीं है। सत् को माननेवाला वर्ग हमेशा थोड़ा ही होता है, फिर भी सत्मार्ग हमेशा टिका रहेगा। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से पूर्णपरमात्मा है एवं स्वतन्त्र है। वर्तमानदशा में पूर्णस्वरूप का भान करके, उस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा पूर्ण ईश्वर हो सकता है। उसे जगत का कुछ करने का बाकी नहीं रहता, फिर से संसार में आना नहीं होता। इस न्याय के अलावा अन्यथा जो कुछ माने, उसका तीन काल में आत्महित होनेवाला नहीं है। यदि फल देनेवाला ईश्वर सिद्ध हो तो बड़ा दोष आता है।

कोई कहता है कि भक्ति करें तो ईश्वर हमारे दु:ख दूर करे – ऐसा माननेवाले ने ईश्वर को इच्छावाला एवं उपाधिवाला माना है। ईश्वर तो सत्स्वरूप, स्वाधीन, शुद्ध तत्त्व है। उसे अपनी कल्पना से चाहे जैसा मान लेने से जो सत्स्वरूप है, वह कुछ अन्यथा नहीं हो जाता। लोगों में स्वतन्त्रविचार करने की शक्ति नहीं है एवं सत् समागम की पहचान नहीं। अत: जैसे-तैसे तत्त्व का निर्धार कर बैठते हैं और माने कि ईश्वर ऐसा होगा और आत्मा ऐसा होगा। जो प्रथम समझना है, उसका वादा करना – यही अपना अनुत्साह दर्शित करता है। संसार के किसी भी कार्य को भोगे, दूसरों को भोग करवाये या भोक्ता को अच्छा माने; वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है। तो फिर लोग पुण्य-पाप करें और ईश्वर उसका फल दे – ऐसा

मानना यह तो ईश्वर को मिथ्यादृष्टि मानने के बराबर हुआ। जिसे आत्मा का पूर्ण शुद्धस्वरूप कैसा है ? – इसका भान नहीं है, वह अपनी भ्रमितमान्यता का ईश्वर में आरोपण कर देता है और मानता है कि जगत की व्यवस्था वे करते होंगे। यदि ईश्वर में फलदातापना आरोपित करें तो ईश्वर के स्वरूप में बहुत विरोध आता है। नियम तो प्रत्येक को त्रिकाल एकसा लागू होता है। राग के कार्य अज्ञानी करे, उसे रागी-द्वेषी कहा जाता है तो ऐसे राग के इसी तरह के कार्य ईश्वर करे और उसे रागी द्वेषी न कहा जाए, ऐसा कैसे बने ? कुदरती क्रम में यानी वस्तु के सहजस्वभाव में, न्याय में फ़र्क नहीं पड़ता; अतः ईश्वर को फलदाता मानो तो ईश्वर लोभवाला व रागादिक इच्छावाला सिद्ध हो किन्तु ऐसा नहीं है। मुक्तपरमात्मा राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि भावों का कर्ता नहीं है और जगत को फल देनेवाला भी नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसे संसार मानना चाहिए।

प्रश्न - गीताजी में अनासक्तरूप से कर्म करने का कहा है न ?

उत्तर - हमें किसी व्यक्ति से मतलब नहीं है। जो न्याय कहा जा रहा है, उसे समझो। जगत में बाहर से धर्म हो गया माना जा रहा है और बहुभाग लोगों को ऐसा लगता है कि हम कुछ ठीक करें। अनासक्ति रखकर संसार का भला करें। ज्ञानी भी दूसरों का कर नहीं पायें किन्तु समझनेवाले अपने पवित्र ज्ञानस्वरूप में समा गये हैं। ज्ञानी को विकल्प की वृत्ति हो तो लोकोत्तर ऐसे परमार्थमार्ग का उपदेश देते हैं। आत्मा ज्ञाता ही है, अन्य कुछ करना आत्मा के अधिकार में नहीं है; अतः अन्य कुछ करने का ज्ञानी नहीं कहते। साधकजीव भी विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है – इस प्रकार विकल्प तोड़कर ज्ञान में स्थिर हो गये तो फिर ईश्वर में इच्छा आदि विकल्प का सद्भाव कैसे हो सकता है ? परमात्मा का स्वरूप तो पूर्ण वीतराग निर्मल है। उसमें किसी भी पर के कार्य का आरोप करें, इच्छावाला कहें तो बड़ा विरोध आता है। जिस प्रकार भरे हुए घड़े पर पानी की ज़ोरदार धार करे तो घड़ा ऊपर से चार अँगुल अधूरा हो जाए, उस प्रकार पूर्ण शुद्ध पवित्र ईश्वर पर सारे जगत की कार्यवाही का आरोप लगाने से ईश्वरपने में विरोध आयेगा। (एक ओर से) ईश्वर को वीतराग, निरुपाधिक कहना, और (दूसरी ओर से) दया करनेवाला, इच्छावाला, फल देनेवाला कहना – यह विरोधरूप है।

करोड़ों लोग मानते हैं, उनकी ओर मत देखो। फलाँ आदमी बहुत बुद्धिमान है; अतः उसकी बात सही है – ऐसा नहीं।

संसार में आत्मज्ञान होने के बाद राग-द्वेष का सर्वथा अभाव करके जो ईश्वर होता है, उसमें राग या इच्छा कैसे सम्भव हो ? मध्यस्थतापूर्वक विचार करो तो सब कुछ समझ में आये, ऐसा है। जो अल्पपुरुषार्थ द्वारा अल्पराग भी होने न दे, वह पूर्ण परमात्मदशा पूर्ण पुरुषार्थ खिलने के बाद, थोड़ा-बहुत राग भी क्यों होने दे ? इसका विचार करो। राग व अस्थिरतारहित ईश्वर को जगत की उपाधिवाला मानना – यह तो संसार के देहधारी ज्ञानी से भी ज्यादा हीनता कही जायेगी। लोगों ने तत्त्व की परीक्षा के बिना बाहर से मान लिया है कि जगत में जिनका बड़प्पन हो, वे दूसरों का भला क्यों न करें ? यदि लोगों को सुखी न रखें तो ऐसा परमात्मा हमें नहीं चाहिए। एक भाई कह रहे थे कि ईश्वर तो हम उसे कहें कि जो सभी को मनचाहा सुख दे। फिर उससे कहा था कि ऐसी मान्यता जो कोई भी रखे, वह तीन काल में सुखी नहीं होगा। खुद को सच्चा तत्त्व समझ में आया नहीं है; अतः स्वयं ईश्वर को भी रागवाला, इच्छावाला मानता है। इस प्रकार जगत में लोगों ने ऐसी या इसके जैसी अन्य मान्यता द्वारा 'ईश्वर' नाम का जगतकर्ता, नियन्ता, व्यवस्थापक व्यक्ति है - ऐसी कल्पना खड़ी की है।

यहाँ पर शिष्य अपने शुद्धात्मा विषयक न्याय समझना चाहता है कि यदि ऐसा ईश्वर हो तो क्या विरोध आयेगा ? ऐसा कहकर उसका न्याय समझना चाहता है किन्तु वास्तव में तो स्वाधीन आत्मा का पूर्ण शुद्ध स्वरूप कैसा हो सकता है ? इस बात को तय करना चाहता है, यानी वास्तविक न्याय से निर्दोषता, पूर्ण स्वाधीन ईश्वरतत्त्व निश्चित करना चाहता है। सभी आत्माएँ शक्तिरूप से परमात्मा हैं – इसकी श्रद्धा एवं उस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा पूर्ण परमात्मा हो सकता है; अतः ईश्वर का यथार्थ स्वरूप कैसा होना चाहिए ? – उसका न्याय समझाते हैं। ईश्वर को कर्तृत्व लागू करे तो जो संसारीजीव हैं, उनसे भी इस जगत की व्यवस्था करनेवाले ईश्वर का हीनत्व हुआ। यह तो ईश्वरपने का उच्छेद करने के बराबर हुआ। जगत के लोग अन्य कुछ मानें, इसलिए वैसा हो नहीं जाता। इस लोकोत्तरमार्ग की यानी अपूर्व आत्मतत्त्व की यथार्थ प्रतीति होना महादुर्लभ है। वस्तु स्थिति समझो,

फिर से ऐसा मौका नहीं मिलेगा। आत्मा की यथार्थ बात यहाँ-वहाँ सुनने नहीं मिलती; अनन्त भव में जो नहीं समझ में आया, ऐसा अपूर्वतत्त्व समझने का अपूर्व अवसर है। मनुष्यत्व अनन्त बार प्राप्त करने के बावजूद भी यह बात क्यों समझ में नहीं आयी ? इस पर से विचार करो कि जो अनन्त काल में समझ में नहीं आयी, वह समझ कितनी महँगी होगी ? जिसका विस्मरण अनादि काल से चला आ रहा है, उसका परिचय करने में थोड़ा समय देना भी पड़ेगा। जो कुछ भूल हो रही है, वह अपने स्वरूप में ही भ्रम होने के कारण होती है। वह भूल अपने आप मिटनेवाली नहीं है, स्वभाव का भान करे तो उसे टालना असम्भव नहीं है। आत्मा का लोकोत्तरमार्ग, बाहर से जो माना गया है, उससे भिन्न है। मनुष्यत्व पाकर आत्मा की यथार्थता समझे, उसे भव का अभाव हो जाए। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो सके, ऐसा पुरुषार्थ न करे तो अनन्त काल में फिर मनुष्यत्व पाना मुश्किल हो जायेगा। कई लोगों को तत्त्व की यह बात कान में पड़ना भी दुर्लभ है। इसमें भी कदापि सुन ली और उसका विरोध उठा अथवा तत्त्व की अरुचि हो तो वह मनुष्य जिस प्रकार कौआ, कुत्ते, चींटी, मकोड़ें मर जाते हैं, उस प्रकार (वह लोक में कदापि बड़ा कहा जाता हो तो भी) एक देह को छोड़कर दूसरी देहों में भटकने की दृष्टि से वह पामर जीवों के समान ही है।

कोई मानता है कि ईश्वर के सामने रोज भक्ति करें तो दुःख मिट जाए। 'हे प्रभु ! तू दयालु है, मेरे ऊपर दया करना।' इस प्रकार जो ईश्वर को करुणावाला मानता है, उसने ईश्वर का स्वरूप जाना नहीं है। जिसे अपने स्वरूप का भान है और जानता है कि ईश्वर में इच्छा, दया, राग, विकल्प नहीं है, वह समझकर भक्ति करता है कि मैं तो उनके निर्दोष वीतरागस्वभाव का बहुमान करता हूँ और उपचार से प्रभु को करुणावन्त कहता हूँ। मुझे ईश्वर से कुछ प्राप्त नहीं करना है; मैं भी पूर्ण ईश्वर सरीखा ही हूँ – ऐसा समझकर अपनी अधूरीदशा को पूर्ण करने का पुरुषार्थ स्वरूपभक्ति द्वारा करे, उसमें इस पूर्ण वीतरागीईश्वर का बहुमान आ जाता है।

सच्चे न्याय से देखो तो सभी आत्मा एवं ईश्वर का एक सरीखा स्वभाव है; व्यक्तिरूप से सब भिन्न-भिन्न हैं। जीव एवं ईश्वर का स्वभावभेद (भिन्नता) माननेपर

अनेक दोष सम्भवित हैं। दोनों चैतन्य स्वभाव से एक समान हैं; अतः वे दोनों समानधर्म के कर्ता हुए। इसमें ईश्वर जगत की रचना का कार्य करे अथवा कर्म का फलदाता हो जाए और शुद्ध, मुक्त भी माना जाए - ये दोनों विरोधी बातें हैं। शुद्धस्वभाव में भेद पड़ता है, आत्मा एवं परमात्मा चैतन्यरूप से समान हैं। यदि ईश्वर पुण्य-पाप का फल देने सम्बन्धित अनन्त देहादि की रचना का कार्य करे तो क्या दोष आये - उसका विचार करें तो एक जीव जब रागादि या पुण्य-पाप का उपाधिभाव करने के कारण एक ही देह करता है, तब संसारी कहलाता है और ईश्वर अनन्त देहादि का कर्ता हो तो क्या वह संसारी न कहा जाए ? आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और सारे जीव अपने-अपने भाव के कर्ता हैं। आत्मा स्वतन्त्र है - ऐसा नहीं मानना और जीव, पुण्य-पाप करे और अपने कर्मों का फल पाने के लिये ईश्वर की जरूरत पड़े - ऐसी मान्यता न्याय से सही नहीं है। इस न्याय को जो न समझे और अपने आग्रह में अटक जाए और कहे कि मुझे ऐसी बात नहीं माननी तो उसे अनन्त ज्ञानी भी जबरदस्ती समझा नहीं सकते।

सर्वज्ञ प्रभु तीर्थङ्कर भगवान धर्मसभा में जाहिर करते हैं कि जगत के सभी जीव स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक जीव एक अखण्डद्रव्य होने से उसका ज्ञानसामर्थ्य भी सम्पूर्ण है। - इसे मानने से जो इन्कार करता है, वह भटकने का कामी है। **जो बात (आत्मस्वरूप का सच्चा न्याय) अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा कह गये हैं, वही बात श्रीमद्राजचन्द्रजी भी कह गये हैं।** वाणी द्वारा आत्मा का पूरा-पूरा वर्णन कैसे हो? उन्होंने कहा है कि -

'जे स्वरूप श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां, कही शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो; तेह स्वरूपने अन्यवाणी ते शुं कहे ?' अनन्त ज्ञानबल से प्रत्येक आत्मा पूर्ण है, स्वतन्त्र है। उसका वर्णन वाणी से क्या करें ? समझनेवाला अन्तर से उसका आशय, परमार्थ समझ लेवे। **'तेह स्वरूप ने अन्यवाणी ते शुं कहे? अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो; अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?'** सर्वज्ञ परमात्मा की विद्यमानता के लिये शङ्कावाले जो जीव हैं, उनको आत्मा की एक भी सच्ची बात अन्तर में बैठनी कठिन है। अनन्त ज्ञानी जिस स्वरूप को अपने अनुभव से कह गये हैं, उसका आशय-गहरा रहस्य समझनेवाला कोई विरला ही

भाग्यशाली होता है। जो पात्र जीव होता है, वह समझ लेता है। ज्ञानी तो अपना कार्य पूरा करके अपने में समा गये। कोई किसी को जबरदस्ती समझा दे या मोक्ष दे दें, ऐसा नहीं है। ऐसा यदि हो सकता तो दूसरा उसे नरक में धकेल दे। उसे अन्य कोई कुछ कहे, उसको सही मानना ही पड़े तो उसका जीवद्रव्य स्वाधीन नहीं रहा; दूसरों के अधीन रहा किन्तु ऐसा नहीं है। जीव स्वाधीन है। औंधा गिरने के लिये भी जीव स्वाधीन है; सुल्टा पड़ने में भी ज्ञानदशा में स्वतन्त्र है।

यहाँ कहना है कि संसारी जीव, अज्ञानी जीव थोड़ा राग-पुण्य-पाप करे, उसे एक देह में रहने का कार्य हो, उसे बन्धनयुक्त कहना, और ईश्वर अनन्त देह का कार्य करे, फल दे, उसे मुक्त एवं शुद्ध कहें – ऐसा कैसे बन सके ? अतः ईश्वर को पुण्य-पाप का फल देनेवाला मानना, यह संसारी जीवों से भी अधिक उपाधिवाला मानने के बराबर है। लोगों को तत्त्व की विचारणा के लिये अवकाश लेना नहीं है; अतः कुछ-कुछ मान्यता धारण कर लेता है किन्तु यथार्थ विचार करना चाहिए। विरोधरहित तत्त्व जब तक समझ में न आये, तब तक रागरहित होने का पुरुषार्थ हो नहीं सकता। जिसे अपने अन्दर कुछ माल (सामर्थ्य) नहीं मालूम पड़ता, वह 'ईश्वर फलदातार है' – ऐसी कल्पना खड़ी करता है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ७-११-१९३९

(८०वीं गाथा चल रही है।)

आत्मा एवं ईश्वर का समान धर्म है – तद्विषयक प्रश्न में कल कहा गया कि संसारीजीव एक देह मिलने जितने पुण्य-पाप करे, फिर भी बन्धयुक्त एवं ईश्वर बहुत देह के कार्य करे, फल दे, फिर भी उसे मुक्त कहना, शुद्ध कहना – यह प्रत्यक्ष विरोध है।

पुनश्च, जीव के मुकाबले ईश्वर का सामर्थ्य विशेष मानें तो भी विरोध आता है। ईश्वर माने जिसके आत्मा की शक्ति का पूर्णतया विकास हुआ हो, वह। लोगों की समझ में बहुत फ़र्क है। जगत का बड़ा वर्ग ईश्वर को कर्ता एवं फलदाता मानता है। एक माने वैसा दूसरा माने – ऐसी पराधीन मान्यतापूर्वक चला लेते हैं। जो जीव मुक्त हो, उसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें और फिर ईश्वर को खास तरह की सत्ता का मालिक मानें तो शुद्ध चैतन्य, ऐसे मुक्त जीव में और ईश्वर में भिन्नता होनी चाहिए किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। फल देने का कार्य तो राग का कार्य है और ईश्वर रागवाला हो तो वह ईश्वर नहीं कहा जाता। ईश्वर को शुद्ध माने एवं कर्म का फलदाता मानें तो मुक्तस्वरूप ऐसे प्रत्येक जीव द्वारा भी यह कार्य होना चाहिए। ईश्वर, राग एवं इच्छारहित है, फिर भी वह कार्य कर सके – ऐसा माननेवाले ने अपने आत्मा को स्वाधीन नहीं माना। यहाँ पर ऐसा कहने में आता है कि पर का कार्य संसारीजीव करे तो उसे बन्धवाला कहें और मुक्तजीव से भी पर का कार्य हो सकता है – ऐसा कहो तो उसे संसारी माना। संसार के कार्य ईश्वर करे तो वह उपाधिवाला हुआ। ईश्वर माने शुद्धस्वभावरूप निर्मल आत्मा; उसकी पहचान हुए बिना अपने स्वरूप को अन्यथा मानते हैं।

जो जड़कर्म के कार्य है, उन्हें ईश्वर करता है – ऐसा माननेवाला स्वयं ही अज्ञान दृष्टिवाला है। पाप का उदय टालने के बिनती (जिम्मेदारी) जो ईश्वर पर डालता है, वह आकाश के पुष्प की आशा रखता है। ईश्वर हैं किन्तु उनका

स्वरूप क्या है ? – यह समझो। भगवान परमात्मा तो निर्मल, ज्ञानानन्द, शुद्ध, असङ्ग है। उसे उपाधिवाला मानना, वह ईश्वरपने में संसारीपने का आरोपण है। जीव स्वयं भूल करे, इसलिए पाप के उदय से बाहर की असुविधा खड़ी हो जाए। उसे टालने के लिये ईश्वर आये – ऐसी बात किस प्रकार बने ? स्वयं समता रखे और पुण्य का उदय होने पर वह असुविधा टले किन्तु ईश्वर ने मुसीबत टाली – ऐसा मानना अज्ञान है। लोग पूर्णस्वरूप को, ईश्वर को अपने गज़ से नापते हैं। जो ईश्वर को फलदाता मानते हैं, उन्होंने स्वयं को पराधीन माना है। ऐसी मान्यतावाला जीव स्वाधीनता का पुरुषार्थ कैसे कर सके ?

लोग कहते हैं कि जैनधर्मवाले जगतकर्ता ईश्वर को नहीं मानते किन्तु जो शुद्ध हों, उन्हें ईश्वर मानना या उपाधिवाले को ईश्वर मानना ? बहुत से लोग ईश्वर को कर्ता एवं फलदाता मानते हैं। इससे क्या जो सही नहीं है, वह सही हो जायेगा ? न्याय से जो सिद्ध हो, उसे सही मानना। कई लोग अमुक प्रकार से मानते हैं; अतः मुझे भी उसे सही मानना – यह न्याय नहीं है। खुद को पूर्ण, निरुपाधिक मुक्त होना है किन्तु है, ऐसा यथार्थ नहीं मानना तो उससे स्वाधीनता का पुरुषार्थ भी कैसे हो सके ? यदि ईश्वर को संसार कार्यों का कर्ता मानो, यानी इच्छादि युक्त अशुद्ध मानो तो वहाँ वीतरागता तथा सर्वज्ञता का गुण सम्भव नहीं है। देहधारी सर्वज्ञ भगवान को जगत नियन्ता ईश्वर माने तो फिर कर्मफलदातारूप विशेषस्वभाव ईश्वर में किन गुणों के कारण मानना योग्य है ? यहाँ पर इतना स्वीकार तो होता है कि देहरहित ईश्वर तो सभी उपाधि के संयोग से रहित हैं और वे पर का कुछ कर नहीं सकते। किन्तु प्रश्न यह रहता है कि देहधारी अवतारी पुरुष, सर्वज्ञ ईश्वर हो तो ? देहधारी सर्वज्ञ को वाणी, मन, इन्द्रिय आदि हैं; अतः वे जगत को आज्ञा करके व्यवस्था की सूचना देते हो तो वह भी असम्भव है क्योंकि फल देने का काम रागरहित को हो नहीं सकता। पुनश्च, वे देहधारीपने से मुक्त होने के बाद यानी देहरहित होने पर कर्मफलदातापना कौन करेगा ? अतः कर्मफलदातापना मानें तो पूर्ण शुद्ध परमात्म स्वभाव – ऐसे ईश्वरपने का उत्थापन हो जाए।

जगत के सभी जीव शक्तिरूप से ईश्वर हैं। उसमें से पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धता मिटाकर, जितने-जितने ईश्वर हुए, उन सभी को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त

सुख व अनन्त वीर्य इत्यादि गुण प्रगट हुए हैं। बिल्कुल निराकुल, शान्त, शाश्वत, स्वाधीन, असङ्गदशा प्रगट हुई हो, उनको उपाधिवाला मानना – यह न्याय नहीं है। ऐसा शुद्ध, निर्दोष आत्मा, प्रत्येक जीव शक्तिस्वरूप से तो है – ऐसा प्रथम मानना पड़ेगा। आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है, इसकी हाँ किसी भी समय अज्ञानी जीव (ने) नहीं की यानी सत्स्वरूप की ना करते हुए अनन्त काल बीत गया है। एक सेकण्ड भी देहातीतपना, असङ्ग ज्ञायकपना मानकर स्थिर होने का स्वाधीन ज्ञानबल कबूल नहीं किया, यानी ज्ञानस्वभाव में स्थिर नहीं हुआ – उसे मोक्षस्वरूप की बेहद अतीन्द्रिय, आनन्दरूप शान्ति मेरे में है, ऐसी निरूपाधिकता का ख्याल कैसे आये ? उन जीवों को पूर्णानन्द सहजस्वरूप कैसे समझ में आये ? जो जीव अपने अनन्त सामर्थ्य की, शाश्वतस्वाधीनता की हाँ करे और मैं स्वाधीन पूर्ण ईश्वर जैसा ही हूँ, ऐसा अभिप्राय निश्चित करने के धैर्य का अपूर्व ज्ञानबल लाये तथा अन्त:तत्त्व की पूर्णता को पा सकूँ, ऐसी मेरी मुक्तदशा एकदम स्वाधीनतापूर्वक हो सकती है – इस प्रकार हाँ करे, वह भविष्य में खुद मुक्त हो सकता है।

कोई कहे कि फिलहाल कुछ प्रत्यक्ष नहीं हो परन्तु भविष्य में आनन्द भोगेंगे तो ऐसा नहीं होता। मैं पूर्ण ही हूँ, ऐसा ही हूँ – इस प्रकार सहजस्वभाव की हाँ करे और अन्दर से उसका विचार लाये कि हे सर्वज्ञ ! हे प्रभु ! जैसा तू, वैसा मैं हूँ और मैं पूर्ण हो सकता हूँ – इस प्रकार खुद की उनके साथ तुलना करे तो खुद भी वैसा हो जाए। अनन्त काल से खुद को हीन, कमीवाला और विकारी माना था और ईश्वर को भी भ्रमबुद्धि से उपाधिवाला माना था। इस भूलवाली मान्यता को मिटाकर जीव ने शुद्ध परमात्मा की पहचान यथार्थरूप से की कि मैं एवं परमात्मा स्वभाव से एक-से हैं, उसकी सहज हाँ आयी कि यह ऐसा ही है; वह ईश्वर की यथार्थ प्रभुता का निर्णय करनेवाला होने के कारण खुद प्रभु हो जानेवाला है। उसकी साक्षी एवं उस प्रकार का अतीन्द्रिय आनन्द वर्तमान में भी अल्पअंश में अनुभव में आ सकता है।

लोग बाहर से दूसरा कुछ मान बैठते हैं किन्तु सच्ची बात को समझे बिना चाहे जितने व्रत, तप, चारित्र का पालन करें, पुण्य करें, फिर भी सब साधन बन्धनरूप होते हैं। अपनी उल्टी मान्यतानुसार धर्म मानते हैं। शास्त्र पढ़े तो भी अपनी स्वच्छन्द

कल्पनानुसार आत्मा का, यानी पूर्णमुक्त शुद्धपरमात्मा का स्वरूप मान लेते हैं। जो पुण्यादि परपरिचय से धर्म मानता है, वह या तो ईश्वर को जगत की व्यवस्था का कर्ता मानता है या तो पुण्य से धर्म मानता है, यानी पुण्य करूँगा तो परम्परा से मेरा मोक्ष होगा – ऐसा माननेवाला, विपरीत मार्ग पर है। मेरे चैतन्य में पूर्ण शुद्ध आत्मधर्म भरा है – ऐसे भान बिना परनिमित्त पर आधार रखनेवाले जीव क्रिया-काण्ड करके मर जाए, फिर भी आंशिकरूप से भी धर्म नहीं होता।

तामली तापस का दृष्टान्त : उस तापस से महातप करने के बावजूद भी भगवान ने कहा कि वह धर्मी नहीं है किन्तु पापी है क्योंकि उसे अन्दर में महापाप, मिथ्यात्वरूपी शल्य पड़ा था। पुण्यादि कुछ निमित्त हो तो उससे धर्म हो। अनादि से जीव को व्यवहार का पक्ष टालने का पुरुषार्थ करने की रुचि नहीं हो रही है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, मेरा ज्ञानबल मेरे में ही है, ज्ञान मेरा कर्तव्य है, यानी ज्ञान के अलावा अन्य कुछ मेरा कर्तव्य नहीं है – ऐसी हाँ करने में तो जीव को बहुत दम लगाना पड़ता है। तामली तापस ने साठ हज़ार वर्ष तक तप किया था, फिर भी उसे बालतप कहा है और अज्ञानी में गिना है जबकि भरत चक्रवर्ती व श्रेणिक राजा को राज्य करने पर भी महान पवित्र धर्मात्मा कहा है। इस जीव का वीर्य तो देखो। लोगों ने बाह्यदृष्टि से धर्म की कल्पना की है। धर्मात्मा गृहस्थ हो तो उनके पास रुपये, स्त्री, घर, इत्यादि पदार्थ दिखे, फिर भी उन्हें बन्धन नहीं है। जिसे शुद्ध आत्मस्वभाव का भान हुआ, उसे छियानवे हज़ार स्त्रियों का योग होने के बावजूद भी सङ्ग ही नहीं है। स्वयं आत्मस्वरूप में स्थित है। निकट में रहे सङ्ग को मत देखो और स्त्री इत्यादि का त्याग करके जङ्गल में नग्न होकर बैठा है, उसको मत देखो। मध्यस्थ रहकर परीक्षा करो, **'चैतन्यरूप अनुप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो।'** आत्मज्ञानी धर्मात्मा का लक्षण बाहर से न दिखे। आत्मा, एक परमाणु का भी कर्ता नहीं है। ज्ञानी धर्मात्मा को ऐसा विकल्प आये कि मैं मुनि हो जाऊँ, निर्ग्रन्थ हो जाऊँ किन्तु उस विकल्प का वह स्वामी नहीं होता। **श्रीमद्राजचन्द्रजी जवाहरात की दुकान पर बैठे हुए दिख रहे थे, फिर भी हर पल मोक्ष के निकट जा रहे थे। लोग बाहर से देखे तो अन्य कुछ दिखे। गृहस्थवेष में ज्ञानी को पहचानना बाह्यदृष्टि जीवों को मुश्किल पड़ता**

है।

प्रश्न - सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को कैसे पहिचानने ?

उत्तर - दृष्टिवाला ही उन्हें देख सकता है। आत्मज्ञानी तो लोकोत्तर पुरुष हैं। उनको पहचानने की रीति ही भिन्न है। कोई चार आने की मजदूरी करता हो और उसे पाँच हज़ार की लाटरी का इनाम मिले तो उसे मजदूरी करने का भाव नहीं होता; उसके भाव में व विचार में परिवर्तन हो जाता है। उस प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष का अन्तरङ्ग, संसारभाव से मुक्त ही रहता है। दृष्टि में बदलाव आये बिना धर्मात्मा की पहचान नहीं होती। आत्मा का यथार्थभान होवे, उसे अन्तर में बलवान विवेक विद्यमान है। स्व एवं पर वस्तु को उसके लक्षण द्वारा भिन्न जानते हैं, अन्तरङ्ग में निर्दोषदृष्टि है। मैं पूर्ण शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा हूँ। पुण्यादि एवं देहादि की रागरहित शुद्धता का भाव ज्ञानी सदा कायम रखता है। ऐसा धर्मात्मा गृहस्थभेष में हो, उनकी दशा की पहचान सामान्य जीव को होना कठिन है। लोग मानते हैं कि हम सत्य बोलें, ब्रह्मचर्य का पालन करें, दया-परोपकार इत्यादि करें तो उससे धर्म हो। इस प्रकार जगत को पुण्यभाव द्वारा एवं देह की क्रिया द्वारा कल्याण करना है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप जो भगवान आत्मा है, उसकी पहचान नहीं करनी। बन्धनभाव से मुझे लाभ होगा, ऐसा मानना मिथ्यात्व है। अनादि से अपना स्वरूप ही विपरीतरूप से माना है।

स्वभाव की भूल, वह धर्म की भूल; धर्म की भूल, वह असत् का आदर, यानी संसार एवं संसार के कार्यों का प्रेम है। इस विपरीत मान्यता को समझकर टाले बिना सच्चा हित कैसे समझ में आये ? शरीर की व्यवस्था इस प्रकार रखें तो दिक्कत नहीं होगी। हमने इसको ऐसा किया, हम संसार का इस प्रकार सुधार कर देंगे, हम ही ऐसा कर सकते हैं क्योंकि हम समाज सुधारक हैं, इत्यादि पर के कार्य जैसे मेरे से ही होते हैं – ऐसा अभिमान करके जो हर्षित होता है, उसे कोई सच्चे तत्त्व के स्वभाव की बात करें तो जल्दी से पसन्द न आवे। श्रीमद्जी ने कहा है कि **'जीव ने जगत के अभिप्राय के सहारे पदार्थ का निर्णय किया है किन्तु ज्ञानी को पहचानकर उनके अभिप्राय के सहारे एक बार भी आत्मा का निर्णय नहीं किया।'** जो देह का कार्य है, उसे आत्मा

का कार्य मानना – यह महा-अज्ञान है। इसके कारण पहले कई बार कहे जा चुके हैं। **८०.**

यहाँ पर शङ्काकार गहरायी से विचार करके तर्क करता है कि –

ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत नियम नहीं होय;
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहि कोय।।८१।।

ईश्वर सिद्ध हुए बिना, जगत नियम नहिं होय।
अतः शुभाशुभ कर्म का, भोग्य स्थान नहिं कोय।।८१।।

ऐसा फलदाता ईश्वर निश्चित न होवे तो जगत का कोई नियम न रहे और पुण्य -पाप के फल भोगने के स्थानक भी सम्भवित नहीं लगते तो फिर जीव को कर्म का भोक्तृत्व कहाँ रहा ? इस प्रकार शङ्का उठ रही है; अतः उसके सदुपाय के लिये प्रार्थना करता है। **८१.**

दिनाङ्क - ८-११-१९३९

कर्म का भोक्ता जीव नहीं है, – उस शङ्का का समाधान अब यहाँ शुरू होता है। जीव को कर्म का भोक्तापना अपनी भूल से किये हुए अध्यवसाय के कारण है – यह बताने के लिये सद्‌गुरु कहते हैं कि –

भावकर्म निज कल्पना, माटे चेतनरूप;
जीववीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडधूप।।८२।।

भावकर्म निज-कल्पना, तातैं चेतन-रूप।
जीव-वीर्य जब स्फुरित हो, ग्रहण करे जड़-धूप।।८२।।

प्रश्न - भावकर्म क्या है ?

उत्तर - आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्द है, उसे भूलकर राग-द्वेष का विकार मेरा है, – ऐसा मानना, रागरूप रहना – यह भावकर्म है। आत्मा की विकारी अवस्थारूप भूल का निमित्त पाकर कर्मरज चिपकती है, वह द्रव्यकर्म है। इस प्रकार द्रव्यकर्म का निमित्त जीव के राग-द्वेष हैं। जीव के राग-द्वेष, वह अशुद्ध अवस्थादृष्टि से जीव का भावकर्म है। आठ कर्म तो महीन रज है, वह निमित्त है। यहाँ यह कहना है कि यदि जीव बिल्कुल असङ्ग एवं शुद्ध ही हो तो कर्मरज का एवं रागादि का परस्पर निमित्तपना भी न होवे। जीव की विभावरूप दशा है, वहीं पर घातिकर्म, मोहकर्म निमित्त है। शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप की अवस्था में जीव अपनत्व की भ्रान्ति करता है; मैं रागी द्वेषी हूँ – ऐसा मानने की भूल करता है। निर्दोष शान्तस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा, वह मैं नहीं; किन्तु शुभ-अशुभवृत्ति, वह मैं और देहादि के कार्य मैं कर सकता हूँ – ऐसा मानता हुआ परवस्तु में राग द्वारा जुड़ता है। अतः जीव

को मिथ्यात्वकर्म के उदय में जुड़ने के कारण मिथ्या अभिप्राय का सद्भाव हो, तब तक अपने ज्ञानगुण में विपरीतता रहती है। आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध धर्म है। उसे भूलकर पुण्य-पाप,रागादि में एवं देहादि में सुखबुद्धि एवं पर में कर्ताबुद्धि होना, वह भ्रान्ति है; वह जीव का अवगुण है, वह कोई जड़ का कार्य नहीं है। अज्ञानतापूर्वक अपनी शान्ति को भूलकर जड़भाव में उलझ गया, वह अज्ञानरूप भावकर्म है। निमित्त में अपनी हयाती (उपस्थिति) माननेरूप उल्टी श्रद्धा, वह चेतन का विकार है। वह स्वरूप की भ्रान्ति है, इसलिए चैतनरूप है, फिर भी वह चेतन का नित्यस्वभाव नहीं है क्योंकि भान द्वारा वे दोष टलते हैं। राग-द्वेष का विकार मेरा है – ऐसा जिसने माना, उसने अपने आप को परभावरूप माना है। गाथा - ११५, ११६, ११७ में सच्ची दृष्टि का कथन आयेगा कि स्वरूप में मल, मैल, रागादि उपाधि नहीं है। उल्टा होकर पाँच इन्द्रिय, देहादि एवं विषय भोगों में सुखबुद्धि द्वारा जिसने भावकर्म को अपना माना, वह स्वयं को पररूप मानता है।

जो पाप को ही अहितरूप मानकर, पुण्य – शुभराग करने लायक मानते हैं, वे राग को अपना मानते हैं; वे पर को निजरूप करते हैं। चेतन की विकारी मान्यता, वह अपनी भ्रान्ति है; उसका नाम दर्शनमोह है। जीव में जो वीर्यशक्ति है, वह इस भ्रमणा का अनुसरण करके पुण्य-पापरूप शुभ-अशुभ अध्यवसाय में जुड़ता है। **'कर्ता का इष्ट, सो कर्म'** जीव ने जिसमें अपनत्व की कल्पना की है, उसमें जीव का वीर्य स्फुरायमान होता है। जो ठीक माना, उसमें उसका वीर्य अटका। **'रुचि अनुयायी वीर्य,'** जिसकी जिसमें रुचि, उसका उसमें रुकना होता है। जिसमें इष्टपना माना, उसमें उसका पुरुषार्थ होता है। पूर्वकर्म के उदय में जुड़ने से जीव की विभावरूप दशा होती है। अज्ञानी देहादि की जो क्रियाएँ होती हैं, उनको मैं करता हूँ – ऐसा मानकर राग में एकता करता है। जिस प्रकार लोहे का गर्म किया हुआ गोला पानी को पकड़ लेता है, उस प्रकार जीव राग-द्वेष से रञ्जित होने पर नवीन कर्मरज उसके क्षेत्र में आती है। अतः पुराने कर्म के उदय का निमित्त व जीव के राग का निमित्त – इन दोनों निमित्तों का योग होने पर नवीन कर्म एक क्षेत्र में बँधता है। नौका में छिद्र हो तो जल को अन्दर

आने की योग्यता है और उस नाव में पानी ग्रहण करने की योग्यता है; अतः पानी का आस्रव होता है।

जीव में पर को ग्रहण करने का स्वभाव नहीं है किन्तु पर्याय में ऐसी योग्यता है। जब तक जीव की भूल है, तब तक जीव की वह योग्यता है। जड़ स्वयं जीव को राग-द्वेषभाव की भूल नहीं करवाता। जड़ में प्रेरणा देनेरूप धर्म नहीं है किन्तु अज्ञानपूर्वक, जीव की भूल के कारण जड़ रजकण चिपकते हैं। यहाँ जीव, कर्म को ग्रहण करता है, वह निमित्त (उपचार; व्यवहार) का कथन है। जीव का वीर्य ज्ञान में अस्थिर होता है। ७९वीं गाथा में आशङ्का थी कि **'शुं समजे जड़कर्म के फळ परिणामि होय'** फल देनेवाला हो, उसे जीव कैसे भुगतता है – यह समझा रहे हैं। भूल एवं आवरण की बात अलग है। भूल होना, वह चेतन का विकार है और आवरण का जाना और आना, गलना एवं मिलना – यह पुद्गल का स्वभाव है। पुद्गल का बन्धस्वभाव है; जीव का मुक्तस्वभाव है। पुद्गल की प्रत्येक अवस्था उसके उपादान के कारण स्वतन्त्ररूप से होती है, फिर भी जीव का निमित्तत्व है। जीव अपनी अशुद्ध सत्ता से अनजान होता हुआ पुण्य-पाप-रागादि-देहादि का कर्ता होता है; उसके लक्षण को (गुण को) अपना गुण मानता है, उसका कार्य अपना मानता है। राग द्वारा जीव मान करता है, तब सूक्ष्म, जड़ रजकण उसका निमित्त पाकर स्वयं बन्धरूप होते हैं। जड़ के रजकणों का समूह, पुराने कर्म सत्ता में विद्यमान हैं, उनके साथ बन्धरूप होते हैं। जीव की जितनी राग-द्वेषरूप अज्ञानदशा की भूल हो, उतनी ही मात्रा में नवीन कर्मरज आकर चिपक जाती हैं। जिस प्रकार सूर्य का निमित्त पाकर मेघ (बादल), रङ्ग-बिरङ्गी सप्त-रङ्ग, मेघ-धनुषरूप परिणमित हो जाते हैं; उस प्रकार जीव, मैं रागरूप हूँ – ऐसा माने व अपने ज्ञान में अस्थिर हो, तब कर्म होने की योग्यतावाले रजकण स्वयं आकर बन्ध जाते हैं – ऐसा स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ज्ञान में है किन्तु कोई किसी के कार्य का कर्ता नहीं है। **८२.**

अब, भोक्त-पना के विषय में बताते हुए कहते हैं कि –

झेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय;
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय।।८३।।

जहर-सुधा समझे नहीं, जीव खाय फल पाय।
योंहि शुभाशुभ कर्म का, भोक्तापना जनाय।।८३।।

जगत को जल्दी से ग्रहण हो जाए, ऐसा सादा एवं सरल दृष्टान्त देकर समझाया है। जहर व अमृत, अफीम एवं मेवा-मिठाई – ये तो जड़पदार्थ हैं। ये स्वयं नहीं समझते कि हम खानेवाले को मृत्यु या दीर्घायु देवें किन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है कि उसे ग्रहण करनेवाले को उसका फल मिले। उस प्रकार जीव के शुभ-अशुभ कर्म भी अपने आप परिणमित होकर फल सन्मुख हो जाते हैं। उस समय जीव मानता है कि मैंने स्वाद लिया। जीभ तो रूपी जड़ है; चेतन अरूपी है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श – ये पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल का मीठा स्वाद जानने से, चेतन भगवान स्वादरूप नहीं हो जाता; कड़वाहट, ज़हर खाते समय ज़हरमय नहीं हो जाता, फिर भी अज्ञानी मानता है कि मैंने खाया, मैंने भुगता। इस प्रकार अपने ज्ञान में सुख-दु:ख भोगने की मान्यता की कल्पना करता है। जीव पर को भोगता है, यह निमित्त की – उपचार की भाषा है। जिस प्रकार छोटा बच्चा लकड़ी का घोड़ा बनाकर चलने के रास्ते पर खेल रहा हो। उससे उसका बाप कहे कि अपना घोड़ा दूर रख तो बच्चा समझ जाता है कि मेरे पिता यह लकड़ी मुझे दूर करने को कह रहे हैं। इस प्रकार पिता के कथन का आशय बालक समझ जाता है किन्तु यदि पिता उससे साफ-साफ सुना दे कि अपनी लकड़ी को मार्ग से दूर कर तो बालक को पसन्द न आये। इस प्रकार जीव को यहाँ कर्म का कर्ता – भोक्ता कहा है, यह निमित्त के आरोपपूर्वक पहचान कराने के लिये कहा है।

जीव स्वयं अरूपी ज्ञानमात्र है, ज्ञान का ही वह कर्ता है; पर का कुछ नहीं करता या पर को नहीं भोगता। ज़हर का कौर या अफीम का टुकड़ा या मीठे लड्डू का टुकड़ा जब मुँह में रखा, तब जीव ने जाना; पेट में गया, ऐसा जाना और विष्टा हो गयी, वह भी जाना। रागी जीव उसमें भोक्तापना मानता है कि मैंने स्वाद लिया, मैंने अमृत जैसा आहार खाया। इस प्रकार उल्टी मान्यता करता

है किन्तु ज्ञानी या अज्ञानी कोई पर को नहीं भोगता। अज्ञानी परवस्तु के राग में रुककर राग-द्वेषरूप होकर जानता है; अरागी ज्ञाता-दृष्टावन्त ज्ञानी अन्य सर्वपदार्थ को अपने से भिन्न ही जानते हैं। शक्कर का टुकड़ा या अफीम का टुकड़ा, कोई आत्मा में घुस नहीं जाता। पूर्व में भूल का निमित्त पाकर पुण्य-पाप के रजकण आठ कर्मरूप रहे हैं, उनके उदय समय जीव स्वयं को राग-द्वेषरूप मानता है और हर्ष-शोक का वेदन करता है – यही इसका भोगना है।

जिस प्रकार निर्मल शीशे में ज़हर व अमृत, सुवर्ण व विष्टा सहजरूप से दिखते हैं; उस प्रकार चेतन का कार्य तो (सिर्फ) जानना ही है; पर का कुछ करना या भोगना नहीं है। किन्तु अज्ञानी अज्ञानरूप से, भ्रान्तिरूप से मानता है कि यह मैंने किया। परमाणु का परिणमनस्वभाव कैसा है ? उसे जो जीव नहीं जानता, वह परवस्तु की अवस्था देखकर उसमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है। ढ़ाई रुपये के वज़न के बराबर का मेसूरपाक (एक मिठाई) का टुकड़ा मुँह में डाला। उसे ज़रा गीला करके उसका लोंदा मुँह से निकालकर देखो तो वह कैसा दिखता है ? – यह मालूम पड़ेगा। क्षणभर में मेसूर के परमाणु का बदलाव कैसा हुआ ? – यह दिखेगा। अज्ञानी इसमें प्रेम या ग्लानि करता है क्योंकि वस्तुधर्म को जब तक न जाने, तब तक परवस्तु को सुविधा या दुविधारूप मानकर उसे राग-द्वेषरूप देखता है। मैंने मनोज्ञ इष्टपदार्थ को भोगा अथवा मैंने कड़वे पदार्थ के स्वाद को भोगा – ऐसा मानता है किन्तु यह स्वाद चेतन में होता या जड़ में ? जड़ की अवस्था में होता है, फिर भी जीव उसमें रागी-द्वेषी होता है।

जिस प्रकार बीज स्वयं योग्यभूमि का निमित्त पाकर उगता है, फिर पकता है; उस प्रकार कर्म की स्थिति पूरी होने पर शुभाशुभकर्म यथासमय उदित होते हैं – यह उसका स्वभाव है। जिस प्रकार चातुर्मास में सब्ज़ी, तरकारी, भिण्डी इत्यादि उगते हैं, वे डेढ़ माह में फलते हैं और रायण (एक पौधा) के बीज में से फल दस-पन्द्रह साल में फलते हैं – ऐसा उसका स्वभाव है। उस प्रकार जीव पूर्वकर्म के शुभाशुभ उदय में रागपूर्वक जुड़कर अटकता है, तब नवीन कर्मरज का एक क्षेत्र में सञ्चय होता है; उसकी संख्या, जाति, रस, और स्थिति अनुसार वे रजकण बन्धत्व को प्राप्त होते हैं। वे उनकी स्थिति पूरी होनेपर फलते हैं।

यह अपने काल में परिणमन करते हैं; उस प्रकार परिणमित होने का सामर्थ्य उनमें है। जीव उसमें इष्ट-अनिष्टपना, कर्ता-भोक्तापना मानता है। अफीम का टुकड़ा नहीं जानता कि इसको असुविधा दूँ किन्तु उसमें कड़वाहट की शक्ति अपने आधार से रही है। अफीम के रजकणों को पता नहीं है कि मुझे इसकी मृत्यु करवानी है तथा आम के रस को पता नहीं है कि इसको मैं लालिमा और शातारूप सन्तोष प्राप्त करवाऊँ किन्तु उसके स्वभावानुसार ही उसका परिणमन होता है। काले पत्थर का टुकड़ा मुँह में रखो तो वह पिघलेगा नहीं किन्तु अफीम का अथवा शक्कर का टुकड़ा मुँह में पिघलता है क्योंकि उसका स्वभाव पिघलने का है। इस प्रकार शुभ-अशुभकर्म, उनके भाव से प्रगट दिखते हैं। उनको जीव, राग -द्वेषरूप होकर जानता है, तब व्यवहारभाषा में उसका भोक्तापना कहा जाता है। जड़ की अवस्था को जीव जाननेवाला है और पुण्य-पाप जानने योग्य हैं, – ऐसी परस्पर निमित्त-नैमित्तिक योग्यता है; अत: जीव को अज्ञानभाव से किये हुए कर्मों का भोक्तापना व्यवहार से कहा जाता है।

दिनाङ्क - ९-११-१९३९

जड़पदार्थ को खबर नहीं है कि मुझे इसको फल देना है। जिस प्रकार शक्कर एवं अफीम, प्रत्येक चीज़ अपना-अपना फल देवे, उस प्रकार पूर्व के कर्म जो सत्ता में पड़े हैं, वे वर्तमान में प्रगट होने पर अज्ञानी राग-द्वेषयुक्त होकर जानता है और ज्ञानी रागरहित रहकर जानता है। अज्ञानी को कर्म के बन्धभाव का आदर होने के कारण पूर्व में भूल से अज्ञानभावपूर्वक परपदार्थ में राग-द्वेषपूर्वक ममत्वबुद्धि की थी, उससे कर्मबन्ध हुआ था, वह यथाकाल फलित होता है। जिस प्रकार ज़हर खाये और उसका फल देह में दिखता है, उस प्रकार। **८३.**

अब, कहते हैं कि अज्ञानभरी मान्यता में कर्मभाव का आदर होने के कारण संसारी जीवों को उसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की विचित्रता दिखती है –

एक रांक ने एक नृप, ए आदि जे भेद;
कारण विना न कार्य ते, ते ज शुभाशुभ वेद्य।।८४।।

एक रंक अरु एक नृप, इत्यादिक जो भेद।
कारण बिना न कार्य हो, यही शुभाशुभ वेद।।८४।।

कोई जीव जन्म से निर्धन, दु:खी; कोई जीव जन्म से धनवान, सुखी; कोई जीव जन्म से रोगी, कोई नीरोगी इत्यादि कर्मफल की विचित्रता है, यह वस्तु का स्वभाव है। सूर्य की इच्छा नहीं है कि मेघबादल में मेघधनुष दिखे किन्तु यथाकाल पर ऐसा होना सम्भव है। इसमें किसी को कुछ करना-धरना नहीं है। इस प्रकार ईश्वर किसी को रङ्क या किसी को राजा बनाता हो, ऐसा नहीं दिखता। मुँह में अन्न का कौर डाला, उस अन्न को पता नहीं है कि मुझे कुछ प्रतिशत खूनरूप होना है; कुछ प्रतिशत मांस, वीर्य, मल, मैल या हड्डीरूप होना है, फिर भी उसकी

योग्यतारूप परिणमित हो जाता है। कौर में मक्खी आये, उसे पाँच मिनट में उल्टी करने की इच्छा नहीं है; फिर भी अन्दर देह में खलबली होती है और उल्टी हो जाती है। कहो ! क्या ईश्वर उसे फल देने की क्रिया करता होगा ? सूक्ष्मदृष्टि से जड़प्रकृति की विचित्र महिमा सोचोगे तो उसका फल, उसका प्रसङ्ग, उसके सब गुण, उसका गलना-मिलना, यह उसी का ही स्वभाव है। फिर भी उसके प्रति जो जीव रुचि करता है, उसे उसके फल का प्रसङ्ग बनता है किन्तु ईश्वर फल देने आये – ऐसा नहीं है। और यदि जीव औंधापन करे ही नहीं तो शुभाशुभकर्म बलात्कार (जबरन) से फल देंगे नहीं। जीव उसमें इष्ट -अनिष्टपने की कल्पना करता है और ज्ञातापन भूलकर, उसमें कर्ता-भोक्तापना मानता है। जीव जैसा रागभाव करता है, वैसे जड़कर्म आकर बँधते हैं। अत: मनुष्यत्व के योग्य जिस प्रकार के भाव किये हो, उस प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के संयोगवाला मनुष्यभव जीव प्राप्त करता है। ढोर (जानवर), नारकी या देव के भव के भाव करे तो वैसे संयोग पाए; कुरूपपना, सुरूपपना, निर्धनपना या सधनपना के संयोग उस प्रकार मिलते हैं। देव की आयु पूर्ण करके जीव तिर्यञ्च में भी जाए, इस तरह जीव को अनेक देह धारण करनी पड़ती हैं। सारे जीव जाति अपेक्षा से एक समान हैं, फिर भी पुण्य-पाप के कारण, शुभाशुभकर्म की तारतम्यता के कारण फ़र्क दिखता है। उस प्रकार सभी मनुष्यों को मनुष्यपना समान है, फिर भी कोई सुखी, कोई दु:खी आदि अनेक विचित्रताएँ दिखती हैं। कोई बिल्कुल कायर, बुद्धिहीन हो, फिर भी लखपति और श्रीमन्त होता है और महाबुद्धिवन्त एवं सज्जन होने के बावजूद निर्धन भी होता है। स्त्री सुन्दर व चतुर हो, उसका पति मूढ़ सरीखा एवं कुरूप होने के बावजूद स्त्री पतिव्रता होती है और पुरुष सुन्दर, बुद्धिवन्त होवे, फिर भी उससे विपरीत होती है। इस प्रकार प्रत्येक जीवों के पुण्य-पाप के फल के संयोगों की विचित्रता जगत में देखने में आती है, जो कि पुण्य-पाप के फल हैं। इस पर से कहना है कि जो जीव पुण्य-पाप में राग-द्वेष करके चलते हैं, उन्हें अपना अकर्तापना, निर्दोषपना, ज्ञातापना कैसा है ? – इसका भान नहीं है। ऐसे जीवों ने सुविधा के हेतु पुण्य को ठीक मान रखा है; उनको शुद्ध चैतन्य आत्मा का अनादर ही है। पुण्यरूप जड़भाव का जिसे आदर है, वे निगोद में ही जानेवाले

हैं। पुण्य व पाप उपाधिभाव हैं, उपाधिजन्य संयोग हैं। उन्हें ठीक मानना, उनकी रुचि करनी – यह स्वयं अपराध है, स्व की हिंसा है। पुण्य से धर्म माननेवाले लोग निर्दोषतत्त्व की प्रतीति बिना मरकर कहाँ जायेंगे ? ज्ञानी कहते हैं कि राग की रुचिवाले का संसार अनन्त काल तक रहनेवाला है। आत्मा में भेद नहीं है, उपाधि नहीं है। किन्तु स्वयं अपने आप को भूलकर शुभाशुभकर्म का कर्ता हुआ, इससे वर्तमान में उसका फल प्रत्यक्ष दिखता है। कारण के बिना कार्य कैसे बने ? एक जीव जन्म ले, तब से मृत्यु को प्राप्त हो तब तक दु:ख के संयोगों में न फँसे, ऐसा भी बनता है। शालिभद्र की बात है कि पैर के तलवे घिसे नहीं थे, इतनी सुकोमलता थी। उन्होंने ठण्ड व गरमी भी सहन नहीं की थी, ऐसे सुखी गृहस्थ भी होते हैं और एक जन्म लेते ही दु:खी होता है। ये शालिभद्र सुकोमल गृहस्थ महापुण्यवन्त होते हुए भी जैसे ही सुना कि मेरे सिर पर मालिक, राजा ! मैं पराधीन ! पराधीनता का भान हुआ कि तुरन्त ही पुण्य की धूल छोड़कर मुनि होकर चल पड़े। **८४.**

अब, यहाँ पर फलदाता ईश्वर नहीं है, ऐसा कहते हैं –

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर;
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर।।८५।।

फलदाता ईश्वर बने, इसमें नहीं जरूर।
कर्म स्वयं से परिणमे, होंय भोग से दूर।।८५।।

प्रथम कहा कि राग-द्वेष, पुण्य-पाप मेरे, – ऐसी भ्रांति की कल्पना के कारण कर्म अपने आप बँधते हैं। अत: उपचार से कहा कि जीव, कर्म को ग्रहण करता है और भोगता है। उस फल के भुगतान के विषय में '**झेर सुधा समजे नहि, जीव खाय फळ थाय,**' – ऐसा कहकर अब कहते हैं कि फलदाता ईश्वर की उसमें कुछ जरूरत नहीं है। जिस प्रकार अमृत व ज़हर; उस प्रकार शुभअशुभकर्म

भी उसके स्वभावरूप परिणमित होते हैं। ज़हर व अमृत फल देकर नि:सत्त्व होते हैं, उस प्रकार कर्म का फल आने पर वे नि:सत्त्व होते हैं। लोग कहते हैं कि लकड़ी जल गयी किन्तु विचार करने पर समझ में आता है कि लकड़ी का पिण्ड जो परमाणु का समूह था, वह अग्नि में जलकर राखरूप हो गया; उसमें किसी भी रजकण का नाश नहीं हुआ किन्तु अवस्था बदली है। सूक्ष्म रजकणरूप से वे जगत में ही रहते हैं।

शरीर की मृत्यु व आयुष्यकर्म के रजकणों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वे रजकण पुण्य-पापरूप जीव की भूल के कारण बँधे थे। उस आयुष्यकर्म की स्थिति अनुसार शरीर का टिकना होता है। मान लो कि इस देह को पचास साल टिकना हो तो उसके कारण आहार आदि संयोग मिल ही जाते हैं। आयुष्यकर्म की स्थिति पूरी होने पर देह के रजकण जलकर, सड़कर अलग परमाणुरूप से चाहे जहाँ मिल जाते हैं। जो 'है' उसका नाश नहीं होता और जो न होवे, वह नया उत्पन्न नहीं होता। जो हो, वह मिटे नहीं किन्तु टिककर पलटता रहता है किन्तु उसका अस्तित्व सर्वथा मिटता नहीं है। लकड़ी को जलने में ईश्वर की जरूरत नहीं है। बाँस के घिसने से वन में अग्नि होती है और उससे बहुत से प्राणी व पेड़ों का नाश होता है किन्तु उन परमाणुओं की अवस्था मिट्टीरूप से तो रहती है; उसमें ईश्वर को करनेरूप या फल देनेरूप नहीं होता। रूई की २५ मन की गाँठ जल्दी सुलग जाती है किन्तु दबाकर भरा हुआ बण्डल जलने में देर लगती है। उस प्रकार किसी कर्म में फल की अधिक शक्ति तो किसी में थोड़ी शक्ति होती है; किसी में ज्यादा काल तो किसी में थोड़े काल वह शक्ति रहती है, इत्यादि समझना। अंगूठे में कील चुभने का दर्द हो, उसमें पीड़ा का क्षेत्र छोटा, रजकण थोड़े किन्तु उसकी वेदना भारी; उस प्रकार जो-जो कर्म का स्वभाव है, वह-वह उस प्रकार उसका फल देकर अलग हो जाता है; जिस प्रकार शक्कर की डली मुँह में रखी, फिर गलकर उसके रजकण भिन्न हो जाते हैं, उस प्रकार। शक्कर की डली कोई अफीमरूप स्वाद नहीं देती; उस प्रकार पापरूप बुद्धि द्वारा बँधे हुए कर्म पापरूप ही भोगने पड़ते हैं किन्तु वे सब स्थिति की मर्यादावाले हैं; इसलिए अपनी स्थिति पूरी होने पर छूट जाते हैं। पूर्वभव में

पाप के जो अशुभपरिणाम किये थे, उसका फल वर्तमान में दिखता है। इसका कोई इंकार करे कि मुझे ये नहीं चाहिए किन्तु मुझे पुण्य का ही फल चाहिए – ऐसा तो बन नहीं सकता। पूर्वभव में जो अशुभपरिणाम किये थे, उसका फल आने पर उसका इंकार करे, अरुचि करे – वह अपने अस्तित्व का इंकार करता है क्योंकि पूर्व में मैं नहीं था, मैंने पाप किये ही नहीं है – ऐसा वह मानता है। अतः अपने अस्तित्व का, आत्मा का ही इंकार करता है। किन्तु मैं पूर्व में था, यह मेरी भूल का फल है; यह भूल मेरा स्वभाव नहीं है, पुण्य-पापवाला मैं नहीं हूँ – ऐसा मानकर राग से रहित, कलुषितता से भिन्न रहकर ज्ञातारूप में जाने तो नवीनकर्म का बन्ध नहीं होकर, वे शुभ अशुभकर्म अपना फल दिखाकर छूट जाते हैं।

फल देने का स्वभाव जड़कर्म में है और उसे जानने का स्वभाव जीव का है। जड़ का फल भोगने का स्वभाव जीव का नहीं है किन्तु जो जीव स्वयं को भ्रान्तिरूप मानकर राग-द्वेषवाला होता है, वह मानता है कि मैं सुखी-दुःखी हूँ, मैं पुण्यवन्त हूँ, मैं पापी हूँ। इस प्रकार कर्मप्रकृति के फल में स्वामित्व की स्थापना करके वह रति-अरति करता है। पुण्य सिर्फ संयोग देता है; पुण्य के संयोग ऐसा नहीं कहते कि हमें भोगो। इन संयोगों में जिसे पुण्य के फल मीठे लगें और उन्हें मैं भोगता हूँ – ऐसा जो मानते हैं, वे महा-अज्ञानी हैं। पुण्य के संयोग ऐसा नहीं कहते कि हमारे निमित्त से तू राग कर, हर्ष कर, हमारा स्वामी हो जा। फिर भी जीव उसमें कर्तृत्व की, अपनत्व की, भोक्तृत्व की कल्पना करता है; वह ज्ञान की भूल करता है। जिस प्रकार किसी को पापसंयोग की प्रतिकूलता आयी, यानी शरीर में क्षयरोग हुआ, युवान बेटी विधवा हो गयी, पुत्र मर गया, घर जल गया – ये सारे संयोग कहते नहीं हैं कि तू द्वेष कर, दुःख की कल्पना कर, ममता कर ! जड़कर्म भी नहीं कहते कि तू भूल कर किन्तु जीव को परवस्तु में ममता है, राग है, इसलिए वह उसको ठीक-अठीक मानता है। स्वरूप में भ्रान्ति होने से जीव ने ऐसा माना है।

कोई कहता है कि पुण्य भोगे बिना टलते नहीं हैं तो यह ठीक नहीं है। पुण्य तो चैतन्य से भिन्न, विकारी, विजातीय वस्तु है। उस परायी उपाधि को भोगने

का भाव तू क्यों रखता है ? उसके प्रति प्रेम तो चेतन का स्वयं महा-अपराध है। पुण्य का कार्य तो संयोग देना है परन्तु किसी को जबरन् राग करवाए, ममता करवाए – ऐसा नहीं होता। परन्तु जीव यदि उनमें सुखबुद्धि, मोहभाव करे तो नवीन कर्मबन्ध होता है – ऐसा पुद्गल अजीवद्रव्य का स्वतन्त्र स्वभाव है और वे उनकी स्थिति (काल) पूरा होने पर फल दिखाते हैं। अत: फल देने में ईश्वर की जरूरत नहीं है। ८६वीं गाथा में भी इस विषय में बहुत खुलासा आयेगा। **८५**

यह गाथा बहुत गम्भीर व गहन है :-

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव;
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव।।८६।।

उन-उन भोग्य-विशेष के, स्थानक द्रव्य-स्वभाव।
गहन बात है शिष्य यह, कही संक्षेप बताय।।८६।।

गुरु ने शिष्य को लक्ष्य में लिया है और विशेष माहात्म्य के लिये तत्त्व की गम्भीरता, स्वाधीनता व भिन्नता किस प्रकार है ? निमित्त-नैमित्तिकपना किस प्रकार है ? तत्सम्बन्धित द्रव्यानुयोग की गहरी बात कह रहे हैं। इसमें बताते हैं कि जीव जिस-जिस परिणाम का कर्ता जिस-जिस प्रकार से होता है, उस-उस प्रकार के कर्मफल भोगने के क्षेत्र इस विशाल विश्व में हैं। यह द्रव्य का स्वभाव है। उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय, वह उत्कृष्ट शुभगति है। परमार्थतत्त्व की दृष्टिसहित, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभरागरहित शुद्धभाव के उत्कृष्ट पवित्र परिणाम होने पर जीव का स्वभाव से ऊर्ध्वगमन होता है; वह परमार्थरूप शुद्धगति है। यानी संसार सम्बन्ध छूटकर मुक्तदशा में पूर्णशुद्ध सिद्धदशा में जाना, रहना होता है। वीतरागभाव को शुद्धभाव की अपेक्षा से उत्कृष्ट शुभपरिणाम भी कहा जाता है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १०-११-१९३९

आत्मा अनादि अनन्त है। उसकी अज्ञानरूप अवस्था हो, तब रागरूप, पुण्य-पापरूप, अनेक विकाररूप भङ्ग उनमें होते हैं। पुण्य के एक ही प्रकार के परिणाम नहीं होते किन्तु असंख्य प्रकार के हैं एवं पाप के अध्यवसाय भी असंख्य प्रकार के हैं। यह अखण्ड जीवद्रव्य की विशेषअवस्था है; उसी समय अजीवद्रव्य की अनन्त शक्तिरूप असंख्य अवस्थाएँ पुण्य-पाप के संयोगरूप (योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में) होती हैं। जीव, स्वभाव से अखण्ड, पूर्णशुद्ध, स्वाधीनतत्त्व है; वह भूतकाल में निर्दोष ज्ञानस्वभावरूप मुक्त नहीं था किन्तु बँधा हुआ ही था। पुण्य-पापरूप अवस्था में अनेक क्षेत्र में कहीं टिका है, इसका विचार करने पर निश्चित होता है कि पुण्य-पाप, देहादि की क्रिया में रागरूप से जुड़ने से देव, मनुष्य, नरक, तिर्यञ्च के भव जीव ने पूर्व में अनन्त बार किये हैं। जैसा विकार करे, उस प्रकार की अवस्था की योग्यतावाले स्थान और उस प्रकार के पुद्‌गलद्रव्य के भोगनेयोग्य स्थानकों का संयोग होना ही चाहिए, यानी जीव अज्ञानभावपूर्वक जड़कर्म का कर्ता निमित्तरूप से हुआ, उस अवस्था को भोगने के स्थान भी चाहिए। ये स्थानक चार गति हैं। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च (पशु आदि) और नरक। इस प्रकार चार गति की अशुद्धपर्याय में पुण्य-पापरूप संयोग के स्थान का भुगतान होता है और उसे भोगने के लिये लायक स्थान में जाना पड़ता है; उस फल को देने की शक्ति स्वयं पुद्‌गल में है।

चैतन्य का स्वभाव शुद्ध है किन्तु अपने आप को भूलकर परवस्तु में सुख, सुविधा की बुद्धि करता है, परस्वभाव में अपनी हयाती मानता है; अतः चार गति के भव के भाव से जन्म-मरण करने पड़ते हैं। एक देह की अवस्था छोड़कर दूसरी देह में जाना पड़ता है। शुभ-अशुभ यानी अशुद्धभाव जीव करे, तब उस प्रकार की कर्मरज आकर स्वयं चिपक जाती है और उचित समय पर उसका फल भोगने के लिये ऐसे स्थान में जीव जाता है। आत्मा स्वाधीन है, ऊर्ध्वगामी स्वभाववाला है। फिर भी अपनी स्वाधीनता, निर्दोषता जानी नहीं है और परवस्तु

में सुखबुद्धि बनी हुई है, तब तक पराधीनता है और इसलिए आत्मा का भवभ्रमण में भटकना हो रहा है। इसमें ईश्वर कोई कर्ता या फलदाता नहीं है। जीव जब समस्त रागादि उपाधि से मुक्त होता है, तब शाश्वत, स्वाधीन सुखदशा में स्वयं सिद्धभगवान होने पर सिद्धशिला नामक आठवीं पृथ्वी पर रहता है। उस क्षेत्र में रहता है – ऐसा कहना व्यवहार है; निश्चय से तो शुद्ध आत्मा अपने आत्मा के शुद्धप्रदेश में ही रहता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य – ये स्वचतुष्टय प्रगट होने पर चैतन्य आनन्दमूर्ति पूर्ण केवलज्ञानस्वभावरूप से अपने में रहता है।

कर्मोपाधि से मुक्त होने पर आत्मा का ऊर्ध्वगामीस्वभाव प्रगट होता है। जिस प्रकार अरण्ड या मूँगफली के छिलके धूप से सूखने पर अन्दर के बीज स्वयं उछलते हैं, उस प्रकार पुण्य-पापरूप कर्म के असर से, द्रव्य से व भाव से जीव मुक्त होने पर जड़प्रकृतिरूप मूँगफली का छिलका ज्ञानध्यान की अग्नि द्वारा सूखता है। इससे वह कर्मप्रकृतिरूप मूँगफली स्वयं फटकर शुद्ध आत्मप्रदेश भिन्न पड़ जाते हैं और बीजरूप चैतन्यभगवान स्वयं लोकाग्र में पञ्चम गति - सिद्धगति - स्वगति में जा पहुँचता है। जिस प्रकार तुमड़ी पर से लेप दूर होने पर हलकी हो जाने से पानी में से ऊपर आ जाती है तथा जिस प्रकार धुआँ ऊपर आता है, उस प्रकार आत्मा कर्म उपाधि के सङ्गवाला नहीं होने से, सङ्ग छोड़े तो हल्का होने पर अपना सहज ऊर्ध्वस्वभाव प्रगट होकर पूर्ण मुक्तदशा को पाता है।

अब, चार गति के कारण कहने में आ रहे हैं। शुभपरिणाम, पुण्यपरिणाम ये कषायभाव हैं। ये दया, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, परिग्रह आदि पुण्य परिणामों का कर्ता जीव होता है, तब इस पुण्यबन्ध के फलस्वरूप इन्द्रियसुख भोगने का स्थानक देवलोक है, फिर भी वहाँ पराधीनता है, उसकी भी मर्यादा है। तीर्थङ्कर नामकर्म की शुभप्रकृति है – वह लोकोत्तर पुण्य है और आत्मज्ञान की भूमिका में सहजरूप से बँध जाती है। सर्व लोक में इस प्रधान पुण्यप्रकृति का बन्ध होने का कारण उत्कृष्ट लोकोत्तर पुण्यपरिणाम है; वह तो शुद्ध आत्मस्वरूप का भान हो, वहीं पर होता है। सभी जीवों को धर्म की प्राप्ति करवाऊँ, यह उच्च प्रकार का प्रशस्तराग है किन्तु साथ में भान है कि यह राग मेरा नहीं है, इससे मुझे लाभ नहीं है। इस प्रकार अविरोधरूप से सहजस्वभाव के भान में बँधा हुआ पुण्य भी उत्कृष्ट

होता है। तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधनेवाले जीव का (आत्मद्रव्य का) वीर्य भी बहुत बलवान होता है।

गति माने जाना-चलना, ऐसा शब्दार्थ बनता है। निश्चय से तो जीव जैसे भाव करे, वैसे भावरूप उसकी गति होती है। राग-द्वेष करने में पुद्गल कर्मप्रकृति जीव को निमित्त होती है। रागादि संसार से मुक्त होने में कर्मप्रकृति के निमित्त जरूरत नहीं है क्योंकि समस्त द्रव्यों के असर से मुक्त होने पर कर्मोपाधि से मुक्त हुआ जाता है। आत्मा का ज्ञान होने के बावजूद भी जब तक पूर्वभूल के कारण बँधे हुए शुभ -अशुभकर्म जब फलदायी होते हैं और उसमें जितने अंश से राग-द्वेषपूर्वक जुड़ान होता है, उतनी हद तक नवीन पुण्य-पाप का बन्ध होता है और भवभ्रमण होता है। निश्चयगति तो पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव किये, वह है। जिस क्षण शुभभाव हुआ, वह शुभगतिरूप है और अशुभभाव हुआ, वह अशुभगतिरूप है। जिस क्षण राग-द्वेषरूप व्यवहार किया, उसी क्षण कर्मपरमाणु की छवि खिंच जाती है। पुण्य की अपेक्षा देवभव को उच्च गति कही है। उत्कृष्ट शुभ-अध्यवसाय, वह उत्कृष्ट शुभगति है और उत्कृष्ट अशुभ-अध्यवसाय, तीव्रसंक्लेश, दुष्टभाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, व्यभिचार इत्यादि दुष्ट अध्यवसाय के कारण नरकगति में जाना पड़ता है। नारकी का भाव किया तो नरक का भव हुआ, मध्यम शुभ और मध्यम अशुभ – इस प्रकार मिश्र से मध्यमगति है; उस मिश्रभाववाले को मध्यलोक में मनुष्यगति है। इसमें कपट के भाव करने पर तिर्यञ्च-पशु की गति उत्पन्न होती है, वह मध्यमगति के पेटे में समाविष्ट है। मुख्यतया तो जीव के परिणाम ही गति हैं; उसमें जड़कर्म निमित्त है। अत: उत्कृष्ट शुभद्रव्य का ऊर्ध्वगमन, उत्कृष्ट अशुभद्रव्य का अधोगमन, और शुभ-अशुभ मिश्रद्रव्य की मध्यगति – इस प्रकार का द्रव्य का विशेष स्वभाव है। वे बन्धस्थान हैं और इनको भुगतने के स्थान लोक-परलोक आदि हैं। शुभ-अशुभ व मिश्र (मध्यम) प्रकार के भाव – ये तीनों कषायभाव हैं, उनसे आत्मा को कोई गुण नहीं है। जीव अपने शुद्धस्वभाव को भूलकर परवस्तु में सुखबुद्धि करता है; कर्ता-भोक्तापने की कल्पना करता है, इसीलिये पुण्य-पाप भोगने के, भवभ्रमण के स्थान हैं – ऐसा निश्चित होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि नरकगति इस लोक से भिन्न नहीं हो सकती। तो

इसका उत्तर है कि जो जीव अत्यन्त बुरे दुष्कृत्य करता है, पापकार्य करते समय सामनेवाले जीव को क्या दु:ख होता है ? – इसे देखने का धैर्य स्वयं नहीं रखता और खुद को सुविधा हो, ऐसी एक पक्ष की दुष्टबुद्धि में एकाग्र होता है, – ऐसे क्रूरपरिणामों का उसे फल निरन्तर अनन्त असुविधा भोगने के स्थान इस लोक में नरकगति अधोलोक में है – ऐसा बहुत प्रकार के न्याय से सिद्ध होता है। उत्कृष्ट शुभपरिणाम का फल स्वर्ग, मध्यम शुभपरिणाम का फल मनुष्यगति और मध्यम अशुभभाव का फल तिर्यञ्चगति है। शुभ व अशुभभाव दोनों परमार्थ से अशुद्धभाव हैं। आत्मा जितनी मात्रा में परभाव की अशुद्धता से भिन्न होवे, उतनी मात्रा में उपाधि (कर्मबन्धन) से मुक्त होता है। अशुद्धता या अस्थिरता से सर्वथा भिन्न होने पर सर्वथा मुक्त, शुद्ध होता है। चार गति की अशुद्धपर्याय में जीवों का भटकना होता है। वे जीव की शुद्ध अवस्थाएँ नहीं हैं किन्तु अज्ञानभाव से जीव मानता है कि मैं मनुष्य, मैं स्त्री, मैं वृद्ध, मैं देव, मैं पशु, मैं नारकी हूँ। इस प्रकार चौरासी लाख जीवयोनि में अनन्त काल से जीव ने भूलरूप परिभ्रमण किया है। उसमें मिश्रपरिणाम होने तो बहुत दुर्लभ हैं क्योंकि अनन्त जीवराशि में से मात्र संख्यात जीवों को मध्यम परिणाम होते हैं। मनुष्य की संख्या तीनों काल संख्याती है, मर्यादित है। मनुष्यभव दुर्लभ होने के कारण शुभाशुभ मिश्रपरिणाम से जीव, व्यवहार से मनुष्य होता है। मनुष्यगति इस मनुष्यभव के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की भूमिका का संयोग देती है। शुभअशुभ व मिश्ररहित मात्र शुद्धस्वभाव – वह मोक्ष, और शुद्धस्वभाव का अनादर – वह निगोद। वहाँ अनन्त काल आलू, शकरकन्द, कन्दमूल आदि में रहना पड़ता है। सत् का अनादर माने मूढ़त्व का आदर है और उसका फल निगोदगति है। आत्मा शुद्धज्ञाता, असङ्ग है – यह बात जिस जीव को न जँचे और कुछ पर का करने का होना चाहिए; ऐसा करें तो हम कुछ पायेंगे, कुछ पुण्य होवें तो धर्म होगा, ऐसा कुछ करने का भाव वही ज्ञातापने का अनुत्साह व अनादर है। ज्ञाता का जो उत्कृष्ट (तीव्रता से) निषेध है, उसका फल निगोद है। वहाँ पर अनन्ती चैतन्यशक्ति आच्छादित हो जाती है; ज्ञानस्वभाव की महा-अशातना का फल अनन्त काल का निगोदपना है। अशुभपरिणाम, वह अशुभगति, वहाँ भी संयम नहीं है। शुभपरिणाम, वह शुभगति,

देवगति तथा युगलिया में संयमस्थान नहीं है। राग की वृत्ति उत्पन्न होवे, उसे टालने का अवकाश नहीं है। वहाँ जिसे आत्मा का यथार्थ भान होवे, वह अपने सम्यक्अभिप्राय की स्थिरता कायम रख सके, उतना ही पुरुषार्थ कर सकता है; विशेष नहीं।

मनुष्यलोक में, मनुष्यगति में सर्वोत्कृष्ट संयमस्थान है। शुभ-अशुभकर्म भोगने में निमित्तरूप असंख्यात स्थान तीन लोक में हैं। मनुष्यक्षेत्र सरल, पवित्र व मध्यस्थ परिणामवाले जीवों का उत्पत्तिक्षेत्र है। पशु, ढोर के शरीर वक्र एवं आड़े हैं; यह पूर्व के वक्रभाव (कपटभाव) बताते हैं। पशु की देह से सीधी मोक्षदशा प्राप्त नहीं होती। पूर्व में उल्टे, वक्रपरिणाम करके ढोरभव का बन्ध बाँधा है। शरीर के ऐसे आकार से भी परमार्थ समझना चाहिए। समस्त विश्व का आकार पुरुषाकार है। ढोर (पशु, तिर्यंच) आड़े देहवाले हैं; उनको सीधे खड़ेरूप में देखे तो उनको भी क्रमशः मस्तक, फिर अन्य अङ्ग यथास्थान नीचे आयेंगे। जैसा मनुष्य का आकार है, वैसा लोक का आकार है। **'जैसा पिण्ड में वैसा ब्रह्माण्ड में।'** विश्व के सारे भाव एक साथ ज्ञान में जानने में आ जाए, ऐसी आश्चर्यकारी घटना है। समस्त विश्व का ज्ञान एक समय मात्र में एक साथ जान ले, ऐसा स्वभाव प्रत्येक आत्मा का है।

संज्ञी पशु शुद्धभाव करे तो पञ्चम गुणस्थान, यानी संयमासंयम स्थान तक पहुँच सकता है; उसे छठे गुणस्थानक की स्थिरता नहीं हो पाती। ज्ञानी मनुष्य राग की वृत्ति का छेदन करके, यथार्थ विवेक की जागृति करके, ज्ञान की स्थिरता में उग्रता से एकाग्र – लीन होवे तो सर्व कर्म उपाधि से मुक्त होकर स्वभाव में ऊर्ध्वगमन होकर, लोकाग्र में अनन्त सुख के शाश्वत आनन्द की लहर में निश्चयरूप से बिराजमान होते हैं। पाँचों गति व उनके स्थान का कोई कार्य नया नहीं है। जो है, वह जाता नहीं है और जो नहीं है, वह नया नहीं होता। जड़ मिटकर चेतन नहीं हो जाता और चेतन जड़ नहीं होता। जो जीव अपने स्वरूप में भ्रान्ति करके पुण्य-पाप के परिणाम का कर्ता होवे, उसे शुभाशुभभाव भोगने के निमित्तरूप स्थानक विद्यमान हैं। ये जड़द्रव्य के स्वतन्त्र स्वाभाविक कार्य हैं। उसे जाननेवाला चैतन्य आत्मा तो उससे भिन्न, स्वतन्त्र है, फिर भी राग द्वारा कर्मफल में उसका

जुड़ान होता है। किन्तु इसमें ईश्वर ने कुछ भी नहीं किया है। आत्मा का स्वभाव, ज्ञान है; वह अनादि अनन्त है। आत्मा की संसारावस्था अनादि सान्त है और मोक्ष अवस्था सादि अनन्त है।

कल दीपावली पर्व है। सर्वज्ञ महावीर भगवान २४६५ वर्ष पूर्व इस दिन मोक्ष पधारे थे। आत्मा के पूर्ण आनन्द में, शाश्वत सुखस्वरूप में वर्तमान में वे विराजमान हैं, वे धन्य हैं। धर्मात्मा उनकी भक्ति करते हुए पुरुषार्थ उछालकर भूत नैगमनय से कहते हैं कि प्रभु आज निर्वाण को प्राप्त हुए, इसका महोत्सव कर रहे हैं। यह अपने पुरुषार्थ का महोत्सव है। धर्मात्मा को जहाँ-तहाँ इष्ट प्रसङ्ग का विकल्प उठता है और इस प्रकार सत् का बहुमान करते हैं। जिस प्रकार सिद्धभगवान की शुद्धपर्याय पूर्णरूप से खिली है, उस प्रकार उन्हें पूर्ण शुद्ध होना है। अत: (वे) अपना काल वीतराग भगवन्तों के बहुमान में बिताते हैं और अपना पुरुषार्थ उठाते हैं।

मनुष्यपर्याय के उत्कृष्टकाल की स्थिति तीन पल्य की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। नरकगति में उत्कृष्ट ३३ सागरोपम और जघन्य दस हज़ार वर्ष। देव में भी आयुष्यस्थिति नरक अनुसार ही है।

शुभाशुभभाव, यही संसारभ्रमणरूप भावगति। भाव माने बनना, होना तो प्रतिसमय है। संसार में भटकनेवाले प्राणी के जो शुभाशुभपरिणाम हैं, वही मुख्यरूप से गति है। उत्कृष्ट शुभद्रव्य का ऊर्ध्वगमन होने में सरलता का हल्कापन जिम्मेदार है। उत्कृष्ट औंधेपनवाले द्रव्य का अधोगमन – इसमें लोहे की माफिक भारी कर्मपना है व मध्यम परिणामवाले जीव को मनुष्यपना है। इस प्रकार तीनों लोक में भोगने के असंख्यात स्थानक हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्ररूप से परिणमित होता है। उसमें किसी जगतकर्ता ईश्वर की जरूरत नहीं है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है कि वस्तु टिककर बदलती है। जीव अनन्त काल से है। 'है' वह आज तक असंख्यात क्षेत्र के उपभोग में रुका हुआ है और तीनों लोक में भवभ्रमण किया है। आत्मा नित्य नहीं है – ऐसा कहनेवाले तीनलोक नहीं है, परभव नहीं है एवं उसे भोगने के कोई अन्य क्षेत्र नहीं है – ऐसा मानते हैं। परलोक कहीं दिखता नहीं है, किसी ने जाने के बाद सन्देश नहीं भेजे हैं – ऐसा कुछ लोग कहते

हैं। किन्तु ज्ञानी प्रत्यक्षप्रमाण देकर कहते हैं कि तू है न ! कहीं भी है या नहीं ? जहाँ है, वहाँ जैसे भाव में तेरा जुड़ान है; वैसे भाव को भोगने का स्थान तीन लोक में खास-खास द्रव्य, क्षेत्र, भाव है।

हे शिष्य ! जड़-चेतन के स्वभाव भिन्न होते हुए भी उनके संयोग-वियोग के सूक्ष्म स्वभाव, गति, जाति, वेदादि के सूक्ष्म अध्यवसाय आदि कारणों के कार्यरूप (फलरुप) भोगने के स्थान असंख्यात हैं। जो हैं, वे वर्तमान में भी हैं। भावश्रुतज्ञान द्वारा तीनों लोक में ऐसा ही है, इस प्रकार अनुभवगम्य है। सम्यग्ज्ञान माने, आत्मा का स्वभाव जैसा है, वैसा जान लेना। दर्शन माने देखना। चैतन्यशक्ति का सभी भावों को जानने का स्वभाव है; यह आत्मा का गुण आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा पूर्ण शुद्ध सहज ज्ञानस्वभावी है। इस प्रकार स्वाधीनतत्त्व की सहज प्रतीति हुई, यही सम्यग्दर्शन है।

आत्मा सहजस्वरूप है - इस प्रकार रटने से ज्ञान प्रगट नहीं होता। किन्तु आत्म तत्त्व का स्वभाव जैसा है, वैसा सोचकर; यथार्थ निर्धार, अनुभव करने पर समझ में आ सके - ऐसा है, जाननेवाले से जाना जाता है। जिस प्रकार अपना शुद्ध आत्मस्वरूप अपने से जाना जाता है, उस प्रकार परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, स्थिति भी जैसी है, वैसी समझ में आती है। लोहचुम्बक का पत्थर लोहे को ही खींचे, सुवर्ण को नहीं खींचता - ऐसा उसका स्वभाव है। स्वतन्त्र जड़ रजकण में गलना, मिलना, खींचा जाना आदि स्वतन्त्र शक्ति है; उसमें ईश्वर को उपाधि करने की जरूरत नहीं है। वस्तुमात्र स्वतन्त्ररूप से उसके स्वभाव में पलटती रहती है। जीव जैसे भाव करता है, उसे (फल को) भोगने के लिये उस लायक क्षेत्र भी हैं। स्वाधीन होना हो तो स्वाधीन होने का उपाय मनुष्यभव में ही है। जितने अनुपात में ज्ञानबल का पुरुषार्थ करके स्थिरता बढ़ाये, उतने अनुपात में स्वाधीनता पाता है और जितने अनुपात में राग -द्वेष का कर्तृत्व करे, उतने अनुपात में उस प्रकार के जड़, सूक्ष्म परमाणु आत्मा के प्रदेश के साथ बँधने पर जीव पराधीनता को प्राप्त होता है। जीव शुभ-अशुभभाव करे, तब उसका निमित्त पाकर उस प्रकार के सूक्ष्म रजकण जीव के प्रदेश के साथ बँधते हैं। परमाणु में स्वतन्त्ररूप से अनन्त शक्ति है; जड़द्रव्य अपने आप स्वयं अनेकरूप में पलटता रहता है। उन परमाणुओं

के स्वभाव का यथार्थ विचार करो तो जगत की क्रमबद्ध व्यवस्थित रचना, परलोक आदि पुण्य-पाप भोगने के चार गतिरूप स्थानक हैं – यह यथार्थरूप से जैसा है, वैसा समझ में आयेगा। जड़-चेतन के स्वभाव जिस प्रकार हैं, वह प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता से भिन्नरूप से स्वसत्ता के आधार से हैं; फिर भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी है। संसार उन कर्मों के संयोग से होनेवाली आत्मा की अवस्था है और मोक्ष भी सभी दोष एवं कर्म से मुक्त, पूर्ण पवित्र, ऐसी आत्मा की अवस्था है।

हे शिष्य ! जड़ व चेतन का स्वभाव, संयोग-संयोगीभाव आदि सूक्ष्मस्वरूप का यहाँ पर बहुत विचार समाया हुआ है। अतः यह बात गहन है। फिर भी तुझे संक्षेप में यहाँ पर बतायी है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - ११-११-१९३९
सं. १९६५ की आश्विन कृष्णा, दीपावली

श्रीवीरनिर्वाणकल्याणक तिथि।

आज श्रीभगवान महावीरप्रभु का निर्वाण दिन है। तीन प्रकार की पदवीयुक्त (जीव) अन्तिम शरीर की अवस्था छोड़कर मोक्ष जा सकते हैं। (१) भगवान की सर्वोत्कृष्ट पुण्यपदवी, (२) गणधरपदवी, (३) सामान्य केवलीभगवान। इन तीन अवस्थाओं के भेद पुण्यभाव की तारतम्यता से मुख्यरूप से हैं। जो त्रिलोकनाथ का बिरुद धारण किये हैं, ऐसा (१) तीर्थङ्कर नामकर्म बँध जाने का कारण यह है कि शुद्ध आत्मस्वरूप के भानसहित की दशा में यानी सम्यग्ज्ञानदशा में ऐसा प्रशस्त रागभाव होता है कि सभी जीवों को आत्मधर्म प्राप्त कराऊँ, यानी निश्चय से तो मेरा आत्मा शीघ्र पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करे – यह उत्कृष्ट पुण्यपरिणाम है। इसमें ऐसी योग्यतावाले जीव को ऐसा पुण्यबन्ध होता है कि वह जगत को परम उपकारी होता है। (२) गणधरभगवान होने का कारण, अपने परिवार को आत्मधर्म प्राप्त कराऊँ – ऐसे पक्ष का शुभविकल्प विवेकसहित आता है। अतः पुण्यपद की अपेक्षा तीर्थङ्करभगवान से न्यूनपद का योग होता है। (३) मुक्त होने की इच्छावाले धर्मात्मा ज्ञानी, सामान्य केवलीभगवान होकर मोक्ष जाते हैं।

मोक्षस्वभाव जीव में शक्तिरूप से है, वह व्यक्त, प्रगट होता है। हमारे परमइष्टदेव श्रीमहावीर भगवान का आत्मा इस भरतक्षेत्र में जब आनेवाला था, तब छह महीने पूर्व उनकी माता को वन्दन करने इन्द्र आते हैं और उस गृहवास में धन-धान्य, रत्नादि से भण्डार भरे-पूरे करते हैं। इन्द्रगण त्रिशला माता के पास आकर स्तुति करते हैं कि हे माता ! धन्य रत्नकुक्षिधारिणी ! आप धन्य हैं ! आपकी कोख से त्रिलोकीनाथ प्रभु का जन्म होनेवाला है कि जिनके निमित्त से कई जीवों का कल्याण होनेवाला है।

माता की सेवा करने हेतु देवियाँ आती हैं। कोई माने कि ईश्वर आकर जगत में दुःख मिटाने के लिय अवतार धारण करते हैं – ऐसा नहीं है किन्तु पूर्व में

मनुष्यभव में आत्मस्वरूप की आराधना द्वारा मोक्षपद पाने की योग्यता प्राप्त करके वह जीव तीन ज्ञान लेकर माता के उदर में आता है; उस समय मोक्षमण्डल खड़ा होता है क्योंकि उत्तम, पवित्र आत्मा का जिस क्षेत्र में आवागमन हो, वहाँ उस परमइष्ट निमित्त पाने के लिये कई भाग्यशाली जीव भी तैयार होते हैं। ऐसे परम उपकारी सर्वज्ञभगवन्त श्रीमहावीरप्रभु की निर्वाणतिथि का परमकल्याणक दिन आज है। साधक धर्मात्मा अपना भक्तिभाव उछालकर कहते हैं कि धन्य है ! आज देव भी भगवान के कल्याणक का उत्सव मना रहे हैं। नन्दीश्वरद्वीप में तीर्थङ्कर भगवन्तों की शाश्वत प्रतिमाएँ हैं। वहाँ इन्द्र, देव-देवियाँ आकर आठ दिन तक वीतरागप्रभु के गुणग्राम व महोत्सव करते हैं। जगत उनका व उनके परम मङ्गलिक कल्याणक का नाम सुनने से भी महा-भाग्यशाली होता है और अपने आप को धन्य मानता है। '**अरिहंताणं, भगवंताणं,**' – इस प्रकार नाममात्र भावपूर्वक सुने, उसका कल्याण हो जाता है, यानी जो अरिहन्त, वीतरागभगवान को जानता (पहचानता) है और उनका मनन करता है, उसका कल्याण अवश्य होता है।

भगवान श्रीमहावीरदेव का जन्मकल्याणक चैत शुक्ला तेरस के दिन हुआ। उसका उत्सव होता है। इन्द्रगण बड़ा उत्सव रचाते हैं। वे माता की स्तुति भी करते हैं कि हे माता ! जगत को महान उपकार का इष्ट निमित्त – ऐसे तीर्थङ्करभगवान की जन्मदात्री जनेता ! तुझे धन्य है ! साधक आत्मा के, भगवान का नाम एवं कल्याणक की महिमा सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं, भक्ति से आह्लादित होते हैं और उन्हें परम पूज्य इष्ट का अति आदर आता है; अत: संसार का आदर टल जाता है, भव का अभाव होने का प्रसङ्ग आता है। कार्तिक कृष्णा दसवीं तपकल्याण (दीक्षा) है। उस समय देव, इन्द्रगण तपकल्याणक मनाते हैं, नन्दीश्वरद्वीप में भी महा-उत्सव करते हैं। भगवान संसार से निवृत्त होकर नग्न निर्ग्रन्थपद, मुनिपना धारण करते हैं। उस समय सीधा सातवाँ गुणस्थानक प्रगट होता है। प्रभु दीक्षित होकर ध्यान में स्थिर होते हैं कि तुरन्त सातवीं भूमिका, अप्रमतदशा प्राप्त करते हैं और उसी समय चौथा मन:पर्ययज्ञान प्रगट होता है। राग व राग का निमित्त मिटा कि शीघ्र ही ज्ञान की निर्मलता, उज्ज्वलता प्रगट हुई। ज्ञानध्यान की स्थिरता, इच्छानिरोध तप – ऐसी अप्रमत्त-प्रमतदशा में, साढ़े बारह वर्ष तक भगवान मस्त

रहे हैं। ऋजुवालिका नदी के तट पर शामलीवृक्ष के पास भगवान निर्मलज्ञान की एकाग्रता में, शुक्लध्यान की श्रेणी में थे। प्रथम ध्यान में अल्प विकल्प है, दूसरे शुक्लध्यान की श्रेणी में बिल्कुल निर्विकल्पध्यान की स्थिरता होने पर वैशाख शुक्ला, दसवीं के दिन सर्वज्ञता, त्रिकालज्ञान प्रगट हुआ।

बाद में छियासठ दिन वाणी बन्द रही। उसका कारण धर्मसभा में गणधर पदवी धारण करने की योग्यतावाला कोई जीव नहीं था। इन गणधरमुनि में उत्कृष्ट शक्ति होती है, अल्प शब्दों में बहुत कुछ समझ सकते हैं। भगवान श्री महावीरप्रभु का मोक्षकल्याणक दिन आश्विन कृष्णा अमावस्या यानी चौदस की रात का पिछला भाग, उस समय पावापुरीक्षेत्र में भगवान सर्व कर्मकलङ्करहित पूर्ण शुद्धता द्वारा मोक्षदशा को प्राप्त हुए। जीवनमुक्तदशा तो तीस साल पहले पायी थी और बहत्तरवें साल में पूर्ण मुक्तदशा पायी। उस परमकल्याणक का महिमावन्त दिन आज है। **'पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी, ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो, सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुखमां, अनन्त दर्शन-ज्ञान अनन्त सहित जो।'** - इस प्रकार सिद्धावस्था प्राप्त हुई। साधक आत्मा पूर्ण शुद्धस्वरूप को पहचानकर, उस पर दृष्टि स्थिर करके अपना पुरुषार्थ जगाते हैं कि मुझे भी यही परमपद अल्पकाल में प्राप्त करना है। **श्रीमद्राजचन्द्रजी ऐसी भावना भाते थे। जिस प्रकार भगवान महावीर मोक्ष पधारे, उस प्रकार श्रीमद्जी भी सर्व कर्मउपाधि से रहित होकर, देहमुक्त पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा को अल्प समय बाद पानेवाले हैं।** भगवान श्रीमहावीरप्रभु की निर्वाण कल्याणकपर्व तिथि को भी धन्य है ! उस काल को याद करके धर्मात्मा पिछले काल का आरोप वर्तमान में करके उल्लासपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा कहते हैं कि अहो ! सर्वज्ञ भगवान आज मोक्ष में गये। त्रिलोकनाथ भगवान जिस क्षेत्र से मोक्षदशा को प्राप्त हुए, वह क्षेत्र धन्य है ! धन्य वे गौतम आदि महाज्ञानी पुरुष और वे ग्राम, नगर, आसन, माता-पिता, कुल-वंश आदि सब कुछ धन्य है !

निर्मल गुणमणि रोहण भूधरा, मुनिजन मानस हंस जिनेश्वर;
धन्य ते नगरी, धन्य वेळा घडी, मातपिता कुळवंश जिनेश्वर।
(श्री आनन्दघनजी)

जिस क्षेत्र में गुण के महान गंज प्रगट हुए और जो तीर्थस्थान जिनके निमित्त

से धन्य कहलाये, वह निर्वाणभूमि तथा माता-पिता, कुलवंश आदि धन्य हैं ! आज का दिन, दीपावली, निर्वाण कल्याणककाल को भी धन्य है ! जिसे निर्वाण का प्रेम हो, स्वतन्त्र कृतकृत्य होने की रुचि का उत्साह हो, उसे लोकोत्तर निजकल्याण की रुचि होने से, जिसे जो जँच गया, उसकी अनुमोदना, उत्साह होता ही है। अतः देव एवं इन्द्र भी स्वर्ग व पुण्य का ठाठ-बाट-वैभव छोड़कर जाते हैं कि यह पुण्य नहीं, परन्तु सच्चे वीतरागप्रभु हैं। अतः चलो, सर्वज्ञ वीतराग के कल्याणक मनाऐं। प्रभु का जन्म होने पर तीन लोक में जिसकी महिमा गायी जाए, उजाला फैल जाए, और नरक के दुःखी जीवों को भी दो घड़ी शान्ति प्राप्त होवे – ऐसी जिसकी महिमा है, उन प्रभु का यह निर्वाणदिन है। **'ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'** श्रीमद् राजचन्द्रजी को भी पूर्ण पवित्र भगवान सर्वज्ञप्रभु का विरह खलता था। उनकी दूरियाँ मिटाने के लिये वे पूर्ण अकषायस्वरूप की भावना के बल द्वारा काल का अन्तर मिटा देते हैं; पूर्णपद की प्राप्ति का भाव उछालकर पूर्ण सत् का बहुमान करते हैं।

स्वयं को निर्दोष पूर्ण शुद्धभाव की रुचि है; अतः परम उल्लसित होकर प्रभुजी के गुण गाते हैं, ऐसा तो साधकआत्मा का जीवन है। आज २४६६ वाँ वीर निर्वाण वर्ष प्रारम्भ हुआ। ये चौबीसवें महावीरप्रभु ने समवसरण में, धर्मसभा में लोकोत्तर ऐसे मोक्षमार्ग की घोषणा की है कि सभी जीव स्वभाव से पूर्ण स्वाधीन हैं। ऐसे मोक्षमार्ग के दातार अकषाय करुणा द्वारा जगत को परमकल्याण का पन्थ बता गये हैं। यह अविरोधी न्यायमार्ग अनन्त तीर्थङ्कर भगवन्तों ने त्रिकाल कहा है। सभी जीवों को परम कल्याणस्वरूप आत्मधर्म प्राप्त करवाने की विशाल भावना का परिपाक होने पर तीर्थङ्कर भगवान जगतारक, त्रिलोक के नाथ हुए। उन्होंने धर्मसभा में कहा कि अनन्त जीव तथा अजीव हैं और प्रत्येक आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र व सर्वज्ञस्वभावी है; अखण्डानन्द, ज्ञायक पूर्णशुद्ध स्वभाव से है, स्वाधीन है। प्रत्येक देह में स्थित प्रत्येक आत्मा, अखण्ड पवित्र एवं पूर्ण शुद्ध है। जैसा पूर्ण परमात्मा प्रगट ईश्वर है, वैसे ही सभी जीव शक्ति – स्वभाव से सर्व गुणसम्पन्न हैं। इस स्वतन्त्रता को जो स्वीकार करते हैं, वे जीव किसी भी क्षेत्र में, चारों गतियों में अपना पूर्ण शुद्धतत्त्व अविनाशी, निराकुल, शान्ति व आनन्द से पूर्ण है – इसका यथार्थ भान कर सकते

हैं; जीवनमुक्तदशा आंशिकरूप से अनुभव कर सकते हैं किन्तु विदेहमुक्त मोक्ष स्वभाव, माने मुक्तदशा तो एक मनुष्यदेह में ही होती है और आत्मभान के संस्कार भी प्रथम मनुष्य में ही हो सकते हैं। सर्वज्ञभगवान ने धर्मसभा में सब कुछ स्वाधीन है – इस प्रकार पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की है। उनके पाँच कल्याणक देव-देवेन्द्र भी अति उल्लासपूर्वक मनाते हैं और निष्कारण करुणा का सर्वोत्कृष्ट महिमा जगत के जीवों के समक्ष जाहिर करते हैं कि जागो रे जागो! ऐसे प्रभु आज मोक्ष पधारे हैं। अहा ! उस पूर्ण पवित्रदशा का स्मरण होने पर धर्मात्मा विशेष-विशेष जागृति का पुरुषार्थ उठाकर स्वरूप के गीत गाते हैं। सर्वज्ञप्रभु का सर्वोत्कृष्ट स्वकाल, पर्याय पूर्ण हुई – वह दिन दीपावली का है। उस दिन देवों ने रत्नों के दीपक जलाकर उत्सव मनाया था, उस दिन से यह दिन दीपावली कहा जाता है। संसारपर्याय का अन्त एवं शुद्धपर्याय की उत्पत्ति – यह '**सादि अनन्त अनन्त समाधि सुखमां, अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो...**' ऐसा परम प्रभावक सर्वज्ञ भगवान का महोत्सव है, '**वीर जिनेश्वर गाऊँ रंगशुं, भंग म पडशो हो प्रीत जिनेश्वर**' हे वीर परमात्मा! पूर्ण वीतराग स्वरूप की स्थिरता में राग या पुण्य-पाप के विकल्प से भङ्ग न पड़े ! यही पूर्ण सत्स्वरूप का आदर है, महिमा है।

वीतरागप्रभु के पवित्र निर्वाणस्वरूप के सिवा अन्य किसी में आदर का अंश भी न हो। एक पूर्ण वीतरागपद – वही मेरा परमपद है। उस परमपद की प्राप्ति का उत्सव, पूर्ण पवित्र अकषाय का प्रमोद, अनुमोदनरूप उत्साह में किसी प्रकार का भङ्ग न पड़े! जिम्मेदारी लेकर कहते हैं कि '**बीजो मन मन्दिर आणु नहि, ए अम कुळवट रीत, जिनेश्वर।**' संस्कारी सज्जन हो, वह कुल को लज्जा पैदा होनेवाला कोई गलत काम न करे – ऐसा श्रीआनन्दघनजी कहते हैं कि मेरे शुद्ध पवित्रधर्म में रागादि का मिश्रपना नहीं होता। भावसमिति-गुप्ति, भगवतीदीक्षा – यह तो हमारी माता है और पूर्ण वीतराग सिद्धभगवानरूप शुद्धपद हमारे पिताश्री – यह हमारे लोकोत्तर खानदान / कुलरीति है। पतिव्रता स्त्री के हृदय में दो पति नहीं हो सकते, इस प्रकार मेरा पति पूर्ण शुद्ध, वीतराग। इस नियम में दूसरे का यानी पुण्य का, पराधीनता के विकारी भाव का अंश भी आदर नहीं रहता। जिस प्रकार महासती राजुला अस्थिर होनेवाले रहनेमी से कहते हैं कि तू सुजात (कुलवान)

नहीं रहकर कलङ्कित क्यों हो रहे हो ? तू ऐसी पामरता करने के बजाय तो ब्रह्मचर्य के खातिर मर जाता तो तेरी प्रशंसा करते। इस प्रकार अपने शुद्ध निर्दोष धर्मकुल की रीति निभाकर, अनन्त सन्त मुनिवर धर्मात्मा अकम्प के जैसे ही पूर्ण परमात्मा हो गये, यह हमारे लोकोत्तर सिद्ध सुजात कुल की रीति है। इस प्रभुता का अवलम्बन लेते हुए हे प्रभु ! हम तेरे ही गीत गायेंगे, **'धर्म जिनेश्वर गाऊँ हो रंगशुं...'** धर्म माने आत्मा का स्वभाव; उसमें टिके रहना, वही चारित्र, आराधना है। जो पद श्रीवीरप्रभु ने पाया, वही परमपद उनके भक्त पाते हैं क्योंकि जिसे सत् का आदर है, उसे असत् का आदर ही नहीं होता।

दीवाली के दिन लोग भावना भाते हैं कि शालिभद्र की ऋद्धि हमें हो ! इसका अर्थ यह हुआ कि जड़ के कुका (पैसा) व बँगला हमें हो; संसार की पराधीनता सदा हमें रहो। तब ज्ञानी कहते हैं कि मेरा आत्मा शुद्ध चेतनता बिना न रहो ! यानी शालिभद्र के बजाय सिद्धप्रभु की ऋद्धि हमें हो ! लोग लिखते हैं कि बाहुबलीजी का बल हमें हो, माने लड़ाई; संसार की खटपट, संसारी व्यापार आदि की स्पर्धा का औपाधिकरूप दुःखरूप बल हो। भरत चक्रवर्ती, बाहुबलीजी को लड़ाई में न जीत सके; इसलिए ऐसा बल अज्ञानी माँगता है। भरत चक्रवर्ती के चक्र की सेवा एक हज़ार देव करते थे; सगे भाई पर शस्त्र द्वारा हमला करने देवों को भेजा किन्तु देव वापस आये। बाहुबलीजी को संसार, राज्यादि से वैराग्य हो गया, नग्नमुनि होकर जङ्गल में जाकर ध्यान में बैठ गये। फिर भी भरत को बुरा लगा होगा, ऐसी मान की खटक अन्दर रह गयी, इसलिये केवलज्ञान रुक गया। कुछ खटका तो अटक गया। ज्ञान तो जो विकल्प आये, उसे जाने क्योंकि ज्ञान का स्वरूप निरन्तर जानने का है; यदि रागपूर्वक रुककर जाने तो अटकना होता है। बाहुबलीजी ने उस मान-कषाय की वृत्ति को पुरुषार्थ से तोड़ी तो तुरन्त अखण्ड, शुद्ध केवलज्ञान प्रगट हुआ। अमर्यादित, अखण्ड, स्वभाव में से भेद कल्पना का शल्य टलकर, बाहुबल के केवलज्ञान का बल हो – ऐसी तत्त्वदृष्टिसहित पूर्ण केवलज्ञान की भावना होनी चाहिए। लोग वही-खाते में पूजन में लिखाते हैं कि 'अभयकुमार की बुद्धि हो,' इसमें लोग संसार की उलझनों को सुलझाने के लिये क्रोध, मान, माया, लोभ में चतुराई करने की बुद्धि की इच्छा रखते हैं। गणधरदेव की बुद्धि

ऐसी तीक्ष्ण और महामहिमावन्त है कि त्रिलोकनाथ सर्वज्ञप्रभु की दिव्यध्वनि छूटती है, वह महाअतिशययुक्त वाणी को संक्षिप्त में बहुत समझकर पचा सकते हैं। चौदह पूर्व और बारह अङ्ग की रचना कर सके – ऐसी महिमावन्त ऋद्धि-बुद्धि प्रगट होती है। सर्वज्ञ वीतराग का पेट, महामहिमावन्त ज्ञानभण्डार, आत्मा का सामर्थ्य प्रगट होनेरूप बुद्धि हो, ऐसी माँग साधक करता है। निर्दोष पवित्र पूर्ण ज्ञान की भावना हो, वहाँ फिर संसार की भावना कैसे हो ? आज के कल्याणकारी माङ्गलिक दिन पर अप्रतिहत माङ्गलिक अर्थात् आया हुआ वापस न टले, ऐसे वीतरागस्वरूप की भावना भाओ।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १२-११-१९३९

(वीर सम्वत् २४६६, विक्रम सम्वत् १९९६, कार्तिक शुक्ला १, रविवार पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका १७वाँ अधिकार, सुप्रभात अष्टक।)

आचार्य महाराज ने आत्मा का सुप्रभात किया है। हिन्दी समयसारजी में ५६३ वें पृष्ठ पर श्रीअमृतचन्द्र आचार्य भी सत्बोध केवलज्ञानदशा का सुप्रभात प्रगट होने का वर्णन करते हैं। आत्मस्वभाव का विकास होने पर अनन्तच तुष्टयमण्डित केवलज्ञानलक्ष्मी - सुप्रभात प्रगट होता है। पूर्ण रत्नत्रययुक्त शुद्धात्मपद की महिमा का वर्णन प्रारम्भ में मङ्गलरूप में करते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से पूर्ण अभेद केवलज्ञान, सुप्रभात जिस मुनिराज को प्रगट हुआ, उनको नमस्कार करता हूँ। आज रविवार और रवि का प्रभात तथा नवीन वर्ष है।

श्रीमद्जी की पुष्पमाला में प्रथम वाक्य है –

'रात्रि बीत गयी, प्रभात हुआ, निद्रा से मुक्त हुए, भावनिद्रा को दूर करने का प्रयत्न करें।'

अब, अखण्ड ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनज्ञान प्रगट करके अज्ञानरूपी भावनिद्रा मिटाने का प्रयत्न करना। यहाँ पर श्रीपद्मनन्दीआचार्य कहते हैं कि आत्मा के अनन्त ज्ञान – दर्शन को आच्छादित करनेवाली अज्ञानरात्रि, अन्धकार का व्यय

और ज्ञानभानु का उदय होने से उस आवरण का नाश हुआ है और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य प्रगट हुआ है। पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका की मराठी टीका में यों लिखा है कि नि:शेष 'अंतरायक्षय' गुण के विकास को रोकने में निमित्त ऐसे घाती कर्मों का पूर्ण शुद्ध ज्ञानबल से क्षय किया। प्रकृष्टपुरुषार्थ द्वारा निर्बलता का क्षय किया है; अत: अनन्त केवलज्ञान ज्योति का बल प्रगट हुआ है। अत: रात्रि का व्यय एवं प्रकाश का उत्पाद होने पर सुप्रभात प्रगट हुआ और सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूपी दिव्यचक्षु खुल गये। आत्मा का केवलदर्शन तथा केवलज्ञान, जो कि अप्रतिहतरूप से ही होता है, उसे प्रगट करनेवाले मुनिश्वर को नमस्कार करता हूँ। प्रभात होने पर रात्रि का नाश होता है और प्रकाश की उत्पत्ति होती है; इस प्रकार मोहनीयकर्म में जुड़ने पर होनेवाली अन्धकारसहित की निद्रा का सत्यपुरुषार्थ द्वारा नाश होता है और केवलज्ञानज्योतिरूप सुप्रभात प्रगट होता है। ऐसे आत्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। समयसार की आत्मख्याति टीका में अमृतचन्द्र आचार्य महाराज केवलज्ञान सुप्रभात का माङ्गलिक कलश रखते हैं :-

'चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहास:
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभात:।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा।।'

(समयसार-कलश - २६८)

आत्मा चैतन्यभगवान विशेषस्वरूप शुद्ध है। उसके शुद्धश्रद्धा व ज्ञान द्वारा सुप्रभातरूप केवलज्ञानस्वरूप सूर्य उदय होता है। कैसा है आत्मा ? चैतन्यपिण्ड का निरर्गल विलास करनेवाला (जिसमें कोई विघ्न करनेवाला नहीं है), ऐसा जो आत्मा – वह प्रफुल्लित होता है। पूर्ण शुद्धता होना, वह (पूर्ण) खिलवट है। शुद्धप्रकाश के समूह द्वारा उत्तम प्रभात की तरह प्रगट होता है। सूर्यप्रकाश का संयोग होने पर हज़ार पंखुड़ीवाला कमल सरोवर में खिल उठता है। इस प्रकार इस सम्यग्श्रद्धा के बल से केवलज्ञान खिल उठा; वह दुबारा मुरझानेवाला नहीं है। सदा प्रफुल्लित है, पूर्ण सहज आनन्द से अचलित एकरूप निराकुल शान्ति है; जिसकी बेहद ज्ञानशक्ति की दीप्ति अचल है, वह सर्वज्ञप्रभु भगवान का सहजानन्द परममहिमावन्त माङ्गलिक

है।

यहाँ 'चित्पिंड' इत्यादि विशेषण से अनन्त दर्शन का प्रगट होना बताया है। 'शुद्ध प्रकाश' इत्यादि विशेषण से अनन्त ज्ञान का प्रगट होना बताया है। 'आनन्दसुस्थित' विशेषण से अनन्त सुख का प्रगट होना दिखाया है और 'अचलार्चि' विशेषण से अनन्त वीर्य (बल) का प्रगट होना बताया है। अनन्त गुण प्रगट हुए, उनको चलित न होने दे – ऐसा अचलवीर्य प्रगट हुआ है। ऐसा आत्मस्वभाव हमें भी प्रगट हो, ऐसी आचार्य महाराज विशाल भावना भाते हैं। आत्मस्वरूपभानु (रवि) अज्ञान अन्धकार का नाश करके उदयमान हुआ। वह फिर से अस्त को प्राप्त हो या चलायमान हो – ऐसा नहीं है। इतनी जिम्मेदारी रखकर केवलज्ञान प्रभात को नमस्कार किया है।

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के रविवार के दिन श्रीमद्जी का जन्मदिन था। उस प्रसङ्ग के ७२ वर्ष बाद भी श्रीमद्राजचन्द्रजी का जन्मदिन उसी दिन, उसी माह व इतवार को आता है। नियम है कि हर छत्तीसवें वर्ष माह, तिथि व वार एक साथ ही आता है। **'सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं'** ऐसा केवलज्ञानप्रभात है और उसका कारण सम्यग्दर्शन है; सम्यग्ज्ञान भी आत्मा ही है। आत्मभान की भूमिका में सर्व मङ्गलरूप है। जिस प्रकार एक खाण्डी (बीस कच्चे मन का एक तोल) अनाज बोने पर हज़ारों गठरियाँ घास की यूँ ही तैयार हो जाती है; उस प्रकार आत्मज्ञान की भूमिका में पूर्णता की भावना भाने में तीर्थङ्करपद, चक्रवर्ती, इन्द्रादि के बड़े पुण्यपद आते हैं; फिर भी धर्मात्मा उसकी इच्छा करते ही नहीं हैं।

एक बार गौतमस्वामी से केशीस्वामी पूछते हैं कि **'अन्धयारे तमे घोरे चिट्ठन्ति पाणिणो बहु'** अन्धकाररूपी अज्ञानरात्रि जगत पर छा गयी है। उसका उज्ज्वल उद्योत करनेवाला जगत में कौन होगा ? गौतमस्वामी कहते हैं कि अरे केशी ! ऐसा कोई निर्मल भानु उदित हुआ है कि सभी जीवों के अन्तरङ्ग में (हृदयपट में) ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा अमृतधारा का प्रवेश होने पर उन जीवों का परमकल्याण होता है। तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणारूप वीतराग के दिव्यवचनों का प्रपात गिरने पर अनेक पात्र (लायक) जीव के हृदयकमल

विकास को प्राप्त होते हैं।

केशीस्वामी - ऐसा वह रवि माने सुप्रभातभानु कैसा होगा कि जो जगत के अज्ञान अन्धकार को मिटाकर अज्ञान, मोहअन्धकार में दुःखी हो रहे जीवों को आत्मधर्म का प्रकाश दिखायेगा ? उसका उत्तर - वर्तमान में जिस प्रकार भगवान महावीर हुए, उस प्रकार भविष्य में भी तीर्थङ्कर होनेवाले हैं। वे भगवान सर्वज्ञरूप भानु चौरासी हज़ार वर्ष बाद इस क्षेत्र में उदयमान होगा। जिनका संसार नष्ट हो चुका है, दर्शनमोहादि कर्म का क्षय हुआ है; शेष अल्पप्रारब्धकर्म का क्षय करने हेतु चौरासी हज़ार वर्ष पूरे होने पर श्रीश्रेणिक राजा का आत्मा जगत के अज्ञान अन्धकार का नाश करने आनेवाली चौबीसी में महा-ऐश्वर्यवान पहले तीर्थङ्कर सर्वज्ञभगवान होंगे। इस भरतक्षेत्र में प्रभाकर सर्वज्ञभगवान होने की योग्यतावाला वह आत्मा, तीन ज्ञान साथ में लेकर आयेगा। गर्भ में आने के छह महीने पूर्व स्वर्ग में से देवी, कुमारिकाएँ आकर तीर्थङ्कर की माता की सेवा करेंगी और इन्द्र आकर स्तुति करेंगे कि धन्य माता ! आपकी कोख में तीर्थङ्करभगवान का आत्मा आयेगा और थोड़े ही समय में निर्ग्रन्थमुनि होकर सुप्रभात केवलज्ञान, आत्मा की पूर्ण ऐश्वर्यदशा प्रगट करेंगे और उनके निमित्त से हज़ारों, लाखों, आत्मार्थीजीव आत्मधर्म पायेंगे; अतः आपको धन्य है ! यहाँ पर सुप्रभातरूप केवलज्ञान का महा-मङ्गलगीत आचार्य परमेष्ठी गाते हैं। भगवान पद्मनन्दी आचार्य नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थमुनि थे; आत्मध्यान में मस्त थे। अमृतमय अध्यात्मरस में कलम डूबोकर इस परममाङ्गलिक सुप्रभात श्लोक की रचना की है। श्रीअमृतचन्द्राचार्य ने सुप्रभातरूप मङ्गल की आत्मख्याति (टीका) में कलशरूप में रचना की है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने १६वें वर्ष में पुष्पमाला पर मङ्गल कलश रखा था। यहाँ पर पद्मनन्दी आचार्य भगवान ने भी मङ्गल कहा कि रात्रि का अन्धकार मिटने पर और प्रभात होने पर चक्षु खुलते हैं; उस प्रकार अज्ञान अन्धकार का नाश करनेवाले रविरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञानमय नेत्रों द्वारा प्रभात हुआ है। श्रीमद्जी भी कहते हैं कि **'कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जागृत थतां शमाय; तेम विभाव अनादिनो ज्ञान थतां दूर थाय'** जो अनन्त काल से मोहरूपी निद्रा में सोये थे, वे जागे; जिनके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप अन्तरचक्षु खुल गये और जो आत्मस्वरूप की स्थिरता में एकाग्र स्वरूप स्थित है – ऐसे मुनिश्वरों को नमस्कार

करता हूँ।

यह रविवार, नया साल व प्रभाकर का उद्योत – इसे परमार्थस्वरूप में घटायें तो उसका अर्थ यह है कि शुद्ध आत्मस्वरूप सुप्रभात (केवलज्ञान) की भावनावाले को यह तत्त्व का बीज प्रगट हुआ है। वह नि:सन्देह, निर्भयरूप से आत्मस्वरूप के वैभव का यानी केवलज्ञान के गीत गाता है और तीर्थङ्करादि भगवन्त के वीतरागस्वरूप की महिमा प्रगट करता है। वह बोधबीज पूर्णता के लक्ष्यपूर्वक है और वह किसी दिन निवर्तन होनेवाला नहीं है। श्रीआनन्दघनजी भी रवि का सुप्रभात महा-माङ्गलिक कहते हैं –

'दर्शन दीठे जिनतणुंजी संशय न रहे वेध;
दिनकर करभर प्रसवतांजी अंधकार प्रतिषेध।
विमळजिन दीठां लोयण आज,
मारा सिध्यां वांछित काज।'

विमल = रागादि पुण्यपाप के मैलरहित शुद्ध आत्मपद – उसकी यथार्थश्रद्धा द्वारा जो गुण प्रगट हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ और जाना कि मैं परमात्मा के समान ही पूर्ण कृतकृत्य हूँ, अब भवशङ्का मल-मैल का अवकाश मेरे में नहीं है, यह जिनवर का लघुनन्दन आत्मस्वभावरूप में स्थित होकर टिका हुआ है, उसकी पीछे हट कहाँ से होगी ?

'दु:ख दोहग दूरे टळ्यां रे, सुख संपदशुं भेट,
धींग धणी माथे कियोरे, कुंण गंजे नरखेट;
विमळजिन दीठां लोयण आज।'

हे शुद्ध सहजात्मस्वरूप परमात्मा ! हे वीतराग चैतन्यघन ज्ञानमूर्ति ! मैंने आपको ही स्वामी माना है। हे प्रभु ! आपकी पूर्ण पवित्र वीतरागता व केवलज्ञान प्रभाकरभानु के दर्शन किये; इसलिए दु:ख व निर्धनता मिटकर सुख व सधनता हुई है। इसकी प्रतीतिपूर्वक कहता हूँ कि **'दु:ख दोहग दूरे टळ्यां रे, सुख संपदशुं भेट।'**

त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव को स्वामी बनाकर शिरोधार्य रखा है और वे पूर्ण शुद्ध हैं – ऐसा स्वीकार करके कहते हैं कि मैं स्वभाव से आपके समान ही पूर्ण शुद्ध हूँ। इस प्रकार पूर्णता के भानपूर्वक जागृत हुआ, वह श्रद्धा में से संशय मिटाकर

विरोध टालकर, वह सिद्ध की जाति का अतीन्द्रिय पुरुषार्थ लेकर जागा है; अतः वह पीछे नहीं मुड़ेगा। निःसन्देहरूप सम्यग्दर्शन सूर्य - (करभर) - पूर्णता का अंश, साधकस्वभाव प्रगट होने पर पूर्ण की रुचि का जोश उछलने पर कहते हैं कि **'दिनकर करभर प्रसरतांजी, अन्धकार प्रतिषेध, विमळ जिन दीठां लोयण आज, मारा सीध्यां वांछित काज'** आत्मा का गुण प्रगट हुआ, वह पीछे नहीं हटता। इसी का नाम अप्रतिहत सम्यक् सुप्रभात है।

सुप्रभात की पद्मनन्दी गाथा –

'यत्सचक्रसुखप्रदं यदमलं ज्ञानप्रभाभासुरं।
लोकालोकपदप्रकाशन्विधिप्रौढंप्रकृष्टंसकृत्।
उद्भूते सति यत्र जीवितमिव प्राप्तं परं प्रणभिः
त्रैलोक्यधिपतेर्जिनस्य सततं तत्सुप्रभातं स्तुवे'।।२।।

रवि, ऐसा सुप्रभात केवलज्ञानस्वरूप त्रिलोकनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसा सनातन नियम है कि त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर भगवान पूर्वभव से तैयारी लेकर आये हैं, उनके निमित्त से कई जीवों का कल्याण होनेवाला है; अतः उनका जन्म होते ही तीनों लोक में उजाला होता है और सभी प्राणी को दो घड़ी शाता (सुख) मिलती है। नरकवासी दुःखी जीवों को भी अनन्त दुःख की वेदना मिटकर दो घड़ी शान्ति मिलती है। अतः करुणाभण्डार त्रिलोकनाथ, ऐसे उपकारीपने के विरुद का आरोपण उन पर करने में आता है। सभी दुःख से रहित जिसे होना हो, उसे उनकी अकषाय (रागरहित) स्वरूपस्थित करुणा को जानकर, मानकर, उसका अनुसरण करना, **'सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य ! आराध्य ! प्रभाव आणी; अनाथ एकांत सनाथ थाशे, एना विना कोई न बाह्य स्हाशे।'** सर्वज्ञपरमात्मा का विश्वास कर और उसके समान तेरा अपना स्वाधीन स्वरूप है, उसकी सेवा कर। परभाव, राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य-पाप, सर्व उपाधिरहित होने का उपाय एक सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत आत्मधर्म है। निर्दोष आत्मधर्म उसे कहें कि जिसमें राग-द्वेष, पुण्य-पाप की शुभ अशुभवृत्ति भी अवकाश को प्राप्त न हो। ऐसा शुद्ध वीतरागस्वभाव ही निजपद और निरुपाधिक शान्ति है, वह मुझे प्रगट हो। पार्श्वप्रभु की स्तुति में कहते हैं कि –

'उपशम रस वरसे रे, प्रभु तारा नयनमां;
हृदयकमळमां दया अनंत ऊभराय जो।'

हे वीतराग ! हे चिदानन्दमूर्ति ! हे कृपानाथ ! सर्वज्ञदेव ! मैंने आपको पहचाना है। अतः मैं आपकी कृपा का पात्र हूँ। मैंने आपकी अकषायकरुणा को माना है। सर्व उपाधिरहित शुद्ध आत्मपद का यथार्थ निर्णय करके, संसार के भावों को छोड़कर, जो वीतरागस्वभाव की शरण में गये, वे हे नाथ ! आपके सामन पूर्ण शुद्ध होनेवाले हैं।

जिसने प्रारम्भ से ही आत्मस्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान व वीतरागस्वरूप की भावना भायी नहीं है; संसार से वैरागी नहीं हुए; सत् का श्रवण, मनन किया नहीं है, उनको वृद्धावस्था में सत्स्वरूप की रुचि नहीं होगी। जिसको जिस चीज़ की रुचि हो, उसमें वह वायदा (बहानेबाजी) नहीं करेगा।

प्रश्न - जो बहुत पापी जीव हो, उसे वर्तमान में फल क्यों नहीं मिलता ?

उत्तर - वह जीव दुःखी हो, ऐसी द्वेषभावना सज्जन न करे। मरे हुए को लात नहीं मारते; पापी पर भी दया होती है। उस जीव को महामूढ़ता है, यह देखकर ज्ञानी मध्यस्थ रहते हैं और जानते हैं कि वह जीव अपने ही भाव से भयवश दुःखी दुःखी ही है; अतः उसके प्रति उन्हें करुणा आती है।

'सौ चूहे मारकर बिल्ली हजको चली,' – यह कथन यहाँ परमार्थ में घटित नहीं होता। पापी भी क्षणभर में ज्ञानी धर्मात्मा बन सकता है। बिच्छू का दृष्टान्त : एक मनुष्य बहती हुई नदी के प्रवाह में से बिच्छुओं को निकाल रहा था। बिच्छू को हाथ में लेता था कि तुरन्त डंक मारता था। फिर दूसरे हाथ में लिया तो वापस डंक मारा। इस प्रकार बहुत डंक मारे, फिर भी हाथ में पकड़कर रखा। तब नदीतट पर खड़े हुए लोगों ने उसे गुस्से से कहा कि जो डंक मारता है, उसको तू क्यों बचाते हो ? उत्तर – दुर्जन दुर्जनता को न छोड़े तो सज्जन सज्जनता कैसे छोड़ दे ? इससे सबक यह लेना है कि अधर्मी एवं पापी पामर जीवों के प्रति द्वेष नहीं करना किन्तु मध्यस्थ रहना। कल का महापापी आज बड़ा धर्मात्मा, पवित्र आत्मा बन सकता है। जो अपना सच्चा हित समझेगा, वह सुखी होगा। श्रीदेवचन्द्रजी कहते हैं कि –

'तुज करुणा सहु उपरेजी, सरखी छे महाराय;
पण अविराधक जीवनेजी, कारण सफळुं थाय रे।
चंद्रानन जिनजी सांभळीए अरदास।'

हे नाथ ! तेरी सर्वज्ञ, स्वभावी अकषायकरुणा जो अविराधक जीव समझकर स्वीकार करे, उसको अनन्ता उपकार होता है। किन्तु जिसने तेरे वीतरागस्वरूप लोकोत्तरमार्ग का आधार नहीं किया, उस विराधक जीव को क्या उपकार होवे? जिसे पुण्य, पाप, मानादि तथा विषय-भोग आदि की इच्छा, ममता है – उसे सत्स्वरूप की रुचि कहाँ से हो ? दीपावली और नूतन वर्ष – इस प्रकार काल तो बदलता रहता है किन्तु शुद्धात्मस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा द्वारा सम्यग्दर्शन का प्रकाश करके श्रद्धा, इस सुप्रभात (पूर्ण केवलज्ञान) के गीत तो ऐसे हैं कि समस्त जीवों को सदा सुख देनेवाले हैं। सूर्य तो कुछ को प्रकाशित करे किन्तु यह ज्ञानसुप्रभात प्रभाकर तो अत्यन्त महान है; वह सभी जीवों को प्रकाश देनेवाला है। जिसको पूर्ण स्वरूप प्रगट होता है, वह सर्वज्ञ वीतराग भगवन्त कहलाते हैं; तीन लोक के नाथ कहलाते हैं। उनके सान्निध्य में बैठे हुए जीवों को बहुत सुख उपजता है। सूर्य प्रभातकाल में उदित होता है और शाम को अस्त को प्राप्त होता हुआ दिखता है किन्तु जिनेश्वरभगवान को केवलज्ञान ज्योति प्रगट होती है, वह कदापि अस्त को प्राप्त नहीं होती। उस ज्योति के प्रगट होने पर तीनों लोक में प्रकाश होता है। ऐसे सभी जीवों को शान्ति मिलती है। नरक के अति दु:खी जीवों को भी दो घड़ी शान्ति मिलती है। ऐसी उत्कृष्ट महिमा जिसकी है, ऐसे केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये मैं उनको नमस्कार करता हूँ। तीर्थङ्कर प्रभु को केवलज्ञान प्रगट होने पर विद्याधर एवं देवियाँ उनकी पूर्ण वीतरागता, पवित्र केवलज्ञानस्वरूप के गीत गाते है, स्तुति करते हैं, विद्याधरप्रभु के भक्त होते हैं; उनकी कन्याएँ बहुत सुन्दर प्रकार से प्रभु के स्तवन गाती हैं। ऐसे श्रीअरिहन्त भगवान का कल्याणकारी सुप्रभात (केवलज्ञान माङ्गलिक), सत्पुरुष का योगबल जगत का कल्याण करो !

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १३-११-१९३९

८६वीं गाथा में ऐसा कहा कि शुभ अध्यवसाय ही मुख्यरूप से तो देवलोक है और अशुभभाव नरकादि गति है क्योंकि जिस भाव का जीव कर्ता हो, उसे भोगने के लिये उस गति व प्रकृति की अवस्था के भोग्यस्थान चौदह ब्रह्माण्ड में हैं।

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्यस्वभाव;
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव।।८६।।

परमाणु की सूक्ष्म-स्थूल अवस्था, पुद्गल का अचिन्त्य सामर्थ्य तथा जीव का अचिन्त्य वीर्य – इत्यादि का बहुत विचार यहाँ समाविष्ट है। लोहचुम्बक, पत्थर एवं लोहा – ये दोनों जड़, अचेतन हैं; फिर भी वे स्वयं कार्य करते हैं। इस प्रकार पुद्गल का विचार अनेक प्रकार से करें तो पुद्गल में स्वयं भोक्तृत्वशक्ति है। जीव में भी असंख्यात प्रकार के शुभ-अशुभ परिणामरूप अध्यवसाय होते हैं। आत्मा के वीर्य का जिस शुभ-अशुभ की कर्म की अवस्था में जुड़ान होता है, उसे भूलरूप से भोगने की योग्यता और स्वाधीन अविकारी परिणाम, दोनों को विचार करो तो मालूम पड़ेगा कि जीव एवं अजीवद्रव्य का सामर्थ्य सब अपनी-अपनी सत्ता में है। जड़ में भी अनेक अचिन्त्यशक्ति है। एक ही प्रकार के परमाणु में क्षणभर में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श बदल जाते हैं; जिस प्रकार दूध में से दही, दही में से घी। दूध बिगड़ जाता है तो बिगड़ने की शक्ति उसमें है; उसी प्रकार प्रत्येक पुद्गल में गलना, मिलना, सड़ना, गिरना, गतिरूप होना – ऐसा जड़ का स्वभाव है। एक परमाणु एक समयमात्र में लोक के एक सिरे से गति करके चौदह राजुलोक प्रमाण स्वयं शीघ्र जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ में पर से भिन्नत्व की सहजशक्ति है; वह उसकी सत्ता में टिककर बदलता है। उसमें ईश्वर कुछ भुगताये, यह बात सम्भव नहीं है। **८६.**

अब, आगे की गाथा में शिष्य कहता है कि आपने कर्ता-भोक्तापना जिस

प्रकार कहा, उस बात का अन्तर से विचार करने पर उसका यर्थाथपना समझ में आता है। किन्तु आत्मा कर्ता-भोक्ता सिद्ध हुआ तो फिर वह पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ परिणामवाले बन्ध से निवृत्त होने योग्य नहीं रहा।

इस शङ्का की गाथा अब कहते हैं :-

कर्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहि मोक्ष;
वीत्यो काल अनंत पण, वर्तमान छे दोष।।८७।।

कर्ता-भोक्ता जीव हो, पर उसका नहिं मोक्ष।
बीता काल अनन्त पर, विद्यमान है दोष।।८७।।

अब, शिष्य के अन्दर विवेकबुद्धि वृद्धिगत हो रही है। हाँ करते हुए कहता है कि आपकी दी हुई दलील के साथ मेरे भाव का मिलान हो रहा है। अतः आत्मा है, नित्य है, कर्ता एवं भोक्ता जिस प्रकार से है, वह जाना किन्तु उसका मोक्ष किस प्रकार हो ? - यह जानने में नहीं आ रहा क्योंकि कर्म करनेरूप दोष वर्तमान में विद्यमान है। अतः ऐसा लगता है कि शुभ-अशुभ परिणाम मेरे और मैं उनका कर्ता - इस प्रकार इष्ट-अनिष्टपना वर्तमान में विद्यमान है तो भविष्य में वह भूल कैसे मिटेगी ? उसका उत्तर गुरु देते हैं कि तूने जाना कि भूल वर्तमान तक ही सीमित है। तू उस भूल से रहित त्रिकालशुद्ध स्वभाव से है तो नित्यता के आश्रय से इस वर्तमान क्षणिक अवस्था में से दोष टालकर, निर्दोष अभिप्राय का शाश्वत, पूर्ण, पवित्र ज्ञानघन वीतरागता के साथ मेल कर ले तो उस शुभ और अशुभ से निवृत्ति होने पर आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा-साक्षी-सहजस्वभाव में रहने से उन दोषों का टलना होगा। यह दोष वर्तमान में दिखता है, उस दोष से रहित गुण भी है। अतः उस गुण को तू ग्रहण कर तो दोष का टलना स्वयमेव होगा। इस शङ्का का उत्तर गाथारूप में अब आगे आयेगा। यहाँ तो शिष्य कहता है कि वर्तमान में तो यह दोष है। इस दोष टले बिना मोक्ष कैसे हो ? **८७.**

अब, शिष्य विचार करके दूसरी आशङ्का प्रस्तुत करता है –

शुभ करे फळ भोगवे, देवादि गति मांय;
अशुभ करे नरकादि फळ, कर्म रहित न क्यांय।। ८८ ।।

शुभ करता फल भोगता, देवादि गति माहिं।
अशुभ करे नरकादि फल, कर्म रहित न होहिं।।८८।।

मुझे तो ऐसा लगता है कि दया का पालन करें; व्रत, शील इत्यादि शुभकार्य करें; जगत का भला करें – ऐसे पुण्यपरिणाम से उसका फल देवगति में सुख भोगने का होता है और पाप के परिणाम, हिंसा एवं चोरी आदि के कार्य करें, करवायें और अनुमोदना करे तो उसका फल नरकगति होता है। अतः जीव का मोक्ष होना सम्भव नहीं है। यदि जीव का स्वभाव मुक्त होवे तो आज तक उसका मोक्ष क्यों नहीं हुआ ? अनन्त काल बीत गया किन्तु शुभ-अशुभकर्म करके बन्धभाव करने का दोष वर्तमान में भी है। शुभभाव, बन्ध का कारण है – ऐसा तो शिष्य यहाँ पर समझ गया है।

पुण्य से धर्म माननेवाले तो शुद्ध आत्मस्वरूप की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं क्योंकि राग की रुचि होने से परभाव को अपना मान रहे हैं, कर्तापना मानते हैं। उनको ज्ञातापना कहाँ रहा ? जिसे ज्ञातापने का आदर नहीं है, उसका पुण्यपरिणाम भी निगोद के महादुःख का कारण बनता है। संसारी जीव पुण्य-पाप से रहित नहीं होता। शुद्ध आत्मा की यथार्थ श्रद्धा होने पर उस पुण्य-पाप का स्वामी कर्ता-भोक्ता मैं नहीं हूँ किन्तु मैं तो अपने शुद्धस्वभाव का ही कर्ता-भोक्ता हूँ - इस प्रकार स्व एवं परभाव की खतौनी करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट होने पर पूर्ण शुद्धस्वभाव का भान एवं पुरुषार्थ दोनों उसे होते हैं। ऐसे स्वभाव का भान होने के बावजूद भी जो कुछ राग-द्वेष आदि दोष होवे, वे अल्प मात्रा में हो जाते हैं। जो उसमें टिकता नहीं है, यानी संसार में रुचि आदर नहीं है, उसे शुभाशुभ कर्मफल

निवृत्त हो जाते हैं। **८८.**

श्रीगुरु का उत्तर –

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण;
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण।। ८९।।

यथा शुभाशुभ कर्मपद, जाने सफल प्रमाण।
तथा निवृत्ति सफल है, तातैं मोक्ष सुजान।।८९।।

चेतन की अवस्था के दोष से होनेवाले शुभाशुभ कर्मपद जाने और साथ में ऐसा भी जाना कि मैंने शुभ अशुभ परिणाम किये और इसलिए वे हुए। परन्तु उसका फल स्वर्ग-नरकादि भोगनेरूप है। ये शुभाशुभभाव दोष हैं; अतः निवृत हुआ जा सकता है। मैं ज्ञाता-दृष्टा, साक्षी ही हूँ। परमाणु, पुण्य आदि देहादि की क्रिया करना – यह मेरा धर्म नहीं है। मैं ज्ञाता हूँ; ज्ञायक ज्ञान के अलावा करे क्या? मैं ज्ञान हूँ, इसलिए उसमें टिकने का पुरुषार्थ हो सकता है। अज्ञानभाव से मैं पर का कर्ता-भोक्ता हूँ, इस प्रकार कल्पना करके मैंने पर में सुखबुद्धि मानी थी। ज्ञान की इस भूलरूप अवस्था मैंने की थी। उस भूल को, अवस्था को पलटकर अभूलरूप ज्ञानदशा मैं ही कर सकता हूँ।

जिस प्रकार क्रोध मिटाकर क्षमा हो सकती है; उस प्रकार जैसा मैं करूँ, मैं दयावान, पुण्यवान, मैं दूसरों को बचाऊँ, सुखी-दुःखी करूँ इत्यादि रागरूप परभाव में टिकनेरूप मिथ्याभाव और पर में सुखबुद्धि की कल्पना मैं करता था। उस असत् कल्पना से मैं निवृत्त हो सकता हूँ। मैं पुण्य-पाप, रागादिरहित निर्मल शुद्धस्वभावरूप हूँ – ऐसा यथार्थरूप से जानना, यह स्वाधीनपना है। मेरे स्वरूप की स्वाधीनता में पर प्रकृति की उपाधि नहीं है। पुण्य-पाप मैंने किये, मैंने भोगे – ऐसा माना था। उस प्रकृति के असर के कारण मेरे अन्दर उपाधि, कमी, हीनता और रागी-द्वेषीपना था। उससे पलटा खाकर जाना कि मेरा स्वभाव परभावरूप नहीं है किन्तु निर्मल,

शुद्ध, अक्रिय ज्ञातास्वरूप है। पर से सर्वथा निवृत्तस्वरूप निरपेक्ष है। इस प्रकार पुण्य-पाप की क्षणिक अवस्था में मिश्रित होने योग्य तू नहीं है। पुण्य-पापरूप भाव करने से कर्मबन्ध होता है – यह उसका सफलपना है। उससे विपरीत शुद्धभाव करने पर शुभाशुभभाव की निवृत्ति भी सफल है। अतः मोक्ष निवृत्तिरूप है – ऐसा हे विचक्षण ! तू जान। शिष्य की योग्यता कैसी होती है ? सत्स्वरूप का जिज्ञासु शिष्य कैसा होना चाहिए ? पात्रता की भूमिका कैसे बढ़े ? यह यहाँ पर देखना है। प्रथम चार प्रश्नों के उत्तर समझे, उनमें शिष्य को शङ्का नहीं है। अतः श्रीगुरु कहते हैं कि निवृत्ति हो सकती है; निवृत्ति का पुरुषार्थ किया जा सकता है। अतः हे चतुर शिष्य ! ऐसा तू जान।

हे गौतम ! तेरी शुद्धस्वभावभूत सम्यग्दृष्टि तुझे प्राप्त है और पूर्ण केवलज्ञानलक्ष्मी, शुद्धात्मस्वरूप अवस्था तेरे निकट बसती है। अतः तुझे जो प्रशस्तराग की अल्प अस्थिरता है, उस प्रमाद को भी छोड़। केवलज्ञान लेने में, पूर्ण परमात्मदशा लेने में समयमात्र का प्रमाद मत कर क्योंकि वह पद तेरे से दूर नहीं है। उस प्रकार श्रीमद्जी यहाँ पर शिष्य से कहते हैं। हे विचक्षण ! तू जान। इस प्रकार स्वयं ने ही शिष्यपने का आरोप करके सुन्दर घटना की रचना की है। शिष्य से कहते हैं कि तू जान कि इस रीति से मोक्ष है। अतः तू शीघ्र ही परभाव से, शुभाशुभ बन्धभाव से निवृत्त हो जा। **'निवृत्ति शीघ्रमेव धारी ते प्रवृत्ति बाळ तुं।'** मैं पूर्ण, शुद्ध, कृतकृत्य ज्ञायक हूँ, इस अभिप्रायसहित पूर्णता के लक्ष्य से, वर्तमान अवस्था में से आंशिक अस्थिरतारूप राग को पुरुषार्थ की स्थिरता द्वारा मिटा दे ! इस प्रकार राग मिटाने पर बाह्य एवं अभ्यन्तर परिग्रह मिट जाते हैं। बाहर का कुछ करना आत्मा के बस में नहीं है; परवस्तु का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। शुभाशुभपरिणाम, बन्धभाव को तू शीघ्र जला दे। इस प्रकार १७ वें वर्ष में श्रीमद्जी ने अन्दर से पुकार करके कहा है। जिस पुण्यादि – शुभाशुभराग का कर्तव्य ठीक माना था, उसे उपाधि जानकर तू मिथ्या मान्यता छोड़, ऐसा कहा है।

कर्ता का इष्ट, वह कर्म। जिसमें तूने ठीक माना था, उसे दोषमय, अठीक मानकर बन्धभाव को उपाधिरूप जाना; अतः उसकी निवृत्ति हो सकती है। सम्यग् अभिप्राय से शुद्धता के अवलम्बन द्वारा शुभाशुभभाव का निवृत्त होना सफल है।

उस शुभाशुभ कर्म का करना जिस प्रकार सफल है, उस प्रकार उस विभाव को नहीं करने से उसकी निवृत्ति भी सफल है।

त्याग करो; पुण्य करो; संसार, स्त्री, पैसा सबकुछ त्याग कर दो – ऐसा करना, वैसा करना – ऐसा अनन्त काल से सुनने में आ रहा है किन्तु मुक्तपना, कर्मबन्ध का टलना, सहजरूप से निवृत्त होना – यह क्यों नहीं हुआ ? इसका विचार करो। जिस भाव से बन्ध हो, उस भाव से मुक्ति कैसे हो ? वस्तुमात्र का अपने आप परिणमन करने का सहजस्वभाव है। फिर भी जीव पर का कर्ता-भोक्ता होकर असत् कल्पना खड़ी करता है; परवस्तु में सुखबुद्धि करता है; परभावरूप होकर रागी-द्वेषी बनकर रहता है और मैं करूँ, मैं लूँ, मैं रखूँ, त्याग करूँ – इस प्रकार ज्ञान में अस्थिरता, कृत्रिमता, असहजता स्वयं ही करता है। वस्तु का स्वभाव तो सहज है; कुछ भी हठपूर्वक नहीं होता। फिर भी भूल से जीव मानता है कि मैं पर का करता हूँ, लेता हूँ, ग्रहण करता हूँ, त्याग करता हूँ। किसी को प्रश्न होगा कि तो फिर करना क्या ? उत्तर - वस्तु (आत्मा) का सहज ज्ञाता-दृष्टामात्र साक्षीस्वभाव है, चैतन्यता है तो उसमें (ज्ञातारूप में) ज्ञानपने जानना, टिकना, यही सहज स्वाधीन सुख है; इसे करना। दुःखी होना हो तो अन्यथा मानो। विपरीत मानने की भूल करने के लिये जीव स्वयं स्वतन्त्र है।

प्रश्न - भगवान का उपदेश है कि त्याग करना ?

उत्तर - मोहगर्भित वैराग्यपूर्वक जो त्याग होता है, वह वास्तविक त्याग नहीं है किन्तु अन्तराय का उदय है। उदयजन्य त्याग सच्चा त्याग नहीं है किन्तु यथार्थ तत्त्वदृष्टि के भानसहित, सच्ची श्रद्धासहित मैं शुद्ध हूँ, परवस्तु का ग्रहण-त्याग करना या देहादि की क्रिया करना मेरे आधार से नहीं है; मैं अक्रिय, ज्ञाता, साक्षी, शुद्ध ही हूँ – इस अभिप्राय की दृष्टि रखकर वर्तमान अशुद्धअवस्था का राग मिटाने का पुरषार्थ करना। इस प्रकार राग टालने पर राग के निमित्त जो बाह्यपरिग्रह, उसका त्याग सहज हो जाता है। ऐसा सहजवस्तु का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; हठपूर्वक कुछ नहीं होता।

कोई माने कि मुझे विषय-कषाय या संसार के रागादि कुछ छोड़ना नहीं है क्योंकि हठ से तो कुछ नहीं होता। इस प्रकार स्वच्छन्दी भाषा बोले, राग मिटाने

का पुरुषार्थ न करे, विषय-कषाय में प्रवर्तन करे और कहे कि जो होना होगा, वह सहजरूप से उदयानुसार हो जायेगा तो वह विपरीतदृष्टि यानी मिथ्यादृष्टि है। मोह, ममत्व, राग टालने का पुरुषार्थ करे तो राग का निमित्त छूट जाता है। सच्चे अभिप्रायसहित राग का त्याग, यही सच्चा त्याग है। अन्तराय का उदय हो, उसे त्याग माने और कहे कि हम चारित्रवान हैं – त्यागी हैं, ऐसी बात यहाँ पर नहीं है। यहाँ तो आत्मा की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान व ज्ञान की स्थिरता द्वारा राग का त्याग हो – ऐसा करने को कहा है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १४-११-१९३९

गाथा ८९ में कहा कि जैसे शुभाशुभभाव जीव करता है, वैसा उसका फल होता है। पुण्य-पाप के भाव न करे, स्वसन्मुखता करे तो वह निवृत्ति की सफलता है; निवृत्तिस्वरूप मोक्ष है। ऐसा हे विचक्षण ! तू जान। यहाँ पर ऐसी अपूर्व घटना की रचना की है कि शिष्य जितना समझा है, वहाँ से वापस न लौटे और अप्रतिहतभाव से पूर्णता को प्राप्त करे। ऐसी क्रमबद्धशैली की रचना इस शास्त्र में की है। शिष्य स्वयं चार पद को अपने अन्तर की तैयारीपूर्वक यथार्थरूप से इस प्रकार समझा है कि फिर से उसमें शङ्का-सन्देह या भूल उसे पैदा न होवे। **८९.**

अब, ८७-८८वीं गाथा का उत्तर ९०वीं गाथा में कहते हैं :-

वीत्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव;
तेह शुभाशुभ छेदतां, ऊपजे मोक्ष स्वभाव।। ९०।।

बीता काल अनन्त वह, कर्म शुभाशुभ भाव।
इन्हीं शुभाशुभ नाश से, उपजे मोक्ष स्वभाव।।९०।।

कर्मसहित अनन्त काल बीता। यह शुभाशुभकर्म प्रति जीव की आसक्ति के कारण बीता है। ज्ञातापना भूलकर जीव उपाधि में रुका और इसलिए उपाधिरूप हुआ किन्तु मैं तो शुभाशुभभावरहित ज्ञानघन हूँ; मुझमें परवस्तु का धर्म कैसे संभव है ? मैं उसका और वह मेरा – ऐसे बन्धभाव में अनन्त काल बीता किन्तु उससे उदासीन होकर मात्र ज्ञातापने रहने से शुभाशुभभाव का छेदन होता है और इसलिए मोक्षस्वभाव प्रगट होता है। देह में एक क्षेत्र में ज्ञान का व्यापार और उस ज्ञान की प्रतिक्षण हो रही अवस्था और उसी क्षण, उसी क्षेत्र में पूर्व कर्म से शुभाशुभअवस्था की प्रगटदशा उत्पन्न होती है। ये राग, हर्ष, शोक आदि मलिनपरिणाम प्रकृति के औपाधिकभाव हैं। उसमें जो प्रीतिपूर्वक रुकना होता है, वह भूल है। अत: उस भूल को मिटाकर शुभाशुभराग से भिन्न ज्ञाता-दृष्टा जीव रहे तो वे सहज निवृत्त होते हैं। भूलरूप दशा इस जीवने की है। इस भूल को तू निर्मल ज्ञातारूप रहकर मिटा दे तो तेरा स्वरूप मोक्षस्वरूप ही है। ज्ञातापने में टिके रहनेरूप पुरुषार्थ से प्रगट मोक्षदशा, पूर्ण पवित्रता हो सकती है। यथार्थ अभिप्राय बन्ध गया कि शुभाशुभ औपाधिक कार्य मेरे लिये भले नहीं हैं; वह मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार अपनी पूर्ण शुद्धता को जानने से व मानने से, अबन्धपरिणाम से बन्ध अवस्था टलती है और निरुपाधिकता प्रगट होती है। **९०.**

अब, मोक्ष का स्वरूप कहते हैं :-

देहादिक संयोगनो, आत्यंतिक वियोग;
सिद्ध मोक्ष शाश्वत पदे, निज अनंत सुखभोग।। ९१।।

देहादिक संयोग का, आत्यन्तिक वियोग।
सिद्ध मोक्ष शाश्वत पदस्थ, निज अनन्त सुख-भोग।।९१।।

मोक्ष की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अन्दर में शुभाशुभपरिणाम की निवृत्ति,

यानी भेदज्ञान के बाद ज्ञातास्वभाव में टिके रहने से कर्म की उपाधि टल जाती है। राग-द्वेष टलने से शुभाशुभभाव के आलम्बनरूप संयोग स्त्री, धन, वस्त्रादि का वियोग (त्याग) सहज ही हो जाता है। राग टलने पर राग का निमित्त टल जाता है। यहाँ कहते हैं कि **'देहादिक संयोगनो, आत्यंतिक वियोग,'** यानी जिस भाव से देहादि पुण्य-पाप प्रकृति का संयोग होता है, उस बन्धभाव को शुद्धभाव द्वारा मिटाकर अबन्धभाव, वीतरागभाव को निरन्तर हाजिर रखे तो पूर्व में देह का जो अनन्त बार संयोग-वियोग होता था, वह नहीं होकर आत्यन्तिक वियोग होकर, अन्तिम से अन्तिम पूर्ण पवित्रदशा, पूर्ण शुद्धता, मुक्तदशा, मोक्षावस्था प्रगट होती है। पुण्य-पाप का भाव नहीं किया, यानी स्वसन्मुखता करे तो नवीन शुभ-अशुभ कर्मप्रकृति का बन्ध नहीं होता और पुराने बँधे हुए कर्म अपना फल दिखाकर टल जाते हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर कर्म का टलना अधिकरूप से होता है और नवीन शुभ-अशुभकर्म का बन्ध अल्प होता है और यदि सर्वथा अबन्धभाव से यानी शुद्धस्वभाव में स्थिर रहे तो देहादि उपाधिरूप संयोग का आत्यन्तिक वियोग हो सकता है; नया बन्धन नहीं आता और उसका फल सिद्धस्वरूप मोक्षस्वभाव है। वह मोक्षस्वभाव प्रगट हो, तब शाश्वतपद में अनन्त, अव्याबाध, आत्मानन्द, अक्षय आनन्द का उपभोग होवे।

सिद्ध माने पूर्ण शुद्ध कृतकृत्यदशा, जिसमें कुछ करने का शेष नहीं है। प्रथम शुभाशुभ परिणाम की हीनाधिक अवस्था एवं वैसी ही स्थितिवाले देहादि संयोग मिलते थे। उस उपाधिभाव का फिर से ग्रहण न हो, ऐसा शुद्ध वीतराग, अबन्धभाव द्वारा उस प्रकार के पुरुषार्थ की स्थिरता से उन-उन संयोगों का वियोग होता है। जो पूर्व कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनकी अबन्धपूर्वक निर्जरा हो और उस प्रकार देहादि के सर्वथा वियोग-सहित मोक्षस्वभाव प्रगट होता है और **'निज अनन्त सुखभोग'** भोगता है। कोई ऐसा मानता है कि मोक्ष में स्वतन्त्र स्वसत्ता नहीं है, एक अद्वैत ही है; अतः समय-समय पर अनन्त आनन्द का उपभोग नहीं है क्योंकि अनुभवनीय और अनुभव करनेवाला इन दो भेद से तो द्वैत हो जाता है। अतः वहाँ भोगने का कुछ नहीं रहता। ऐसा माननेवाले मतार्थी के मत का निराकरण **'निज अनन्त सुखभोग'** भोगता है – ऐसा बताकर यहाँ किया है।

आत्मा स्वयं अनादि अनन्त स्वाधीन सुखरूप है। उसमें संसारावस्था का वियोग होना, अविकारी पूर्ण पवित्र मोक्षस्वभावदशा का प्रगट होना और सहज, शुद्ध आत्मस्वरूप का नित्य रहना – यह उत्पाद, व्यय और ध्रुवपना है। प्रतिक्षण अनन्त सुख का उपभोग सिद्धदशा में है। इस द्रव्य, गुण व पर्याय का स्वरूप जिसने जाना नहीं है, उसे सच्चे तत्त्वस्वभाव में सन्देह होता है और किसी भी कल्पना द्वारा अन्यथा मान लेता है। अपनी शुद्ध अवस्था का प्रतिक्षण जीव को उपभोग है। ऐसा वस्तु का सहज स्वभाव है। कोई कहे कि वहाँ तो कुछ भोगा ही नहीं जाता तो वह मत गलत है। छद्मस्थ अवस्था में भी ज्ञानी पुरुष अपने सहज आत्मानन्द का असङ्गरूप से अनुभव करते हैं। यह तो जिनको पूर्ण, पवित्र, शुद्ध निरावरणदशा प्रगट विद्यमान है, उसे पर में, अनन्त में मिल जाना कैसे हो ? अतः वहाँ तो अनन्त सुख है। ऐसा हे शिष्य ! तू मान। **९१.**

मोक्ष के उपाय का छठा पद। शिष्य शङ्का करता है कि मोक्ष की बात तो सब करते हैं किन्तु उसके उपाय के साधन में विरोध बहुत हैं। अनन्त काल का अनजाना, यह लोकोत्तर मार्ग है और लोग अनेक प्रकार से उसका उपाय बताते हैं। कोई माने कि देहादि क्रिया से मोक्ष मिलता है; कोई माने कि जानकारी से मिलता है; कोई पुण्य से मिलता है, ऐसा बताते हैं। इस प्रकार अनेक मतार्थी अपना-अपना कथन कहते हैं। अतः मुझे भी शङ्का हो रही है। इस शंका के कारण शिष्य प्रस्तुत करता है। शिष्य की शङ्का –

होय कदापि मोक्षपद, नहि अविरोध उपाय;
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय ?।। ९२।।

होय कदाचित् मोक्ष पद, नहिं अविरोध उपाय।
कर्म काल अनन्त के, कैसे छेदें जाय ?।।९२।।

भवभीरु शिष्य के कलेजे की पुकार है कि अविरोध उपाय हाथ न आये

तो यथातथ्य सच्चा उपाय समझे बिना कर्मबन्ध से कैसे छूटा जाये ? पुनश्च, कर्म तो अनन्त काल के हैं; वे अल्पआयुवाले मनुष्यदेह से किस प्रकार छेदन किये जाये ? शिष्य का उत्साह समझपूर्वक बढ़ा है कि मोक्ष का सदुपाय समझाओ।

अब, शिष्य मोक्ष के लिये हाँ करता है और तीव्र जिज्ञासा के साथ उत्साह दिखाता है। वह अपूर्व लोकोत्तरमार्ग की सच्ची विधि समझना चाहता है और कहता है कि मोक्ष का यथातथ्य, अविरोध, परमार्थभूत, सच्चा उपाय समझाइए।

चार प्रकार के श्रोता कहे हैं –

(१) शीशे जैसे - वक्ता जो-जो न्याय कहें, उस-उस न्याय को तुरन्त समझ लेते हैं।

(२) धजा की पूँछ जैसे - कि जो धर्म की चाहे जैसी विपरीत बात सुने तो उसकी भी हाँ करे; सभी को वन्दन करे। सत्य असत्य की परीक्षा जिनको नहीं है, किसी प्रकार का अविरोधी निर्णय करने की मध्यस्थबुद्धि नहीं है, परीक्षा करने की तुलनात्मक बुद्धि ही नहीं है।

(३) फूटे हुए घड़े जैसे कि - वे सुन लें किन्तु ग्रहण न करे।

(४) थूहर के काँटों की भाँति - कि जो काँटे टेढ़े होने के कारण उन पर वस्त्र सूखने के लिये डालो तो कैसे भी जल्दी से निकले नहीं। ऐसे कुतर्कवादी व औंधाई करनेवाले सच्ची बात सुनते ही विरोध करे कि आप ऐसा क्यों कहते हो ? शुद्धात्मा की ऐसी श्रद्धा करने से तो हमारे पुण्य, दया, सब कुछ उड़ जाता है। शास्त्र में नौ प्रकार से पुण्य कहे हैं, इसलिए उन पुण्यों को करना ही हमारा धर्म है।

सच्चे का विरोध करनेवाले कहते हैं कि पुण्य से तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है। तीर्थङ्कर नामकर्म तो सच्चे भान की भूमिका में, पुण्य आदरणीय नहीं है – ऐसे भाव में बँधता है। ज्ञानीजन कहते हैं कि अशुभ से बचने हेतु पुण्यपरिणाम करने किन्तु पुण्य से आत्मा को लाभ होता है – ऐसा कहाँ कहा है ? पुण्यास्रव तो बन्ध का कारण है। उससे आत्मा को लाभ होगा – ऐसा कहाँ उसमें आया ? पाप नहीं करना, ऐसे उपदेश में पुण्य का उपदेश व्यवहार से आता है किन्तु उसमें वास्तव में धर्म माने तो उसके अज्ञानपूर्वक के पापानुबन्धी पुण्य के फल

में तीर्थङ्कर की बज़ाय तीतर (एक पक्षी) हो जायेगा। जिसने आत्मा को शुद्धस्वभावी नहीं माना, पुण्य का आदर किया और राग में रुक गया – उसने ज्ञातापने का, शुद्धस्वरूप का अनादर किया। शुभभाव करे तो शायद अगले भव में देव-व्यन्तर आदि होवे। वहाँ से अच्छा गधा या तीतर होवे और क्रमशः नरक में जाए। तीतर होकर दीमक खाकर हिंसा के फलस्वरूप नरक में जाए। जबकि ज्ञानी धर्मात्मा तीर्थङ्कर होकर जगत का उद्धार करे व मोक्ष में जाए।

थूहर के काँटे समान कुतर्कवादी कहते हैं कि ये तो केवल निश्चय की ही बातें करके हमारी सब चीज़ों का उत्थापन करते हैं; हमारा किया-कराया सब कुछ निरर्थक सिद्ध करते हैं। इससे तो हमारा सब कुछ मिट जायेगा। ऐसा कहकर सत्य का अनादर करते हैं और अपने स्वभाव का घात करनेवाले मिथ्याभाव का आदर करते हैं। तो भी यह काल भाग्यशाली है कि विचारवान जीव इस सत्प्ररूपणा को सुनने के इच्छुक हैं और कई लोग, जिन्हें सच्चे मार्ग की प्रतीति नहीं है, वे अन्तराय खड़ी करने हेतु आड़े नहीं आ रहे। श्रीआनन्दघनजी एवं श्रीमद्राजचन्द्रजी के काल में तो इस बात को सुननेवाले बहुत कम थे।

श्रीमद्जी कहते हैं कि :-

एही नहि है कल्पना, ऐही नहीं विभंग,
कई नर पंचमकाळमें, देखी वस्तु अभंग।

'सर्वज्ञ वीतरागस्वरूप का विचार करते हुए, पा लिया आत्मधर्म का मूल'। मोक्षमार्ग वर्तमानकाल में भी है। एक देह करके मोक्ष में जाए, ऐसे जीव वर्तमानकाल में भी हैं और पञ्चम काल के अन्त तक रहेंगे, उसे पहचानने की शक्ति चाहिए। जो परमार्थ ग्रहण करना चाहता हो, उसे विरोध मिटाकर ज्ञानी की आज्ञानुसार प्रवर्तन करना पड़ेगा। चौथे काल में जो लोग साक्षात् सर्वज्ञ की समीप में भी आत्मधर्म नहीं पा सके, ऐसा महामूला धर्म इस काल में भी कई जीव प्राप्त कर सकते हैं। जिस सर्वज्ञ ने सनातन सच्चा तत्त्व कहा है, उसे विरोधरहितरूप से समझे तो उसे इस काल में भी एकभवतारीपना होना सम्भव है। प्रथम गाथा में कहा कि **'जे स्वरूप समज्या विना पाम्यो दुःख अनन्त,'** इस प्रकार समझ की ही कमी है। जो भूल टालना चाहे, वह तैयार होकर सद्गुरु समीप जाये तो भूल टल जाए।

यह पञ्चम काल की बात है। शिष्य ने इस प्रकार की शङ्का रखी है कि मतदर्शन के कई आग्रही हैं, वे अनेक उपाय कहते हैं। फिर अनन्त काल से प्रवाहरूप कर्म परम्परा से बन्धनरूप में चालू रहे तो उनसे कैसे छूट सके ? हे नाथ! चौथे काल में तो बहुत लम्बे आयुष्य थे और साक्षात् सर्वज्ञप्रभु तीर्थङ्करभगवान का योग था किन्तु इस काल में अल्प आयुष्य है और साक्षात् तीर्थङ्करभगवान का वियोग है। उसमें कर्म के इस शुभाशुभ बन्धन को कैसे छेदा जाए ? संसार में भी यदि किसी को कोई उलझन हो तो चतुर पुरुष उसका समाधान करके बुद्धिपूर्वक न्याय करते हैं और समझाते हैं। इस प्रकार चैतन्य का यह निरुपाधिक शुद्धधर्म और औपाधिक भूलरूप अवस्था का झगड़ा सद्गुरु के समक्ष फरियाद करने पर टल सकता है। **९२.**

शिष्य शङ्का के कारणों को प्रस्तुत करता है :-

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक;
तेमां मत साचो कयो, बने न एह विवेक।। ९३ ।।

अथवा मत दर्शन बहुत, कहें उपाय अनेक।
उनमें सच्चा कौन है ?, सूझत नहीं विवेक।।९३ ।।

शिष्य मिथ्याधर्म, मतार्थ, मानार्थ से थककर वापस लौटकर फिर से सद्गुरु सन्मुख आया है। भव का भय समझ में आया है; अतः अब तीव्र जिज्ञासा बताता है कि हे नाथ ! हे प्रभु ! मेरे में विवेक शक्ति नहीं है किन्तु समझने का कामी हूँ। साधारण मुमुक्षु बहिनें, बच्चे इत्यादि सब मोक्ष की अभिलाषा रखते हैं किन्तु उनको विपरीत तरह का पोषण मिलने पर परेशान हो जाते हैं कि अब हम क्या करें ? कोई क्रिया से मोक्ष मानता है; कोई पुरुषार्थ न करना पड़े, इस तरह मोक्ष को सस्ता मानता है और कोई सच्चे रास्ते के प्रति झुकाववाला हो, उसे रोकनेवाले भी बहुत मिलते हैं और कहे कि हमारा कुलधर्म है, उसे कैसे छोड़ें ?

इस प्रकार संयोग दृष्टिवाले विघ्न को देखते हैं। अन्तराय देखनेवाले को अन्तराय दिखता है किन्तु जो सर्व बन्धन को भिन्न जानकर, औपाधिक जानकर उसके सामने देखता नहीं है और जो सत्स्वरूप का खोजक है, उसे सत्समागम मिलता है। जिस भाव से अनन्त काल बिताया, उस बन्धभाव से, औपाधिकभाव से अबन्ध, निरुपाधिक शुद्धतत्त्व किस प्रकार प्रगट हो ? स्वयं यदि शान्ति के मार्ग पर चले तो सुख-शान्तिरूप फल क्यों न मिले ? अतः पात्रता व सत्समागम की जरूरत है।

खुद को मार्ग की खबर न हो और जाननेवाला यदि छोटा बच्चा हो तो उससे पूछना पड़े। भावनगर से चतुर नागर को सिद्धपुर जाना है। ६० साल के अनुभवी हैं; संसार में चतुर माने जाते हैं। सफेद बाल व सफेद मूँछोंवाला, स्वच्छ कपड़ेवाला २५ लाख का धनी है। ऐसे दस आदमी बैलगाड़ी में बैठे हैं किन्तु मार्ग में उलझ गये हैं। दुनिया में बहुत बुद्धिमान कहलाते हो किन्तु जिस मार्ग का भान खुद को नहीं है, सारा मान छोड़कर वह मार्ग के जानकर से पूछे तो मार्ग हाथ आये; न पूछे तो भटकते रहें। दृष्टान्त : एक पण्डित जहाज में बैठकर समुद्र के रास्ते जा रहा था। उसने जहाज चलानेवाले माँझी से पूछा कि तुम ज्योतिष जानते हो ? गणित जानते हो ? खगोल, भूगोल जानते हो ? इत्यादि। तब नाविक ने कहा कि मैं नहीं जानता। तब पण्डितजी बोले कि तुम्हारे सारे साल पानी में गये। आगे चलने पर समुद्र में तूफान उठने पर जहाज डूबेगा – ऐसा जाना तो नाविक पूछता है कि पण्डितजी आप तैरना जानते हो ? पण्डित कहे 'नहीं,' तो नाविक कहता है कि मैं तो तैरकर निकल जाऊँगा; यह जहाज डूब जायेगा। अब बताओ कि मेरे सारे वर्ष पानी में गये या आपके ? इस प्रकार जो बाहर का अन्य बहुत कुछ जानता हो किन्तु यदि पर से भिन्न मैं स्वाधीन ज्ञायक ही हूँ – ऐसे सत् स्वभाव को भावभासन द्वारा नहीं जानता तो वह भवसागर में डूब मरेगा। सत् के जानकार से यदि भवसागर तैरने का उपाय जाना हो तो डूबने का प्रसङ्ग नहीं आता। श्रीमद्राजचन्द्रजी के प्रत्येक पत्र में सत्समागम की गूञ्ज है। स्वच्छन्दतापूर्वक मार्ग हाथ नहीं आयेगा। अतः सारे विरोधों से रहित आत्मा का धर्म, सच्चा हित जिसे चाहिए, उसे स्वयं अपनी तैयारीपूर्वक सत्समागम करना पड़ेगा।

छठे पद की शङ्का चल रही है। पाँच बोल का निर्णय किया, इसलिए शिष्य

कह रहा है कि कदापि मोक्षपद होवे किन्तु विरोधरहित सच्चा उपाय क्या होगा ? मतदर्शन के अनेक अभिप्राय की उलझन अल्प आयुष्य से कैसे टल सके ? परमार्थ का मार्ग तो तीनों काल में एक ही होना चाहिए, उसका सही विवेक कैसे करना ? यह हे प्रभु ! आप ही बताइए। क्योंकि –

'अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक;
तेमां मत साचो कयो, बने न एह विवेक।'

यदि मताग्रह के पक्ष से अकुलाहट हो और सही समझना चाहे तो वह अकुलाहट का निबेड़ा (अन्त) ला सकता है। लोग मानते हैं कि अपना कर्तव्य है, इसलिये कुटुम्ब, देश, समाज का हम कुछ कर दें; कुछ सेवा करें; अस्पताल, स्कूल बनवाऐं, इत्यादि कर्तव्य करे तो ठीक। इस प्रकार जो कार्य खुद के आधारित नहीं है, उस पराधीन कार्य को करने में अपना धर्म मानते हैं। पर के कार्य सहज ही जिस काल में होनेवाले हो, उस काल में होते हैं। उसमें यदि इस देहादि का निमित्त होनेवाला हो तो उस समय जीव को इच्छा की वृत्ति उठती है और पर कार्य की योग्यता हो तो वह कार्य हो जाता है। फिर भी जीव उसमें मिथ्या अभिमान करता है। तत्त्व को यथार्थरूप से जाने बिना, भेदविज्ञान प्राप्त किये बिना कोई कहे कि मैं यह अनासक्तरूप से करता हूँ तो उसकी बात झूठी है, मान्यता औंधी है। पर के कार्य चेतन कदापि कर नहीं सकता। चैतन्य ज्ञाता है; अत: जो-जो संसार व देहादि के कार्य होवे, उनको वह केवल जानता ही है। वस्तु का सहजस्वभाव भूलकर अन्य कुछ माने कि मैं दूसरे को सुखी करूँ, दु:खी करूँ; बचाऊँ इत्यादि जो विपरीत स्वभाव को मानता है, वह अपने निर्दोषगुण को दोषित, महा-अज्ञानरूप करता है।

ज्ञातास्वभाव की अरुचि है, उसे पर में व रागादि में कर्तापने की रुचि होती ही है। स्वयं इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके व्यर्थ अभिमान करता है कि मैं करता हूँ। इस प्रकार ज्ञाता स्वतन्त्र चैतन्य मिटकर अपने आप को जड़ समान करता है, मानता है, जड़भाव की मान्यता करता है। अत: अनन्तज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान के अलावा अन्य कुछ भी कार्य अपने आधार से होता है – ऐसा जो माने अथवा वह कार्य खुद का है, ऐसा जो माने, वह स्व का हिंसक है; स्वयं अपराधी

है।

ज्ञानी को पुण्यपरिणाम होते हैं किन्तु उसकी संसार के खाते में खतौनी करते हैं। पुण्यपरिणाम का आदर, यह मोहकर्म का आदर है। सच्ची खतौनी किस प्रकार करनी – ऐसी समझ नहीं होने के कारण इस वर्तमान काल में सत्स्वरूप से विपरीत मान्यता माननेवाला बड़ा वर्ग है। जानना, उसमें पर का करना – ऐसे भाव का अवकाश ही नहीं है, फिर भी माने कि मैंने शुभपरिणाम किये। अब सोचो कि मोहकर्म का अनुसरण करने से शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप आदि कार्य की इच्छा होती है; उसे जो ठीक मानता है, उससे लाभ मानता है, वह अज्ञानी है। आत्मा की निरुपाधिक शान्ति लक्षणरूप है। उसे भूलकर जो पुण्य का आदर करता है, ठीक मानता है – उसे वह छोड़ने योग्य कैसे माने ? **'कर्ता का इष्ट सो कर्म।'** जीव जिसे प्रिय माने, उसे छोड़ना क्यों चाहे ? अतः जो तत्त्वस्वरूप, ज्ञानस्वभाव से अनजान है, वह अज्ञानसहित बाह्य क्रिया करके पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध करे, देव होवे; फिर भूत / व्यन्तर बनकर फिर कसाई के घर बकरा बने या कसाई होवे और फिर नरक में जाए।

सामान्यतया ऐसी बात चलती नहीं है। बहुधा जनसमाज जो मानता है, इससे यह भिन्न बात है। यह बात स्थूल बुद्धि जीवों को अपने अन्दर बिठानी कठिन पड़े, ऐसी है। सत् का निषेध करनेवाले बहुत लोग हैं। फिर भी वीतरागसर्वज्ञ के शासन की प्रभा जयवन्त है। सच्चे धर्म को टिकना है; अतः **श्रीमद्‌राजचन्द्र जैसे पवित्र आत्मा भी पञ्चम काल के आखिर तक रहेंगे।** साधारण लोगों को (बाह्यदृष्टि जीवों को) रुचे नहीं, ऐसी यह बात है। वर्तमान लोगों के विपरीत अभिप्राय से बिल्कुल भिन्न है। ऐसे इस सनातन सत्य को, नग्न सत्य को जाहिर करते हैं। जिसे सच्चा हित, सच्चा सुख चाहिए, उसे अविरोधी न्यायमार्ग को समझना पड़ेगा।

यदि कोई कहे कि जड़ की क्रिया चेतन करता है, उसे मैं कर सकता हूँ, उससे ठीक होगा, इत्यादि; जड़वस्तु के कार्य को अपना मानता है, अपना कर्तव्य मानता है और पुण्य, दया आदि राग को मोक्षमार्ग मानता है; वह अपने ज्ञान को आच्छादित कर रहा है, ढक रहा है क्योंकि उसे निर्दोष ज्ञातापना नहीं जँच रहा। लोगों को अच्छा होना है, अच्छा करना नहीं है। वस्तुस्वभाव क्या

है ? – उसका ज़रा-सा भी विवेक लाकर मनन नहीं करते। घातिकर्म क्या और कषायपरिणाम क्या और मन्दकषाय माने शुभपरिणाम क्या तथा वे किस प्रकार होते हैं ? इसका कुछ भी पता नहीं है। अपने स्वगुण का घात किस प्रकार होता है ? यह सोचकर देखते नहीं हैं। जो ज्ञान का कर्तव्य है, उसे भूलकर जड़ के कर्तव्य की अपने में खतौनी करते हैं और उसे ठीक मानते हैं; विकारीभाव को धर्म मानते हैं। जिन भावों को करने लायक व ठीक मानता है, वे भाव कौनसे हैं ? दुश्मनरूप हैं या सज्जनरूप है ? इसका विचार कभी किया है ? प्रश्न - तो फिर व्यवहार के बिना दान-दया इत्यादि किस प्रकार होंगे ? उत्तर – सामनेवाले के पुण्य हो और उन्हें राग हो तो उस प्रकार का विकल्प आये बिना रहेगा ही नहीं। जो कार्य, जिस समय, जिस प्रकार से होनेवाला है, उस प्रकार से अवश्य होगा ही; उसे रोकने के लिये कोई समर्थ नहीं है। लोगों को परभाव के त्याग की बात पसन्द नहीं है, वे दया के परिणाम को अपना स्वभाव, गुण या कर्तव्य मानते हैं; अतः उनको निर्दोष ज्ञातापने का अनादर विद्यमान है।

प्रश्न - क्या किसी को आत्मा का अनादर करने का भाव (इच्छा) होता है ?

उत्तर - आत्मा का भान नहीं है, इसलिए परसत्तावलम्बीपने में ठीक मानता है। पुण्य की रुचि है; यही ज्ञाता चैतन्य का निषेध है, अनादर है।

कोई कहे कि हमें इनकी खबर नहीं है किन्तु अज्ञान कोई बचने का बहाना नहीं है। धर्मात्मा ज्ञानी को भी दया, दान, सेवा के कार्य का तथा देह के व्यापाररूप योग हो जाता है किन्तु उसे वे अपना कार्य नहीं मानते। जो जीव उसे ठीक मानता, मनवाता है और उन शुभ-अशुभभावों को परमार्थ से उपादेय मानता -मनवाता है, वह अज्ञानी है। ज्ञानी जानते हैं कि प्रकृति का ऐसा योग है तो योगानुयोग दया की इच्छा, दान, सेवा की वृत्ति व कार्य हो जाते हैं; मैं नहीं करता। उसका व उसके फल का, पुण्य का मैं स्वामी नहीं हूँ। धर्मात्मा सज्जन तो ऐसा मानते हैं कि चेतन को कर्तव्य से विपरीत जो पुण्य, पाप एवं राग के कर्तव्य को मैंने किया, ऐसा कोई बताये तो वह मेरे सिर पर कलङ्करूप है। अविकारी को विकारी कहना, शाहूकार को चोर कहने के बराबर है। फिर भी कोई इस प्रकार की

नासमझ की भूल को न जाने तो भी अपने भाव की हिंसा इसमें अवश्य है। परभाव में, राग में टिकना – यह दोष है, अस्थिरता है, कलुषता है। उसे जो माने कि यह ठीक है, मेरा कर्तव्य है, यह रखने लायक (उपादेय) है – उसने अविकारी, निराकुल, आनन्द शान्तस्वरूप आत्मा में मुझे टिकना है, ऐसा नहीं माना।

जिस प्रकार शराब पीकर मस्त हुआ पागल मनुष्य मल-मूत्र में पड़ा हुआ, खुद को सुख-आनन्द है – ऐसा मानता है किन्तु समझदार लोग उसकी बात को सच्ची न माने। उस प्रकार आत्मा की सच्ची प्रतीति से भ्रष्ट, मोहभाव में मस्त होकर जो मानता है कि रागादि पुण्यादि मेरे हैं, जड़ की क्रिया मैं करूँ, ऐसा करूँ, वैसा करूँ किन्तु ज्ञानी इसको नहीं मानते। वे तो जानते हैं कि ये कार्य उदयवशात् होते ही रहते हैं; आत्मा उसका कर्ता नहीं है, वह तो मात्र जानता है। भ्रान्ति में पड़े हुए जीव माने कि ये मेरे हैं, मैं उनका हूँ; इस प्रकार अपने स्वभाव को छोड़कर नाहक वह स्वयं को जड़ – जैसा मानता है और परभाव का कर्ता व स्वामी होता है। कोई कहे कि दया के, परोपकार के कार्य रुक जायेंगे तो ? उत्तर – जिसे वस्तुस्वभाव का ख्याल आया, उसे पूछना नहीं पड़ेगा। सज्जन के हाथों जिस प्रकार के लौकिक पवित्र कार्य होते हैं, ऐसे सुन्दर कार्य अज्ञानी (आत्मज्ञान से अनजान जीव) के हाथ से नहीं होते। ज्ञानी धर्मात्मा जब तक संसार में, रागदशा में हैं; तब तक उनसे दया, दान, देव-गुरु-धर्म की भक्ति आदि विकल्प व कार्य हो जाते हैं। जिसके निमित्त से पर की जो क्रिया होनेवाली है, वह होती ही है। ज्ञानी उसका यथार्थ विवेक करते हैं और अज्ञानी वृथा अभिमान करते हैं। स्वभाव एवं विभाव को भेदज्ञान द्वारा जाने तो समझ में आये कि विभाव मेरा हितरूप कार्य नहीं है। जीव को अन्तर के सूक्ष्म परिणाम को जानने का प्रयत्न करने की रुचि नहीं है किन्तु बाहर का सब करने की रुचि है। अतः आज तक सच्चा वस्तुतत्त्व समझ में नहीं आया।

श्रेणिक राजा ने अपने राज्य में हिंसा, कत्लखाने बन्द करवाए। इससे वे ऐसा नहीं मानते कि मैंने बन्द करवाए, मैंने जीवों को बचाया किन्तु वे तो जानते हैं कि सामनेवाले जीवों का पुण्य उदय था, तब योगानुयोग ऐसा कार्य बन गया। लोग में व्यवहारभाषा में कहा जाता है कि राजा ने हिंसा बन्द करवायी किन्तु राजा

ने तो मात्र ज्ञान किया है; उस समय स्वयं की भूमिका के योग्य शुभराग था, उसे वे जानते हैं। शुभ इच्छा हो, उसको ठीक माने, अपनी माने, करने योग्य माने – वह ज्ञानी नहीं हो सकता। धर्मात्मा को पुण्य का आदर नहीं होता। फिर भी पुण्यपरिणाम हो जाते हैं जरूर किन्तु वे उसका संग्रह नहीं करते; विकल्प मैं नहीं, पुण्य मैं नहीं, पुण्य का फल भी मैं नहीं; मैं सिद्धभगवान जैसा शुद्ध हूँ, पुण्यरहित, रागरहित हूँ – ऐसा वे मानते हैं। फिर भी कमज़ोरीवश शुभराग हो जाता है किन्तु जितने अंश में राग को तोड़ते हैं, उतने अंश में निर्जरा है और जो शुभभाव रहता है, उस शुभभाव के कारण लोकोत्तर पुण्य बन्ध जाता है। परमाणु की क्रिया जिस प्रकार होनेवाली हो, तद्अनुकूल इच्छा तथा देह की क्रिया हो जाती है किन्तु ज्ञानी को उसमें प्रेम नहीं है, अहंबुद्धि नहीं है। जिसे परभाव की, उपाधि की इच्छा नहीं है, उसको ही अत्यन्त उत्कृष्ट पुण्यबन्ध होता है किन्तु जिसे पुण्य की व जड़ की क्रिया की मिठास है तथा ज्ञातापने का भान नहीं है, उसे लोकोत्तर पुण्यबन्ध भी नहीं होता। अज्ञानी मानता है कि मैंने पुण्य किया, मैंने सेवा की, पर की दया, रक्षा मैं करता हूँ तथा मुझे पर के कारण बन्धन हुआ; मैंने जड़कर्मों का बन्धन किया – इस प्रकार एक तत्त्व में दोपना (द्वैत) वह मानता है। इसका उसे उमङ्ग है और ज्ञातापने को भूलकर परभाव के कर्तृत्व में वह उत्साह दिखाता है। यह महाविपरीत दृष्टि है; वह अपने भाव की हिंसा करनेवाली है। पर का कुछ करूँ तो होवे और न करूँ तो न होवे – यह भी महा-अभिमान है।

तत्त्व व पुरुषार्थ को समझे बिना कई जीव शुष्कज्ञान, मन की कल्पना को ज्ञान मानते हैं। वे मन्दकषाय से दूर होकर, तीव्रकषाय, पापपरिणाम में प्रवर्तन करते हैं और एकान्त पकड़कर पुरुषार्थ का उत्थापन करते हैं। इस प्रकार कोई शुष्कज्ञान में रहते हैं तो कोई क्रियाजड़त्व में रहते हैं; दोनों को राग की रुचि है।

और कोई कहे कि हम ज्ञान व क्रिया दोनों करते हैं किन्तु उन्हें तत्त्व-अतत्त्व का भान नहीं होता। जीव यदि यथार्थरूप से समझे तो वस्तु का स्वभाव सर्वज्ञ भगवान कहते हैं, वैसा ही है; अन्य स्वरूप तीन काल में नहीं है, यानी आत्मा ज्ञान के अलावा और कुछ भी नहीं करता – ऐसा त्रिकाली नियम है, ऐसा उसकी जानकारी में आये। जीव शुद्ध, अबन्ध, पूर्ण, कृतकृत्य, ज्ञाता-दृष्टा

है। ऐसे वस्तुस्वरूप को गुरुगम से यथार्थतापूर्वक समझे बिना, अनुभव के बिना सच्चा पुरुषार्थ कर नहीं सकता और सम्यग्दृष्टि बन नहीं सकता। कोई ऐसा माने कि अभी पुण्य कर लें, बाद में परम्परा से धर्म होगा ही। इस प्रकार बन्धभाव से, पर के लक्ष्य से उठे हुए जीव, बन्धन में ही रुके हुए हैं और स्व के लक्ष्य से उठे हुए जीव पर को पर जानते हैं। परद्रव्य, परभाव में कर्तृत्व, ममत्व नहीं करते और स्व में माने, ज्ञान में ज्ञातारूप से रहते हैं। जिसे अपने स्वभाव का ज्ञान नहीं है, उसे पर में सुखबुद्धि होगी ही होगी। **'कर्ता का इष्ट सो कर्म'** – इस न्याय से पर का कर्ता होनेवाले को पर के साथ एकताबुद्धि होती है। मैं पर को रखूँ, टिकाऊँ या रोकूँ – ऐसा जो आग्रह रखते हैं, उनको वह करने का ही आग्रह है; अत: मैं ज्ञान हूँ – ऐसा उसे भान नहीं है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, यह समझो।

यहाँ पर शिष्य उलझ गया है किन्तु वह विचारपूर्वक फटाक से समझ ले, ऐसा है। इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र' की गुजराती भाषा में इतनी सरलरूप से रचना की है किन्तु लोग अपनी बाह्यदृष्टि से स्वच्छन्दतापूर्वक पढ़े तो उसमें से अन्यथा समझें। अनन्त काल से जो समझ में नहीं आया, उसे समझने की रीति भी कोई अपूर्व व निराली है। कोई कहे कि हम क्या करें ? तो इस बारे में कई बार कहा जा चुका है कि सच्ची समझ करना, पर का कुछ करना, अपने आधार से नहीं है। धर्मात्मा ज्ञानी, पुण्य को न करता है, न पुण्यबन्धन करता है; जो परमाणु पुण्यरूप परिणमित होते हैं, उनको उनसे भिन्न रहकर जानते हैं। पूर्व कर्म सत्ता में से प्रगट होकर आते हैं। जो होता रहता है, उसे जानते हैं। सामनेवाले जीव का पुण्योदय हो तो उसे देने की इच्छा रागी जीव को हो जाती है, उसमें जीव ने (आत्मा ने) क्या किया ? सिर्फ जाना है अथवा ठीक, अठीक माना है। अज्ञानी ने अज्ञान व राग का पोषण किया है और ज्ञानी ने ज्ञान का किया है। ज्ञान में स्थिरता नहीं है; अत: पाप से बचने हेतु जिनपूजा, वन्दन, स्वाध्याय, भक्ति आदि क्रिया हुए बिना नहीं रहती। पुरुषार्थ अभी पूर्णरूप से खुला नहीं है; अत: शुभविकल्प की वृत्ति में ज्ञानी का जुड़ना होता है। वे जानते हैं कि अस्थिरता मेरा स्वभाव नहीं है, फिर भी शुभयोग की क्रिया होती हुई दिखती है; पुण्यबन्ध होता है किन्तु उसमें रञ्चमात्र प्रेम नहीं है। स्वयं को पूर्ण पवित्रशुद्धता, वीतरागसमाधि चाहिए। इस

रुचि के अनुसार ज्ञान में पुरुषार्थ करता है। मन्दकषाय से पुण्यबन्ध होता है, उसे वह जानता है कि जिस प्रकार जगत में धूल के ढेर पड़े हैं, उस प्रकार इस क्षेत्र में भी पुण्य के रजकण अल्प स्थिति के बँधते हैं और पुराने कर्म खिर जाते हैं। सच्चा अभिप्राय होने के बावजूद भी अभी अस्थिरता है; अतः शुभप्रकृति का पुण्य बँधता है, उसका फल, जो देवगतिरूप दिखता है, उसका भी वहाँ निषेध है; प्रेम नहीं है। आत्मा पर का कुछ भी करे नहीं, ज्ञान में ही टिके और ज्ञान करे, इसमें तो बहुत पुरुषार्थ चाहिए। जीव ज्ञानस्वरूप जैसा है, वैसा जानकर उसमें ज्ञानरूप से टिकना, यही कर्तव्य है। इसमें बहुत कुछ करने का आ गया। खुद के आधार से स्वयं को लाभ, नुकसान है।

अपना हित स्वयं ही कर सकता है किन्तु उस पर अज्ञानी लक्ष्य नहीं रखता यानी जो हो सकता है, वह नहीं करना है और नहीं हो सकता, वह करना है। पर से सुख हो – ठीक हो, ऐसी जो विपरीत मान्यता है, उसका त्याग करने की जरूरत है। ऐसी समझ से यथार्थ तत्त्व जैसा है, वैसा समझ में आता है और सारी उपाधि - पराधीनता मिटाकर वर्तमान में निरुपाधिक शान्ति दिखती है। अज्ञानी बहुत कष्टपूर्वक मन्दकषाय करके अल्प पुण्यबन्ध करता है, जबकि उससे दूसरी तरह का लोकोत्तर उच्च पुण्य मन्दकषाय के निमित्त से ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को सहज ही अनिच्छा से बन्ध जाता है।

आत्मा तो अबन्ध है; निरन्तर ज्ञानमात्र ज्ञाता ही है – इसकी एक बार तो हाँ लाओ। मैं पूर्ण शुद्ध, अबन्ध, ज्ञानमात्र हूँ; ज्ञान के अलावा मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है; दया, राग, पुण्य-पाप के परिणाम करना, यह मेरा स्वभाव नहीं है बल्कि बन्धभाव है। मेरा स्वभाव तो अविकारी, अबन्ध, शुद्ध है। ऐसे इस तत्त्व को माने बिना जो कुछ करेगा, वह सब उल्टा करेगा और बन्धन करेगा। जो तत्त्व जैसा है, वैसा नहीं मानना, नहीं जानना और स्वच्छन्दतापूर्वक उसमें कल्पना करना, यह औंधीमान्यता है। श्रीमद्जी एक पत्र में लिखते हैं कि अनन्त काल से जो तत्त्व समझ में नहीं आया, उसे यथार्थ न्यायप्रमाण से सुल्टा समझने में देर लगे, उससे कोई दिक्कत नहीं है किन्तु उल्टा समझ में आये तो हानि है। सच क्या है ? उसे मध्यस्थतापूर्वक समझने का परिचय करना – वह भी परमार्थ का कारण है।

आत्मा का स्वरूप क्या है ? यह समझना ही सही कर्तव्य है।

पुण्यादि या देहादि जड़ के कार्य करने का अभिमान सच्चा कर्तव्य नहीं है। लोग कहते हैं कि ऐसा मानने से, करने से तो पुण्य इत्यादि उड़ जायेंगे; अतः हम तो ये पुण्यादि करें। दान, तप, शील द्वारा परम्परा से मोक्ष होता है; अतः हमें निश्चय का कोई काम नहीं है। निश्चय माने सत्य जो सत्स्वरूप के पुरुषार्थ की ना करता है, वह नरक में नपुंसक होगा क्योंकि अपने पुरुषार्थ की खतौनी जड़ की क्रिया में करता है और स्वयं को बिना मूल्य का, पराधीन मानता है। जो कार्य खुद का नहीं है, उसे कर्तव्य मानता है और हम संसार की व्यवस्था कर दें, हम शरीर इत्यादि को बराबर रखें, इत्यादि जड़भावों का कर्ता होकर, अभिमानी होकर ज्ञातापने का निषेध करता है। इस जड़ के कर्तव्य मैं करता हूँ; इससे मेरी सुविधा बनी रहती है, अतः इसका ऐसा ही कर सकता हूँ, इत्यादि अनेक प्रकार का अहंभाव धारण करता हुआ व ज्ञान का निषेध करता हुआ वह आत्मवीर्य हार जाता है (गँवा देता है) और परम्परा से (क्रमशः) अवश्य नारकी में नपुंसक होता है।

न्याय समझे कि आत्मा सदा अरूपी, ज्ञानमूर्ति है; उसकी क्रिया ज्ञानमात्र माने ज्ञाता-दृष्टा-साक्षीपने की है। उसे भूलकर पुण्यवाला, रागवाला, पर में कर्ता-भोक्तारूप जड़ की क्रिया करनेवाला इत्यादि परभाववाला मानना – यह क्या चैतन्य की अशातना, अवहेलना नहीं है ? है। विचार करो तो स्पष्ट समझ में आयेगा कि पर का करना, भोगना, लेना, रखना, ऐसी शुभ-अशुभ कल्पना ही जीव कर सकता है किन्तु पर का कुछ कर नहीं सकता। जीव या तो ज्ञान करे या फिर अज्ञान करे, यानी खुद ज्ञान में ही स्वयं उल्टी अथवा सुल्टी खतौनी कर सकता है। चेतन का कार्य मात्र जानना है। यह न्याय समझ में आये तो ही राग-द्वेष रहित आत्मा समझ में आ सके, ऐसा है। सही समझने के बाद अन्तरङ्ग में कहीं भी समझ में भूल नहीं होती।

यहाँ तो शिष्य को उलझन हो रही है और वह समझने का कामी है किन्तु लोगों की बुद्धि तो बहुत स्थूल है। जड़ एवं चेतन के गुण तथा धर्म की खतौनी करने में स्थूल बुद्धि व बाह्यदृष्टि कार्यकारी नहीं है। कोई ऊपर-ऊपर से मात्र

देह की क्रिया को ही देखता है और कोई ऊपरी दृष्टि से शास्त्र पढ़ता है। लोग इतिहास, कहानी व उपन्यास की भाँति शास्त्र पढ़ लेते हैं और फिर सर्वज्ञ वीतराग के वचन पर अपना मत देते हैं कि इसका ऐसा ही होना चाहिए क्योंकि हमारी मान्यता से ऐसा बैठता है। न्याय क्या ? इसकी तो कुछ खबर नहीं है और अपने आप को ज्ञानी मानता है किन्तु इससे तो वह स्वयं अपना अहित करता है। अतः ज्ञानी कहते हैं कि तत्त्व को यथार्थ सत्समागम द्वारा समझो, फिर अवसर मिलना मुश्किल है। मनुष्यभव हार मत जाना ! इसके लिये इसी क्षण तत्त्व की विचारणा करो। समझ की भूल स्वयं से ही टलती है।

श्रीमद्जी प्रथम गाथा में कहते हैं कि **'जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनन्त'** स्वयं अनन्त शक्तिवाला है, फिर भी अपनी स्वाधीन शक्ति को भूला है। ज्ञान का वीर्य पर के लिये अकर्ता है। जीव ज्ञानमात्र है व सुखस्वरूप है। उसका भूलना तो अनादि से हुआ है क्योंकि अनादि से पर में सुखबुद्धि है। जीव को अपने में सुख नहीं दिखता; अतः पुण्य की मिठास भीतर में घुस गयी है। इस पराधीन मनोदशा को छोड़ना लोगों को पसन्द नहीं है। पुण्य हो जाए, वह अलग बात है किन्तु उसे ठीक मानना, करने लायक है, ऐसा मानना – वह अज्ञान है। आत्मा अबन्धतत्त्व है; उसमें पुण्यबन्ध से गुण मानना, यह मिथ्यात्व है। लोग धर्म के बहाने जड़ का सहारा लेते हैं और कहते हैं कि शास्त्र में समकिती के पुण्य को पुण्यानुबन्धी पुण्य कहा है। ऐसा कहकर पुण्य की मिठास लेते हैं, यानी विकार की मिठास का वेदन करते हैं। चेतनस्वभाव से विपरीत बन्धभाव जो पुण्य है, उसकी इच्छा करता है। पुण्य से मुझे लाभ होगा, इस प्रकार जिसे पुण्य में सुखबुद्धि है, उसे स्वाधीनता नहीं चाहिए किन्तु पराधीनता रुचती है। ऐसे लोगों को ज्ञानी पुरुष पुद्गल के भिखारी कहते हैं क्योंकि रङ्क के गुड़ की माफिक उसका लक्ष्य व मिठास उसी में ही रहते हैं। लोगों को सच्ची वस्तु स्थिति का विचार नहीं है और कहते हैं कि हाय-हाय ! हमारे पुण्य खत्म हो जायेंगे। पुण्य बिना धर्म कैसे हो ? किन्तु न्याय से स्पष्ट है कि पुण्यपरिणाम शुभराग है; वह मोहकर्म का विकार है। विकार रखकर भगवान अविकारी आत्मा कैसे प्रगट हो ? गुण कहाँ से हो ? बन्धभाव से अबन्धभाव कहाँ से हो ? पुण्य तो ज्ञानी को भी हो जाते हैं किन्तु

उससे गुण नहीं मानते। जिनपूजा, वन्दन, भक्ति, इत्यादि होते हैं और शुभराग के कारण पुण्यबन्ध होता है; फिर भी धर्मात्मा को पुण्य की इच्छा नहीं है। धर्मात्मा, अशुभपरिणाम को टालते हुए मन्द कषाय का पुरुषार्थ करते हैं; वे अकषायी शुद्धता की दृष्टि के लक्ष्य से ही पुरुषार्थ करते हैं। उनको बीच में शुभपरिणाम आते हैं किन्तु वे उनका स्वामी नहीं बनते। वे जानते हैं कि मन्द कषाय के परिणाम की जो वृत्ति आती है, उसमें जितना राग मिटाया, उतना गुण है और जितना राग बचा, उसका निषेध है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद पुण्य की जाति भी बदल जाती है। केवलज्ञान होने पर तीर्थङ्कर भगवान की देह के परमाणु भी बदल जाते हैं, यानी परम औदारिक स्फटिक जैसे परमाणुओं की देह बन जाती है। तीर्थङ्कर नामकर्म के जैसे उत्कृष्ट पुण्य, ज्ञानी धर्मात्मा को ही बँधते हैं; अज्ञानी को ऐसे पुण्य भी नहीं बँधते। तीर्थङ्कर भगवान संसार में गृहस्थावेश में होते हैं, तब उन्हें आहार होता है किन्तु निहार नहीं होता और सर्वज्ञ वीतराग होने के बाद आहार, निहार, तृषा, भूख, निद्रा, पसीना इत्यादि अठारह दोष नहीं होते। इस बात का तत्त्व से अनजान जीवों को विश्वास आना कठिन है। आत्मज्ञान होने के बाद अमुक भूमिका में शरीर की जाति ही अलग तरह की हो जाती है। चैतन्य भगवान जागा कि उसके पुण्य का पार ही नहीं रहता। वीतराग भगवान के आत्मा की तो क्या बात करें ? उनकी देह की महिमा भी अपूर्व है। भगवान तीर्थङ्कर का देह परम औदारिक, उज्ज्वल स्फटिक – जैसा हो जाता है। जिसके भाग्य हो, ऐसे लायक जीव भगवान के निकट जाए और उनकी देह को देखे। वहाँ खुद अपने सात भव देखें तो फिर भगवान के चैतन्य को देखनेवाले के भाग्य की तो क्या बात करें ! लोगों को बाहर की बातों पर लक्ष्य ज्यादा रहता है किन्तु आत्मतत्त्व की महिमा कैसे है ? – उसका लक्ष्य नहीं है। जो वस्तुस्वभाव त्रिकाल सिद्ध है, उसका यथार्थ मनन होना चाहिए। कालदोषवश लोगों की मनोवृत्ति को विपरीत पोषण मिल रहा है। अतः सच्चा तत्त्व, अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप कैसा होगा ? – इसके स्वरूप को समझने का अवकाश नहीं मिला है। कई लोगों को उलझन होती है कि हम किस बात को सही माने ? जौहरी हो, वह काँच के ढेर में से हीरे की परीक्षा करने में परेशानी

महसूस नहीं करता; उस प्रकार मुमुक्षु हो, वह तत्त्व की परीक्षा करने में परेशान नहीं होता। **९३.**

यहाँ तैयार हुआ शिष्य पूछ रहा है - प्रभु ! किस जाति में मोक्ष होवे, इत्यादि बाबतों (विषयों) में जगत में कई तरह की बातें होती हैं; अतः उसमें से सच्चा क्या है, यह समझाइए। इस भाव की गाथा अब आ रही है –

कई जातिमां मोक्ष छे, कया वेषमां मोक्ष;
एनो निश्चय ना बने, घणा भेद ए दोष।। ९४।।

किस जाति में मोक्ष है, कौन वेष में मोक्ष ?।
इसका निश्चय ना बने, बहुत भेद यह दोष।।९४।।

ब्राह्मण कहे, हम ऊँचे हैं; क्षत्रिय कहे, हम ऊँचे हैं, इस प्रकार अपने कुलधर्म से कल्याण मानते हैं। ब्राह्मण आदि जाति खुद को मोक्ष का अधिकारी मानती है किन्तु ब्रह्म, आत्मा का स्वरूप है; उसे जो समझे और ज्ञानस्वरूप में स्थिर रहे, वह ज्ञानी स्वयं ब्राह्मण है। हज़ारों भेष व हज़ारों मत-मतान्तर शिष्य ने जाने हैं और मत-मतान्तर या पक्ष आदि का बहुत ख्याल होने से उन मत-मतान्तर या पक्षों में क्या दोष है ? – यह सद्गुरु भगवान समझाए तो खुद को समझ में आ सके, ऐसा है। ऐसा भरोसा शिष्य को होने से यह आशङ्का प्रस्तुत की है। गाथा ९३ में विवेक करने की भावना है और इस ९४ गाथा में निर्णय करने की भावना है। यहाँ तो ऐसा शिष्य है कि जो एकाध भव में अपूर्व तैयारी द्वारा गुरु के साथ ही मोक्ष प्राप्त करे।

जिसे मोक्ष चाहिए, उसे ऐसा भेष व ऐसी क्रिया करनी पड़ेगी। विशेष प्रकार की देह की क्रिया से या पुण्य से आत्मा जागृत होता है, ऐसा कई मतार्थी मानते हैं। तो हे श्री गुरु ! आत्मस्वरूप भगवान किस भेष से प्रसन्न होता होगा ? दण्ड रखने से या छोड़ने से, जङ्गल में जाने से, ध्यान करने से या बाह्य त्याग से ? –

इत्यादि जगत में बहुत अभिप्राय हैं। उसमें कौन-सा मत सही होगा ? इत्यादि आशङ्काएँ शिष्य ने इस गाथा में प्रस्तुत की हैं। **९४.**

अब, शिष्य अपने आत्मा को जल्दी से लाभ होवे, ऐसी तीव्र जिज्ञासा दिखाता है –

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष उपाय;
जीवादि जाण्या तणो, शो उपकार ज थाय ?।।९५।।

तातैं यह है भासता, मिले न मोक्ष उपाय।
जीवादि के ज्ञान से, क्या मदद हो जाय ?।।९५।।

शिष्य की जानने की लगन बहुत है। इन पाँच बोल से सिद्ध पाँचों पद तो जान लिये किन्तु उन्हें जानने का उपकार कब हो ? कि छठा पद, मोक्ष का उपाय में जानूँ तब। '**समज्या विण उपकार शो**' ऐसा कहकर बहुत विनयपूर्वक शिष्य उपकारी का उपकार मानता है और ९६वीं गाथा में वह उपकारी के प्रति उमङ्ग दर्शायेगा।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १६-११-१९३९

मोक्षपद, मोक्षस्वभाव की शुद्धपर्याय किस प्रकार प्रगट हो ? – यह जानने का जिज्ञासु शिष्य इस कारण से परेशान है कि आत्मकल्याण का उपाय बतानेवाले अनेक मत-मतान्तर हैं। इससे तथा किस जाति में मोक्ष है ? इसका निर्णय नहीं हो पा रहा, तथा किस भेष से मोक्ष होगा ? इत्यादि अनेक भेदों में से सच्चा निर्णय किस प्रकार करना ? – यह उसे मुश्किल लग रहा है। अतः मोक्ष का कोई उपाय नहीं है – ऐसी शङ्का शिष्य को उत्पन्न हुई तथा जीवादि पाँचों पद जानने का कोई उपकार दिख नहीं रहा। अतः शिष्य **'मोक्ष का उपाय'** तुरन्त जानने का इच्छावान हुआ है। **९५.**

अब, शिष्य उस उपाय को जानने की अपनी उमङ्ग बताता है :-

पांचे उत्तरथी थयुं, समाधान सर्वांग;
समजुं मोक्षउपाय तो, उदय उदय सद्‌भाग्य।। ९६।।

पाँचो उत्तर से हुआ, समाधान सर्वांग।
समझूँ मोक्ष-उपाय तो, उदय-उदय सद्‌भाग्य।।९६।।

इस शङ्का का यह आखरी बोल व अन्तिम गाथा है। इसके बाद शिष्य शङ्का करनेवाला नहीं है। अब, निःशङ्क होनेवाला है; अतः उत्साह में आ गया है और कहता है कि हे गुरुदेव ! आपने पाँच उत्तर कहे, इससे सर्वाङ्ग यानी चारों ओर से मेरी शङ्का का समाधान हुआ है; अतः आपका प्रयास सफल है। एक बार जो शङ्का की और जो समाधान हुआ, उसकी शङ्का दुबारा होती नहीं है। अब, आत्मा की पवित्र -दशा प्रगट करने का अविरोध उपाय मैं समझूँ तो सद्‌भाग्य का उदय उदय हो जाए !

यहाँ पर 'उदय' 'उदय' दो बार शब्द है। यह पाँचों उतर के समाधान से हुई मोक्षपद की जिज्ञासा की तीव्रता दर्शाता है। यह शिष्य तो अच्छी तरह विचार करके तैयार हुआ है किन्तु लोगों को 'पूर्व में मैं था या नहीं ?' कर्ता-भोक्ता क्या ?' इसका विचार भी नहीं आता। संसार के प्रेम से छूटकर फुर्सत पाए, तब तो इसका विचार आये न ! आत्मार्थी जिज्ञासु, मुमुक्षु कैसा होना चाहिए, यह समझना चाहिए। कोई क्रिया से; कोई पूजा से; कोई सेवा से; कोई ईश्वर है, उनकी भक्ति से – इस प्रकार पुण्य से, यानी बन्धन व बन्धभाव से मोक्षसाधन मानते हैं किन्तु ये सब तो संसार में भटकने के हेतु हैं। विकारीभाव से छूटने के लिये अबन्धभाव, शुभाशुभरागरहित शुद्धभाव होना चाहिए। स्वतन्त्रता विकसित करना, यह मोक्ष का उपाय है। उस स्वाधीन महा-सुखस्वरूप की पूर्ण पवित्रदशा का उपाय मैं समझूँ, यानी सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की रमणतारूप चारित्र, वह अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव है। उसे अविरोधरूप से प्रगट करने की विधि समझूँ तो सद्भाग्य का उदय-उदय होवे। शिष्य कहता है कि गुरुदेव ! आपने समझाया, इसलिये 'मैं समझूँ'। इस प्रकार अपने उपादान की तैयारी बताता है। **९६.**

सद्गुरु समाधान

शिष्य की तैयारी देखकर, श्रीगुरु समाधान करते हैं :-

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत;
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत।। ९७ ।।

पाँचों उत्तर की हुई, आत्मा माहिं प्रतीति।
होगी मोक्ष-उपाय की, सहज प्रतीति इस रीति।।९७।।

शिष्य ने पाँचों पद की शङ्का निकाल दी। तब श्रीगुरु कहते हैं कि 'तू अपनी जो बात कह रहा है, उसका मैं भी स्वीकार करता हूँ। तू लायक है, ऐसा ज्ञानी

पुरुष ने स्वीकार किया। 'पाँचों उत्तर की तेरे आत्मा में प्रतीति हुई है तो मोक्ष के उपाय की भी उसी तरह सहज में तुझे प्रतीति होगी।' यहाँ पर 'थाशे' व 'सहज' इन दो शब्दों की आत्मा में से (मन में से नहीं) भीतर से पुकार आयी है। अनन्त काल में जो समझा नहीं था, वह अपूर्व तत्त्व समझ में आया है। अत: गुरु कहते हैं कि तुझे सहज में मोक्ष प्राप्ति होगी, ऐसा श्रीगुरु को भी प्रमोद आ रहा है।

जीव, अज्ञानभाव से रागादि का, पुण्यादि शुभाशुभभाव का कर्ता-भोक्ता है और सच्चे ज्ञानभाव से (चेतन जो निजभावमां, कर्ता आप स्वभाव) पर का अकर्ता व स्वरूपस्थिति में ज्ञान का कर्ता-भोक्ता है; इसमें पुण्यादि साधन की सहाय नहीं है। पुण्य है, वह परवस्तु है, हदवाला है, उपाधितत्त्व है और आत्मा तो चैतन्यभगवान निरुपाधिक स्वाधीनतत्त्व है। मन की धारणा से बहुत शास्त्र, ग्यारह अङ्ग व नौ पूर्व पढ़ लिये और छहकाय की दया के शुभपरिणाम, पाँच महाव्रत आदि पुण्यपरिणाम पूर्व में इस जीव ने अनन्त बार किये किन्तु इन बन्धभावों से अबन्धतत्त्व प्रगट नहीं होता। इस प्रकार मोक्ष साधन में पुण्य का निषेध किया है। धर्मात्मा को सरागावस्था में अल्पराग रहे, तब तक पुण्य हो जाए, हुए बिना रहे नहीं किन्तु वे उसमें ममत्व या कर्तृत्व नहीं मानते। रागादि करने लायक हैं, ऐसा नहीं मानना और उसमें नहीं टिकना, ऐसा यहाँ कहा है। शिष्य ने कहा कि मैं आपकी कृपा द्वारा समझा और गुरु ने उसका स्वीकार किया। वह भाव कैसा अपूर्व होगा ? इस बात को समझो ! **राजकोट में पहली ही बार, इस तरह जाहिर में, बहुत लोग लाभ ले सके, उस प्रकार इस 'आत्मसिद्धि' का वांचन हो रहा है, यह शासन का भाग्य है। यह ज्ञान पञ्चमी का दिन और इन दो गाथा की सन्धि - शासन की महिमा को सूचित करती है।**

शिष्य की योग्यता व गुरु द्वारा हुआ उसकी पात्रता का स्वीकार – यह अनन्त भव का अन्त करके एक-दो भव में मोक्ष होवे, ऐसे सर्वोत्कृष्ट भाव की समझ है। जो समझे उसे उपकार होवे। श्रीसमयसार में श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव छठी गाथा में **'णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो'** प्रमत्त-अप्रमत्त दो दशाओं के भेदरहित, निरपेक्ष एक शुद्ध आत्मपद की महिमा कहते हुए बताते हैं कि आत्मा अनादि अनन्त, एकरूप ज्ञायक है; इसमें प्रकृति के निमित्त की दो अवस्था कैसी ? ये निर्ग्रन्थमुनि,

आचार्य परमेष्ठी, छठी-सातवीं भूमिका की, साधक की सर्वोत्कृष्टदशा में आत्मस्वरूप की रमणता में मस्त थे। उस वक्त समयसार की रचना हुई है किन्तु इसमें अप्रतिहतभाव की अपूर्व गूँज है; एक ही भव में मोक्ष की निःसन्देह साक्षी है। इस न्याय व आशय को जो समझे, वह भी एक ही भव की निःसन्देहता लायेगा। ऐसे गुरु व शिष्य एकावतारी ही होते हैं। यहाँ पर 'थाशे' और 'सहज' – ऐसे दो शब्द सद्गुरु ने कहे। यह, जिसे पाँचों पद की प्रतीति हुई, उसे मोक्ष-उपाय समझना कुछ कठिन नहीं है – ऐसा दर्शाने हेतु तथा शिष्य की विशेष जिज्ञासा जानकर तुझे अवश्य मोक्ष-उपाय तेरे द्वारा फलित होगा (परिणमित होगा), ऐसा जानकर ये वचन कहे हैं। सद्गुरु के वचनों का यह आशय है।

इस ९७वीं गाथा में श्रीगुरु ने आशीर्वाद दिया है कि तुझे समझ में आयेगा और तेरा परमकल्याण होगा। आत्मधर्म की ऐसी महिमा, उसका वर्तमान में प्रगट, प्रकाशित रहना, यही वीतरागशासन की महिमा है और मुमुक्षुओं के महाभाग्य है। स्वरूप जैसा है, वैसा समझकर उस जाति का पुरुषार्थ जो करे, वह सद्गुरु के उपकार का स्वीकार कर सके और सत्पुरुष के ज्ञान में उसका स्वीकार होवे ही। **९७.**

अब, मोक्ष का उपाय श्रीगुरु संक्षिप्त में समझाते हैं :-

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास;
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञान प्रकाश।। ९८।।

कर्मभाव अज्ञान है, मोक्षभाव निज-वास।
अन्धकार अज्ञान-सम, नाशे ज्ञान-प्रकाश।।९८।।

छोटा-सा सूत्र कहते हैं कि भाई ! आत्मा चिदानन्द, अबन्ध, शुद्ध, नित्य तत्त्व है। उसमें जो शुभ-अशुभ कर्मभाव दिखते हैं, उसका स्वीकार करना – वह अज्ञानभाव है; वह आत्मा की स्वाधीनता लूटनेवाला है। ज्ञाता आत्मा निर्दोष शुद्ध है; शुभाशुभ-भाव को अपना मानना ही अज्ञान है क्योंकि जो शुभअशुभपरिणाम हो रहे हैं,

वे मोहकर्मजन्यभाव है, औपाधिक मलिनभाव हैं। उनको अपना मानना या ठीक मानना और उसमें स्थिर होना, यह अज्ञान है। चेतनत्व और कर्मत्व दोनों भिन्न हैं। जो शुभ-अशुभ रागादिरूप भाव होते हैं, वह विकार है। जीव उसमें अपना हित माने, उसे अपना गुण माने और उसमें उत्साहपूर्वक टिका रहे – यह मिथ्याभाव है। तुम्हें अशुभ में, पापपरिणाम में नहीं टिकना है तो शुभयोग का साथ तो बना ही रहेगा किन्तु शुभ व अशुभ दोनों अशुद्धभाव हैं; अत: उनमें सदा हेयबुद्धि होनी चाहिए। उनसे गुण नहीं है, फिर भी वे बीच में आते हैं। ये शुभ-अशुभभाव मोहकर्म में जुड़ने से होनेवाली अवस्था है। वह कर्मभाव, चैतन्य के घर का है या मोहकर्मजनित है यह तय करो। मोहकर्मप्रकृति के अनन्त पुद्‌गलपरमाणु हैं, उसमें जुड़ने से यह भाव होता है; अत: वह मोहजनित कार्य है। कर्म माने कार्य। उसे शास्त्र में 'कर्मप्रकृति' – ऐसी संज्ञा दी गयी है। अनन्ते रजकणों की उसरूप होने की योग्यता है। उसमें क्षोभित होकर उस निमित्त में जुड़नेवाला जीव, रागी है। निमित्त के असर को ग्रहण करना, यह गुण नहीं है। कोई तत्त्व स्वभाव से विकारी या दोषित हो नहीं सकता। सुवर्ण, सुवर्ण से मलिन नहीं होता। इस प्रकार आत्मा का गुण कोई दोष का कारण नहीं हो सकता। गुण द्वारा पुण्य-पाप का बन्ध नहीं होता किन्तु अपनी ज्ञाता-दृष्टाशक्ति भूलकर पुण्य की रुचि में जीव रुका है, तब तक बन्ध है। जो पुण्य-पाप का बन्धन हुआ, वह राग-द्वेषरूप अज्ञान के कारण हुआ है; अत: कर्मभाव है, वह बन्धभाव है। उससे मुक्त होने का अबन्धभाव है, वह निजभाव है, उसकी हाँ लाओ। अत: यहाँ कहते हैं कि कर्मभाव को अपना किस प्रकार मान लिया है ? इस भूल को समझकर भूल का त्याग करो।

सम्यग्दृष्टि ही वीतरागदृष्टि है, अबन्धदृष्टि है। शाश्वत अबन्धतत्त्व कभी भी बाह्यभाव से प्रगट नहीं होता। बाह्य का करना तो किसी के आधार से नहीं है। बाह्य के कर्तव्य होने या नहीं होने, यह जीव के आधार से नहीं है। शुभपरिणाम की इच्छा करे और वैसा कार्य होनेवाला हो तो होवे और न भी होवे। देहादि परद्रव्य के कार्य जिस काल में जिस क्षेत्र में होने योग्य हो, उस क्षेत्र में व उस काल में होवे ही। बाह्य की क्रिया पर जीव के भाव का आधार नहीं है। सामनेवाले का जीना या मरना – यह उसके अपने आयुष्यकर्म की स्थिति पर आधारित है। कई

लोग बाह्यक्रिया के आधार से पुण्य-पाप मानते हैं किन्तु ऐसा नहीं है। किसी जीव को बचाना, रोटी देना, साधु के अलावा किसी को दान देना – ये सब पाप हैं, ऐसा एक पन्थ मानता है किन्तु वह भूल है क्योंकि ये सब पुण्यभाव हैं। वह पन्थ तो दया के जो पुण्यपरिणाम हो, उसे पाप मनवाते हैं। एक व्यक्ति को परजीव को बचाने का भाव हो, फिर भी वह जीव मर जाए तो उसे पाप नहीं है। शुभ या अशुभ परिणाम खुद को हुए; उस परिणाम से स्वयं को शुभ या अशुभ बन्ध है। पुनश्च, कुछेक तो लोगों को बाहर की क्रिया करने का बताते हैं और कुछेक पुण्यपरिणाम को पाप कहते हैं, (तो) कोई पुण्य से धर्म होना मनाते हैं परन्तु वह सही नहीं है। सार ऐसा है कि शुभाशुभपरिणाम कर्मजन्यभाव हैं।

शिष्य ने जाना है कि परमार्थमार्ग में बाहर से कुछ कार्य नहीं करना है क्योंकि बाहर के कार्य जीव के अधीन नहीं हैं। कोई ऐसा माने कि मैंने फलाँ संस्था की स्थापना की और इससे बहुत से जीवों की हिंसा बन्द करवा दी तो वह बात झूठी है। शुभ, अशुभ या शुद्धभाव जीव द्वारा किया जा सकता है। अत: अ परिणाम की बात है। इस गाथा की प्रथम पंक्ति ही अन्तरङ्ग परिणाम पर आधार रखकर बतायी है। वह टुकड़ा (पंक्ति) विभावपरिणाम व स्वभावपरिणाम का चक्र कैसा है ? – उसका लक्ष्य करने को कहता है और बताता है। जो शुभाशुभ पुण्य-पाप कर्म की अवस्था है, वह तेरे स्वरूप से विपरीत जाति की है और वह पूर्व की भूल का फल है। उस उदयरूप शुभ-अशुभ मलिनभाव को जो कोई अपना माने, ठीक माने या कर्तव्य माने, उसने रागरहित शुद्धात्मा को आदरणीय नहीं माना है। जो शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं, वे मेरे हैं, मेरे से हो रहे हैं – ऐसा जिसने माना, उसने परभाव को अपना माना है और उसमें राग द्वारा अपना कर्तव्य मान रहा है; वह कर्मभाव, अज्ञानभाव है।

यहाँ पर श्रीगुरु ने परिणाम देखने के लिये कहा है। अज्ञानभाव से भिन्न होकर ज्ञातारूप से स्वभाव में रहना और इस बारे में समझाया कि शुभ-अशुभवृत्ति में जुड़ना, स्थिर होना, वह कर्मभाव है। जितना कर्मभाव करे, वह अज्ञान है। अज्ञान का स्वभाव अन्धकार समान है। अत: जिस प्रकार प्रकाश होने पर कई समय का अन्धकार नाश हो जाता है, उस प्रकार सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होते

ही अनादि का अज्ञान भी नाश को प्राप्त होता है। मैं पुण्य-पाप के शुभाशुभ परिणामरहित, अरागी, ज्ञाता-दृष्टा, पूर्ण शुद्धतत्त्व हूँ। सर्व सङ्ग से विमुक्त मोक्षभाव तो निजस्वरूप में बसना – यही है। निज आत्मस्वभाव में सहजरूप से स्थिति होना मोक्षभाव है; अभिप्राय की निःशङ्कता होना, वह प्रतीति, पर से सर्वथा भिन्नपना का ज्ञान और रागरहित ज्ञानदशा में टिके रहना, स्थिर होना मोक्षमार्ग है। मैं निर्दोष ज्ञाता पूर्णशुद्ध हूँ। उसकी रुचि, जानपना और उसमें रागरहित होकर रमण करना, टिकना – वह स्वरूपाचरणचारित्र है; वही सम्यग्क्रिया है। यही ज्ञानक्रियारूप मोक्षमार्ग है। जाननेवाले को ज्ञायकता में स्थिर रखना, यही पुरुषार्थ है। राग के भाग को ज्ञान द्वारा मिटाकर, ज्ञान में टिके रहने का पुरुषार्थ ही व्यवहार है; अन्य कोई व्यवहार नहीं है। '**अन्धकार अज्ञानसम नाशे ज्ञानप्रकाश**'; जिस प्रकार अन्धकार में वस्तु नहीं दिखती, उस प्रकार – हालाँकि ज्ञानमूर्ति चैतन्य जैसा है, वैसा है; फिर भी मन के विकल्प से, शुभभाव से अथवा पुण्य-पाप के रुचिरूप मिथ्याभावरूप अज्ञान से वह आत्मा देखने में नहीं आता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप दीपक का प्रकाश होने पर पुण्य-पापरूप भावअन्धकार का नाश हो जाता है। परभाव को, (उपाधिरूप शुभाशुभ) बन्धभाव को भिन्न जाने, पररूप जाने तो सच्चा अभिप्राय बन सकता है। सच्चा अभिप्राय बनने के बाद भी चारित्र के दोष से शुभ-अशुभरूप अस्थिरता हो जाती है, किन्तु अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है। जो अनन्त काल अज्ञान में गया, उस भूल को टालने के लिये अनन्त काल नहीं चाहिए। अनन्त काल की इस भूल को टालने के लिये एक ही समय की स्थिरता बहुत है।

बहुत समय का अन्धकार जिस प्रकार प्रकाश होने पर नष्ट होता है, उस प्रकार ज्ञानप्रकाश होने पर अन्धकार का नाश होता है। इसमें बाहर से कुछ करने का नहीं आया कि इतना पुण्य करो, पर की दया करो या जड़ की क्रिया का अभिमान करो; दूसरे उपाय से, दूसरी तरह से अतीन्द्रिय चैतन्य आत्मा कदापि प्रगट नहीं होता। सच्चे ज्ञान के अभिप्राय बिना अज्ञान नहीं मिटता। अन्धकार का नाश करने के लिये सूप, मूसल काम नहीं आते। शरीर की क्रिया से या रजोहरण और कपड़े को यों फिराये, त्यों फिराये, देख-देखकर चले – इससे कोई चैतन्यप्रभु आत्मा निर्मल होवे या उससे निर्जरा होवे, ऐसा मानना मिथ्या है। बन्धभाव में टिका

है, तब तक आंशिकरूप से भी सच्ची निर्जरा नहीं होती। कोई कहता है कि यह तेरहवें गुणस्थान की बात है किन्तु ऐसा है नहीं; यह तो चौथे गुणस्थान की ही बात है। सच्चा अभिप्राय होने पर अन्तर में भ्रम, भूल नहीं रहते। अज्ञान का टलना व ज्ञान का होना, यह एक ही समय में होता है। कर्मभाव क्या है व ज्ञानस्वभाव क्या है? सर्वप्रथम उसे यथार्थ विधिपूर्वक जानने की जरूरत है। इसे जाने, वही जैन है। पहले में पहली बात कोई है तो यह है। इसे समझने पर ही छुटकारा है। यह कोई बी.ए. या एल.एल.बी. की बात नहीं है। लोकोत्तरमार्ग की जो विधि चाहिए, उस विधि को समझे बिना बाहर से अन्य उपाय करे तो अतीन्द्रिय चैतन्यभगवान को अंशमात्र भी लाभ होनेवाला नहीं है। स्वाधीनता किस प्रकार है? उसे उस विधि से जानो तो गुण प्रगट हो। लोग कहते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं; हमारे बुज़ुर्ग धर्म में अन्धे व रूढ़िवादी हैं; देव, गुरु, धर्म को कौन पहचानता है? हम अपनी मरजी अनुसार कर सकते हैं, – इस प्रकार पराधीनता को स्वाधीनता मानते हैं किन्तु राग-द्वेषरूप कलुषितता में टिककर बाह्यआचरण को स्वतन्त्रता मानना – यह उद्धतपना है, स्वच्छन्दता है। स्व का तन्त्र तो सच्ची श्रद्धा द्वारा स्वरूप जैसा है, वैसा जानकर चैतन्यस्वरूप शान्ति में ज्ञानरूप थमना, टिकना, वह है। जब तक वृत्ति निमित्ताधीन है, तब तक पर में, पुण्यादि बाह्य साधन में सुखबुद्धि है – यह अनादि का बन्धभाव है। अत: प्रथम समझाया है कि अनादि से संसारपर्याय प्रवाहरूप क्यों है ? और बताया है कि कर्मभाव है, वह तेरी विपरीत मान्यता है और मोक्षभाव है, वह पुण्य, पाप, राग, दया, दान इत्यादि परभाव बिल्कुल भिन्न, निज आत्मस्वरूप में स्थिति करना, ज्ञान में ज्ञातारूप से टिके रहना, यह है। इस प्रकार बन्धभाव व अबन्धभाव का ज्ञान करना। यह समझे बिना अन्य किसी उपाय से मोक्ष नहीं होता, ऐसा भी कहा।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १७-११-१९३९

गाथा ९८ में मोक्ष के उपाय की बात संक्षिप्त में कही है। इस समझ में जगत के जीवों को बहुत एतराज है। कर्मभाव अज्ञान है और अपने ज्ञानस्वभाव में बसना, वह मोक्षभाव है। ज्ञान से अज्ञान अन्धकार का नाश होता है। इस बारे में कल कहा गया है। **९८.**

अब, किस भाव से बन्ध और (किस भाव से) अबन्धदशा होवे, यह कहते हैं –

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ;
ते कारण छेदक दशा, मोक्ष-पंथ भवअंत।। ९९।।

जो-जो कारण बन्ध के, वही बन्ध के पन्थ।
उन कारण-छेदक दशा, मोक्ष-पन्थ भव-अन्त।।९९।।

किस भाव से बन्ध हो और किस भाव से बन्धन न हो – इसका निर्णय करना चाहिए। गाथा ९८ में कहा कि आत्मा व कर्म (दोनों) भिन्न वस्तु हैं। कर्मभाव से पुण्य हो या पाप हो, दोनों से संसारबन्धन है। भले ही कसाई के दुष्टकर्म हों या सर्वार्थसिद्धि के देव – जैसा पुण्य हो, फिर भी दोनों संसार के बन्धन है। जिस भाव से भटकना हुआ, पराधीन अवस्था में भ्रमण हुआ, उस बन्धभाव से अबन्धतत्त्व किस प्रकार प्रगट हो ? शुभाशुभकर्म के निमित्त से जिस भाव की उत्पत्ति हो, (वह) कर्मभाव, संसारभाव है। रागरहित शुद्ध आत्मस्वभाव का भान होने पर इस अज्ञान अन्धकार का नाश हो जाता है और अखण्ड ज्ञानभाव में टिकना होता है। यह पवित्र धर्मभाव है, मोक्षभाव है। अब कहते हैं कि जिस भाव से बन्ध हो, वह बन्ध का पन्थ है। शास्त्र में कहा है कि उदयभाव में

जुड़ने से बन्ध होता है, फिर भले वह शुभ होवे। दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, त्यागीपने का पालन करूँ; दूसरे जीव को न मारूँ, इत्यादि रागभाव हैं; वे आत्मभाव नहीं हैं परन्तु अशुद्धभाव हैं। जो पर के लक्ष्य से परपदार्थों में जुड़ान होता है, वह बन्धभाव है। तीर्थङ्कर नामकर्म जिस भाव से बँधे; देव, इन्द्रादि जो - जो पुण्यपद बँधता है, वे सब बन्धभाव हैं। उस बन्धभाव को रखने से या बन्धभाव की रुचि से अबन्धपना आंशिकरूप से भी प्रगट नहीं होगा।

आत्मा की ज्ञाताशक्ति का आनन्द छोड़कर परवस्तु में आत्मा ने सुख माना है। इसीलिए अपने में सुख, शान्ति या आनन्द दिखता नहीं है। मन, वाणी, देह व कर्म, नोकर्म आश्रित होनेवाली क्रिया और वैसे भाव को अपना माने, वह अज्ञानी है। शुभ-अशुभभाव कौन करता है ? उसका निर्णय खुद को करना पड़ेगा। लोगों को अनेक शास्त्र शब्दों से तो एक समान लगें किन्तु भाव में, अभिप्राय में बड़ा अन्तर रहता है। अन्तरङ्ग में भाव समझ में न आये, इसलिए अन्य लौकिकधर्म के साथ जैनधर्म का समन्वय करते हैं। शुभराग को शुद्धभाव माने और शुभभाव से शुद्धभाव क्रमशः प्रगट होगा – ऐसा माने, ऐसे जीवों को सत्य-असत्य का सही निर्णय नहीं होता। जो मिट्टी पानी से गीली हो, वह मिट्टी पेशाब से भी गीली होती है किन्तु पेशाब से बीज जल जाता है और पानी से पनपता है। श्रीमद्जी ने गुजराती में 'आत्मसिद्धि' सरलभाषा में बनायी है किन्तु लोग मनन नहीं करते और मानते हैं कि हमने इसे समझ लिया है और श्रीमद्जी को हम मानते हैं – ऐसा कहते हैं किन्तु जब तक शुभ को साधन मान रहे हैं, तब तक सच्ची दृष्टि ही नहीं है। जिस भाव से बन्ध हो, उस भाव से मुक्ति नहीं होती।

कोई कहे कि हमें पुण्य चाहिए ही नहीं किन्तु प्रारम्भ में उससे साधन प्रगट होता है, उसके लिये करते हैं। जिसने पुण्य को सत्साधन माना है, उसने विजाति से, दुश्मन से, ज़हर से अमृत की आशा रखी है। इसमें भूल कहाँ पर होती है ? यह जानने का प्रयत्न न करे तो भूल समझ में नहीं आती। शरीर के आधार से या पुण्य के रजकण के आधार से बन्ध, मोक्ष नहीं है। शुभ-अशुभभाव की ओर झुकाव रखना, परभाव को, कर्मभाव को अपना मानना – ऐसे परिणाम से बन्ध है और उस बन्धभाव से विपरीत अबन्धपरिणाम से मोक्ष है। प्रथम, उदयभाव

को समझो। तीर्थङ्कर नामकर्म सम्यग्ज्ञान की पवित्रभूमिका के बिना नहीं बँधता। जिस रागभाव से वह बन्ध जाता है, वह भी बन्धभाव है। यदि उसे उपादेय माने तो उसे ज्ञानी कैसे कहें? देहादि की क्रिया से बन्ध नहीं है; देहादि की क्रिया तो जड़ की ही है किन्तु स्वयं जिस प्रकार के शुभाशुभभाव, बन्धभाव करे, वह बन्ध का पन्थ है और उस औपाधिकभाव, बन्धभाव को छेदने की दशारूप आत्मा की जो शुद्ध अवस्था है; वही मुक्तिपन्थ है, भव का अन्त है।

कृष्ण, नील, कापोत, तेजु, पद्म व शुक्ल – इन छह प्रकार की लेश्या के अशुभ व शुभपरिणाम कर्मभाव हैं। उसे जीव अपना माने, उसमें अटक जाए – वह अज्ञानभाव है। उन बन्धभाव को टालना नहीं पड़ता किन्तु स्वयं सम्यग्दर्शन के बल से अपने शुद्धभाव में स्थिर रहे, स्वसन्मुख ज्ञातारूप से ज्ञान में टिका रहे तो वे बन्धभाव मिटे हुए ही हैं। निज शक्ति के बल अनुसार वे उत्पन्न नहीं होते, उसका नाम त्याग है; स्वभाव की अस्ति है। उसी समय परभाव, बन्धभाव की नास्ति है।

शुक्ललेश्या तो अभव्य जीव को भी होती है कि जिसका कभी मोक्ष होनेवाला नहीं है, उस जीव को भी मन के उज्ज्वल परिणाम होते हैं। वह भाव भी मोहभाव है। उन उज्ज्वल परिणाम को अशुभ की अपेक्षा शुभ कहा – वह भी मन्दकषाय है, वह बन्धभाव है। बन्ध के कारणों को मोक्ष का साधन माने, वह अनन्ते ज्ञानियों का विराधक है; अनन्ते ज्ञानियों से विरुद्धभाव है, चैतन्य का अनादर है। आक के बीज का पोषण करे तो कोई आम्रवृक्ष नहीं फलता। जो बन्ध के परिणाम हैं, वे शुभ हों या अशुभ हों; दया के, हिंसा के या ग्रहणत्याग के, ये सब बन्धभाव हैं। इन बन्ध कारणों को छेदन करे, ऐसी तो एक आत्मज्ञानदशा है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व रागरहित ज्ञान की स्थिरतारूप चारित्र आंशिकरूप से प्रगट होने पर बन्धभाव अभिप्राय में से तो बिल्कुल मिट जाता है। इस भूमिका में अल्पराग से भी महत् पुण्य बँध जाता है। इसमें तीर्थङ्करपद, चक्रवर्तीपद तो सहज बन्ध जाता है। दृष्टि में उस जड़भाव का पूरा-पूरा निषेध है – यही सच्ची दृष्टि है। गाथा ९८ में मोक्षअधिकार की भूमिका बाँधी है। गाथा ९९ में कहा कि जिस भाव से आत्मा की श्रद्धा होती है, उस भाव से बन्ध नहीं होता और जिस भाव से विपरीत श्रद्धा होती है,

उस भाव से सदा बन्ध है। **९९.**

अब, विशेष खुलासा करते हैं :-

राग, द्वेष, अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ;
थाय निवृत्त जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ।।१००।।

राग-द्वेष-अज्ञान ये, मुख्य कर्म के ग्रन्थ।
जिससे इनकी निवृत्ति हो, वही मोक्ष का पन्थ।।१००।।

राग-द्वेष, शुभाशुभभावों में अपनत्व की एकत्वबुद्धि – यही कर्म की मुख्य गाँठ है। अज्ञान मिटने पर अल्प राग-द्वेष गौणरूप से रहते हैं; वह अनन्त संसार का कारण नहीं है, यानी उसमें दर्शनमोहरूप विपरीतश्रद्धा, विपरीतज्ञान व मिथ्याचारित्र नहीं है। चौथे-पाँचवें व छठे गुणस्थान में आंशिकरूप से जो कुछ रागादि है, वह अचारित्र है किन्तु मिथ्याचारित्र नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होने के बाद मिथ्याअभिप्राय नहीं है। दृष्टि अबन्ध हो गयी कि मैं शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसे पवित्र निर्दोष स्वभाव के भान की भूमिका है। उसमें पुरुषार्थ की कमज़ोरी से शुभ-अशुभवृत्ति हो जाती है। उस भेद अवस्था में रुकने की रुचि नहीं है; उधर का झुकाव नहीं है। अपने स्वभाव में टिकते हुए जो शुभाशुभवृत्ति उठती है, उसका ज्ञान में जानना होता है किन्तु उसमें एकत्वबुद्धि से मिलना नहीं होता। जो मोही जीव शुभाशुभभाव की गाँठ ज्ञान में बाँध लेता है कि वे करने लायक हैं, मेरे हैं, वे ठीक हैं, उन शुभभावों (पुण्यभाव) से मुझे लाभ होगा – इस प्रकार परभाव को (कर्मभाव को) साधन मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, यानी स्वगुण का घात करनेवाला है। उस विभावदशा की यानी उस अज्ञान की निवृत्ति, सम्यग्ज्ञान से होती है। किस कारण से निवृत्ति हो ? इसका विचार करो। बाह्यक्रिया से होगी, विकारीभाव से होगी या आत्मस्वभाव के भान की पवित्रदशा से होगी – यह प्रथम समझना पड़ेगा। शुभराग, औदयिकभाव है; उस औदयिकभाव को निर्जरा नहीं कहा जाता। आत्मज्ञान

की दशा में आत्मबल अनुसार आंशिकरूप में क्रमशः रागरहित स्थिरता होना – यह सम्यक् क्षयोपशमभाव है। अबन्धदृष्टि से दर्शनमोहकर्म का बन्ध नहीं होता किन्तु बाह्य व अभ्यन्तर निवृत्ति होती है। इसमें बाहर का कुछ करूँ तो होगा – ऐसा नहीं आया क्योंकि ज्ञान के अलावा बाह्य का कोई कर्तव्य चेतन कर ही नहीं सकता। साध्य व साधन (अथवा मोक्षस्वभाव व उसे पाने का उपाय) एक ज्ञानमात्र आत्मा में ही है। **१००.**

अब, ध्येय कैसा हो, यह बताते हैं :-

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित;
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत।।१०१।।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित।
जिससे केवल प्राप्त हो, मोक्ष-पन्थ यह रीत।।१०१।।

सत् = अविनाशी, पुण्य-पाप के सङ्कल्प-विकल्प से व देहादि क्षणिकसंयोग से रहित, नित्य असङ्ग चैतन्य तत्त्व, वह जीव है। जो शुभाशुभभाव मिटते हैं, वह रागादि का मिटनेरूप स्वभाव है; वह कोई अविनाशी का स्वभाव नहीं है। कर्मभाव विजातीय भाव है। **'सर्व भावांतरच्छिदे'** सर्वभाव को जाने, चाहे जैसे पुण्य-पाप का उदय व संयोग दिखे, उसे जाने किन्तु उसका अंशमात्र अपने में न मिलाये – ऐसा जीव का स्वभाव है। रागादि से भिन्न तब रह सके कि जब स्वयं अपना जो पूर्ण शुद्धस्वरूप है, उस पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत करे। आत्मा में ही आत्मा की पूर्ण शुद्धता है; इसके लक्ष्य बिना पूर्णता तक पहुँचने का पुरुषार्थ किस तरह जागृत हो ? अतः श्रीमद्जी ने कहा है कि आत्मा सत् है, चैतन्यमय है, सभी परद्रव्य से नास्तिरूप व स्वचतुष्टय से अस्तिरूप स्वाधीन है। सर्वभावों को सहजता से जाननेरूप ज्ञाता-दृष्टा है। सर्व विभाव व देहादि संयोग से रहित – ऐसा केवल, माने शुद्धआत्मा; उसकी यथार्थ श्रद्धा, उसका ज्ञान व आचरण द्वारा उस दशा को पाया जाता है। पर से भिन्नत्व का ज्ञान व रागरहित ज्ञान में टिके रहने में प्रवर्तन करना, यह

मोक्षमार्ग है। आत्मा पूर्ण शुद्ध, कृतकृत्य सिद्धसमान है; अविनाशी चैतन्यमय यानी पूर्ण ज्ञानघन स्वभावरूप उसकी प्रति समय हयाती है। स्वाधीन पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का स्वीकार करना कि ऐसा ही है, ऐसी पूर्ण शुद्ध की दृष्टि होने पर ही पूर्ण को प्राप्त करने का पुरुषार्थ उठता है। स्वाधीन, असंयोगी, पूर्ण शुद्धस्वरूप की श्रद्धा, वह निश्चय अथवा साध्य और उसमें टिके रहने लायक स्थिरता, पुरुषार्थ, वह साधन अथवा व्यवहार है। इस प्रकार निश्चय व व्यवहाररूप अनेकान्त आत्मा में ही है। सर्व विभाव व देहादि संयोग के आभास से रहित यानी सर्व परसंयोग व परभाव से रहित, पर से नास्तिरूप और केवल माने शुद्ध आत्मा – उसे पहचानकर उसी में प्रवर्तन करना, यही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - सात्त्विकवृत्ति तो ठीक है न ?

उत्तर - आत्मा के सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान व स्थिरता के बिना जो कुछ सात्त्विक -भाव, शुभराग है, वह कर्मभाव है, उपाधि है, बन्धभाव है और उसे चेतन का मानना यह स्वयं महा-अपराध है। यह उपाधि तो फोड़े समान है। जिस प्रकार खून का पस बनता है, उस प्रकार चेतन का मलिन, विकारीभाव ये फोड़े हैं। उसे ठीक मानना, यह अज्ञानभाव है। अनन्त ज्ञानियों का एक ही मत है कि पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत कर। आत्मा जैसा है, जितना बड़ा है, उसकी बेहदता को जाने बिना, पुण्यादि भाव की हद बाँधकर पुरुषार्थ उठाये तो अशुद्धता होगी। परमाणु पुद्गल में ज्ञान का अंशमात्र नहीं है और जड़त्व पूर्ण है। चेतन में ज्ञान का अंश किसी भी काल में कम नहीं है, पूर्ण ज्ञानघन है; अतः पर का उपाधिभाव उसमें प्रवेश नहीं पाता।

श्रीमद्भगवानकुन्दकुन्दाचार्य महाराज आत्मस्वरूप की धुन में छठे-सातवें गुणस्थान में, निर्ग्रन्थदशा में झूलते थे। उस समय अध्यात्मरूपी रस में कलम डुबोकर, परमार्थ वचनरूप समयसार की छठी गाथा में निम्नानुसार लिखते हैं कि –

'णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव'।।६।।

जो ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है व प्रमत्त भी नहीं है - इस प्रकार ज्ञायक, द्रव्यस्वभाव से ज्ञायक ही है; यही ज्ञायकरूप मैं शुद्ध हूँ। प्रमत्त माने स्वरूप

का अनुत्साह और अप्रमत्त माने स्वरूप का उत्साह। इन दोनों में पर निमित्त की अपेक्षा रहती है। प्रमत्त में कर्म का सद्भावरूप तथा अप्रमत्त में कर्म का अभावरूप, इस प्रकार दोनों में पर निमित्त की अपेक्षा आती है। ज्ञायकभाव अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; अतः पराश्रित मानने पर औपाधिकभाव उसमें प्रवेश नहीं पाता। व्यवहारविधि के ये भङ्ग मेरे अखण्ड ज्ञानस्वरूप में नहीं हैं। इस मान्यता का नाम द्रव्यदृष्टि, सम्यग्दृष्टि या तत्त्वस्वभाव की सच्ची दृष्टि कहो। अनन्त ज्ञानियों द्वारा प्रमाणित दृष्टि से श्रीमद्राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि आत्मस्वरूप की श्रद्धा, समझ यही प्रथम सीढ़ी है। **'आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित; जेथी केवळ पामिये'**। इस प्रकार तीनों काल ज्ञानस्वभाव स्वयं शुद्ध है। इसमें परमाणुमात्र की मिलावट, मैल या रागादि का असर नहीं है; त्रिकाल एकरूप ज्ञायक है। आत्मा की इस प्रकार स्वाभाविक, सच्ची दृष्टि हुए बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती। सर्व परभावों से भिन्न ज्ञानमात्र जीव है – ऐसा प्रथम लक्ष्य बनाया, यह पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत है। श्रीमद्जी के कहे चौदह नय के बोल में प्रथम वाक्य है कि **'एवंभूत दृष्टि से ऋजुसूत्र स्थिति कर।'** पूर्ण की निःशङ्क प्रतीति द्वारा वर्तमान में ही अनन्तानुबन्धी कषाय तोड़कर स्वभाव में स्थिर हो जा। यानी मेरे में अपूर्णता या मलिनता तीन काल में नहीं है, – इस प्रकार पूर्णता का लक्ष्य साध्य करके वर्तमान में आंशिक स्वरूपस्थिति हो, वह साधक है। एक तत्त्व को बन्धन मानकर दोरूप मानना, यह सच्ची दृष्टि नहीं है। क्षयोपशमिकभाव उघाड़रूप है, उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता। पूर्णता के लक्ष्य से दर्शनमोहनीय का क्षयोपशम करे तो सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

सम्प्रदाय में कुछ लोग मानते है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में द्रव्यनिक्षेप से हम चारित्र को व श्रद्धा को क्षयोपशमभावपूर्वक मान रहे हैं किन्तु वह बात गलत है। मिथ्यात्व में ज्ञान का उघाड़-विकास भले हो, पर वह मिथ्याज्ञान का उघाड़ है; ऐसा उघाड़ तो अभवी (अभव्य) को भी होता है। जिसे यथार्थ स्वानुभवपूर्वक श्रद्धागुण प्रगट हुआ है, उसे परमार्थकारण कहा है। पूर्ण कारणशक्ति में से सम्यक्त्व प्रगट हुआ, उसे ही पूर्ण कार्य प्रगट हुआ, ऐसा उपचार से कहा जा सकता है। जो पूर्णता का पुरुषार्थ अप्रतिहतभाव से साधकस्वभाव लेकर उठा है, वह एकाध भव

में मोक्ष के अपने अन्तरङ्ग के उद्गाररूप संदेश लाते हैं, ढीली-ढीली बात नहीं लाते। भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने भी समयसार में एक ही भव में केवल पाए, ऐसी महिमा अप्रतिहतभाव की दिखाकर बलवान पुरुषार्थ की, अविच्छिन्न धारा की बात की है। श्रीमद्राजचन्द्र भी उस प्रकार का आशय कह गये हैं। उसे जो समझे, उसे उपकार होगा। अप्रतिहतभाव माने, पीछे न हटे, - ऐसा ज्ञानबल का पुरुषार्थ जो क्षायिकभाव जैसा कहलाता है। जिस जीव को तीर्थङ्कर नामकर्म बँधा है, उसको भी किसी समय क्षयोपशम समकित होता है, फिर स्वयं क्षायिकसमकित होता है। किसी जीव को अप्रतिहतभाव होता है किन्तु वह तीर्थङ्कर, केवली या श्रुतकेवली के समीप क्षायिकसमकित पाते हैं। आत्मा पूर्ण शुद्ध, ऐसा और इतना ही है; उसमें पुण्य-पाप आदि परभाव का अंश भी नहीं है। इस प्रकार पूर्ण ज्ञायकभाव की श्रद्धा होने पर जीव पूर्णता को पाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्ज्ञान में टिके रहनेरूप स्वरूपाचरण (चारित्र)रूप मोक्ष का साधन है, वह आत्मा ही है। पूर्णता को प्राप्त करने का बल आत्मा में ही है तथा आत्मा द्वारा, आत्मा के लिये, आत्मा से, आत्मा में, इत्यादि छह कारक (साधन) ज्ञान में ही हैं। **'जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत'** - ऐसा कहा। पूर्ण की श्रद्धा, ज्ञान, व पूर्ण का प्रयत्न, पूर्ण की रुचि, पूर्ण का ज्ञान और पूर्ण रुझान, यानी ज्ञातापने में टिके रहना ही मोक्ष का साधन है। बाहर से कोई कुछ अन्य करने को कहे तो उससे (बन्धभाव से) मुक्तदशा नहीं है। साध्य और साधक - दोनों बात इस गाथा में ली हैं। मैं ज्ञायक पूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वाभासरहित हूँ - ऐसा यथार्थ लक्ष्य होने पर, पूर्ण को प्राप्त कर लेने का पुरुषार्थ उठता है। जिस भाव से अपनी पूर्ण स्वाधीनता को स्वीकार किया, अपना बेहद, अपरिमित स्वभाव जाना, वह भाव अनन्त कर्म का नाश करनेवाला है। **१०१.**

अब, मोहनीयकर्म मुख्य है, ऐसा बता रहे हैं -

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ;
तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ।।१०२।।

कर्म अनन्त प्रकार के, तामें मुख्य जु आठ।
मोहनीय उनमें प्रमुख, तन्नाशक कहूँ पाठ।।१०२।।

चैतन्यतत्त्व का सामर्थ्य तो देखो कि वह एक ही समय में विभावपर्याय का हनन कर देता है। जिस प्रकार किसी एक मियाणे को, यानी बलवान, क्रूर चोर को पकड़ने के लिये बहुत सारी पुलिस की निगाह रहती है, उस प्रकार एक गुण की एक पर्याय को रोकने के लिये अनन्त परमाणुओं को इकट्ठा होना पड़ता है। ऐसा चैतन्य का सामर्थ्य है। इसके बावजूद भी जीव के प्रत्येक गुण की शक्ति त्रिकाल निर्मल रहती है; मात्र वर्तमान प्रगट अवस्था में ही भूल है। अनन्ते कर्मदल के (विभाव को) टालने का बल एक समय की अवस्था में है। उस भूल को (अवस्था को) एक ही समय में पलटकर भूल का नाश कर सके, ऐसा पूर्ण बल प्रभु चैतन्य में है। कर्म अनन्त प्रकार के हैं, उसे कहने बैठे तो अन्त नहीं आयेगा किन्तु उसके ज्ञानावरणीय आदि मुख्य आठ प्रकार होते हैं; उसमें मुख्य तो मोहनीयकर्म है। वह मोहनीयकर्म जिस भाव से नष्ट किया जा सके, उसका पाठ अब कहेंगे।

दिनाङ्क - १८-११-१९३९

१०१वीं गाथा में कहा कि विकार, विभाव बिना का शुद्ध असङ्ग आत्मा हैं, ऐसी श्रद्धा बिना उसका साधन प्रगट नहीं हो सकता। जो कर्म-कलङ्क की मलिनता है, उससे मुक्त होने का प्रयत्न, उपाय स्वयं से हो, इसके लिये प्रथम अविरोधतत्त्व का स्वीकार होना चाहिए। **'जेथी केवळ पामिये'** अर्थात् शुद्धस्वभाव की श्रद्धा द्वारा ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। १०२वीं गाथा में कहा कि अनन्त प्रकार के कर्म हैं, उसमें मुख्य आठ प्रकार हैं और उसमें भी मुख्य मोहनीयकर्म है। उसका हनन कैसे होवे – यह अब बतायेंगे। लोगों को अन्तरङ्गविषय की बात समझना बहुत कठिन व सूक्ष्म पड़ता है क्योंकि उसमें रुचि नहीं है। संसार के बड़े चतुर भी आत्मा की बात आये, उसमें उलझकर वहाँ उल्टी खतौनी कर बैठते हैं। आठ कर्म में से प्रत्येक कर्म के अनन्त प्रकार हैं। उसकी रचना क्या है और आत्मा का शुद्धत्व क्या है ? – इसका उसे विचार भी नहीं आता। आठ कर्मों के लक्षण का युक्तिपूर्वक वर्णन जानना हो, उसे तत्त्वार्थसूत्र, गोम्मटसार इत्यादि शास्त्रों से जान लेना।

आत्मा के अनन्त गुण हैं। उसमें आठ गुण और उसकी पर्याय में जितनी अशुद्ध उपादानरूप योग्यता है, उतना निमित्त कर्म का आवरण है; बाकी के सभी गुणों की पर्याय निरावरण, शुद्ध ही है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, इत्यादि गुणों को आवरण नहीं आता। अस्तित्व नाम का सत्गुण (सत् माने नित्य हयातीरूप) - इसके कारण वस्तु का कदापि नाश नहीं होता। यदि सत् (सत्ता=अस्तित्व) गुण का अभाव हो तो जीवद्रव्य का अभाव होवे। निगोद – आलू, शकरकन्द इत्यादि एकेन्द्रिय योनि में जीव चला जाता है। वहाँ भी उसके अमुकगुण के अलावा बाकी सभी गुण प्रगटदशा में भी शुद्ध हैं। दर्शनगुण, ज्ञानगुण व वीर्यगुण पर चाहे जितना आवरण आये, फिर भी अनन्तवें भाग में वे गुण खुले होते हैं।

यहाँ पर मोहनीयकर्म की बात की है कि उसमें जुड़ान करनेवाला जीव स्व-स्वरूप में असावधान होता है। आत्मा के आठों गुण में विघ्न करनेवाला निमित्तकर्म

मोहनीय है। वह कर्म में जुड़े तो जीव को भ्रमणा होती है, जीव भूल करता है। इस प्रकार भूल करना चालू रखता है, इसलिये संसार में भटकना होता है। ज्ञान का ज्यादा उघाड़ (विकास) होवे तो ही आत्मज्ञान हो और कम ज्ञान हो तो न हो – ऐसा नहीं है। ज्ञानावरणीयकर्म ज्ञान को कुछ विपरीत नहीं करता। ज्ञान का विकास हीन, अधिक हो – यह गुण-दोष का कारण नहीं है। ज्ञानावरणीय का विकास निर्जरा का या मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम या क्षयोपशम पुरुषार्थ द्वारा करने पर गुण प्रगट होता है; अतः मिथ्याज्ञान पलटकर सुज्ञान होता है और मोक्षस्वभाव प्रगट होता है। आत्मानुभव बिना ज्ञानावरणीयकर्म का बहुत विकास हो और हज़ारों शास्त्र कण्ठस्थ होवें, फिर भी आत्मा को तत्सम्बन्धित कोई लाभ नहीं है एवं उसके आवरण से आत्मा को दोष नहीं है। आत्मगुण का घातक, अशान्ति उत्पन्न करने में निमित्त मोहकर्म है। शुभाशुभराग में रुकना ही बन्ध का पन्थ है। आत्मा की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान, व ज्ञान की स्थिरता का पुरुषार्थ करने से इस मोहकर्म का अभाव होता है और मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोहकर्म को पुरुषार्थ द्वारा जीव टाले, यह उपचार कथन है। मोहकर्म है, वह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार स्व-पर धर्म को जानकर, सच्चे अभिप्राय द्वारा ज्ञानमात्र स्वभाव में जीव टिके, तब दर्शनमोहकर्म मिटता है। शरीर सो मैं; राग, दया, पुण्यादि परिणाम मैं हूँ, वे मेरे हैं, इत्यादि अनेक प्रकार से पर में आत्मबुद्धि होना कोई ज्ञानावरणीयकर्म के कारण नहीं है किन्तु दर्शनमोहनीयकर्म के स्वीकार के कारण है। इस सम्बन्ध में हो रही अपनी भूल है; यह भूल, वह मिथ्यादर्शन है। इस भूलपूर्वक का जानना मिथ्याज्ञान है; इस भूल में (रागादिरूप में) टिकना, वह मिथ्याचारित्र है। यह अभ्यन्तर दोष की बात है। स्वरूप की प्रतीति व स्वरूप की स्थिरता, मोह का अभाव करने से आत्मा में होती है। कोई हज़ारों शास्त्र पढ़ लेवें और इससे माने कि मुझे आत्मा का ज्ञान हुआ तो वह बात झूठी है।

विपरीत अभिप्रायरहित असंयोगी शुद्ध आत्मा की यथार्थ, सत्य प्रतीति का नाम सम्यग्दर्शन है। इस गुण को प्रगट करने पर दर्शनमोह व अनन्तानुबन्धी कषाय मिट जाते हैं। मैं आनंदमूर्ति हूँ, केवल ज्ञाता-दृष्टा सिद्धसमान हूँ – इस प्रकार सत्स्वभाव का अनुभव करके, पूर्णता की प्रतीति करके और शुभ-अशुभ कषायभाव से भिन्न

रहा – यह प्रतीति स्वयं मोह का अभाव करके प्रगट हुई है। परन्तु ज्ञान के विकास से लाखों शास्त्र कदापि पढ़ लेवें, फिर भी उसे अतीन्द्रिय स्वानुभव की पवित्रदशा यानी निर्दोषदृष्टि न होवे और ऐसा न होवे, तब तक उसका अन्य सब कुछ अपराधरूप हैं। किसी को बाहर की क्रिया का योग बहुत होवे, बलवीर्य का विकास बहुत होवे, निर्भय दिखता हो, भाले से छेद डाले, फिर भी भयभीत न हो तो भी वह शरीरादि का बल, कोई सच्ची श्रद्धा या सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। कोई बहुत कष्टपूर्वक तप करे, बहुत परिषह सहन करे – इससे भी सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता। परन्तु जो श्रद्धागुण है, उसे जैसा है वैसा पहचानकर मैं ज्ञानानन्द पूर्ण शुद्ध स्वाधीन हूँ, इसी में मेरी शान्ति व मेरा आनन्द भरा है – इस प्रकार का वेदन सम्यक् श्रद्धागुण द्वारा प्रगट होता है; मोह टालने से सच्चा सुख, आत्मज्ञानदशा प्रगट होती है। बाहर की बहुत सुविधा हो, शातावेदनीय का उदय हो तो धर्म होवे, ऐसा भी नहीं है। आयुष्य लम्बा होवे तो धर्म हो, ऐसा नहीं है।

शरीर में रोग न हो तो धर्म होवे और शरीर में शक्ति बहुत हो तो ही आत्मज्ञान या धर्मसाधन हो सके, ऐसा भी नहीं है। धर्मात्मा निर्धन, रोगी हो ही नहीं सकता, ऐसा भी नहीं है। यहाँ तो यह कहना है कि मोक्ष का उपाय किसी बाहरी चीज़ में रुक जानेरूप सम्बन्ध नहीं रखता। सच्ची प्रतीति में विरोधरूप निमित्तमात्र दर्शनमोहकर्म है किन्तु वास्तविक भावमोह तो अपने स्वरूप की असावधानी है। कोई कहे कि मोहनीयकर्म मार्ग दे तो धर्म होवे – ऐसा भी नहीं है क्योंकि धर्म तो आत्मगुण की अन्तरङ्ग पवित्रता का पुरुषार्थ करने से विकसित होता है। नामकर्म की प्रकृति, सुन्दर भाषा, यशकीर्ति इत्यादि शुभकर्म का योग हो तो ही मोक्षसाधन प्रगट हो, ऐसा नहीं है। अशुभनामकर्म का योग हो, निम्नकुल हो तो भी आत्मज्ञान हो सकता है। जड़कर्म, जीव की पवित्रदशा प्रगट होने न दे, ऐसा नहीं है। आठ कर्मों में से मात्र एक मोहकर्म ही जीव को भूल करने में निमित्त है। यह मोहभाव जो बन्ध का पन्थ है, उसका हनन करने पर ही मोक्ष का उपाय होता है। अकषायभाव से व सच्ची प्रतीति से मोक्षभाव, अबन्धदृष्टि अपने द्वारा ही होती है। अतः वह औपाधिकभाव व उपाधि के निमित्त का हनन कैसे हो ? – इसकी विधि आगे

की गाथा में आयेगी।

ताड़वृक्ष बहुत बड़ा है, फिर भी उसकी एक मुख्य नस में अमुक स्थान पर एक सुई डालो तो वह पूरा ताड़वृक्ष सूख जाता है क्योंकि जिस स्थान में छेद बनाकर सुई ने प्रवेश किया, उस छेद से उस वृक्ष को पोषण मिलने का मार्ग रुक गया। इस प्रकार यह संसारवृक्ष अनादि सन्ततिरूप है। उसमें मोहकर्म को बराबर पहचानकर उसके ऊपर यदि सच्ची श्रद्धा के पुरुषार्थ की सुई डाले तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व राग -द्वेषरूप मिथ्याचारित्र का संसारमार्ग रुक जाता है। वृक्ष को जड़ से उखाड़ दे तो उसके पत्ते, टहनियाँ कब तक नवपल्लवित व हरे रहेंगे ? अल्पकाल में सूख जाते हैं। बड़ी भारी लकड़ी है, उसे तोड़ना हो तो उस की दरार देखकर, छेनी पर घन के घात करे तो लकड़ी फटकर सन्धिस्थान के पास से अलग हो जाती है। इस प्रकार जड़-चेतन की सूक्ष्मसन्धि समझनी चाहिए। चैतन्यमूर्ति में दरार नहीं है परन्तु यह परप्रकृति मोहकर्म के साथ जुड़ान वर्तमान अवस्था में दिखता है, वह मैं नहीं – इस प्रकार ज्ञानभाव से जाना और सच्ची श्रद्धापूर्वक भेदज्ञान की छेनी द्वारा, अन्तर की स्थिरता के पुरुषार्थरूप मोगरा की मार पड़ी कि इस मोहकर्म की सन्धिकर्म की गाँठ छूट जाती है और पवित्र ज्ञानदशा, स्वरूपाचरण शक्ति प्रगट होती है। **१०२.**

अब, मिथ्यादर्शन व मिथ्याचारित्र के नाश करने का अचूक उपाय बताते हैं –

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम;
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम।।१०३।।

मोहनीय के भेद दो, दर्शन-चारित्र नाम।
घातें बोध-वीतरागता, अचूक उपाय जु आम।।१०३।।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं : (१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय में जुड़ने से जीव को मिथ्यात्वभाव होता है। मिथ्यात्व माने परमार्थ के विषय में

अपरमार्थबुद्धि और अपरमार्थ के विषय में परमार्थबुद्धि। इसका दूसरा नाम स्व-स्वरूप में भूल है। अभिप्राय की भूल ही परमार्थ के विषय में मिथ्याबुद्धि है।

आत्मा को पराधीनता का भाव हो, तब तक पर वस्तु में हितबुद्धि या पुण्य आदि किसी भी परवस्तु में प्रेम रहता है और निमित्ताधीन वृत्ति छूटती नहीं है। अतः श्रीमद्जी ने प्रथम गाथा में ही कहा है कि **'जे स्वरूप समज्या विना,'** स्वरूप समझा नहीं इसलिए पर को अपना माना। शुभराग, कर्मभाव को धर्म माने – ठीक माने, यह लौकिक मार्ग है। राग से धर्म माननेरूप भ्रान्ति द्वारा, ज्ञातापना भूलकर परद्रव्य का कर्ता व स्वामी जीव होता है और उसे साधन मानता है। बाह्यसाधन से यानी बन्धभाव से आत्मा का मोक्षमार्ग माना, यही दर्शनमोहरूप भ्रमणा है। कोई बाह्य दया आदि रागभाव को परमार्थ माने, ठीक माने तो वह अज्ञानभाव है। पर दया आदि मोहभाव के परिणाम मन्दकषाय हैं। उन शुभभावों को अपना गुण मानना और उन पुण्यपरिणाम की खतौनी परमार्थधर्म में करनी – यह तो अपरमार्थ को परमार्थ मानना है; वह पापानुबन्धी पुण्य है। उसके फल में हिंसा का योग मिलेगा; वह संसार में भटकने का उपाय है। पुण्य तो ज्ञानी को भी हो जाता है परन्तु उसे वे परमार्थरूप धर्म नहीं मानते। अपने अन्तरङ्ग अभिप्राय में उसकी खतौनी किस प्रकार है, इसका निर्णय कौन करे ? जब तक अन्तरङ्ग परिणाम का भान नहीं है, तब तक स्वरूप की भ्रमणा है। इसलिए कहा कि **'समज्या विना पाम्यो दुःख अनन्त'** क्योंकि दर्शनमोहरूप विपरीत अभिप्राय है और मिथ्याबोध हैं, वह सम्यग्दर्शन का और सच्चे बोध का घात करता है। इस बन्धपन्थ को टालने हेतु शुद्धात्मानुभवरूप सम्यग्बोध, मिथ्याबोध का घात करता है और सच्ची वीतरागता, चारित्रमोह का घात करती है; इन दो में ही मोक्षमार्ग का रहस्य आता है। दर्शनमोह माने परमार्थ में अपरमार्थबुद्धि है। वह बुद्धि, सच्ची श्रद्धा तथा सच्चे बोध का घात करती है। सम्यग्ज्ञान माने जैसा आत्मपदार्थ है, वैसा उसे जानना, और उसे वैसा मानना – यह सम्यग्दर्शन है और उसमें रागरहित ज्ञातारूप से टिकना, जमना – वह सम्यक्चारित्र है। वही मोक्षमार्ग है, वही संसार से मुक्त होने का उपाय है। यह अचूक (रामबाण) उपाय है। जिस मिथ्यामान्यता ने स्वयं का घात किया था, उसी मिथ्या अभिप्राय का सम्यक् अभिप्राय द्वारा घात किया। मिथ्या

प्रवर्तनरूप चारित्रमोह के रागादिक परिणाम हैं, वह अस्थिरता है; इसके प्रतिपक्षी वीतरागीभाव की स्थिरता के शुद्धपरिणाम द्वारा चारित्रमोह का क्षय होता है। ज्ञानस्वभाव की, माने वीतरागता की ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वभाव की रमणता है – वही उपाय है। मोक्ष के उपाय की यही विधि है; इसी भाव से ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट होता है। यह अचूक उपाय है। इसमें तीनों काल में दूसरा मत या पन्थ नहीं है। इसमें अमुक भेष, सम्प्रदाय या क्रिया करने की बात नहीं आयी किन्तु समझने का व समझ की स्थिरता – ये दो उपाय कहे। बाहर का कुछ करने का नहीं आया।

आत्मा ऐसा ही है, ऐसी सच्चे अनुभवसहित प्रतीति, दर्शनमोह को मिटाती है और राग, द्वेष, रति, अरति, भय, शोक, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अस्थिरता को, यानी चारित्रमोह को टालनेवाले वीतरागभाव की स्थिरता है; उस स्थिरता के (स्वाभाविकदशा के) रोधक क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगञ्छा (जुगुप्सा) है। इन राग-द्वेषरूप अस्थिरता का निमित्त चारित्रमोहनीयकर्म है। उसके उदय में जुड़ने से भावकर्म चिद्विकार जीव करता है। इस चारित्रमोह का नाश करनेवाला वीतरागभाव है। दर्शनमोह का नाश करनेवाला स्वात्मबोध (सम्यग्दर्शन) है; यह इसका अचूक उपाय है। जिस प्रकार प्रकाश होने से अन्धकार नाश को प्राप्त होता है – यह उसका अचूक उपाय है; उस प्रकार बोध व वीतरागता, क्रमश: दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीयरूप अन्धकार को मिटाने में प्रकाशस्वरूप है। अत: यह इसका अचूक उपाय है। जिस भाव से अवगुण हुआ, उसके प्रतिपक्षी सद्गुण से वह दोष मिटता है। उल्टी श्रद्धा, मिथ्यादर्शन – जैसा कोई महापाप नहीं है। जिसे पूर्णता के आश्रय से शुद्धस्वरूप का बोध होता है, वह पूर्णता को प्राप्त करने का पुरुषार्थ पैदा कर लेता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, स्वाधीनरूप से शक्तिस्वरूप हैं – ऐसा अनुभव किया व पूर्णता का भान हुआ; उसी समय पूर्ण स्थिरता नहीं होती किन्तु बीच में अल्पकाल साधकदशा है, वहाँ सत्यपुरुषार्थ करना बाकी रहता है। स्वरूप में एकाग्र रहने का पुरुषार्थ मोक्षमार्ग है। अंशत: – अंशत: स्थिरता बढ़ाकर राग टालने का प्रयत्न है, उसे व्यवहार कहा है। व्यवहार व निश्चय दोनों आत्मा में ही होता है किन्तु देहादि बाह्यसाधन

में नहीं होता। यह अन्तरङ्ग अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप की बात है। अपने घर की स्वयं की बात है; इसमें किसी मत-सम्प्रदाय के आग्रह की बात नहीं है परन्तु अनन्त ज्ञानियों के घर की बात है। **१०३.**

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - १९-११-१९३९

अब, दोष उसके प्रतिपक्षी गुण से नष्ट होते हैं, ऐसा बताते हैं :-

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह;
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो संदेह ?।।१०४।।

कर्म-बन्ध क्रोधादि से, क्षमाभाव से नाश।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्व को, नहिं संशय अवकाश।।१०४।।

क्रोधादिभाव से कर्मबन्ध होता है और क्षमादिक भाव से उन दोषों का घात होता है अर्थात् क्षमा रखने से क्रोध रोका जा सकता है – यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है किन्तु यह तो अन्तरतत्त्व की बात है। मन से मानी हुई शुभपरिणामवाली क्षमा, सरलता आदि से निजगुण नहीं खिलते। जब तक सच्चा आत्मबोध नहीं है, तब तक चाहे जितनी क्षमा धारण करे, खेद न करे, सरलता-समभाव रखे, वैराग्य करे; फिर भी ये सारे ही कार्य कर्मभाव में, शुभपरिणाम में समाविष्ट हैं; स्वगुण में वे किञ्चित्मात्र लाभदायी नहीं हैं। मात्र पुण्य बँधेगा, भवकटी नहीं होगी क्योंकि (जो) विपरीत अभिप्राय द्वारा क्रोध को मिटाने का प्रयत्न करता है, वह मानता है कि ये क्रोधादि भाव मुझे पर के कारण हो रहे हैं और इसलिए मुझे कर्मों का बन्ध होता है किन्तु स्वयं अनादि अनन्त, निर्दोष, अबन्ध, असङ्ग, एकरूप है –

ऐसा नहीं माना। अपने आप को बन्धवाला, दयावाला, पुण्यवाला, भूलवाला मानना; मेरा तत्त्व उपाधिवाला है – ऐसा किसी भी प्रकार से विपरीत मान लिया है। अत: जो पुण्यपरिणाम, क्षमा, सरलता, निर्मानता, अहिंसा, त्याग, निर्लोभता, आदि शुभपरिणाम हैं, उसे मोक्ष के सच्चे हेतुभूत मानकर करता है किन्तु उनसे लेशमात्र धर्म नहीं है। लोगों को ऐसी मान्यता है कि क्रोधादि टालने से मोक्षमार्ग प्रगट होगा किन्तु अपना स्वरूप समझे बिना क्रोधादि नहीं मिटते। जब तक आत्मा के वास्तविकस्वरूप का भान नहीं है, तब तक कर्मभाव के कारण बन्धभाव उपस्थित रहता है और उसका फल संसार है। श्रीमद्‌जी का कहने का आशय यह है कि नि:सन्देह क्रोध, मान, माया, लोभरहित मेरा असङ्ग स्वरूप शुद्ध है। इस प्रकार सच्चे अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर, ज्ञान की रमणता से, माने ज्ञान में स्थिरता के पुरुषार्थ से क्रोधादि उदयभाव का क्षय होता है, तब कर्मबन्ध टलता है। सम्यग्ज्ञान इस स्वरूप को नि:सन्देहरूप से जानता है; ऐसे ज्ञान का कार्य मन के शुभपरिणाम से, विकल्प से, या बाह्यकारणों से पर है। क्षमा के पाँच प्रकार हैं –

(१) पहला प्रकार – मैं क्षमा करूँ तो कोई मुझे परेशान नहीं करेगा, जिस प्रकार निर्बल स्वयं सबल का विरोध नहीं करता। उसमें मैं त्रिकाल एकरूप हूँ – ऐसा नहीं आया परन्तु रागभाव आया। अत: वह सच्ची क्षमा नहीं है।

(२) दूसरा प्रकार – क्षमा करूँ तो दूसरों की ओर से मुझे नुकसान न होवे और लाभ होवे। सेठ की डाँट खाले, पलटकर क्रोध न करे – यह भी सच्ची क्षमा नहीं है।

(३) तीसरा प्रकार – मैं क्षमा करूँ तो कर्मबन्धन रुक जाए। क्रोध करने से नरक आदि निम्न योनि में जाना पड़ेगा; अत: क्रोध न करूँ – यह भी सच्ची क्षमा नहीं है क्योंकि इसमें भयभीतता है; परन्तु नित्यस्वरूप के आश्रय से निर्भयता – नि:सन्देहता नहीं है।

(४) चौथा प्रकार – क्रोधादि नहीं करने, ऐसी वीतराग की आज्ञा है, ऐसा शास्त्र में कहा है। इसलिए मैं क्षमा रखता हूँ; सरलता, निर्मानता, निर्लोभता रखता हूँ। इसलिए मुझे पाप नहीं होगा; उससे मुझे लाभ होगा। इस प्रकार पुण्यपरिणाम-शुभराग को वीतराग की आज्ञा समझे; यह भी यथार्थ क्षमा नहीं है क्योंकि वह

पराश्रित क्षमा है।

(५) पाँचवीं क्षमा का स्वरूप अब कहा जा रहा है – आत्मा अविनाशी है; अबन्ध, निर्मल, ज्ञाता ही है। उसमें शुभपरिणाम का कर्तृत्व भी नहीं है किन्तु स्वयं जैसा है, वैसा खुद को जानकर, मानकर उसमें स्थिर होना – यह वीतराग की आज्ञा है और यह धर्म है। यह पाँचवीं क्षमा, क्रोध में झुक नहीं जाना, क्रोध को जाननेवाले को जानना – ऐसा सहज बेहद अकषाय क्षमास्वरूप निजस्वभाव है। जो भाव टलता है, वह गुण नहीं है; अतः भेदविज्ञान द्वारा शुद्धआत्मस्वरूप में रहना, यह सहज क्षमा है।

क्षमा के शुभविकल्प का मैं कर्ता, भोक्ता, स्वामी नहीं हूँ – ऐसा समझकर स्व की क्षमा करे तो वह स्वरूप की सावधानी हुई। शास्त्र में शुभभाव की बात आये कि सरलता रखनी, क्षमा करना, इसका अर्थ यों समझना कि शुभपरिणाम का विकल्प होता है परन्तु वह नित्य सहजस्वभाव का क्षमागुण नहीं है।

धर्मध्यान में चार प्रकार आते हैं। उसमें 'आज्ञा का विचार', – ऐसा एक प्रकार है। उसका अर्थ 'साधकस्वभाव' होता है। आज्ञा माने किसी अन्य का दबाव नहीं, आज्ञा माने रागरहित आत्मस्वरूप की आराधना है। वीतराग की आज्ञा सच्ची इसलिए उसमें राग, द्वेष या पुण्य नहीं, कषाय नहीं, कम-अपूर्ण, या विकारीता नहीं। पूर्ण वीतराग ज्ञायकमात्र एकरूप स्वभाव की प्रतीति, लक्ष्य और उसमें टिकने का नाम धर्म है, यह वीतराग की आज्ञा है। मैं सरलता रखूँ, क्षमा करूँ – इस प्रकार क्षण-क्षण के राग के भङ्गरूप विकल्प, नित्य ज्ञायकतत्त्व को लाभ नहीं करते। ये पुण्यपरिणाम हैं, बन्धभाव हैं; इससे अबन्ध अरागीतत्त्व को लाभ नहीं होता।

कर्म के सहारे क्रोध, मान, माया, लोभ होंगे – इसलिए मुझे संसार में भटकना पड़ेगा। इस प्रकार भटकने का, बन्धन का भय है परन्तु नित्य निर्भय वस्तुस्वरूप का भान नहीं है; अतः वह शुभराग को धर्म मानता है। उस मोहजन्य शुभपरिणाम द्वारा, बन्धन व भय के कारण सरलता, क्षमा धारण करता है। किसी भी निमित्त के सहारे सहन करूँ, ऐसा आशय अज्ञानभाव है। प्रथम शुभाशुभकषाय से भिन्न, ऐसा अकषायरूप अपना निर्णय जीव को करना चाहिए। अशुभभाव तो दूर रहो, परन्तु शुभभाव करे, वह भी पुण्यबन्ध का कारण है। ज्ञानी उसे जाने कि वह

बन्ध तथा बन्धभाव ठीक नहीं है किन्तु अबन्धपना ठीक है। इस प्रकार पूर्ण वीतराग दृष्टिपूर्वक का प्रयत्न (ज्ञान में अविनाशी क्षमा का लक्ष्य) – यह सहज क्षमा है। मैं बन्धनवाला हूँ, ऐसा माने और उसे छोड़ूँ, ऐसा प्रकार नहीं बनता। मैं बन्धन नहीं, बन्धभाव नहीं – इस प्रकार रागादिक कषायभाव का घात अकषायभाव से करता है; अतः स्वभाव की स्थिरता से रागादि दोष व कर्मबन्ध मिटते हैं। इस विषय में सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को सन्देह नहीं रहता। लोग मानते हैं कि चलो, हम चारित्रवाले, व्रतधारी बन जाए, क्षमा रखें, कर्मबन्ध व दोष टाल देवें किन्तु इस प्रकार शुभपरिणाम, यानी बन्धभाव से संवर–निर्जरा नहीं होती; फिर भी माने तो मिथ्यात्व है।

तत्त्व का बीज हाथ में आये बिना क्षमा करे, यह वास्तविक क्षमा नहीं है किन्तु बन्धभाव, पुण्यपरिणाम है। वह क्षणिक पर्याय (अवस्था) है। जो क्षमा पुण्यपरिणाम का फल देकर छूट जाए, वह मन्दकषाय है, वह शुभराग है; उससे अविनाशी, शुद्ध, अरागी आत्मा को गुण नहीं होता; यह अभिप्राय सर्वप्रथम जरूरी है। जो क्षमा आत्मा की अखण्ड नित्यता को लाभ न दे, वह क्षमा-निर्मानता मोक्षमार्ग नहीं है परन्तु वह पुण्यपरिणाम है। मोक्षमार्ग में तो लोकोत्तर सहज समतापना है; लौकिक क्षमा, धर्म नहीं है। जो सरलता अविनाशी नित्यस्वभाव को लाभ न करे, वह सरलता संसार के हित की है; मोक्ष के हित की नहीं है। शुभभाव हो जाए – यह अलग बात है परन्तु करने जैसा है, ऐसा मानना – यह अलग बात है। जब तक पूर्ण वीतरागदशा की स्थिरता नहीं है, तब तक धर्मात्मा को शुभपरिणाम हुए बिना रहेंगे नहीं। परन्तु उसमें ठीक मानना, उसे मोक्ष का सही साधन मानना, सामायिक का प्रयोग मानना या उससे गुण मानना – यह मिथ्यात्व है, राग बन्धनभाव है। वह अरागी अबन्धतत्त्व को लाभ नहीं करता, इसका निर्णय प्रथम होना चाहिए। सरलस्वभाव माने आर्यस्वभाव, वह निर्दोष भाव से प्रगट होता है। निर्लोभता इत्यादि के लिये भी इसी प्रकार घटा लेना। आत्मा की सहजदशा, पवित्रता में वृद्धि करे, उस अकषायभाव की सम्हाल, सावधानी ही निर्लोभता है। बाकी क्षमा इत्यादि दस गुण यदि बिना आत्मज्ञान के कोई धारण करे, उसमें टिका रहे, हित माने तो वह पुण्यपरिणाम में, यानी बन्धभाव में रुका हुआ है; वह मोक्षमार्ग नहीं है। बाहर से

क्षमा करे, इससे अन्तर में शान्ति, आनन्द, सन्तोष प्रगट नहीं होते। निमित्त के सहारे जिसका आदर हुआ, उसमें मोक्षमार्ग नहीं बनता। सम्यग्श्रद्धा का विषय अबन्ध, नित्य, स्वाधीन, सहज, स्वाभाविक ज्ञायकतत्त्व है। स्वरूप जैसा है, वैसा जिसने जाना नहीं है, वह शुभपरिणाम में रुक जाता है। अत: यथार्थ तत्त्व को समझो; इसे समझना स्वयं से ही होता है।

इस गाथा में स्वतन्त्र आत्मा का स्थापन किया है, अबन्धपना कहा है। सामान्य बात तो बहुत लोग जानते हैं किन्तु इसमें बहुत विशेषतापूर्वक कहा है; अत: यहाँ नि:सन्देहता पर वज़न दिया है। आत्मा पूर्ण ज्ञानघन, अविकारी ज्ञायकतत्त्व है; निमित्त में मिलनेरूप नहीं है। स्वयं ज्ञाता, दृष्टा पवित्र, बेहदशक्ति से प्रकाशित, अखण्ड ज्ञानप्रवाह से एकरूप है। ऐसी श्रद्धा के बीज से, स्वानुभव से, मोक्ष का उपाय प्रगट होता है। जिस प्रकार क्रोधभाव है, वह वर्तमान समय की एक पर्याय है; उस प्रकार क्षमादिभाव भी एक समय की पर्याय है – ऐसे भेदविकल्प पर जिसका लक्ष्य है, उसे दोष का व कर्मबन्ध का टलना नहीं होता क्योंकि पर्यायबुद्धि से निर्जरा नहीं है।

विकारीभाव शुभ-अशुभ अध्यवसान है, अनित्य है, स्वगुण नहीं है। प्रथम यह लक्ष्य में आये बिना निजगुण अंशमात्र भी खुलेंगे नहीं, धर्म होगा नहीं, सामायिक होगी नहीं। स्वयं एक स्वाधीन ज्ञान वस्तु है – ऐसा मानकर अपने ज्ञान में निश्चल रहने से क्रोधादि रोके जा सकते हैं। शुद्धस्वभाव में अस्ति, माने निश्चल रहने से परभाव की नास्ति होती है। इस अभिप्राय द्वारा ज्ञानी उपदेश करते हैं कि क्षमा से क्रोध और सन्तोष से लोभ रोका जा सकता है। ऐसा परमार्थ लक्ष्य में रखकर दोष मिटाने का अभिप्राय यहाँ कहा है। दोष टालते-टालते बाकी रहे, वह शुद्ध स्वाधीन स्वतत्त्व है। निर्मानपने से मान रोका जा सकता है। मैं दूसरों से बड़ा हूँ, इस प्रकार पर-निमित्त के आश्रय से अपने आप को गुणवाला मानना, यह अज्ञान है। अपनी स्वाधीनता, निर्दोषता कायम रखकर, वीतरागता का विनय करे, वह गुण है। सद्देव, सद्गुरु, सद्धर्म तो वीतराग हैं। खुद को वीतरागता का बहुमान है, इसका विनय करना, वह व्यवहार है; परमार्थ से तो वह अपना विनय है। स्व के आधार से रहनेवाला निर्मानी है क्योंकि वह स्वजात है। परपदार्थ का आश्रय

अपने में अपूर्णता है। कुलमद, जातिमद, आदि पर को स्व मानता है, वह अपनी स्वाधीन, शुद्ध चैतन्यजाति को भूला है। जिसे शुद्ध चैतन्य की जाति का मान है, उसे पर से निर्मानता है। सत् का बहुमान करने से देव, गुरु, शास्त्ररूप निमित्त का बहुमान भी साथ में आ जाता है। यह निर्मानता गुण है। निजगुण का जो बहुमान है, वह पराश्रय नहीं है।

शरीर का बल, वह पुद्गल रजकण का बल है। इस जड़बल को जो आत्मा का बल नहीं मानता, वह शान्तिपूर्वक शान्ति में टिक सकता है। मेरा कुटुम्ब बड़ा, मैं बहुत पैसेवाला, राज्यवाला हूँ – ऐसा जो मानता है, वह तो जड़ द्वारा बड़ा होना चाहता है। पुण्य से, रूप से, या विद्या से – इस प्रकार पर–निमित्त से जो अपनी महिमा बताता है, वह समुद्र को सीप दिखा रहा है। जीव स्वयं बेहद अनन्त ज्ञानस्वरूप है। उसे भूलकर जो उसे निम्न, हीन, विकारी माने और कहे कि मैं इसका, वे मेरे तो यह अज्ञान है। कोई चार-छह महीने तक रोटी छोड़ने का अभिमान करता है; ऐसे कर्तव्य को हित मानता है – वह अनात्मज्ञ है, मूढ़ है। ज्ञानी, तत्त्व दृष्टिवन्त आत्मा स्वयं को स्वाधीन, असङ्ग, पूर्ण, ज्ञानानन्दमय, पवित्र व परवस्तु की अपेक्षारहित मानता है।

जीव को किसी पुण्यपद से लाभ मानता है, वह अज्ञानी है। ज्ञानी धर्मात्मा माने कि मैं अपने से स्वाधीन हूँ। पूर्णता की श्रद्धा से जो गुण आंशिकरूप से प्रगट हुआ है, वह पूर्णता लाये बिना रहेगा ही नहीं। पवित्र सिद्धपद मेरे में शक्तिरूप से है – ऐसा जिसने यथार्थ माना है, जाना है, वह पर से निर्मानी होता है और वही पूर्ण पद का आराधक है। वीतराग की आज्ञा का आराधक वही है और इसीलिए पूर्णता की रुचि, आदर व स्वीकार से वह पूर्ण होने का पुरुषार्थ करता है। मैं पूर्ण हूँ, ऐसी श्रद्धा (प्रतीति) होने के बावजूद भी अभी पूर्ण वीतरागता में स्थिर होने का पुरुषार्थ बाकी है; वह पुरुषार्थ व्यवहार है। प्रतिक्षण जो राग का भाग प्रगट होता है, उसे ज्ञानी ज्ञान द्वारा जानते हैं। ज्ञानी जानते हैं कि रति, अरति, प्रेम, खेद – यह मेरा स्वभाव नहीं है। आत्मा रञ्चमात्र गमगीन नहीं है; कषाय एवं नोकषाय के उदयभाव से पर है। मैं पूर्ण पवित्र हूँ, ऐसे सच्चे अभिप्राय द्वारा राग-द्वेष, अज्ञान मिटाये जा सकते हैं। सारे अवगुणों की निवृत्ति आत्मगुण द्वारा

होती है, अबन्धभाव से सम्यक् अभिप्राय द्वारा समस्त कर्मबन्ध का अटकाव होता है। यहाँ **'प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां नहि संदेह'**, ऐसा कहा है; यह लौकिक व्यवहारीजन भी देख सकते हैं, इसलिये कहा है।

लोग मान द्वारा या क्रोधादि तीव्र वेग के वश होकर अग्नि में जलकर मर जाते हैं और बाहर से क्षमा धारण करते हैं। ज़रा भी पीड़ा दिखने न दे, इस प्रकार पर के कारण से हठपूर्वक अनन्ती वेदना (पीड़ा) सहन करते हैं, मुँह से 'उफ' तक नहीं निकालते। यह प्रत्यक्ष उल्टी क्षमा का उग्रपुरुषार्थ है; इसका उल्टा, तत्त्वदृष्टि द्वारा सहजवीर्य की स्फुरणा प्रगट होने पर मैं बिना राग का पूर्ण पवित्र, ज्ञायकमात्र हूँ, अबन्ध, शुद्ध हूँ – इस प्रकार यथार्थभान करके पूर्णता के लक्ष्य से जागा; स्व में सावधान हुआ, उसे रागादि दोष क्यों ऊपजे ? आत्मा जितना बलवान हो जाए, उतने अंश में शुभाशुभराग जरूर टलते ही हैं। अपना स्वरूप सहजवीतराग, पर से निवृत्तिरूप है। उसमें टिकने से, स्थिर होने से राग-द्वेष का टलना सहज होता है। अकषाय, क्षमास्वरूप में स्थिरता द्वारा क्रोध, मानादि, वासना इत्यादि सभी दोष टल सकते हैं। वह अनुभव अपनी जाति का है और जो टलता है, वह विजातीय है। क्रोध आदि छोड़े जा सकते हैं; अतः वे विजात हैं, और क्षमा, शांति रख सकते हैं और हमेशा टिक सकते हैं; इसलिये वे स्वजात हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप का भान होने पर सहजदशा की जागृति में वह कलुषित क्रोध, मान, माया, लोभ टल जाते हैं। लोग किसी मत की तरफ झुकाव होने से, प्रेम होने से अन्य सभी साधनों की अवहेलना करते हैं, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। तो आत्मस्वरूप की रुचि होने पर सहज ज्ञानदशा का लक्ष्य होने पर दोष क्यों न मिटे ? मिटे ही मिटे।

संयति राजा का दृष्टान्त : राजा कहते हैं कि मैंने मुनि के हिरन का घात किया। अरेरे ! मुनिराज मुझे अभिशाप देंगे; अरेरे ! मैं अशरण हूँ। अरे ! मुनिराज बोलते क्यों नहीं हैं ? निश्चितरूप से अब मेरा सर्वनाश होगा; इस प्रकार एक भय के कारण, राजापना इत्यादि भूलकर मुनिराज के चरणों में गिर पड़ा। मुनिराज का मैं अपराधी हूँ; मेरा जीवन अब इस मुनिराज पर निर्भर है, वे मुझे अभिशाप देकर जला देंगे। इस प्रकार भय के कारण विद्यमान वस्तु को भूलकर, उसे अविद्यमान

वस्तु मानकर मुनि की शरण माँग रहा है। इस प्रकार आत्मा यदि आत्मा को पहचानकर उसकी शरण में जाए तो जगत में व देहादि क्षेत्र में जो-जो संयोग निमित्तरूप हैं, वे होते हुए भी नहीं होने के बराबर हो जाते हैं। वासना खत्म हो जाने से वे निमित्तज्ञान में पृथ्वीपिण्ड समान दिखते हैं। अपनी स्वाभाविक ज्ञानदशा में ज्ञातारूप से निश्चल रहे तो सभी ज्ञेयपदार्थ और रागादि सब पररूप दिखते हैं। जिसमें अंशमात्र भी कर्म का सम्बन्ध नहीं है, ऐसी अबन्धदृष्टि व पूर्ण वीतरागदशा में स्थिर होने का पुरुषार्थ मोक्षमार्ग है। अबन्धभाव है, वह सच्ची दृष्टि है और वह सत्स्वरूप का सच्चा अभिप्राय है। रागरहित ज्ञानदशा में निश्चलरूप से टिके रहने से कर्मबन्ध का निरोध होता है और वही उसकी निवृत्ति है। सभी को प्रत्यक्ष अनुभव हो सके, ऐसा है; क्रोधादि रोकने से रुक सके, ऐसे हैं। अत: गाथा में इसे दृष्टान्तरूप से कहा है। जो भाव (अकषायभाव) कर्मबन्ध को रोकता है, वह अकर्म (मोक्ष) दशा का मार्ग है। वह मार्ग परलोक में नहीं है परन्तु यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। इसमें सन्देह क्या करना? सच्चा धर्म तो नगद का सौदा जैसा है। यहाँ पर कोई कहे कि आत्मा की सूक्ष्म बातों की हमें कुछ समझ नहीं है; अत: अभी तो कुछ पुण्य आदि करें तो परलोक में कुछ फल मिलेगा। हमें तो परलोक में धर्म फलेगा, इसका अर्थ परमार्थ से ऐसा हुआ कि प्रथम कर्मभाव (बन्धभाव) करें तो मोक्षभाव प्रगट होगा, यानी ज़हर अमृत बनेगा। अन्ध श्रद्धा से सच्चा मार्ग हाथ नहीं आयेगा।

लोग कहते हैं कि अगम, अगोचर, अतीन्द्रिय तत्त्व है। ऐसा तत्त्व फिलहाल तो कुछ समझ में नहीं आयेगा; तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानी को मालूम पड़ सकता है। हम तो अभी कुछ करें तो उसका फल परभव में कुछ मिलेगा किन्तु लोहे की छुरी को सान पर घिसनेवाला कारीगर प्रतिक्षण प्रत्यक्ष देखता है कि यह शस्त्र कितना चमका, कितना ज़ंग छूटा और कितना बाकी रहा? इस प्रकार इसकी तीनों अवस्थाओं को एक क्षण में जानता है; इस प्रकार आत्मधर्म है, वह नगद है। अभी संतोष नहीं हुआ तो फिर परक्षेत्र की पराधीनता में लाभ कहाँ से होगा ? गलत कारणों का सेवन करे, उसका कार्य सही कहाँ से आयेगा ? सद्धर्म का फल तो नगद ही है। आत्मा का धर्म तो नगद (का व्यापार) है; अधर्म का फल

भी नगद है क्योंकि चैतन्य की स्वाधीनता में से छूटकर खुशी-खुशी पराधीनता में, परभाव में उत्साह लाता है। अत: श्रीमद्जी ने कहा है कि **'क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो !'** जहाँ विकारीभाव है, वहाँ ज्ञान आच्छादित हो जाता है और भावहिंसा होती है। उसे देखने के लिये जो धैर्यवान नहीं होता, वह अवगुण में टिका हुआ है। इस प्रकार अधर्म भी प्रत्यक्ष है, नगद का सौदा है। परभाव में (शुभाशुभभाव में) टिकना, वह तो पराधीनता है जिसका फल अशान्ति है, दु:ख है। पुण्य, अघातिकर्म का योग दिखाता है; उससे चैतन्य को कुछ लाभ नहीं है, फिर भी लाभ माने तो वह अज्ञानी है। अपने स्वाधीनतत्त्व को भूलकर अशान्ति का भाव किया था, उस अशांति के भाव करते समय घातिकर्म बँधते हैं; उन घातिकर्मों का फल स्वगुण का घात करने का है – यह निश्चित है। अपूर्व आत्मधर्म की जिसने सच्ची श्रद्धा की और जिसे गुण प्रगट हुआ, उसे फिर किसी दूसरे से पूछने के लिये नहीं जाना पड़ता। मेरे अन्दर यह दोष अथवा गुण होगा या नहीं, ऐसी शङ्का उसे नहीं होती। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव से अपना स्वरूप न देखे, न जाने और बाहर से माने कि हमें संतोष है, हम नि:सन्देह हैं – इस प्रकार उल्टे को सुल्टा माने तो उसे कौन ना कहें ?

आत्मा असंयोगी, स्वाधीन वस्तु है। आत्मा ज्ञान का कर्ता-भोक्ता है; पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है एवं पर के आधार से टिका भी नहीं है, सिर्फ उल्टी मान्यता की है। नरक-स्वर्ग में, सुख-दु:ख के संयोगवाले क्षेत्र में पराधीनरूप से अपनी भूल के कारण जाता है; वहाँ भी अपने स्वक्षेत्र में टिका है। अज्ञानी मानता है कि मैं नरक में हूँ; मैं अनन्ती उग्र अग्नि के दु:ख में हूँ। उसने परवस्तु में अपनी हयाती मानी है। मैं स्वर्ग में हूँ, इन्द्र हूँ, पुण्य के सुख को भोगता हूँ – ऐसा माने, उसने भी परवस्तु में अपनी हयाती मानी है। जीव परवस्तु को भोग नहीं सकता किन्तु चाहे जैसी सही, गलत मान्यता कर सकता है। ज्ञानी आत्मा परमार्थस्वरूप की प्रतीति करता है और स्वयं को ही मानता है। अज्ञानी पर की श्रद्धा करता है, पर को मानता है और अपने आप को जैसा है, वैसा नहीं मानता। परलोक है परन्तु आत्मा किसी संयोगवाला या पराधीन नहीं है। श्रेणिक राजा नरकक्षेत्र में हैं, फिर भी परमार्थ से वे नरक के दु:ख भोगते नहीं हैं। अपने सहजस्वरूप के

आनन्द को भोग रहे हैं; संयोग है, उसे जानते हैं। **'संशयात्मा विनश्यति'** लोग रट लेवें किन्तु सत्स्वरूप में नि:सन्देहपना क्या ? – इसका निर्णय कौन करे ? जो गुण स्वयं को प्रत्यक्ष अनुभवरूप है, उसमें क्या सन्देह ? इस प्रकार सूक्ष्म न्याय की बात इस गाथा में रखी है। इन आठ गाथाओं में मोक्ष का उपाय कहा है। **१०४.**

अब, कहते हैं कि जो इस मोक्ष के उपाय की साधना करे, उसे भव शेष नहीं रहते –

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प;
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प।।१०५।।

मत-दर्शन का छोड़कर, आग्रह और विकल्प।
कथित मार्ग साधन करे, जन्म उसी के अल्प।।१०५।।

दर्शनमोह का दोष है, वह स्वच्छन्द है और चारित्रमोह का दोष है, वह राग-द्वेष, विकल्परूप अस्थिरता है। यह मेरा मत है, इसलिये मैं इस पर अड़ा रहूँ, अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये येनकेनप्रकारेण उसकी सिद्धि करना और जो स्वभाव है, उसके लक्ष्य से नहीं रहना, इत्यादि मिथ्यामतदर्शन का आग्रह है। अत: उस आग्रह को एवं शुभ-अशुभ रागादि विकल्प को छोड़कर यहाँ जो मार्ग कहा है, उसकी जो साधना करेगा, उसके जन्म अल्प होते हैं – ऐसा समझना। जो माना है, उसी की पकड़ रखना; यह पक्षपात का आग्रह है। ऐसे आग्रह व इसके विकल्प एवं रागादि को छोड़ने के लिये यहाँ वीतराग का निर्दोष स्याद्वाद मार्ग कहा है; अत: इसकी जो साधना करेगा, उसके जन्म अल्प जानना। **इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र' में कोई महान योगबल से, जगत के सद्भाग्य हेतु अत्यन्त गहरा तत्त्वदर्शन सुव्यवस्थितरूप से रखा गया है।** इस मार्ग की साधना करते हुए जघन्य, मध्यम पुरुषार्थरूप परिणाम द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूप की आराधना करते-

करते, पुरुषार्थ अधूरा हो, उसे दूसरा एकाध भव होना संभव है परन्तु ज्यादा भव नहीं, ऐसा यहाँ पर कहा है; अतः जो उत्कृष्टरूप से आराधना करे, उसका इसी भव में मोक्ष होता है।

अब तक वास्तविक कारण बताकर उसका फल (कार्य) बताया है कि **'कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प;' 'जन्म तेहना अल्प'**। यह शब्द बहुवचन में उपयुक्त हुआ है। इसका भाव यह है कि आत्मज्ञान होने के बाद ज्यादा समय संसार में रहना नहीं होता परन्तु कदापि उत्कृष्ट पवित्र परिणाम की स्थिरता, पुरुषार्थ द्वारा न कर सके तो किसी को पन्द्रह भव भी करने पड़े किन्तु यदि उग्र पुरुषार्थ द्वारा स्वरूपस्थिति की पूर्णता के लक्ष्यपूर्वक आराधना करने में आये तो इस काल में भी एकाध भव में मोक्ष अवश्य होवे – ऐसी 'आत्मसिद्धि' में गूँज है।

दिनांक - २०-११-१९३९

छहों पद १०४ गाथा तक कहे। उसे सभी प्रकार से समझकर 'कह्यो मार्ग आ' इसका ग्रहण करके तथा मतदर्शन व अस्थिरतारूप रागादि विकल्प छोड़कर सच्ची प्रतीति में जो भूल न होने दे, वह यथार्थ आत्मार्थिता की साधना करेगा और उसके जन्म अल्प जानना। यह सही होगा या वह, जो हो सो, सही तो ज्ञानी जाने, हमें तो कुछ समझ नहीं आता – ऐसी ढीली-ढीली बात यहाँ नहीं है। निर्दोष सर्वोत्कृष्ट आत्मधर्म का लौकिकधर्म के साथ समन्वय करे, उसे वीतराग की आज्ञा माने और गोल-गोल बात करें, ऐसा नहीं चलेगा। अतः मतदर्शन का मिथ्या आग्रह छोड़कर, यहाँ जो मार्ग कहा, उसकी साधना करेगा, उसके अल्प भव जानना। जो पन्द्रह भव कहे हैं, वह वीतरागदशा आराधकचारित्र की अपेक्षा से कहे हैं। स्वरूपाचरण माने आराधना।

श्रद्धा तो अखण्ड है; परन्तु जैसी पूर्ण शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा हुई, वैसी स्थिरता अभी न हुई हो और मध्यम आराधनापूर्वक जिसका प्रयत्न मध्यम हो, उसे पूर्ण

स्थिरता की भावनापूर्वक अखण्ड आराधना पन्द्रह भव तक रहे तो पूर्णता प्राप्त कर ले। सम्यग्दर्शन छूट न जाए और साथ में चारित्र की रमणता हो, उसका ज्यादा से ज्यादा पन्द्रह भव में मोक्ष हो जाता है। सम्यग्दर्शन माने आत्मभान। यह ऐसी अपूर्व जागृतिमय विवेकदशा है कि वह भाव चारित्रगुण, स्वरूपस्थिरता लाये बिना रहे नहीं। आत्मा का चारित्रगुण आत्मा से भिन्न नहीं होता। जिस प्रकार गुड़ से मिठास भिन्न नहीं है, उस प्रकार आत्मा का यथार्थ भान हुआ, उसे राग व रजकण का कण (परभाव का अंश) मेरे में नहीं है। इस प्रकार ज्ञान में अविकारी आनन्द का सहजपरिणमन होता है, इस ज्ञानदशा द्वारा यथाख्यातचारित्र प्राप्त होता है। यहाँ पर पन्द्रह भव कहे हैं, इसे चारित्रसहित समझना। छठे से दसवें गुणस्थानक तक अधूरा चारित्र है; छठे गुणस्थान में पूर्ण चारित्र नहीं है। पूर्ण चारित्र नहीं है, वहाँ आयुष्य पूरा होवे तो चारित्र छूटकर चौथा गुणस्थान आ जाता है। यह ज़रा सूक्ष्म न्याय का विषय है कि एक बार आत्मभान होने के बाद वह जीव चाहे जहाँ जाए किन्तु वह बीज कायम रहता है। **'संत बीज पलटे नहि, जो जुग जाय अनंत, ऊँच-नीच घर अवतरे तोय संतको संत।'** यह न्याय लागू होता है। इन छह पदों से सर्वाङ्ग आत्मस्वरूप जिस प्रकार से कहा है, उसका अन्तर विचार करने के बाद जिसे स्वयं की प्रतीति आयी है, उसके अल्प जन्म ही शेष जानना। स्वसन्मुख होने से ज्ञान में भेद व विकल्प का अभाव होकर गुणी व गुण एकरूप परिणमित होते हैं, तब पवित्रस्वरूप का प्रगट अनुभव होता है।

जो पद शक्तिरूप से पूर्ण है, उसकी श्रद्धा व जागृति से शुद्धता की जाति का अनुभव प्रगट हुआ; उसमें परवस्तु का आश्रय कैसे हो ? खुद अखण्ड, ज्ञायक, चैतन्यज्योति भगवान को जागृत जाने कि मेरे में बन्ध नहीं है, राग का अंश नहीं है। इस प्रकार पर से भिन्न रहकर ज्ञान में टिका रहे, वह चारित्रदशा, मोक्षमार्ग है। पूर्ण वीतरागदशा में स्थिरता करने पर पूर्ण चारित्र प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन हुआ कि तुरन्त ही चारित्र पूर्ण, अखण्ड नहीं हो जाता किन्तु दर्शन तो अखण्ड रहता है। यदि दर्शन के साथ अखण्डचारित्र प्रगट रहे तो उसी भव मोक्ष होता है। दर्शन खण्डवाला होता ही नहीं। दर्शन अखण्ड हो गया और चारित्र में भेद ? राग के कारण, ज्ञानबल का (वीर्य का) झुकाव कमज़ोर रखे, तब तक उस कारण

से अस्थिरता रहती है किन्तु उसका रुझान पूर्णता की ओर सर्वाङ्गरूप से है; अतः उसके जन्म अल्प जानना। सपने में भी यही आसार आते हैं कि मैं ज्ञायक असङ्ग हूँ; एक परमाणुमात्र का सम्बन्ध नहीं है, मैं पर का ग्रहण नहीं कर सकता, छोड़ नहीं सकता, पुण्य-पापरूप मल-मैल, रागादि का अंश भी मेरे में नहीं है। मैं सभी को निरन्तर जाननेवाला ज्ञायक एकरूप हूँ। **इस 'आत्मसिद्धि' में अनन्त ज्ञानियों के ज्ञानामृत की धारा बरसी है। इस पञ्चमकाल में आकर श्रीमद्‌जी एकावतारीपने का संदेश देते हैं।**

इस काल में चारित्र की रमणता कम रहे, इसलिये अधिकतम पन्द्रह भव होवें, – इस प्रकार समुच्चय से बात की है, इसमें अन्तरङ्गज्ञान की रमणतारूप चारित्र समझना। आत्मस्वरूप का भान होने के बाद वे जानते हैं कि रागादि में, पाँच इन्द्रियों के विषय में मेरा हित नहीं है तथा वह मेरा कर्तव्य नहीं है। जिस प्रकार संसार में कुलीन आदमी मानता है कि हम बनिये, आर्यकुल घराने के सुपुत्र, हमारे यहाँ शराब, मांस का भोजन कैसे होवे ? उस प्रकार ज्ञानी मानता है कि मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ। मुझे शराब माने मोह-भ्रान्ति की विकारीजाति का सङ्ग कैसे होवे ? इस प्रकार उनसे भिन्न रहकर ज्ञानी पुरुषार्थसहित कहते हैं (कि) - आत्मस्वरूप का भान होने के बाद रागादि या पाँच इन्द्रियों के विषय में सुखबुद्धि नहीं होती। निर्दोष ज्ञातादृष्टिपूर्वक जिनको बलवान विवेक विद्यमान है, वे इन छह पदों से सिद्ध जो मोक्षमार्ग यहाँ पर कहा है, उसकी आराधना करेंगे, ऐसी यहाँ पर अस्तिपूर्वक बात की है। नास्ति से समझ लेना कि इस अभिप्राय के अलावा दूसरा किसी मतदर्शन का पक्ष हो तो उसे छोड़ देना। सर्वज्ञ वीतरागभगवान ने कहा, वही मार्ग उपादेय है और उसके अलावा अन्य जो कुछ मतदर्शन हैं, वे मिथ्या धर्म हैं। उसका वर्णन हालाँकि यहाँ किया नहीं है तो भी वह समाविष्ट है, ऐसा समझ लेना। सम्यग्दर्शन यानी स्वरूपप्रतीति में कुछ फ़र्क नहीं है, किन्तु अन्तरङ्ग चारित्र की रमणता के प्रयत्न में यानी स्वस्वरूप की आराधना के प्रयत्न में, न्यूनाधिकता होने से अल्पभव बताये हैं। **१०५.**

अब, विचक्षण शिष्य से कहते हैं :-

षट्पदनां षट्प्रश्न तें, पूछ्या करी विचार;
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार।। १०६।।

षट्-पद के षट्-प्रश्न ये, जो पूछे हितकार।
उन पद की सर्वांगता, मोक्षमार्ग निर्धार।।१०६।।

हे शिष्य ! छह पदों के छह प्रश्न तूने अन्तरविचार करके पूछे हैं। क्रमपूर्वक स्वभाव की जाति की विचारणा से स्वद्रव्य के लक्ष्य का अवलम्बन लेकर, दूसरे पक्ष का आग्रह छोड़कर, तूने सच्ची जिज्ञासा, पात्रता दिखाई है। यानी द्रव्य का जो स्वभाव है तत्सम्बन्धित बातें तूने पूछी हैं। ये छह प्रकार के विकल्प केवलज्ञान में नहीं हैं किन्तु इस न्याय का ज्ञान, अखण्डज्ञान में विद्यमान है। आत्मार्थ के लक्ष्य से इन छह पदों का विचार करनेवाले को अभेद आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञानपूर्वक निर्णय करनेवाला, छह पदों के सुविचाररूपी अंकुर, हे शिष्य ! तेरे आत्मद्रव्य में से फूटे हैं और तूने वही अन्तरविचार करके पूछा है। इस गाथा में इस प्रकार घटना रची है कि आत्मा अनन्त हैं और वे स्वतन्त्र हैं और केवलज्ञानी के ज्ञान में जैसा पूर्ण, शुद्ध आत्मद्रव्य है, वैसा इन छह पदों द्वारा यहाँ साध्य व साधनरूप से सिद्ध किया है। आत्मा का एकत्व क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? – वह यहाँ स्याद्वाद से सिद्ध किया है। अत: उसका यथावत् विचार व निर्धार हुआ, वह मोक्षमार्ग है। किसी एक पक्ष का आग्रह करे तो वह मिथ्या है। गाथा १०४ तक छह पदों की सर्वाङ्गता का निर्णय बताया। अनेकान्त वीतरागमार्ग कहो या सर्वाङ्गता कहो, दोनों का अर्थ एक ही है। द्रव्यस्वभाव से जीव अक्रिय है, पर्याय से अपने ही कार्य से सक्रिय है; पर के लिये अक्रिय है। इस प्रकार कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, मोक्ष, मोक्ष का उपाय, नित्यता-अनित्यता इत्यादि आत्मा में किस प्रकार से घटाये जा सकते हैं ? यह इन छह पदों से सिद्ध किया है। यदि कोई इसमें से एक भी चीज़ का एकान्त से (अविचारपूर्वक) उत्थापन करे

तो मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता। यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा बिना जो जीव उन्मार्ग से सन्तुष्ट हो जाता है; वह जो कुछ करता है, वह सब उल्टा ही करता है। उसके व्रत, तप, पुण्यादि व्यवहार (नामनिक्षेप से उसका आभासमात्र, कथनमात्र धर्म) कर्मभावरूप अज्ञानसहित है। इन छह पदों में ही समस्त वीतरागदर्शन समाविष्ट हो जाता है। **१०६.**

अब, मुक्ति कौन पायेगा, यह बताते हैं :-

जाति, वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय;
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय।।१०७।।

जाति-वेष का भेद नहिं, कहा मार्ग यदि होय।
साधे वह मुक्ति लहे, इसमें भेद न कोय।।१०७।।

इन छह पदों की सर्वाङ्गता से आत्मपदार्थ, वस्तुस्वरूप स्वयंसिद्ध है। उसमें यथार्थ प्रतीत, लक्ष्य व रागरहित स्वरूपाचरणरूप अखण्ड स्वानुभव होवे, वह मुक्तिपद पाये। यानी अनेकान्त, लोकोत्तर आत्मधर्म, सर्वज्ञप्रभु का मार्ग यहाँ कहा, वही है। बाह्य के लिङ्ग, भेष के भेद, ऊँचत्व-नीचत्व का भेद परमार्थतत्त्व में नहीं है क्योंकि वीतरागदशा की साधक भूमिका में अन्यथा बाह्याचरण लिङ्ग होता नहीं है; जैसा जिनागम में कहा है, वैसा ही होता है। जाति-वेष के विकल्प का भेद वीतरागमार्ग में नहीं है। जो वस्तुस्वरूप की यथार्थ प्रतीति करे और न्याय समझे, उसे ऊँच-नीच का या साम्प्रदायिक भेष आदि का प्रश्न नहीं रहता। तत्सम्बन्धित जो स्वरूप एवं निश्चय, व्यवहार की मर्यादा जहाँ जिस प्रकार से है, वहाँ उसे उस प्रकार से जाने - ऐसा स्व-पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान का स्वभाव है। वह हेय उपादेय को समझता है और जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, उसे यथास्थान में, विवेकपूर्वक जैसा उचित हो वैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारों प्रकार से जानता है। न्यायमार्ग में जो सहज मोक्षमार्ग, साधकदशा यहाँ पर कही है, उसकी भूमिका अनुसार पाँच

महाव्रत इत्यादि बाह्यव्रत के शुभविकल्प आये, वह भी बाह्यलिङ्ग है, अनित्य है, आश्रय करने योग्य नहीं है किन्तु वह होता (अवश्य) है। ऐसे शुभविकल्प छोड़कर निर्विकल्प हो जाए, वह सच्चा मुनिपना है। देह का नग्न भेष इत्यादि २८ मूल गुण – ये मुनिपने के विकल्प हैं जरूर किन्तु ये सारे विकल्प आत्मा से पर हैं, अनित्य हैं। आत्मा सिद्ध समान है, – ऐसे शुभविकल्प करना भी राग का अंश है। इस राग के हिस्सेरूप विकल्प को छोड़कर, रागरहित शुद्ध ज्ञायकस्वभाव में स्थिर होने के लिये श्रीसमयसार में श्रीमद्कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं – आत्मा सिद्ध समान है, वीतरागस्वभावी है; उसका विचार, यानी ज्ञान का विकल्प भी छोड़ो और तत्सम्बन्धित दृढ़ता व ज्ञान भी छोड़ो – ऐसा नहीं कहना है। स्वभाव छोड़ना – ऐसा नहीं कहा। अभेद स्वरूप का भान होने के बाद जो कुछ रागादि विकल्प आते हैं, उनसे मुक्त यानी बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से जो मुक्त होते हैं, उसे निर्ग्रन्थ मुनिपद होता है, – ऐसी साधकदशा मोक्षमार्ग में होती ही है। तत्त्वस्वरूप को पहचानने के लिये श्रीमद्जी ने बाह्यवेष या सम्प्रदाय की बात मुख्यरूप से नहीं ली है। इन छह पदों का विचार करने से जीव को यथार्थता समझ में आती है किन्तु इसके लिये प्रारम्भ से सच्ची जिज्ञासा होनी चाहिए। इसके लिये प्रथम गाथा से लेकर इस गाथा तक क्रमबद्ध घटना बतायी है और खुद की कितनी तैयारी, पात्रता चाहिए, यह आगे की गाथा में बताया है। **१०७.**

जीव की अपनी कैसी पात्रता चाहिए, यह अब कहते हैं :-

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष;
भव खेद, अंतर दया, ते कहीए जिज्ञास।। १०८ ।।

कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भव से खेद, अन्तर-दया, उसे कहें जिज्ञास।।१०८ ।।

प्रथम ३८वीं गाथा में '**प्राणी दया त्यां आत्मार्थ निवास**' – ऐसा कहा था।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा एकदम शुद्ध, अकषायस्वरूप, पूर्ण, पवित्र है। ऐसे वीतरागस्वरूप की प्रतीति बहुत क्रोध, मान, माया, लोभवाले को कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती। अतः प्रथम ऐसी पात्रता कही है। जो कोई शरीर की सुविधा में पूरा रुक गया हो; खाना, पीना, पाँच इन्द्रियों के २३ विषयों के पोषण में ही सुख मानता हो, उसी में प्रेम हो, उसी से अपना जीवन ठीक मानता हो – उसे आत्मा देहादि से भिन्न है, पर से, राग से भिन्न है, यह बात कैसे बैठेगी ? छह खण्ड का स्वामी, चक्रवर्ती राजा, जिसे आंशिकरूप से आत्मस्वरूप की स्थिरता है, अन्तर में महान वैराग्यदशा है, उसे हालाँकि बाहर से पुण्य का बड़ा ठाठ-बाट है, फिर भी विषयों में गृद्धता, लोलुपता ज़रा भी नहीं होती। उन सभी संयोगों को पृथ्वीपिण्ड समान, पुद्‌गल के नाटक समान जानते हैं। उनका आहार-विहार व वैभव के ठाठ-बाट देखनेवाले को, पढ़नेवाले को आश्चर्य हो जाता है कि ये तो हमारी तुलना में इतने सारे विषयों का भोग करते हैं। बाह्य निमित्ताधीन दृष्टिवाले माने और बोले कि ज्ञानी ऐसे होते होंगे ? किन्तु वे धर्मात्मा बाहर से तो राज्य के संयोग में दिखते हैं परन्तु वास्तव में तो वे उन संयोगों सम्बन्धित अपना ज्ञान कर रहे हैं; वे ज्ञान की शांति को भोग रहे हैं। वे कभी अपने आप को बाह्य संयोगों के भोक्ता नहीं मानते। राज्यादि संयोग हैं, फिर भी नहीं हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टि है, सो वीतरागदृष्टि है। इस प्रकार अभिप्राय में यथार्थरूप से पर को भिन्न किया है और निर्ग्रन्थ मुनिपद, पूर्ण वीतराग चारित्र की भावना भाते हैं। अनिच्छुक होने के कारण पूर्व प्रारब्धकर्म की निर्जरा होती है किन्तु जिसे आत्मज्ञान नहीं है और दूसरों की चेष्टा बाहर से देखनी है, राग व पुण्य में मोक्ष का उपाय मानते हैं – उसे अभिप्राय का भान नहीं होने से, आत्मा रागरहित पर से भिन्न है, यह न्याय समझ में नहीं आयेगा। शास्त्र सुनेगा तो अपनी दृष्टि के अनुसार खतौनी करेगा। खुद के अन्तरङ्गकषाय कितने कम हुए हैं, इसकी साक्षी कौन देगा ? कषाय मेरी नहीं है – इस प्रकार आत्मा के लक्ष्य से कषाय मन्द किये बिना मुमुक्षुता, आत्मार्थिता होती नहीं है। राग, द्वेष, तृष्णा, लोभ, ममत्व उसे तनिक भी छोड़ने नहीं हैं, फिर भी मोक्ष तक की बात करनी है और दूसरों के दोष देखने हैं, वे जीव स्वच्छंदी हैं। जिसने यथार्थ पात्रता प्रगट की है, उसके जन्म अल्प होते हैं। उस आत्मार्थी

की पवित्रदशा कैसी होगी? यह सोचो। कोई कहे कषाय की उपशान्तता बाद में होगी, हम तो अभी मोक्ष की बात करें न ! किन्तु प्रथम भूमिका तो तैयार करो ! संसार में देहादि में सुखबुद्धि छोड़कर मानादि कषाय की मन्दता किये बिना अन्तर वैराग्य नहीं होता; उल्टे जीव अध्यात्मशास्त्र स्वच्छन्दतापूर्वक पढ़कर अपनी दृष्टि से उसकी खतौनी करेंगे और ऐसा उल्टा समझे, इसमें ज्ञानी का दोष नहीं है। यहाँ पर '**पात्र से प्रभुता प्रगट हो**', इसके लिये यथार्थ मुमुक्षुता के लक्षण कहे हैं कि क्रोधादि कषाय जिसके मन्द हुए हैं; आत्मा में मात्र मोक्ष के अलावा अन्य कोई इच्छा नहीं है; संसार के भोगों के प्रति उदासीनता है और इन्द्र के सुख भी ज़हर के प्याले समान जानते हैं – उसे पात्रता कहते हैं। परन्तु पुण्य का भव अच्छा – ऐसी जिसकी तृष्णा है, उसे अनन्त भव करने का भाव गहरायी में है। आत्मा की पवित्रदशा है, वह अपूर्व निर्दोषता है; सिर्फ कोई बातें नहीं हैं।

कोई निश्चयाभासी बोलता है कि 'पुण्य के फल तो जड़पदार्थ का गुण है। आत्मा में उसका कर्ता-भोक्तापना नहीं है; ये विषय आदि कोई बन्ध का कारण नहीं हैं; अतः उसका त्याग करने का द्वेष नहीं करना। हम तो ज्ञाता हैं, उनको भोगने में आत्मा को दोष नहीं है, पूर्व के भोगावली कर्म का उदय है; जो होता है, वह उदय है, उदय को कौन रोक सकता है ?' वे पुरुषार्थहीन होकर स्वच्छन्दता के वाक्य बोलते हैं। इस प्रकार निश्चयाभास में रहे, वह अज्ञानी है। धर्मात्मा को पुरुषार्थ की कमज़ोरी से अल्पकषाय या संसारप्रसङ्ग का योग हो तो अलग बात है। उसमें लेश भी एकत्व –ममत्वबुद्धि धर्मात्मा को नहीं होती परन्तु नित्य ज्ञानचेतना का ही स्वामित्व रहता है। चैतन्य की जागृति के भान में धर्मात्मा को चक्रवर्तीपद मिले हो, फिर भी घूरे में फूल और विष्टा को समान मानते हैं; उस प्रकार चक्रवर्तीपद या दूसरे संसारीपद को वे तुच्छ मानते हैं; पूर्ण वीतरागपद की भावना भाते हैं। स्वयं को विषयों के प्रति अति उदासीनता है, फिर भी बाहर से संसार, व्यापार आदि योग दिखे किन्तु वे सोचते हैं कि इसी क्षण यह राग मिट जाए तो क्षणभर भी संसार में रहना नहीं है – ऐसी संसार से उदासीनता रहती है। उन्हें सभी प्राणियों के प्रति अकषाय, करुणाबुद्धि रहती है; ऐसे जीव को मोक्षार्थी कहेंगे। गाथा ३८ में प्राणीदया कही। यहाँ अन्तरदया कही है। सर्वज्ञ वीतराग ने छह काय की दया

कही है। इसका न्याय समझो तो छह काय के जीव में अपना आत्मा प्रथम है। उसका विचार तो सर्व प्रथम ही करना। खुद की दया का आत्म(भावपूर्वक) चिन्तवन करे कि अरेरे ! समय-समय पर मेरे ज्ञानगुण का घात होता है, उसकी रक्षा मैं करूँ। पर की रक्षा करना किसी के हाथ में नहीं है; अत: सबको अपना विचार करना और प्रत्येक समय पवित्र ज्ञायकस्वभाव की रक्षा (सावधानी) करना; यही सुख का उपाय है, यही अहिंसा है।

श्रीमद्जी का एक पत्र है उसमें **'विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता, जितेन्द्रियता - इतने गुण जिसमें हों, वह तत्त्व पाने के लायक है'** - ऐसा कहा है। विशालबुद्धि यह अनेकान्तबुद्धि है; मध्यस्थता सम्यक्गुण है और जितेन्द्रियता चारित्रगुण है। सच्चे सुख का कामी शम, संवेगपूर्वक विचार करता है कि मैं अनादिकाल से अपनी भूल के कारण भटक रहा हूँ और ऐसे अधिकारी जीव को अपनी दया आती है। इसमें पूरे जगत की दया समाविष्ट है। धर्मात्मा ही तीर्थङ्करभगवान बन सकते हैं। उनके निमित्त से जगत के लायक जीवों पर बड़ा उपकार होता है और अनन्त काल की अनन्त हिंसा टालने का वे निमित्त बनते हैं।

अनुकम्पा दो प्रकार से हैं : (१) अकषाय, और (२) सकषाय। बाहर के प्राणी की दया - वह उदयभाव, मन के शुभराग सम्बन्धित वह पुण्य-परिणाम है। ये निजगुण के लिये लाभ करनेवाले नहीं हैं। बाह्यव्रत, तप, पूजा, भक्ति, छह काय के जीवों की दया इत्यादि शुभपरिणाम करके जीव ने अनन्त बार नौ ग्रैवेयक तक के देव के भव किये, फिर भी अज्ञानभाव के कारण पुण्य में रुकना हुआ। शुभभाव की करुणा के कारण पुण्य में रुकना होता है; अत: शुभभाव की करुणा उपादेय नहीं है। वह सकषायकरुणा है। वास्तविक अनुकम्पा माने स्वभाव का अनुसरण करके कम्पन होना कि हे जीव ! अब भावमरण की अशान्ति से थक - वह कर्तृत्व, ममत्वरहित अकषायकरुणा है और वह स्वदया (रक्षा) है। अकषायभाव में ऐसी सावधानी रखनी कि अल्प भी कषाय या भावहिंसा न हो और उसी में ज्ञानबल का पुरुषार्थ नित्य करते रहना, यही कर्तव्य है। संसार का, अन्य परद्रव्य का कोई कार्य अपने हाथ नहीं है। ज्ञानी का सहज स्वभाव ज्ञातादृष्टापना है।

साध्य पूर्ण आनन्दस्वरूप और उसका साधन आंशिकरूप से अबन्धदशा है। शिष्य स्वयं शम, संवेग, अनुकम्पा, आस्थासहित है और आलोचनासहित समाधान करने आया और समाधान किया है। स्वभावप्रयोगी शिष्य की यह बात है। मुमुक्षु को अपनी ऐसी पात्रता का विचार करना। स्वतत्त्व को पकड़कर प्रश्न करे, ऐसा जिज्ञासु शिष्य आत्मबोध को पा सकता है। गुजराती भाषा में यह सत्मार्ग की अद्‌भुत शैली है परन्तु वह कौन समझ सके ? कोई अपने स्वच्छन्दता से मतपक्ष का आग्रह रखकर पढ़े तो वह उल्टी खतौनी कर बैठेगा। अतः मध्यस्थता, सरलता, विशालबुद्धि और जितेन्दियता – इन गुणों का उल्लेख किया है। उसका खास लक्ष्य रखना है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २१-११-१९३९

आत्मा परमार्थ से पूर्ण शुद्ध, स्वाधीन, असङ्गतत्त्व है। उसकी सर्वोत्कृष्ट अंतिम पूर्ण पवित्रता का नाम मोक्ष है। मुमुक्षुजीव को प्रथम शम, संवेग आदि गुणों, कषाय की मन्दता और संसार प्रति उदासीनता होनी चाहिए। पुण्यादि किसी भी परवस्तु की इच्छा, पराधीनता आत्मा में नहीं है। मुझे मेरा पूर्ण स्वाधीन स्वरूप ही चाहिए; अन्य कुछ नहीं, – ऐसी उसकी भावना होती है। स्वर्ग की, पुण्य की, इन्द्र या चक्रवर्ती के सुख की इच्छा हो तो मोक्ष की रुचि नहीं है; अतः प्रथम इन गुणों की पात्रता चाहिए। कहा है कि प्रथम यदि कषाय, ममता कम न करे तो बिल्कुल मुक्त, शुद्ध, असङ्ग ऐसे आत्मा की **'मात्र मोक्ष अभिलाषा'** नहीं है। आत्मार्थी को पर की कुछ इच्छा नहीं होती। वह ऐसी भावना भाता है कि मेरा स्वभाव शक्तिरूप से पूर्ण शुद्ध है, उसे प्रगट करूँ, उसमें बीच में किसी उपाधि का स्वीकार नहीं चाहिए। दूसरों का भला करने के लिये रुक जाऊँ, ऐसी मन की शुभबुद्धि भी नहीं चाहिए, ऐसी मात्र मोक्ष अभिलाषा में पराया कुछ करना, ग्रहण करना, छोड़ना शामिल नहीं है क्योंकि मैं दूसरों का कुछ कर सकूँ, ऐसा मेरा स्वरूप

नहीं है।

प्रश्न - तीर्थङ्करभगवान बननेवाले आत्मा ने ऐसी भावना क्यों की कि **'सर्व जीव करूँ शासनरसी, ऐसी भाव दया मन उलसी'** ?

उत्तर - 'मैं सभी जीवों को आत्मधर्म की प्राप्ति कराऊँ', इस वचन के पीछे अपने शुद्धस्वरूप का विकास होने की दृष्टि है। उसमें बाहर के निमित्त का उपचार है। मैं पर का ऐसा कर दूँ, ऐसी इच्छा को कोई ठीक मानता हो तो उसका अर्थ ऐसा होता है कि जब तक परजीव धर्मप्राप्ति न करे, तब तक मैं अपने स्वरूप में स्थिर न होऊँ, पवित्र न होऊँ; अतः मुझे अपना मोक्ष नहीं करना - ऐसा हुआ। ऐसे अभिप्राय मे मोक्ष करने की रुचि कहाँ आयी ? स्वयं को पूर्ण की जो रुचि है, उसमें विलम्ब हो, समय निकल जाए - ऐसी भावना नहीं होती। **'रुचि अनुयायी वीर्य।'** किसी वस्तु की रुचि हुई, फिर वायदा करना कि उसे अभी प्राप्त न करूँ, जाने दूँ, ऐसा नहीं होता। **'मात्र मोक्ष अभिलाषा'** - इसमें राग की वृत्ति का शुभभाव भी होता है, फिर भी जब तक पूर्ण स्थिरदशा नहीं है, तब तक मैं दूसरे को धर्मप्राप्ति कराने में निमित्त बनूँ। अहो ! ऐसा उत्तम धर्म जगत के जीव समझ जाए तो ठीक आदि शुभविकल्प आ जाते हैं परन्तु वह अस्थिरता है, दोष है, परमार्थ में उसका आदर कैसे हो ? 'पूर्ण हो जाऊँ', ऐसी पूर्ण वीतरागदशा का प्रेम वह स्वभाव की पूर्णता की अभिलाषा (अस्तिरूप) है और 'भवे खेद' - यह समस्त संसार के प्रति अरुचि, उदासीनता है; अतः स्वतत्त्व में पर की नास्ति है। उसमें अमुक शुभपरिणाम करूँ, पुण्य का भाव करूँ - ऐसा भाव नहीं आया। ज़रा-सी भी शुभ-अशुभ वृत्ति आये, उसका भी निषेध है; आदर नहीं है। फिर भी चारित्र में विशेष स्थिरता नहीं है, तब तक वह प्रशस्तराग; देव, गुरु, धर्म के स्वरूप (वीतरागस्वरूप) का बहुमान करता है किन्तु उसमें राग का राग नहीं है। स्वाधीनता का प्रेम, रुचि व संसार का खेद रहता है। उसमें समस्त संसार का अभाव करने की भावना है।

'सत्त्वेषु मैत्री', यानी खुद की मैत्री - यह स्व के साथ एकत्व है। अनुकम्पा माने अपने अकषाय पवित्रतत्त्व का घात नहीं होने देनेरूप स्वदया है। रागादि शुभ-अशुभ वृत्ति कर्मभाव है; उसमें नहीं टिकना - वह अन्तर की स्वरूपदया है। हे

जीव ! तेरा क्या होगा ? अनन्त जन्म-मरण के क्लेश से अब थक ! यह गुण जिसे हो, उसे जिज्ञासु जीव कहें। एक रजकण से लेकर वैमानिक देव की ऋद्धि को तुच्छ मानता है और पूर्ण शुद्धस्वभाव प्रगट करने की जिसकी अभिलाषा है, वह जिज्ञासु है। ऐसी जिज्ञासा खुद में है या नहीं, यह बात अन्तर में पूछकर देखो। **१०८.**

ऊपर बताया ऐसे जिज्ञासु को सद्गुरुयोग होगा ही व समकित प्राप्त करेगा ही, ऐसा अब बताते हैं :-

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध;
तो पामे समकितने, वर्ते अंतरशोध।। १०९।।

उस जिज्ञासु जीव को, यदि हो सद्गुरु-बोध।
तो पावे सम्यक्त्व को, वर्ते अन्तर-शोध।।१०९।।

१०८ गाथा तक बात करके इस गाथा में बताते हैं कि ऐसी मुमुक्षुता जिसके हृदय में अंकुरित है, उसे सद्गुरु का योग होगा ही। जिस प्रकार गीर के जंगल में वनस्पति के अंकुर जीने के लिये उगे हैं, वे लम्बी आयु लेकर आये हैं; अतः उन पर बारिश गिरनी ही चाहिए। गीर के प्रदेश में बारिश गिरेगी ही और उन बीज पर पानी पड़े, जमे और वे अंकुर फूटें, फलें। इस प्रकार ऐसे जिज्ञासु जीव को सद्गुरु का योग और बरसातरूपी सद्बोध की अमृतधारा छूटती है और लायक (पात्र) जीव आत्मज्ञानदशा पाता है। मेघकुमार के अधिकार में बात आती है कि धारिणी नाम की माता के गर्भ में (माता धारिणी = आत्मा क्या है ? - यह भावना धारण कर रखी है) मेघकुमार का जीव आने के बाद तीन महीने पश्चात् माता धारिणी को अद्भुत भाव उठा कि पञ्चवर्ण बादल व अकाल मेघवृष्टि हो और अंकुर फूटो; मूसलाधार बारिश बरसो ! इसका परमार्थ यह है कि मेघकुमार, जो हाथी के भव में दावानल देखकर आये हैं, वे ऐसी भावना कर रहे हैं कि

मैं बाहर निकलूँ कि मूसलाधार बरसातरूप दिव्यध्वनि द्वारा तीर्थङ्करभगवान के सत्बोध के उपदेश की अमृतधारा का प्रपात बहे। मेरी अनन्त कषाय की अग्नि को बुझानेवाली, तीर्थङ्करभगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनने का अवसर आया है। मोक्ष के किनारे पहुँचा हुआ यह प्राणी अनन्तभव के दावानल, संसार के ताप को मिटाकर अब भव नहीं, भव का भाव नहीं – ऐसी मोक्षस्वरूप पाने की तैयारी लेकर आया है।

फूटे हुए अंकुर जायेंगे कहाँ ? वे पानी को खींच लेते हैं। सर्व ज्ञानियों का कथन है कि उपादान की योग्यता होने पर सभी निमित्त होते ही हैं; पात्रजीव को सद्गुरु का बोध मिले ही मिले, पात्रता से प्रभुता प्रगटे ही। इस प्रकार की पात्रता का भरोसा स्वयं को विरोधरहित होना ही चाहिए। साधन न मिले, इसमें खुद का दोष है। मुमुक्षु जीव का उपादान (पात्रता) तैयार हो, उसमें सहज ही ऐसा पुण्यबन्ध होता है कि उस लोकोत्तरपुण्य के निमित्त से, साक्षात् सत्पुरुष तीर्थङ्करभगवान इत्यादि सत्समागम के निमित्त एवं सत्बोध का श्रवण मिले बिना नहीं रहता। जिसने संसार की ओर पीठ दी है, उसे समस्त लोक उपकारी निमित्त है। जिज्ञासु को अपना सत्बोधरूप पूरा श्रद्धास्वरूप क्या है व उसका क्या उपाय है ? एक इसी का लक्ष्य है। अत: उसे सद्गुरुयोग मिले ही।

आगे कहे ऐसे आत्मार्थी सुलक्षणवान जीव को सद्गुरु का जो उपदेश प्राप्त होता है, उसे सत्श्रवण कहा जाता है। ऐसा सद्गुरु का उपदेश मिलने पर स्वयं को अन्तर में बैठे कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप ऐसा ही है, – ऐसा नि:सन्देह आसार आता है। उसको अव्यक्तरूप से कारण प्रगट होता है और दृढ़ रुचि बढ़ती है; उसे **'वर्ते अंतरशोध'** ऐसे आत्मस्वरूप का आदर होता है। पूर्ण, पवित्र, स्वाधीन सत् क्या ? – ऐसे एक ही लक्ष्य को पकड़कर वह अन्तरङ्ग खोज करता है; अत: इस चैतन्यमूर्ति पवित्र, ज्ञानस्वरूप, जो निरुपाधिक तत्त्व है, उसका भान उस मुमुक्षु को अवश्य होता है। यहाँ पर सुविचारणा यानी आत्मबोध का मनन, उसे साधन कहा है। सम्यग्दर्शन का साधन क्या ? – यह **'वर्ते अंतरशोध'** इस पद में रख दिया है। यहाँ बाहर से साधन नहीं कहा। बाहर से तो पूरा जगत निमित्तरूप में तेरे भाव के अनुसार तैयार है। सत्पुरुष का उपदेश लायक आत्मा के लिये ही होता है। प्रत्येक आत्मा पूर्ण पवित्र ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यमात्र है; उसमें पर का कुछ

करने का नहीं आया। अत: आत्मा को पहचान, आत्मा में आत्मा की श्रद्धा कर – इस वचन का आशय क्या है ? – इसका यथार्थ मनन करे तो समझ में आये कि मेरा आत्मा पर से भिन्न, निर्दोष शान्त है; पवित्र ज्ञानानन्दमय अविनाशी है और वह ऐसा ही है – ऐसी अटल श्रद्धारूप सम्यक् प्रतीति उसको होती है, यानी पूर्णता के लक्ष्य से वर्तमान में सत्यपुरुषार्थ की शुरूआत होती है। जिसे जिज्ञासा एवं पात्रता है उसे सद्गुरु का निमित्त अवश्य मिलेगा ही। शिष्य को अपना निर्दोष गुण, अपनी सच्ची समझपूर्वक प्रगट हुआ है। फिर भी वह धर्मात्मा शिष्य अति निर्मानी होकर श्रीगुरु का बहुमान करता है और कहता है कि हे प्रभु ! हे नाथ ! हे सद्गुरु ! आपने ही मुझे जीवनदान दिया है, आपने पूरा आत्मा दिया है – इस प्रकार विनय करता है। यह परमार्थ से अपना विनय है, अखण्ड सत् का आदर है। अपने गुणों का बहुमान होने पर स्वयं सद्गुरु के प्रति अर्पणता करता है और निर्मानता प्रगट करता है – यही गुणी का (आत्मा का) माहात्म्य है।

अब, शुद्ध (सच्चा) समकित कौन प्राप्त कर सकता है ? – यह बताते हैं –

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष;
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष।। ११०।।

मत-दर्शन-आग्रह तजे, वर्ते सद्गुरु-लक्ष।
लहे शुद्ध सम्यक्त्व वह, जिसमें भेद न पक्ष।।११०।।

सद्गुरु द्वारा कथित मार्ग का यथार्थ लक्ष्य करके जो सद्गुरु के लक्ष्य से है (और जितने असार प्रसङ्ग हैं, उनका लक्ष्य छोड़ दे), वह शुद्ध समकित को पा ले। अस्ति से बात की है; परन्तु जहाँ सत् की अस्ति कही, वहाँ असत् की नास्ति हो गयी। '**मतदर्शन आग्रह तजी**' इस पद का अर्थ समझो। मत माने पेटा भेद के दुराग्रह और दर्शन माने मिथ्या अभिप्राय। उसे छोड़कर, यानी गलत की पकड़ छोड़कर; सरलता से सद्गुरु के लक्ष्यपूर्वक चले, वह शुद्धात्मानुभवरूप

शुद्ध समकित को प्राप्त कर ले, इसमें भेद माने पक्षपात नहीं है। सर्वज्ञ भगवान के चरणकमल में, उनके साक्षात् उपदेश से, लायकजीव क्षायिक समकित पाते हैं तथा अन्य ज्ञानी सद्गुरु के योग से जीव को शुद्ध समकित व यथार्थ स्वानुभव होता है। यानी अतीन्द्रिय, आनन्दमूर्ति आत्मा केवल ज्ञायक अविकारी है; उसकी निराकुल शान्ति का स्वसम्वेदन स्वयं को प्रत्यक्ष होता है – यह बात कही। इसमें कोई भेद या पक्ष नहीं है और स्वस्वरूप में भी भेद नहीं है। इस दशा में यह बात इस प्रकार है, इस प्रकार नहीं है; इत्यादि सभी विकल्पों की वृत्ति भी समाप्त हो जाती है और निर्मल, निराकुल, पवित्र, अपरिमित, बेहद) आनन्दमय शुद्धात्मा की प्रतीति होती है। **११०.**

अब, समकित का स्वरूप कहते हैं :-

वर्ते निज स्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत;
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित।। १११।।

वर्ते निज-स्वभाव का, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति बहे निज-भाव में, वह निश्चय समकित।।१११।।

आत्मस्वरूप की प्रतीति होने से जो शान्ति, आनन्द व स्वरूप का लक्ष्य हुआ है, उसे अनुभव कहने में आता है। जो स्वरूप चिदानन्दमय है, उसका अनुसरण करके सावधानीपूर्वक का उत्साह उस जीव को विद्यमान रहता है। जो कुछ रागादि दिख रहे हैं, वह मैं नहीं; मैं शुद्ध ज्ञानानन्द पूर्ण हूँ। उस पूर्णता को साध्य करने का, यानी प्राप्त कर लेने का प्रयत्न उसे विद्यमान है। ध्याता, ध्येय व ध्यान की एकाग्रता गुणस्थान अनुसार कई बार होती रहती है। प्रारम्भ में पूर्णता का लक्ष्य, यानी स्वरूप का भान हो चुका; उसे उसका ज्ञान भीतर में लब्धरूप में टिका रहता है। जैसा पूर्णस्वरूप माना है, जाना है और जिस आनन्द का भान हुआ है, उसका लक्ष्य एवं प्रतीति अखण्ड रहते हैं। खुद का रुझान, उत्साह, रुचि उस

शुद्ध आत्मा के अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में अविच्छिन्न धारा से बहती है; वहाँ परमार्थ से समकित है। जिस समय आत्मा का आनन्द प्रत्यक्ष नहीं है, उस समय भावश्रुतज्ञान के उघाड़ में लब्धरूप से यानी प्राप्तिरूप से है तथा स्वानुभव के समय आनन्द प्रत्यक्ष भी है। साध्य स्वयं शुद्ध आत्मस्वरूप है, उसका लक्ष्य है और वर्तमान में उस पूर्णदशारूप होने का पुरुषार्थ (व्यवहार) विद्यमान है। निर्विकल्पदशा के प्रत्यक्ष आनन्द के समय समकित उपयोगरूप है, यानी उस समय श्रुतज्ञान का अभेद परिणमन है। उपयोगरूप, यानी अनुभवरूप निर्विकल्पदशा स्थिरता स्वरूप की एकाग्रता के समय होती है। वह दशा पुरुषार्थ के अनुसार आगे बढ़ती जाती है। जिसकी प्रतीति है, उसका लक्ष्य है और उस अखण्ड ज्ञानप्रवाह द्वारा स्वरूपपरिणति में रहना, वही आत्मधर्म है। यहाँ '**वृत्ति वहे निज भावमां, परमार्थे समकित**' कहा है, फिर भी वह पूर्ण चारित्रसहित परमावगाढ़ समकित नहीं है। सम्यग्दर्शन में भेद-भङ्ग नहीं है किन्तु चारित्र आदि गुण प्रगट होने की दृष्टि से, समकित के दो अथवा तीन प्रकार कहे जा सकते हैं : (१) कारणरूप नैगमनय से उपचार समकित, (२) निश्चयसमकित और (३) परम अवगाढ़ समकित। १७वीं गाथा में '**स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरु लक्ष्य समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।**' उसे कारणरूप उपचार से व्यवहारसमकित कहा है क्योंकि निश्चयसमकित का कारण है और इस १०९-११० गाथा में कहा है, वह निश्चयसमकित है यानी शुद्ध सम्यग्दर्शन है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य – ये गुण पूर्णरूप से प्रगट होवें, – ऐसी वीतरागदशा प्रगट न हो, तब तक परमावगाढ़ समकित नहीं कहलाता। समकित के भेद कहें, इससे प्रतीति में कोई फ़र्क नहीं है, भेद नहीं है। जैसा आत्मा सर्वज्ञ वीतरागभगवान के ज्ञान में है, ऐसा ही पूर्ण शुद्ध, स्वाधीन अपने आप को माना है; अत: प्रतीति में फ़र्क नहीं है परन्तु जो गुण पूर्णरूप से प्रगट नहीं हुए, उस अपेक्षा से फ़र्क बताया है। शास्त्र में केवलज्ञानी के सम्यक्त्व को परम अवगाढ़ सम्यग्दर्शन १३वें गुणस्थान में कहा है क्योंकि वहाँ पर अन्य तीनों गुण पूर्णरूप से खुल जाते हैं। चौथे गुणस्थान में जो क्षायिकसमकित कहा है, वह भी सिद्धभगवान के समान ही निर्मल, निश्चयसम्यग्दर्शन है। इसके प्रगट होने के बाद पीछे नहीं हटता; इस दृष्टि से उसे क्षायिक कहा है। जो दशा प्रगट हो गयी, उसमें यानी

आत्मप्रतीति के भान में विघ्न आनेवाला नहीं है और पीछे हटनेवाला नहीं है। आत्मा अखण्ड तत्त्व है; उसका वास्तविक स्वरूप यहाँ प्रतीति में आया है। उस पूर्ण की प्रतीति अखण्डतापूर्वक विद्यमान रहती है। पूर्णशुद्ध अवस्था अभी प्रगट नहीं हुई किन्तु पर से भिन्नत्व का भान खुद को हुआ है। **१११.**

अब, समकित की बढ़ती हुई निर्मल धारा से कर्म के निमित्त से हो रहे मिथ्याभास, यानी विकल्प मिटाकर वीतरागदशा प्रगट होती है, ऐसा कहा है :-

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास;
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास।। ११२।।

वर्धमान सम्यक्त्व हो, टाले मिथ्याभास।
उदय होय चारित्र का, वीतराग-पद वास।।११२।।

उस समकित की बढ़ती हुई धारा से हास्य, शोक, रति, अरति, रागादि जो कुछ विकारी अवस्था है, उसे एवं पूर्व में भ्रान्तिरूप से कर्मबन्धन किया था, उसे ज्ञान की स्थिरता द्वारा टालते हैं। स्वभावसमाधि में, यानी सहजस्वरूपस्थिरता में टिकना, ऐसे सहजचारित्र का उदय होता है। भगवान आत्मा सहज पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसका यथार्थ भान हुआ; अतः कर्म को टालूँ – ऐसा विकल्प भी स्वामीत्वपूर्वक नहीं रहता। अपने सहजस्वभाव में रागरहित होकर ठहर जाता है; इसलिये रागादि कर्म टल जाते हैं। हठपूर्वक त्याग-वैराग्य या समाधि नहीं है। कारणरूप में हठ हो और कार्यरूप में सहजता होवे, ऐसा नहीं बनता। लोग पुण्ययोग या हठयोग इत्यादि अन्य को मोक्ष का कारण मानते हैं, वह कृत्रिम है। ज्ञान के अलावा अन्य कुछ मैं करता हूँ – ऐसा माने अथवा बाह्यक्रिया अथवा त्याग करता हूँ – ऐसा अभिमान भले करे किन्तु ज्ञान के अलावा अन्य कुछ जीव कर सकता ही नहीं है। जिसको स्वाभाविक आनन्ददशा का लक्ष्य नहीं है तथा जिसे सहज ज्ञानदशा खुली नहीं है, वह विजातीय साधन को व्यवहार मानकर उस प्रकार के जड़ साधनों का पक्ष

करते हैं और मूढ़ता बढ़ाते हैं, जबकि ज्ञानी ज्ञान का निर्मल विवेक बढ़ाते हैं। उन्हें सहज ज्ञानस्वभाव की समाधि बढ़ती जाती है, वहाँ हठ नहीं होती। अनादि अनन्त, स्वत:सिद्ध, सहजस्वभाव का भान व अनुभवदशा जिसे प्रगट हुई, उसे उसी प्रकार की प्रतीति व प्रयत्न होता ही है। भाषा में 'इस प्रकार करना' – ऐसे निमित्तरूप व्यवहारशब्द आते हैं, किन्तु अन्तरङ्ग में जानते हैं कि वस्तु सहज है। रागादि का योग भी है, फिर भी निर्दोष अबन्धदृष्टि में प्रकृति का, निमित्त का द्वैतभाव टिकता नहीं है। हास्य, शोक, राग, द्वेष, कषाय से होनेवाले द्वैतभाव को टालनेवाली अटूट अभेद द्रव्यदृष्टि पर जिसकी निगाह है, वही चारित्र है और पूर्णता को प्राप्त कर लेने का उस प्रकार का पुरुषार्थ है।

बाहर की क्रिया के आधार से आत्मा का चारित्र नहीं है। मन, वाणी तथा देहादि की क्रिया में या शुभराग में भी चारित्रगुण नहीं है। चारित्रगुण तो ज्ञान की स्थिरता है। जिस प्रकार गुड़ से मिठास भिन्न नहीं होती; उस प्रकार गुण, गुणी से भिन्न नहीं रहता। बाह्यत्याग, वैराग्य (मोहगर्भित वैराग्य) से, वस्त्र से या तिलक से आत्मा का धर्म नहीं होता; आत्मा का धर्म तो प्रतीति एवं उससे होनेवाली निर्दोष, पवित्रदशा में है। राग के विकल्प छोड़कर स्थिर होना, यानी ज्ञान में ज्ञातारूप से टिकना – यह चारित्र है। सर्वज्ञ भगवान ने कहा है – उस सत्स्वरूप की यथार्थ समझ ही धर्म है – ऐसी प्रतीतिसहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा द्वारा कल्पित मत की भ्रान्ति मिट जाती है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा की, तबसे उसरूप चारित्रदशा बढ़ती जाती है और आखिर में राग-द्वेष के क्षयरूप सहज आनन्दस्वरूप वीतरागपद में स्थित होता है। जितने अंश में रागरहितदशा हो, उतने अंश में रागादि के निमित्तरूप परवस्तु का योग ही नहीं होता। रागादि कषायभाव में रुचि रखे और कहे कि हमें पूर्ण शुद्धता का लक्ष्य है, इस प्रकार कहनेमात्र धारणा बनाये रखे, वह स्वच्छन्दी है, यह बात आगे आयेगी। **११२.**

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २२-११-१९३९

अब, पूर्ण पवित्र अखण्ड, निर्मल ज्ञानदशा, केवलज्ञान का बेहद ऐश्वर्य कैसा है ? – उसका वर्णन निश्चयपूर्वक करते हैं।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्ते ज्ञान;
कहिए केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण।। ११३ ।।

केवल निज-स्वभाव का, अखण्ड वर्ते ज्ञान।
कहते केवलज्ञान वह, देह सहित परमात्म।।११३ ।।

जिज्ञासु को सद्गुरु की प्राप्ति होने पर साधकदशा से पूर्ण साध्य तक क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की मर्यादा कही है। 'जीवद्रव्य एक पूर्ण अखण्ड होने से उसका ज्ञानसामर्थ्य सम्पूर्ण है' आत्मा पूर्ण स्वाधीन सहजतत्त्व है; वह निश्चय से पर को नहीं जानता, पर को जानने का विकल्प नहीं है। जिसमें अस्थिरता एवं राग-द्वेष की वृत्ति मिटकर, मात्र निजस्वभाव का अखण्डज्ञान विद्यमान है, यह बात यहाँ निश्चयपूर्वक ली है। पर को जानता है, ऐसा कहना उपचार है; अत: व्यवहार से, उपचार से, पर निमित्त से, चैतन्य की महिमा मानना ठीक नहीं है। बाह्यदृष्टिवाले जगत के जीवों को लोकालोक जानने में आत्मा की महिमा लगती है, इसलिये ज्ञान निमित्त को जाननेवाला है, ऐसा व्यवहार से कहा है। सर्वज्ञप्रभु का त्रिकाल ज्ञान लोकालोक को जानता है किन्तु जो परनिमित्त से ज्ञान की महिमा करता है और पर को जानता है, ऐसा निश्चय से मानता है। इसका अर्थ यों होता है कि चैतन्य में जैसे कुछ माल (शक्ति) नहीं है। लोग व्यवहार के पक्ष में तत्त्व को बहुत ज्यादा खींच लेते हैं; अत: इसमें मात्र निश्चय से कहा कि **'केवळ निजस्वभावनुं अखंड वर्ते ज्ञान'** इसमें पर को जानने का विकल्प नहीं है किन्तु सहज ज्ञानस्वरूप में पर निमित्त,

समस्त विश्व सहजरूप से दिखता (जनाता) है। जो अखण्ड ज्ञायक शुद्धस्वभाव पूर्ण शक्तिरूप था, वह प्रत्यक्ष प्रगट होता है। आत्मगुण को विघ्न करनेवाले निमित्त, घातिकर्म का सर्वथा अभाव होने पर, सहज स्वाभाविक पूर्ण केवलज्ञानदशा विद्यमान रहती है। सर्व आभासरहित आत्मस्वभाव का जहाँ अखण्ड (किसी भी समय खण्डित न होवे, नाश को प्राप्त न होवे, ऐसा) ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। जो केवलज्ञान, पूर्ण वीतरागदशा पाने पर, उत्कृष्ट जीवनमुक्तदशा, देह होते हुए भी अनुभव में आती है। सम्पूर्ण वीतराग होने पर सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है।

तेरहवीं भूमिका में चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय होने पर अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य यानी पूर्ण सर्वज्ञदशा प्रगट होती है। उस क्षण पर भावमोक्ष कहा जाता है किन्तु देह एवं आयुष्य की स्थिति बाकी हो, उसके पूर्ण होने पर चार अघातिकर्म का अभाव होने से, द्रव्यमोक्ष होता है। इसमें लोकालोक के ज्ञान का वर्णन नहीं आया क्योंकि निमित्त का उपचार निश्चय में नहीं आता। स्वभाव का सामर्थ्य पूर्णरूप से खुल गया, उसकी पर निमित्त से पहचान करवाना शोभनीय नहीं है। केवलज्ञान में जैसा पूर्णस्वभाव है, वैसा ही उत्कृष्टरूप से, अखण्डरूप से परिणमित हो गया है। उसमें पर का उपयोग कहना उपचार है। मोक्ष भी पर्याय है और आत्मद्रव्य त्रिकाली अनादि अनन्त, शुद्ध पारिणामिकभावरूप है। यह तो प्राप्त की प्राप्ति है; स्वभाव में कुछ नया नहीं है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखो तो मोक्षावस्था नयी नहीं है; पर्यायदृष्टि से देखो तो मोक्षावस्था नयी है।

'आत्मसिद्धि' में भाषा बहुत सरल है, फिर भी लोगों को सत्समागम की रुचि बिना, परीक्षा बिना कुछ-कुछ दूसरा ही समझ में आता है। श्रीमद्जी ने कहा है कि **'जिनप्रवचन दुर्गम्यता, थाके अति मतिमान'** अपनी दृष्टि से (स्वलक्षपूर्वक) न सोचे, उसे उलझन रहती है। किस अपेक्षा से साधकस्वभाव भेदरूप है और वस्तुस्वरूप अभेद है, इत्यादि का विचार स्वच्छन्दपूर्वक अति मतिमान (अत्यन्त बुद्धिशाली) भी करते हुए थक जाते हैं। अनेक अपेक्षापूर्वक वस्तु का आशय समझने में न आये तो वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले जिनप्रवचन, स्वच्छन्दी जीवों को दुर्गम्य लगते हैं; अतः उनका हज़ारों शास्त्रों का ज्ञान वृथा है किन्तु एक बार स्वच्छन्द छोड़कर ज्ञानी का अभिप्राय समझे तो अनादि की भ्रान्ति (मोहनिद्रारूप

अज्ञान) का नाश होता है और आखिर में वीतरागदशा होती है। **११३.**

एक बार जीव ज्ञानी का अभिप्राय समझे तो अनादि का मिथ्यात्वभाव दूर होता है, ऐसा अब कहते हैं –

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय;
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय।।११४।।

कोटि वर्ष का स्वप्न भी, जाग्रत हो शम जाय।
त्यों विभाव अनादि का, ज्ञान होय क्षय पाय।।११४।।

करोड़ वर्ष का स्वप्न हटाकर जागृत होने के लिये ज्यादा समय नहीं चाहिए। दृष्टान्त एकदेशी होता है। इसके साथ इतना सिद्धान्त मिलना है कि अनन्त काल से अज्ञान अन्धकाररूप मोहनिद्रा है, वह सत्य आत्मबोध द्वारा टाली जा सकती है और अनादि काल का विभाव सच्चा ज्ञान होते ही दूर होता है। अपना जो सामान्य स्वभाव निरन्तर, ज्ञान-दर्शनमय, एकाकार है; उसे छोड़कर, भूलकर जीव ने देहादि निमित्त का आरोप अपने में किया है। रागादि, देहादि, तथा पुण्य इत्यादि मेरे हैं, इस प्रकार कर्मभाव-विभाव में अपनत्व की मान्यता से जीव मिथ्यात्वभाव जारी रखता है। आत्मज्ञान होने पर (जैसे जागृत होने पर स्वप्न चला जाता है, दीपक का प्रकाश होने पर अन्धकार टल जाता है, वैसे) वह भूल टल जाती है। यहाँ 'विभाव' शब्द से मुख्यरूप से दर्शनमोह का नाश कहा है और गौणरूप से चारित्रमोह का नाश कहा है। अपने दोष कर्मप्रकृति पर नहीं थोपकर, अपने द्वारा ही मिटाने के लिये इस गाथा में कहा है। स्वयं ने अपने स्वरूप को अन्यथा माना है। यह भूल खुद ने की है; कर्मप्रकृति इस भूल को नहीं करवाती।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि तू ही स्वाधीनरूप से उल्टा पड़ा, इसलिये परवस्तु में सुख-दुःख की और अपनत्व की बुद्धि तू करता है। अपनी स्वाधीनता भूलकर, विभावरूप से अज्ञान में स्वच्छन्दतापूर्वक तेरा प्रवर्तन हो रहा है और जब यथार्थ

वस्तुस्वरूप तूने माना, जाना तब सहज सुखस्वरूप में स्वाधीनतापूर्वक तेरा प्रवर्तन होता है। अनन्त काल की भूल एक समयमात्र में मिटायी जा सकती है, जागृति का एक पल उस अनन्त संसार के मूल का नाश करनेवाला है। अपनी जो भूल हो रही है, वह स्त्री, परिवार, धन, धान्य इत्यादि पर के कारण से नहीं होती। परवस्तु जीव को कुछ परिणमन करवा नहीं सकती; कोई किसीको जबरदस्ती राग-द्वेष करवा नहीं सकता।भूल अपने अज्ञान के कारण से है। तू स्वाधीनता से भूल करनेवाला होने से, तू स्वयं स्वाधीनतापूर्वक भूल टाल सकता है। मैं पराधीन हूँ, मैं भूलवाला हूँ, ऐसा जाना किसने ? मैं पराधीन हूँ, ऐसा जाननेवाला ही स्वाधीन है। जड़ की क्रिया जीव के आधार से नहीं है किन्तु अपने ज्ञान में गुण अथवा दोष करना अपने पर निर्भर है। स्वयं अनादि से अज्ञान में औंधा था, वह स्वयं सत्समागम द्वारा जागृत हुआ। कोई सच्चा जिज्ञासु आत्मार्थी भूल टालने के लिये तैयार हो, उसे सत्पुरुष का योग अवश्य होता है। बाहर से योग न मिले तो अन्दर से यथार्थ समाधान जागे और इसलिये परवस्तु में जो सुखबुद्धि हो रही थी, वह टलती है और अविरोधरूप से स्वानुभव होता है। '**आरोपित सुखभ्रम टला, भासित हुआ अव्याबाध।**' भटकने में, अज्ञान में अनन्त काल बीता परन्तु उस भूल को मिटाने में अनन्त काल चाहिए तो स्वभाव की कीमत कितनी ? एक ही समय में आत्मभान होता है किन्तु उसका फल जानने में असंख्याता समय की देर लगती है। इसका कारण छद्मस्थपना है। पूर्णस्वरूप जैसा है, वैसा जाना, माना; इसके साथ ही पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत होती है। वर्तमान में साधक स्वभावरूप से शुद्धता का अंश पूर्ण में से खुला है। उस पूर्ण को प्राप्त कर लेने का प्रयत्न (पुरुषार्थ) रहता है, होता है। जब आत्मा अपनी शुद्धात्मपरिणति को ज्ञान में एक ही समय में पकड़ सके, तब उसी समय केवलज्ञान यानी पूर्ण शुद्ध सर्वज्ञदशा प्रगट होती है। आत्मा अनादि अनन्त है; उसमें प्रति समय अपना स्वाधीन बेहद सामर्थ्य है। वह एक ही समय में परिपूर्ण है और त्रिकाल सत् है। वर्तमान अवस्था में अपनी शुद्धता में स्थिर होकर पूर्ण स्वरूप का लक्ष्य किया, तब पर के सम्बन्धरहित निरुपाधिक वस्तुस्वरूप की श्रद्धा हुई; अत: अनन्त काल से जो भूलरूप बन्धभाव में टिकनेवाला ज्ञान, भवहेतु हो रहा था, वह ज्ञान एक समयमात्र में पलटकर मुक्ति

का कारण होता है। जिस भाव से अनन्त संसार के बीज का नाश होता है, उसी भाव से मोक्षदशा की उत्पत्ति होती है। उस भेदविज्ञान द्वारा अनादि का अज्ञान पलटकर पुरुषार्थ की स्थिरता से, अपने बेहद आनन्दस्वरूप की स्वाधीनता का स्वीकार करता हुआ ज्ञान, शाश्वत अबन्धभाव को प्रगट करता है।

निरपेक्ष मोक्षस्वभाव की दृष्टि प्रगट करने से पूर्ण, पवित्र, कृतकृत्य, निःशङ्क आत्मधर्म का अपूर्व रहस्य समझ में आता है। **११४.**

अब, यहाँ पवित्र अकषायभाव (आत्मधर्म की सच्ची अहिंसा), जो अनन्त ज्ञानियों के हृदय का मर्म है, उसे बताते हैं –

छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म;
नहि भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म।। ११५।।

छूटे देहाध्यास तो, नहिं कर्ता तू कर्म।
कर्म-फल-भोक्ता न तू, यही धर्म का मर्म।।११५।।

शुभाशुभराग तथा देहादि में एकता का अनुभव है, वह संसार और उससे मुक्त होने के लिये त्रिकाली निर्मल ज्ञायक स्वरूप में एकता का अनुभव – वह धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग है।

ज्ञानस्वरूप में देह, मन, वाणी, कर्म व नोकर्म का एकरूप भास होना, वह देहाध्यास है। मन के अन्दर जुड़ान करने से जो शुभ-अशुभ परिणाम होवे, वह भी एक न्याय से देह है। पुण्य-पाप, हर्ष-शोक होवे, उसका कारण कार्मणशरीर है। उसमें देहाध्यासरूप कार्य का आरोप करके कहा है कि देहाध्यास छूटे तो तू पर का, कर्म का कर्ता-भोक्ता नहीं है। मन की शुभाशुभवृत्ति उठे, वह भी देह है। मैं देहातीत, अतीन्द्रिय, अरागी तत्त्व हूँ; मैं केवलज्ञानरूप हूँ; मेरे नित्यस्वभाव में दोष नहीं है। इस प्रकार निर्दोष अनुभव करने पर देहाध्यास छूटता है; अतः जीव, कर्म का कर्ता-भोक्ता नहीं बनता – यही धर्म का मर्म है। आत्मा का

स्वभाव अव्याबाध, ज्ञायक, शुद्ध है; उसमें पर निमित्त की उपाधि नहीं है। भेदविज्ञान के बल से अन्तरङ्ग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य से भूल को सूक्ष्मरूप से जानकर और अतीन्द्रियज्ञान की प्रतीति, ज्ञान की शान्ति, ज्ञान का बल मिलने पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व निजस्वभाव का ही है – इस प्रकार मानना होता है। भूल का टलना ही गुण का होना है। भूल स्वयं करता है किन्तु स्वभाव भूलरूप नहीं है; अतः भूल टल जाती है। पर में अहंपना-ममत्व है, पर में सुखबुद्धि है; उसे टालकर अपनत्व आत्मा में ही माना जाए, तब जो मन, वाणी, देह तथा सभी परद्रव्यों में तथा परभावों में आत्मबुद्धि हुआ करती थी, वह मान्यता छूट जाती है। आत्मा में ज्ञाता-दृष्टाशक्ति जीव प्रगट करे, तब जो परधर्मरूप देहात्मबुद्धि थी, वह टल जाने से, जीव जड़कर्म का कर्ता-भोक्ता उपचार से भी नहीं है – यही धर्म का मर्म है।

आगे कहा था कि **'विचारवा आत्मार्थी ने भाख्यो अत्र अगोप्य।'** वह यहाँ पर खुला बता दिया है। आत्मा का सहजस्वभाव ऐसा ही है, ज्ञानी ने कुछ छिपाया नहीं है। जैसा है, वैसा वस्तुस्वरूप का रहस्य (स्वभाव-धर्म) विरोधरहित कहा है। स्वभाव के भानवाला जीव परभाव का कर्ता-भोक्ता नहीं होता और स्वभाव का भान हो तो शुभाशुभ विभाव में स्वामीत्व होता ही नहीं है किन्तु नित्य ज्ञानचेतना के स्वामीत्व में स्थिति होवे – यही धर्म का रहस्य है। यह ११५ गाथा तक कई न्याय आ गये हैं। जड़ एवं चेतन दोनों पदार्थों को स्वतन्त्र, भिन्न मानना; संयोगी अवस्था में (परवस्तु में) अहंत्व, ममत्व है, उसे छोड़ना; पर में सुखबुद्धि की मिथ्यामान्यता छोड़नी, तथा मतदर्शन का आग्रह छोड़ना – ऐसा कहा। इन सभी कथनों का आशय समझ में आने के बाद हेय, उपादेयरूप विवेकबुद्धि जागृत रहती है और आत्मा परद्रव्य, परभाव से भिन्न, शुद्ध असंयोगीतत्त्व है, वह सद्गुरु के योग द्वारा और अपनी पात्रता से जैसा है, वैसा समझ में आता है। मुमुक्षु को अपने सत्य स्वरूप में शङ्का नहीं होती एवं उलझन भी नहीं लगती। ज्ञानियों ने कुछ गुप्त रखा होगा, ऐसी शङ्का भी नहीं होती। ऐसे जीव चैतन्यचमत्कारमात्र भगवान आत्मा की पूर्णता पर दृष्टि रखकर नित्य जागृत दिखते हैं। उसमें पर का कुछ करने की बात नहीं आयी, ऐसा निःसन्देह तत्त्व श्रीमद्जी ने जाहिर किया है, उसे समझो।

अपने सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा आये, तब चैतन्यभगवान अपनी रक्षा करते हैं और अपने नित्य निर्भय, निःशङ्क स्वभाव को ही देखता है। पर से भिन्नत्व का भान होने पर आत्मा पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है किन्तु नित्य मोक्षस्वभाव में ही स्थित है; उसमें उपाधि का अंश भी नहीं है, ऐसा निःसन्देहरूप से भावभासन होता है। ऐसी स्वरूपस्थिति वीतरागतत्त्व का मर्म है। ऐसा तीनों काल के ज्ञानियों का रहस्य है। इस अनादि का सत् जैसा है, वैसा यहाँ बताया है।

साधारण जीवों को निर्णय करने में बहुत उलझन लगती है किन्तु यदि वे लोग मनन करें तो बहुत सरल भाषा में इस 'आत्मसिद्धि' में गहन रहस्य को रख दिया है। सच्चे ज्ञान की समझ बिना देव, गुरु, शास्त्र का उपकार नहीं होता। गुजरातीभाषा में तत्त्व का गहन रहस्य इस शास्त्र में जाहिर किया है। जो बात जिस आशय से कही गयी है, उस आशय को समझने से कल्याण है; वरना शब्दों को पढ़ लेनेवाले लोग बहुत हैं। केवल शब्द पढ़ लेनेवालों का कल्याण नहीं हो सकता किन्तु उसका मनन एवं सच्ची समझ करने से कल्याण होता है। जिसे सच्ची समझ की रुचि है उसे ज्ञानी पुरुषों ने जिस प्रकार से आत्मा कहा है, उसी प्रकार से इस 'आत्मसिद्धि' में आत्मा कहा है। उसका विश्वास करना और सत्समागमपूर्वक उसका नित्य अभ्यास करना। आत्मा में शुद्ध ज्ञान के अलावा परमाणुमात्र का सम्बन्ध नहीं है; तू नित्य मोक्षस्वरूप है; अतः जैसा है, वैसा होजा ! ऐसा इस ११५वीं गाथा में कहा है। जिसने अपने सत्स्वरूप को समझा, उस उपकारी का परम उपकार हुआ है – ऐसा कहकर उपकारी का बहुमान, विनय करते हैं। जिसने अपने स्वरूप को समझा, उसने देव, गुरु, धर्म का स्वीकार किया है। यही सत् का बहुमान है। देव, गुरु, व धर्म ये तीनों सत्स्वरूप वीतराग हैं, निर्दोष हैं; उनका आदर माने संसार का आदर नहीं, परपदार्थ का परिचय नहीं। एक गुण प्रगट होने पर सारे गुण अंशतः-अंशतः साथ में प्रगट होते हैं और केवलज्ञान होने पर परिपूर्ण होते हैं। पूर्ण पवित्र वीतरागस्वरूप सर्वज्ञ भगवन्त, परमात्मा कहलाते हैं। आत्मा व जड़, स्वभाव-विभाव, कषाय-अकषाय, कर्ता-अकर्ता, सक्रिय-अक्रिय, भोक्ता-अभोक्ता, नित्य-अनित्य इत्यादि अनेक धर्म जैसे हैं, वैसे जानकर नित्य ज्ञानवस्तु का ही आश्रय करने का है। निर्णय पूर्वापरविरोधरहित होना चाहिए। लोग संसार

में से कुछ निवृत्ति लेकर स्व-पर का विचार करें, तब समझ में आये न ! लोगों को उसका मनन ही नहीं है। अनन्त सुखस्वरूप को प्राप्त करने की सच्ची जिज्ञासा व तत्त्वविचार किये बिना पात्रता भी कहाँ से पैदा हो ? यहाँ तो श्रीमद्जी ने निःसन्देह तत्त्व को जाहिर करा है कि पर की ममता छोड़, तत्त्व का अभ्यास कर और केवल निजस्वभाव को ही जान। शुभाशुभ आस्रव, संसार, देहादि में कर्तृत्व, ममत्वरूप देहाध्यास छोड़े तो ही असंयोगी, स्वाधीन, पूर्ण ज्ञानघन स्वरूप की श्रद्धा, अनुभव द्वारा चिदानन्द आत्मधर्म को प्राप्त करे। ११५, ११६, ११७, ११८ – ये चार गाथाएँ रहस्यपूर्ण हैं, बहुत उत्कृष्ट हैं। **११५.**

जीव स्वयं ही मोक्षस्वरूप है, ऐसा यहाँ कहते हैं :-

ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप;
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप।। ११६।।

यही धर्म है मोक्षप्रद, तू है मोक्ष स्वरूप।
अनन्त दर्शन-ज्ञान तू, अव्याबाध स्वरूप।।११६।।

ऐसे भानपूर्वक जो जीव अपने आप को मोक्षस्वरूप समझता है, उसका मोक्ष होता है। मोक्ष तो अवस्था है, द्रव्य अखण्ड है। साधक एवं साध्य, यानी कारण व कार्य स्वसत्ता में स्वाधीनरूप से हैं। आत्मा में मोक्ष शक्तिरूप से तो अनादि अनन्त है; द्रव्यदृष्टि से संसारावस्था आत्मा में कभी नहीं है। जिस प्रकार वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से पानी में उष्णता दिखती है, फिर भी शीतल स्वभाव का नाश किञ्चित् भी हुआ नहीं है; उस प्रकार आत्मा ने अज्ञानभावपूर्वक राग की रुचि करके, पराश्रय को हितरूप माना है। इस भूल की के योग्यता के कारण वर्तमान अशुद्ध अवस्था है। नित्य मोक्षस्वरूप के लक्ष्य से उस भूल को पुरुषार्थ द्वारा मिटाकर, शक्तिरूप में जो मोक्षस्वभाव है, उसे प्रगट किया जा सकता है। इस प्रकार प्राप्त की प्राप्ति होती है; है, वह प्रगट होता है। परमार्थ से शक्तिरूप

में जिस स्वरूप में था, वह व्यक्त (प्रगट) होता है। यानी तेरे ही स्वभाव से मोक्ष है और देहादि, रागादि के अध्यासरहित मैं नित्य ज्ञायक, ऐसा मनन-अभ्यास – यही धर्म है, यही पूर्ण स्वाधीन तत्त्व का स्वीकार है। जो नहीं है, वह नया नहीं होता। यदि आत्मा का मोक्षस्वभाव किसी भी क्षण हयात न होवे तो वह प्रगट नहीं होता; अतः मोक्षस्वभाव द्रव्यदृष्टि से त्रिकाल है। पर्यायदृष्टि से देखो तो धर्मी जीव को संसार-अवस्था अनादि सान्त है और मोक्षपर्याय नयी है। आत्मा मोक्षस्वरूप है, ऐसी श्रद्धा व ज्ञान के अभ्यास से प्राप्त की प्राप्ति होती है। आत्मा के मूलस्वरूप को देखो तो वह सदा मोक्षस्वभाव है और वर्तमान अवस्था में बन्धरूप होने की योग्यता है।

मुक्त स्वभाव है और बन्ध योग्यता है। आत्मा सत् है, स्वाधीन है, परमार्थ से असङ्ग है। जो सत् है, वह स्वयंसिद्ध है। वस्तु है, वह किसी के आधार से नहीं है। वस्तु त्रिकाली सत् है, वह पूर्ण है। वस्तुस्वभाव कदापि स्वयं से अधूरा, हीन, उपाधिरूप हो नहीं सकता; अतः चैतन्यभगवान आत्मा शक्तिस्वभाव से पूर्ण अबन्ध शुद्ध है। है, वह स्वयं से है; पररूप नहीं है। उपाधिस्वभावरूप आत्मा नहीं है। **'तू है मोक्षस्वरूप'** – इस विधि का स्पर्श (अन्दर में) होते ही, मैं अनन्त सुखस्वरूप हूँ – ऐसी स्वाधीन शक्ति की अपूर्व 'हाँ', हकार आता है, दृष्टाशक्ति का दृष्टा, ज्ञायकशक्ति का ज्ञाता स्वयं खुद ही है। सामान्य जीवतत्त्व द्रव्यदृष्टि से नित्य, अनन्त दर्शन, ज्ञानस्वरूप सहजस्वभावी है; सामर्थ्यरूप से बेहद है। त्रिकाली अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में, यानी स्वतत्त्व में बन्धन एवं रागादि उपाधि का भेद नहीं है। अवस्था में भूलरूप माना था, वह भूल कोई स्वभाव की जाति की नहीं है। स्वयं अपने आप को भूलकर, अपने में पर निमित्त का आरोप किया था, इस भूल को सच्चे अभिप्राय एवं ज्ञान द्वारा मिटाकर सहज, शुद्धस्वभाव जैसा नित्य अभूलरूप है, वैसा स्वीकार करना है। उसका स्वीकार होने पर पूर्णता का लक्ष्य, अनुभव व प्रतीति द्वारा जीव अपने स्वरूप में रहता है और मोक्षस्वरूप को स्वानुभवपूर्वक व्यक्त होता हुआ देखता है। 'तुं छो मोक्षस्वरूप' – इस पद में 'तुं छो' इस शब्द पर वज़न है। अपना अनन्त सुख स्वाधीनरूप से है। वह सुख शक्तिस्वरूप है। जीव, सुख का खजाना है; स्वभाव में दुःख या उपाधि का अंशमात्र नहीं है। इस

समझ को स्वीकार करनें पर अनन्त आनन्द को प्रगट करने का बल साथ में ही आता है। नित्य ज्ञानमयवस्तु सुखरूप ही है, फिर भी वर्तमान -दशा में स्वयं को भूलकर दु:ख की कल्पना की है। विकारी अवस्थारूप से जीव उल्टा पड़ा है, वह सुल्टा होकर अपनी स्वाधीनता का स्वीकार करे तो शुद्ध हो सकता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय साधकभाव और मोक्षरूप साध्य जैसा है, वैसा यहाँ बताया है; कुछ गोपित नहीं रखा। कोई कथनमात्र की धारणा कर लेवे और लाभ न हो तो इसमें ज्ञानी का दोष नहीं है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २३-११-१९३९

आत्मा, ज्ञानस्वरूप है; उसमें पर का कर्ता-कर्मपना नहीं है। केवल अपने ज्ञान में स्थिरता-अस्थिरता हो सकती है। स्वयं नित्य निर्भयस्वरूप है, फिर भी गलत हिसाब -किताब करके भय या रोग उत्पन्न करता है, यह अपनी भूल है; परवस्तु का दोष नहीं है। इस गाथा में तू ही मोक्षस्वरूप है – ऐसा कहा। **११६.**

आत्मा का स्वभाव कैसा है ? यह गाथा में बताकर इस स्वभाव का जो विचार करे, वही शुद्धता पाता है – ऐसा बता रहे हैं।

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम;
बीजुं कहीए केटलुं ? कर विचार तो पाम।। ११७।।

शुद्ध बुद्ध चैतन्य-घन, स्वयं-ज्योति सुख-धाम।
और अधिक कितना कहें, कर विचार तो पाम।।११७।।

आत्मा एक द्रव्य (पदार्थ) है। उसका चैतन्यस्वभाव है। उसकी यथार्थ प्रतीति

(सम्यग्दर्शन) होने पर पूर्ण का कारण प्रगट होता है। वह साधकस्वभाव पूर्णता के लक्ष्य से अंशत: खुलकर पूर्ण हो जाता है। वह स्वयंबुद्ध है, वह द्रव्यस्वभाव है, वह क्षेत्र से असंख्यात प्रदेशात्मक शुद्ध चैतन्यघन है, काल से अपनी शुद्धपर्याय के परिणमनरूप व भाव से अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप है; अत: देहादि सर्वपरद्रव्यों से भिन्न है। 'देहादि' में पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभभाव (रागादिक विकार), आठ कर्मप्रकृति तथा समस्त परद्रव्य, जड़ परमाणु – इन सबको अचेतन पर समझ लेना। वस्तुस्वभाव में शुभ-अशुभ विकल्प नहीं है; परमाणुमात्र की उपाधि नहीं है। आत्मा परपदार्थ में किसी तरह मिलता नहीं है और परवस्तु आत्मा के अन्दर मिल नहीं जाती। परमार्थदृष्टि से यानी सच्ची दृष्टि से आत्मा शुद्ध ही है। पानी का स्वभाव शीतल है, उसे अग्नि पर रखो तो भी उसमें प्रतिक्षण अग्नि बुझाने का स्वभाव है। भगवान आत्मा पवित्र ज्ञातापने को भूलकर पुण्य-पापवाला है – ऐसा मानकर, विकारी अवस्थावाला होकर, शुभाशुभ उपाधिरूप पर्याय का अपने में स्वीकार करे, यह उल्टी मान्यता है। इस भूल को एक ही समय में मिटाकर खुद को असङ्ग, अभूलस्वरूप जाने, माने और ज्ञाता के ज्ञान में जम जाए तो इस उपाधिरूप भूल-अवस्था का अस्वीकार हो जाता है और सहजरूप से विभाव से छूटना होता है; यह चैतन्य की जाति से होता है।

अन्धकार मिटाने का उपाय एक प्रकाश ही है; अन्य किसी उपाय से अन्धकार मिटे नहीं। इस प्रकार अज्ञान दूर करने का उपाय एक सच्चा ज्ञान ही है। अत: कहा है कि **'छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म, नहि भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म।' 'ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप, अनंत दर्शन-ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप'।** इसका अविरोधन्याय के प्रमाणपूर्वक निश्चय करके आत्मधर्म का मर्म कहा है। तीनों काल के ज्ञानियों को जो कहना है, उस तत्त्व का रहस्य श्रीमद्जी ने भी डंके की चोट पर जाहिर किया है। युक्ति, अनुमान, सर्वज्ञकथित आगमप्रमाण और स्वानुभव से आत्मा का स्वीकार करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। यही चैतन्यभगवान की स्वतन्त्रता की जाहिरात (घोषणा) है। आत्मा अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, शुद्ध, बुद्ध, स्वयंज्योति व अनन्त सुखस्वरूप है। इसकी हाँ करना लोगों को कठिन पड़ता है और संयोगबुद्धि से कहते हैं कि

यह मलिन बन्धवाला आत्मा दिखता है। उसे अभी भिन्न, अबन्ध व शुद्ध कैसे मान सकते हैं ? पुण्यादि की रुचि व निमित्ताधीन दृष्टिवाला पराधीनता को ही देखता है। निमित्त सही मिले तो कुछ भी करें, ऐसा जो मानता है, उसका यहाँ पर निषेध किया है। प्रथम से ही श्रद्धा में किञ्चित्मात्र पराश्रित विभाव न रहे, इसके लिये इस गाथा में कहते हैं कि तू देहादि सर्वपदार्थ से भिन्न है; किसी में आत्मद्रव्य मिल नहीं गया।

द्रव्य से द्रव्य परमार्थ से (सच्ची दृष्टि से) सदा भिन्न ही भिन्न हैं। अतः तू शुद्ध है, बोधस्वरूप है, शुद्ध चैतन्यप्रकाशात्मक है, स्वयं ज्ञानज्योति है; अतः किसी के आधार से तेरा प्रकाश नहीं है किन्तु स्वभाव से ही तू ज्ञायक-ज्ञानप्रकाशस्वरूप है और अव्याबाध सुख का धाम है, यानी उसमें उपाधि या पराधीनता का अंश नहीं है। ऐसा परमार्थस्वरूप तू है, इसमें अधिक क्या कहना ? इसी में स्थिर हो जा, इसी का विचार कर। जिस प्रकार शक्कर में कालीजीरी की कड़वाहट का स्वाद नहीं है; उस प्रकार ज्ञान में (आत्मा में) दुःख-उपाधि का अंश भी नहीं है। जिस प्रकार नमक की डली क्षाररस से रसभर-भरपूर है; वह निरन्तर अखण्ड क्षाररस का अवलम्बन लेकर भरपूर है; उस प्रकार आत्मा पर के मैलरहित, शुद्ध, असङ्ग, निर्मल, ज्ञानमात्र है। इसका भान करना सम्यग्ज्ञान है और सम्यक् प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन किसी भेष, सम्प्रदाय या क्रिया-काण्ड से नहीं है, किसी बाह्यसाधन द्वारा नहीं है किन्तु समझ में है, उस प्रकार की स्वानुभवदशा में है। जिस प्रकार नमक का क्षाररस नमक में तन्मय भरपूर है; उस प्रकार चैतन्यभगवान आत्मा केवलज्ञानस्वरूप से भरपूर है। जीव का मोक्षस्वभाव है, ऐसी श्रद्धा एवं स्थिरता से वह प्रगट होता है। ११५, ११६, ११७, ११८ - ये चार गाथाएँ हृदय में टंकोत्कीर्ण करने – जैसी हैं। जिस प्रकार सुवर्ण सुवर्णपने से हीन, अपूर्ण या मलिन नहीं है; उस प्रकार आत्मस्वभाव नित्य, पूर्ण बेहद ज्ञान, आनन्दरूप से स्वशक्ति से सदा पूर्ण है, निरुपाधिक है।

आत्मा को बन्धरूप तथा अपूर्ण, हीन विकारी मानना, यह मिथ्यात्व है। साहूकार को चोर कहना उचित नहीं है। उस प्रकार आत्मा को पर निमित्त की उपाधिवाला, पुण्यवाला, पर का कर्ता-भोक्ता, स्वामी मानना, यह योग्य नहीं है। अतः कहते

हैं कि तू बुद्धस्वरूप है, चैतन्यप्रदेशात्मक है, नित्य, असंख्यप्रदेशी ज्ञानघन स्वभाव है; उसमें पुण्य, पाप, रागादि की उपाधि परमार्थ से (सच्चीदृष्टि से देखो तो) नहीं है। अज्ञानी संयोगों में इष्ट-अनिष्ट मानकर संयोग एवं विकार की ओर से अपने अस्तित्व को देखता है, इसलिये उसे भय है, शङ्का है, पर में ठीकबुद्धि है, निमित्ताधीन वृत्ति है। द्रव्यदृष्टिवाले ज्ञानी को असङ्ग, पूर्ण ज्ञानघनस्वभाव की प्रतीति है; अतः स्वयं निर्भय है, उसमें एक अंश भी भय या शङ्का का प्रवेश नहीं है। चैतन्य स्वरूप की पहचान करानेवाले पाँच गुणवाचक विशेषण इस गाथा में हैं, उसका वाच्यरूप पदार्थ चैतन्यघन भगवान आत्मा है। घन माने निबिड़, ठोस है; जिसमें परवस्तु का प्रवेश नहीं है। स्वचतुष्टय से अस्तिरूप एवं परचतुष्टय से नास्तिरूप, सदा अपने शिवस्वरूप ज्ञायकस्वभाव में जीव स्थित है। वर्तमान पर्याय में अपनी भूल के कारण अशुद्ध है, वह परमार्थदृष्टि में गौण है। यहाँ पर पाँच बोल में चैतन्यद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव घटाये जा सकते हैं। शुद्ध जीवद्रव्य, वह चैतन्य का अखण्ड स्वक्षेत्र है, वह अनन्त सुखनिधान है, स्वरूपानुभव द्वारा बेहद सुख-आनन्द एक-एक समय में है, वह बेहद शक्ति त्रिकाल है। वह स्वयंज्योति माने अपने में प्रकाशरूप है। घोर रात्रि के अन्धकार में भी अन्धकार के परमाणु को जानती है, यानी खुद स्वयंज्योति है; कोई भी उसे प्रकाशित नहीं करता। स्वभाव से ही तू उज्ज्वल, शोभित, प्रकाशस्वरूप है; तेरे ज्ञानप्रकाश को प्रगट होने में किसी की सहायता की जरूरत नहीं है।

प्रश्न : 'आत्मा ऐसा ही है' – इस प्रकार पहचान करानेवाले प्रत्यक्ष सद्गुरु सत्पुरुष का योग मिले, वे तो मार्ग दिखाते हैं न ?

उत्तर : सत्पुरुष को पहचाननेवाला तो स्वयं है, जागृतस्वरूप है; वह किससे जानता है ? इसका निर्णय करो। हर कोई अपने द्वारा जानता है; पर के द्वारा कोई नहीं जानता। जिसे सत्स्वरूप जानने की सच्ची जिज्ञासा है, उसे सत्समागम का योग होवे ही। जो पात्रता में आये, उसे या तो पूर्व संस्कार का स्मरण होकर ज्ञानी पुरुष का योग याद आता है और या फिर बाहर से सद्गुरु प्रत्यक्ष उपकारी निमित्त होते हैं। इस प्रकार पहचाननेवाला अपने उपकारी का उपकार भूलता नहीं है। सत् व सद्गुरु का बहुमान करे और उनको उपकारी माने परन्तु सद्गुरु को

पहचाने बिना, समझे बिना क्या उपकार हो ? सारे जीव अनेक बार साक्षात् सर्वज्ञ के समीप जाकर देह के, पुण्य के, ठाठ-बाट के दर्शन कर आये हैं। कहावत है कि **'केवली समक्ष रह गया कोरा।'** ऐसे केवलज्ञानज्योतिस्वरूप चैतन्यभगवान, वीतराग, सर्वज्ञपरमात्मा प्रत्यक्ष मिलने के बावजूद, उनको भाव से नहीं देखे, परन्तु देह से दर्शन किये। भगवान की वाणी भावपूर्वक नहीं सुनी किन्तु शब्द सुने। इस प्रकार जब तक ज्ञानी को पहचाना नहीं है, तब तक उसे स्वगुण का कोई लाभ नहीं है। अतः तैयारी, पात्रता, परीक्षाशक्ति अपनी चाहिए। आगे कहा गया है कि मुमुक्षु सत् एवं सद्गुरु की पहचान करने में परेशान नहीं होता।

पाँचवाँ बोल : तू सुखधाम, पूर्ण आनन्दमय यानी अव्याबाधसुख का धाम है। इस शिवसुख में, निरुपाधिक आनन्द में रञ्चमात्र उपाधि-बाधा नहीं है। जिस प्रकार चने में दो गुण हैं : कच्चे चने में स्वाद भरा है किन्तु अप्रगट होने से स्वाद नहीं देता, इसलिये कसैला लगता है और बोने से उगता है। परन्तु उस चने को भूना जाए तो अप्रगट स्वाद था, वह प्रगट होने से स्वाद देगा किन्तु बोने से उगता नहीं है; उस प्रकार चैतन्य आनन्दमूर्ति आत्मा का भान एवं पूर्णदशा प्रगट होने पर पूर्ण सुख प्रगट होता है और भव का बीज फिर से उगता नहीं है। मिथ्यात्व का नाश होने के बाद भवभाव का अभाव है। श्रीमद्जी ने आखिरी सन्देश में **'वर ते जय ते'** – ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह है कि साधकस्वभाव की जयकार है। उन्होंने कहा है कि –

'सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिन रात्र रहे तद्ध्यानमहीं;
परशांति अनंत सुधामय जे, प्रणमुं पद ते 'वर ते जय ते।
वर ते जय ते।'

इन शब्दों में बहुत गम्भीर भाव रहा है। पूर्ण शुद्ध ऐसा चैतन्यघन आत्मा भेदज्ञान के बल द्वारा जागृत होता है और उस प्रकार के उग्र पुरुषार्थ द्वारा पूर्ण सुखस्वरूप प्रगट होता है। जिसे शान्त मुनि आदि धर्मात्मा, यानी योगीजन चाहते हैं, उस पूर्ण स्वरूप के लक्ष्य से श्रीमद्राजचन्द्रजी ने अन्तिम सन्देश कहकर मुमुक्षुओं के प्रति परम उपकार किया है। खुद ने समाधिमरण की घोषणा में **'वर ते जय ते'** – ऐसा कहकर (जिस प्रकार कोई शास्त्र पूर्ण करते हुए पूर्ण माङ्गलिक करे, उस

प्रकार) श्रीमद्जी ने काव्यरचना में अन्तिम माङ्गलिक किया है। अपना स्वाधीन शिवसुख प्रगट करने हेतु प्रथम ही स्वरूप की श्रद्धा करो, उसे ही जानो, उसी का अनुभव करो – ऐसा कहा है। स्वयं ही पवित्र आनन्दकन्द, परमसुख की जड़ है, यह प्रगट अनुभव से प्रमाण होता है।

शक्ति-सामर्थ्यरूप से सुखधाम, सुख का क्षेत्र – यह आत्मा है। अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय बेहद आनन्द तो तेरी जाति में से ही पकता है; वह जड़ साधन से कभी प्रगट नहीं होता। चैतन्य प्रभु जागा, इसलिये उसे सभी बाह्यनिमित्त उपकारी हैं। निमित्त अपने उपादान के अधीन है, यह स्वभावदृष्टि-तत्त्वदृष्टि-परमार्थदृष्टि है; पूर्ण अखण्ड तत्त्व को विषय करनेवाली सच्ची दृष्टि है। वह तत्त्वस्वरूप आत्मा सम्यग्ज्ञान का विषय है, सच्चे ज्ञान का यह एक ध्येय है। **'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम,'** तू ही अनन्त आनन्द का क्षेत्र है **'बीजुं कहीए केटलुं ? कर विचार तो पाम।'** प्रथम द्रव्यत्व सामान्य स्वभावपना बताया; यह अखण्ड द्रव्यदृष्टि है। मोक्षस्वभाव शक्तिरूप है परन्तु पर्याय से प्रगट नहीं है। यदि अवस्था से भी शुद्ध होवे तो उपदेश आदि व्यर्थ सिद्ध हो और साधने का पुरुषार्थ भी रहे नहीं। अब इसका साधन यह है कि **'कर विचार तो पाम'**, मतलब कि जो स्वभाव तूने माना है, उसके ज्ञान को सघनकर, उस स्वरूप के विचारों का घोलन कर; जैसा है, वैसा जान, जानकर भरोसा कर, उस श्रद्धा को विचार एवं रागरहित ज्ञान में स्थिर कर; उसकी रुचि के विचार में जम जा, उसके कारण का सेवन कर; जिस स्वभाव में पूर्ण शक्ति भरी है, उसकी प्रगट अवस्था को प्राप्त कर। अन्य कोई मार्ग नहीं है; ज्ञान के अलावा कोई उपाय नहीं है। जो स्वभाव है, उसका ज्ञान व उस ज्ञान की क्रिया कर तो मोक्ष को प्राप्त हो। मोक्ष एक अवस्था है, जो सिद्धदशा शक्तिरूप से है, उसे प्रगट करके इस शिवस्वरूप परमसुख को प्राप्त करेगा। उस प्रकार के सत्साधन द्वारा तू उस पद को प्राप्त करेगा। अधिक क्या कहना ? थोड़ा कहा, बहुत करके मानना। इस प्रकार तेरे स्वभाव की बात है, इसे बहुत तरह से कही है। पूर्णता के लक्ष्य से पूर्ण में जम जाने का प्रयत्न कर, यह साधन कहा। **११७.**

उपर्युक्त निर्णय सभी ज्ञानियों को है, ऐसा कहकर विषय को पूरा करते हैं –

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र समाय;
धरी मौनता एम कही, सहजसमाधि मांय।। ११८।।

निश्चय सब ही ज्ञानी का, आकर यहाँ समाय।
यों कहकर धरि मौनता, सहज समाधि थाय।।११८।।

इस परमपदप्राप्ति का उपाय व उपेय, साधन व साध्य जिस तरह कहे हैं, उस तरह जाने और अन्दर स्थिर हो तो इस आत्मभगवान को सभी दोष तथा अशुद्ध योग का घुटन होने पर अयोगीदशा हो जाती है, ऐसा निर्णय प्रथम आता है। इस न्याय में (भाव में) अनन्त ज्ञानियों का निश्चय संक्षिप्त में समाविष्ट किया गया है। सभी ज्ञानियों का अविरोध निर्णय यहाँ आकर समा जाता है। जो-जो निर्णय कहे, वे सब आत्मधर्म के लक्ष्य का अनुसरण करके कहे हैं। अनन्त ज्ञानियों का एक मत (अभिप्राय) है और एक अज्ञानी जीव के अनन्त मत हैं। अज्ञानियों के सभी मत मिथ्या होते हैं। मिथ्यात्वकर्म, मोहकर्म के अनन्त परमाणु के विचित्र रस में जुड़ने से असंख्यात प्रकार के अध्यवसाय उपजते हैं। इसमें अज्ञानी जीव अपने अभिप्राय को अनन्त प्रकार से खण्डखण्ड करता है। वस्तुस्वरूप त्रिकाल एकरूप ज्ञायक ही है; सहज स्वभाव में विपरीतता, मलमैल, दोष या असहजता नहीं है।

इस गाथा में कहते हैं कि सभी ज्ञानियों का निश्चय यहाँ समाविष्ट है। ऐसा कहकर सद्गुरु सहजसमाधि में स्थिर हुए, वाणीयोग रुक गया। मैं दूसरे को समझाऊँ, ऐसे विकल्प का शमन हो जाता है, और सद्गुरु स्वरूपस्थित होते हैं। इस प्रकार वे सहजसमाधि में लीन हुए। वचनवर्गणा के परमाणु की योग्यता थी, उतने वचन निकले। इसमें श्रीगुरु ने कुछ किया नहीं है, सर्वज्ञदेव तीर्थङ्कर भगवान की परमकल्याणक वाणी के रजकण स्वयं उस रूप परिणमित हो जाते हैं। सर्वज्ञ अरिहंत भगवान के योगबल का निमित्त पाकर सहज ही दिव्यवाणी खिरती है और उसके निमित्त से लाखों तैयार हुए पात्र जीवों का कल्याण होता है। उनकी वाणी भी

सहज आती है और सहज रुक जाती है। **११८.**

अब, शिष्य को बोधबीज की प्राप्ति में स्वरूप का अपूर्व आह्लाद होता है। उसके अन्तरङ्ग घोलन को वाणीयोग में प्रदर्शित करता है। इससे शिष्य के स्वभाव की खिलवट होती है। पूर्ण साध्य की पहचान हुई, इसलिये जिस प्रकार बीज प्रगट हुआ, उस बीज में से अंकुर फूटकर वृक्ष होता है। उस प्रकार 'पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत होने पर वर्तमान में पूर्ण स्वभाव पर दृष्टि करके पुरुषार्थसहित अन्तर के वेदन की गूँज जाहिर करता है' –

सद्‌गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान;
निजपद निजमांही लह्युं, दूर थयुं अज्ञान।। ११९।।

सद्‌गुरु के उपदेश से, आया अपूरव भान।
निजपद निज में अनुभवे, दूर हुआ अज्ञान।।११९।।

'सद्‌गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान' – इस प्रकार निमित्त व उपादान बताये। **'जे स्वरूप समज्या विना पाम्यो दुःख अनंत, समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्‌गुरु भगवंत'** इस प्रकार कारणकार्य में निमित्तकारण व उपादानकारण आ जाता है। शिष्य के उपादान की तैयारी हुई, इसलिये निमित्त मिले बिना रहेगा नहीं। इसमें उपादान की बलवानता का स्वीकार है, फिर भी शिष्य तो गुरु का ही उपकार स्वीकार करे – ऐसा लोकोत्तर विनयमार्ग है। सद्‌गुरु के उपदेश से अपूर्व (यानी पूर्व के अनन्त काल में कभी नहीं आया ऐसा) भान आया, आत्मज्ञान, स्वानुभवदशा प्रगट हुई। अपूर्व माने पूर्व में अनन्त बार नौ पूर्व जितना शास्त्रादि का जानपना किया, पुण्यपरिणाम अनन्त बार किये, फिर भी अपूर्व ऐसे निजस्वरूप का प्रगट अनुभव हुआ नहीं था। सद्‌गुरु के उपदेश से अपना ज्ञाता, निर्दोषस्वरूप अपने अन्दर यथातथ्य भासित हुआ और देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान दूर हुआ। **'निजपद निजमांही लह्युं।'** पूर्णस्वरूप का लक्ष्य, यह कारण और आत्मा का अपूर्व भानरूप कार्य। यहाँ सहकारी

निमित्तकारण सद्गुरु का उपदेश होने पर '**दूर थयुं अज्ञान**' शुभाशुभभाव जड़ की क्रिया आदि में अहंत्व-ममत्वबुद्धि – ये सब देहभाव हैं; यह देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान दूर हुआ। **११९.**

अज्ञान दूर होने पर क्या हुआ ? – यह अब शिष्य कहता है –

भास्यु निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप;
अजर अमर, अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप।। १२०।।

प्रतिभासे निज-स्वरूप वह, शुद्ध चेतना रूप।
अजर अमर अविनाशी अरु, देहातीत स्वरूप।।१२०।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूप की एकाग्रता, वह चारित्र (धर्म), उसमें अन्य कुछ भी नहीं आया। अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी और देह से भिन्न, पुण्य-पाप, राग-द्वेष, मोह-भ्रमणा आदि सबसे भिन्न, अत्यन्त भिन्न भासित हुआ। अनादि अनन्त, भिन्न, स्वाधीन निजतत्त्व को शुद्ध चेतनामय देखा।

जीव देह-इन्द्रियरहित स्वाधीनतत्त्व है; अतः संसार, देहादि के किसी कार्य को करनेरूप उसका स्वभाव तीन काल में नहीं हो सकता। वह केवलज्ञान एवं निराकुल शान्ति से पूर्ण होवे ही, ऐसी अपूर्व महिमा देखकर मैं निःसन्देह पूर्ण, पवित्र, स्वाधीन, असङ्ग ज्ञायकस्वरूप हूँ, ऐसा स्वानुभव होने पर उसकी घोषणा निम्न गाथा में शिष्य करता है। १२०.

दिनाङ्क - २४-११-१९३९

यहाँ शिष्य अपने स्वानुभव की घोषणा करता है –

कर्ता-भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्ते ज्यांय;
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्ता त्यांय।।१२१।।

कर्ता-भोक्ता कर्म का, विभाव वर्ते जहाँ।
वृत्ति बही निजभाव में, हुआ अकर्ता वहाँ।।१२१।।

विभाव, मिथ्यात्व विद्यमान है, वहाँ मुख्यरूप से अशुद्धनिश्चयनय से विकारीभाव का कर्तापना-भोक्तापना जीव को है। वहाँ मन, वाणी, देह, पुण्यत्व-पाप-रागादि, पर में अहंत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व मान्यतारूप में विद्यमान है परन्तु उस विपरीत मान्यता को त्रिकाली, निर्भय, अभूल स्वभाव के भान द्वारा टालकर यानी शुद्धात्मस्वरूप में वृत्ति बही – इसलिये जीव अकर्ता हुआ। बाहर से कुछ करूँ तो मुझे गुण होगा; पुण्य से, राग से, क्रिया से मेरा हित होगा, इत्यादि अनेक प्रकार से परवस्तु में जो सुखबुद्धि थी, उस भूल को जानकर, यथार्थ स्वरूप का भान होने पर, स्वरूपसन्मुख वृत्ति हुई; इसलिये वह पर का अकर्ता हुआ। शिष्य को आत्मज्ञान, (बोधबीज) प्रगट होने पर अपना अनुभव कथन द्वारा कहता है **'भास्यु निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप; अजर अमर अविनाशी ने देहातीत स्वरूप।'** मिथ्यादर्शनशल्य, पुण्य-पाप रागादि, देहादि के प्रति अहंत्व, ममत्व और कर्ता-भोक्तापना है, उसे विभाव कहते हैं परन्तु **'वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्ता त्यांय'** – इस प्रकार विभाव टलता है। अज्ञान के कारण से उपयोग परभाव में बह रहा था, उस उपयोग को बदलकर, अपने सहज शुद्धस्वरूप में परिणमित किया; वह उपयोग पर का साक्षात् अकर्ता है। **१२१.**

अब, शिष्य अपना निर्विकल्प स्वरूप बताता है :-

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप;
कर्ता-भोक्ता तेहनो, निर्विकल्प स्वरूप।। १२२।।

अथवा निज-परिणाम जो, शुद्ध चेतना रूप।
कर्ता-भोक्ता उसहि का, निर्विकल्प स्वरूप।।१२२।।

अज्ञानभावपूर्वक परभाव का, देहादि तथा शुभाशुभ उपाधिभाव का कर्ता-भोक्ता हुआ था; वह स्वाधीनतापूर्वक, अभूलस्वभाव से, अबन्धभाव से पर का अकर्ता हुआ। अवस्था में परभाव के कर्ता-भोक्तारूप अज्ञान द्वारा भूलरूप मान्यता की थी, वह अभूलरूप स्वभाव के ज्ञातारूप से मिटा दी। इस प्रकार अपने सहजस्वरूप का निर्विकल्परूप से जीव कर्ता-भोक्ता हुआ। आत्मा में ही अभेदनय से अनादि-अनन्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व है किन्तु स्वयं अपने सत्स्वरूप को भूलकर, पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व माना था; इसलिये विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान, व विपरीत चारित्र था। इस प्रकार जीव राग-द्वेष का कर्ता और सुख-दु:खरूप कल्पना का भोक्ता हुआ था परन्तु जब **'भास्यु निजस्वरूप ते शुद्ध चेतनारूप'** यानी आत्मा की यथार्थ प्रतीति (सम्यग्दर्शन) और सम्यग्ज्ञान होने पर अपना स्वरूप पूर्ण कृतकृत्य, निरुपाधिक जैसा था, वैसा जाना। इस अभेदस्वरूप में पर का कुछ करना या भोगना नहीं है; जो कुछ करना या भोगने का है, वह स्वजाति का ही है। वह निरालम्बन सहजस्वभाव का कार्य है। ज्ञान की (ज्ञाताशक्ति की) निर्मलता में होना, करना, रमण करना, टिकना, जमना, यह ज्ञानक्रिया का कर्तव्य है। इस अवस्था (पर्याय) के पूर्ण होने पर अव्याबाध अनन्त सुख का भोक्तृत्व है। पहले जो राग-द्वेष का कर्ता और कलुषित उपाधिभाव का, हर्ष-शोक का सुख-दु:खरूप से भोक्ता अपने को माना था, उस भूल को टालकर निजस्वभाव में स्थिर हुआ, यानी **'वृत्ति वही निजभावमां थयो अकर्ता त्यांय'** - इस प्रकार सम्यग्दर्शन हुआ, यानी आत्मा ज्ञानस्वरूप है,

अखण्ड शुद्ध चेतना है; ज्ञान की चेतना में चेतना यानी ज्ञान में एकाग्र होना, ऐसा भाव प्रगट होता है। इस सम्यग्दर्शन के होने पर अपने स्वभाव में स्थिति हुई। निज परिणाम में टिकना, यह कर्तव्य है; है, वैसी ही दशा प्रगट करने का कहा जाता है।

शुभाशुभ रागादि परिणाम, यह अशुद्ध चेतना है। सत्य बोलने के या अहिंसा के परिणाम पुण्यपरिणाम है और असत्य बोलने के या हिंसा के परिणाम पाप के परिणाम है। दोनों तरह के भाव शुभ-अशुभराग की अशुद्ध परिणति हैं, मोहकर्म के उदयजन्य भाव हैं। यह जीव का लक्षण नहीं है। मैं परजीव को दुःख न दूँ, मैंने उसको नहीं मारा, मैंने उसके प्रति दया का पालन किया – ऐसे शुभपरिणाम भी चेतनागुण से विपरीत कषायभाव हैं। ये अज्ञानी की दृष्टि में होते हैं क्योंकि उस कर्मभाव को अपना मानना, यह स्वरूप की हिंसा है। मन की शुभवृत्ति या दया करने के परिणाम भी शुभराग है, वह मोहकर्म का भाव है; उसे गुणकर या सुखकर मानना महा-अज्ञान है। अतः शुभ हो या अशुभ हो, ये सब पुण्य-पाप बन्धक अशुद्धपरिणाम हैं। उसे ठीक माने, मनवाये या सही जाने, वह अज्ञानी है। आत्मा विभावपरिणाम से रहित है। अतः '**निज परिणाम जे शुद्धचेतनारूप**' है, वही उपादेय है। मन, वाणी, देह की क्रिया, पुण्य, पाप या शुभराग का कर्तव्य, जीव का मानना मिथ्या है, भ्रमणा है। एक परमाणुमात्र के सम्बन्धरहित जो शुद्ध चेतना का स्वरूप परमार्थ से है; वह जैसा है, वैसा यहाँ कहा है। श्रीमद्जी ने अपने घर की कोई बात नहीं कहीं किन्तु अनन्तज्ञानियों द्वारा जो सम्मत है, वह कहा है। फिर भी कई जीव आक्षेप करते हैं कि इसमें तो क्रिया का उत्थापन होता है परन्तु जो कोई वीतराग ज्ञानी पुरुष के आशय को समझा नहीं है, वह मिथ्या आक्षेप करता है। अनन्त ज्ञानियों का आत्मा और यह आत्मा कुछ दूसरी तरह का नहीं है। ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा ज्ञानपिण्ड है; वह जाने किन्तु पर का क्या करे ? जीव का लक्षण चेतना है। वह अपनी स्वशक्ति छोड़कर अन्यथा परिणमन करे, ऐसा मानना मिथ्या है। चेतना मतलब जानना, उसमें दुःख नहीं है, उपाधि नहीं है तथा पुण्य-पाप या राग-द्वेष करने का जीव का स्वभाव नहीं है। देह में कुछ प्रहार हो, पीड़ा हो, उसकी वेदना जीव को होती है – ऐसा जीव

मानता है परन्तु वास्तव में तो वह राग व ममता का दुःख है; आत्मा में कुछ नहीं होता। अगर देह के टुकड़े हो जाए, इसका दुःख होता हो तो मुनि धर्मात्मा को दुःख होना चाहिए। आत्मा अरूपी है, किसी शस्त्र से पकड़ा नहीं जाता किन्तु अनादि से देहात्मबुद्धि में पकड़ा गया है; अतः मैं पकड़ा गया हूँ, मैं मारा गया हूँ, ऐसा मानता है। शरीर के रजकणों का स्वभाव है, इसलिये संयोग-वियोग अनुसार गलना-मिलना होता है; छेदन, भेदन, पलटना स्वयं अपने-अपने कारण से होता है। पुद्गल के अनन्त रजकण पिस जाए, उसे आत्मा जाने। कोल्हू में मुनिराज के देह के रजकण पिस गये, इससे मुनिराज को कुछ दुःख नहीं है। दुःख तो मोहभाव में है। श्रेणिक महाराजा नरक में हैं, वहाँ वे दुःख नहीं भोग रहे किन्तु अपने आत्मा की शान्ति का अनुभव करते हैं।

श्रीमद्जी ने कहा है कि '**प्रथम देहदृष्टि हती तेथी भास्यो देह,** (देह में शुभाशुभ राग तथा परद्रव्य समझ लेवे) **हवे दृष्टि थई आत्मामां गयो देहथी नेह** (प्रेम)।' पहले देह की दशा में फेरफार होने पर यानी रोग होने पर, स्वयं देह के भाव से कर्ता-भोक्ता होता था। उस अशुद्धचेतना की एकाग्रता छूटी, वहाँ शुभ-अशुभ रागादिरूप अशुद्धपरिणाम से छूटकर शुद्धचेतना का कर्ता-भोक्ता हुआ। यह सम्यग्दर्शन का लक्षण है, समकिती का स्वरूप है; इसमें अन्य कुछ करने का नहीं आया। इस प्रकार यह कोई बहुत ऊँची बात नहीं है परन्तु जैनदर्शन-मोक्षमार्ग का प्रथम अङ्क (शुरूआत) है। इसके अलावा अन्य कुछ मानना, यह मिथ्या मानना है। **११२.**

शिष्य सर्वज्ञ वीतराग भगवान का कहा हुआ मोक्षमार्ग समझा, उसका प्रमोद व्यक्त करता है और कहता है कि -

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ;
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रंथ।। १२३ ।।

मोक्ष है निज-शुद्धता, हो जिससे वह पन्थ।
समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।।१२३।।

सद्गुरु के प्रति शिष्य कहता है कि आत्मा की पूर्ण शुद्धता माने, उसकी सर्वोत्कृष्ट पूर्ण पवित्रदशासहित, यथार्थ स्वरूप आपने संक्षिप्त में साररूप में समझाया। उस स्वरूप की समझ, प्रतीति एवं साधन तीनों अभेदरूप आत्मा ही है। आत्मा आनन्दघन, शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा है। उसमें पुण्य, पाप, राग, मल, मैल, आदि की क्रिया नहीं है। मिथ्या अभिप्रायरहित आत्मा की पूर्ण कृतकृत्य मोक्षस्वभाव की प्रतीति (श्रद्धा), उसका नाम सम्यग्दर्शन है। समस्त परद्रव्य से भिन्न, स्वाधीन, पवित्र, ज्ञायक, पूरा आत्मा, उसका ज्ञान और उस ज्ञान में टिके रहना, जमना, एकाग्र होना, वह चारित्र; उसका नाम व्रत -प्रत्याख्यान है, आत्मधर्म है, संवर है, प्रतिक्रमण है; इसके बिना धर्म नहीं है। इसके अलावा सारे चारित्र आदि बाह्य हैं, पर हैं, कर्मभाव हैं, बन्धभाव हैं। मैं कौन हूँ, इसकी पहचान नहीं है तो किसमें स्थिर होवे ? स्वभाव में प्रवर्तन का नाम व्रत है। स्वस्वरूप का अविरोधभान तो है नहीं तो कहाँ प्रवर्तन करे ? भान बिना जड़भाव में, बन्धप्रसङ्ग में ही प्रवर्तन करेगा। शुद्धता की श्रद्धा, शुद्धता का ज्ञान और वैसा प्रवर्तन, यही मोक्षमार्ग है। ऐसा निर्ग्रन्थ सर्वज्ञ भगवान तीर्थङ्कर परमात्मा का प्ररुपित मार्ग हे गुरुदेव ! आपने संक्षेप में समझाया। इसके अलावा तीर्थङ्कर वीतराग का अन्य कोई मार्ग नहीं है। वीतराग की आज्ञा के नाम से जो कोई ज्ञान के अलावा अन्य कुछ कहे, उसे कर्मभाव, बन्धभाव, अज्ञानभाव समझना। तीनों काल के अनन्त ज्ञानियों का एक ही मत है, जिसमें राग-द्वेष या अज्ञान नहीं है, ऐसा निर्ग्रन्थ वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग तीनों काल में एक ही होता है। अनन्त ज्ञानी भगवन्तों का क्या कहना है ? इसका आशय समझे बिना जो कोई एक तत्त्व में दूसरा कर्तव्य मिला देता है, वह निमित्त की खतौनी आत्मा में करता है, वह मिथ्यात्वी है। सर्वज्ञ वीतराग को समझे बिना बाहर से अन्यथा मान रहा है। जैनदर्शन सनातन निर्ग्रन्थ धर्म है। तीनों काल यह एक ही धर्म जयवन्त है। २४वें तीर्थङ्कर श्रीमहावीर भगवान के बाद १६५ वर्ष पश्चात् बारह साल तक अकाल पड़ने से दो तरह के मत भिन्न-भिन्न हो गये; यह पञ्चम काल हुण्डावसर्पिणीकाल की महिमा है। इसमें वीतराग के नाम से अन्यथा माननेवाले बहुत हैं। इस विभाव मान्यतारूप भूलदशा को मिटाकर शुभ-अशुभरहित, शुद्धभाव में टिके रहना ही मोक्षमार्ग है। आत्मा की सच्ची प्रतीति हुई, फिर भी शुद्धता

में स्थिरतापूर्वक, एकाग्रतापूर्वक टिका न जा सके, यह अलग बात है। यह चारित्र की निर्बलता है किन्तु वहाँ दर्शन सम्बन्धित दोष नहीं है; अभिप्राय में तो निःशङ्कता रहती है। शुभ व अशुभभाव, दोनों अशुद्ध अध्यवसाय हैं, वह कर्मभाव हैं; वे मेरे नहीं हैं क्योंकि खुद का शुद्धस्वरूप पर से भिन्न, अपने आप में निश्चयरूप से भासित हुआ है। जो दया करने के शुभ व हिंसा करने के अशुभपरिणाम को तथा देहादि कार्य को अपना मानता है, उसे अपने सत्स्वरूप का अनादर है। यह अनन्त ज्ञानियों की अशातना है क्योंकि उसने आत्मा को रागवाला माना, उसमें ठीक माना, उसे कर्तव्य माना। **'कर्ता का इष्ट, सो कर्म।'** कर्ता अपना प्रिय जो कर्म (कार्य) है, उसे कैसे छोड़े ? नहीं छोड़ सकता। अत: जिसे देहादि में कर्तापने की रुचि है, उसे पवित्र वीतरागी आत्मा की रुचि ही नहीं होती, यानी अरुचि, द्रोह होता ही है। जिसने सत्समागम द्वारा सद्गुरु के उपदेश से अपने पूर्ण, शुद्ध आत्मा को असङ्ग, अबन्ध, एकरूप ज्ञातारूप से स्वीकार किया, उसने सत्स्वरूप देव, गुरु, धर्म का स्वीकार किया है। इसमें आत्मा स्वाधीन शुद्ध है, इसका भी स्वीकार हुआ। अनन्त निर्ग्रन्थ भगवन्तों का स्वभाव अपने से, अपने द्वारा जाना; अत: अपने अन्दर जागृत होकर कहा कि **'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ, समजाव्यो संक्षेपमां सकळ मार्ग निर्ग्रंथ'** निर्दोष वीतराग पुरुषों का कहा हुआ या माना हुआ आत्मा के त्रिकाली धर्म का स्वीकार किया, यानी स्वयं का भी इसमें स्वीकार हो गया। जिस प्रकार दूज का चन्द्रमा उदित हुआ, वह तीन प्रकार एक साथ दिखाता है – दूज दिखती है, पूरा चन्द्र दिखता है, कितना खिलना बाकी रहा, यह भी दिखता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन होने पर पूर्ण की प्रतीति, उस प्रकार का कितना गुण प्रगट हुआ और कितना बाकी रहा ? यह एक साथ जानने में आता है।

'समजाव्यो संक्षेपमां' यानी सकल मार्ग का सार समझाया। इस पञ्चम काल में धन्य-धन्य अवतार ! आयुष्य अल्प, इसमें आप श्रीगुरु भगवान मिले। इससे मुझे अपूर्व आत्मभान आया कि मेरा निश्चयपूर्वक मोक्ष है। शिष्य का भक्तिभाव, उत्साह उमड़ रहा है, आह्लाद आ रहा है, आत्मप्रमोद प्रगट हो रहा है। जिस प्रकार सूर्य को देखते ही सरोवर में रहनेवाला सहस्रमुखी कमल विकसित होता है; उस

प्रकार भक्तहृदय श्रीसद्गुरु भगवन्त को देखकर प्रफुल्लितभाव से भक्ति करने में उल्लसित होता है और साधक स्वभावपूर्वक बहुमान करता है। **१२३.**

शिष्य यहाँ पर श्रीसद्गुरुभगवान का उपकार प्रदर्शित कर रहा है –

अहो ! अहो ! श्री सद्गुरु, करुणा सिंधु अपार;
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो ! उपकार।।१२४।।

'गुणवंता ज्ञानी, अमृत वरस्यारे पंचम काळमां'.............

अहो ! अहो ! श्री सद्गुरु, करुणा-सिन्धु अपार।
इस पामर पर प्रभु किया, अहो ! अहो ! उपकार।।१२४।।

अनन्त बार वीतराग की आज्ञा और निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से विपरीतमार्ग का सेवन किया, उस भूल को निर्दोष, अभूलस्वभाव के भानपूर्वक टालने से अपूर्व आत्मज्ञान प्रगट हुआ है। इसमें चार-चार बार 'अहो' आता है। अतीन्द्रिय आनन्दामृत के सागर पञ्चम काल में उछले हैं। अहो ! आश्चर्य ! अहो !!

अपने पुरुषार्थ को उठाने हेतु स्वच्छन्द का त्याग करके, शिष्य अर्पित हो जाता है! इस अर्पणता में ही लोकोत्तर विनय की अपूर्व महिमा है। यह लायक शिष्य है। वह कहता है कि हे ! परम कृपालु सद्गुरुदेव ! अहो ! करुणा के अपार समुद्र स्वरूप आत्मलक्ष्मीवन्त आप प्रभु ने इस पामर पर आश्चर्यकारी परम उपकार किया है। मन के इस परिणाम द्वारा आपका उपकार मैं किस प्रकार गाऊँ ? वाणी से भी कितना कह सकूँ ? मात्र विकल्परहित स्वभाव में स्थिर हो जाऊँ, समा जाऊँ – यही कृतकृत्यता है। हे श्रीगुरु ! आपकी निष्कारण, अकषाय करुणा अपार सिन्धु समान है। मेरे अन्दर अनन्तगुनी पामरता दिख रही है परन्तु उस पामरता के साथ अनन्त गुण का भान है और बेहद वीर्य का उछाल है, पुरुषार्थ है।

करुणा के दो प्रकार हैं। एक प्रशस्त विकल्प, उसमें भी अस्थिरता से छूटकर निर्विकल्प स्थिरता के आसार है और दूसरा प्रकार पूर्ण वीतरागस्वरूप अरिहंत परमात्मा,

तीर्थङ्कर आदि सर्वज्ञदेव, जिनको अकषायकरुणा है। अपना पुरुषार्थ उठाने हेतु उपकारी को पहचानकर, उनमें उपकारीपने का आरोप किया जा सकता है, उसमें सत् का बहुमान है। श्रीमद्जी का सम्यग्दर्शन के लिये एक पत्र है कि **'हे सर्वोत्कृष्ट सुख के हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यन्त भक्ति से नमस्कार हो ! हे श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ! आपके वचन भी स्वरूपानुसन्धान में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं, इसके लिये मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ !'** इसमें अनन्त गुण का तथा परम उपकारी को पहचानकर सत् का बहुमान लाकर अपनी पामरता (निर्मानता) का वर्णन किया है। सद्गुरु से अहो ! अहो ! दो बार कहा है और उपकार में दो बार 'अहो' शब्द है, यह अपूर्व आश्चर्य दिखाया है। जिस प्रकार निर्धन को कोई लाख रुपये दे दें तो उसे कैसा हर्ष होवे ? वह तो विकारीभाव है परन्तु यहाँ तो अतीन्द्रिय, निराकुल आनन्द है। उपकार समझनेवाला, उपकारी का बहुमान करता है; इसमें खुद के गुण का आदर है। गुण प्रगट हुआ, इसलिये निर्मानता प्रगट हुई। स्वच्छन्द मिटाकर स्वाधीनता प्रगट हुई, इसलिये गुरुभक्ति का महामान उछले बिना रहता नहीं और श्रीगुरु का उपकार भी आयेगा ही। गुण तो अपने में से प्रगट करना है किन्तु छद्मस्थ अल्पज्ञ होता है, तब तक अल्प प्रशस्तराग रहता है और इसके साथ में विकल्प के अभावरूप पुरुषार्थ होता है। श्रीगुरु को अकषायकरुणा है, ऐसा समझकर सद्गुरु को साक्षात् भगवान कहने में विरोध नहीं है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २५-११-१९३९

अब, शिष्य आनन्द में आकर 'क्या कहूँ, क्या अर्पण करूँ' – ऐसा कहता है -

शुं प्रभुचरण कने धरुँ, आत्माथी सौ हीन;
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन।।१२५।।

क्या प्रभु-चरणों में धरूँ, आत्मा से सब हीन।
वह तो प्रभु ने ही दिया, रहूँ चरण आधीन।।१२५।।

हे ! श्रीसद्गुरुभगवन्त ! आप तो अनन्त उपकारी हैं, मैं आपके चरणों में क्या अर्पण करूँ ? सद्गुरु परम निष्काम है; जिन्होंने आत्मा दिया, उनके चरण समक्ष अन्य क्या रखूँ? उन प्रभुजी के चरणाधीन रहूँ, इसी में ही सच्चा विनय है। शिष्य यों नहीं कहता कि मेरे उपादान की तैयारी थी, इसलिये मुझे वाणी का योग हुआ; मेरे पुण्य थे, इसलिये वे निमित्त हुए। ऐसी भाषा या ऐसा विकल्प भी नहीं होता बल्कि नम्रतापूर्वक वह नतमस्तक होकर झुका हुआ रहता है।

सद्गुरु उपदेश के दाता हैं, वह उपचार कथन है। वीतराग को कोई राग या इच्छा नहीं होती; यह जीव धर्म प्राप्त करे तो ठीक – ऐसा विकल्प भी नहीं होता। यदि इतना विकल्प भी होवे तो वह वीतराग नहीं है। शुभराग की अल्पवृत्ति भी कषाय परिणामरूप अशुद्धभाव है किन्तु निष्कारणकरुणा श्रीसर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान को है, ऐसा भक्तजन आरोप करते हैं। उनको किसी के ऊपर दया का विकल्प तथा उपदेश देने का शुभ रागभाव नहीं है किन्तु पूर्व पुण्य के उदय से वाणीयोग होता है। वीतराग भगवान बोलते नहीं, वाणी सहज छूटती है। सुननेवाले के पुण्य का योग है। निश्चय से ऐसा है, फिर भी शिष्य समझकर खुद पर अनन्त उपकार का इष्ट निमित्त मानकर उनका अत्यन्त बहुमान, विनय करता है। गणधरदेव भी

कहते हैं कि हे सर्वज्ञ भगवान! आपने अनन्त उपकार किया है। भगवान को उपकार का विकल्प भी नहीं है, फिर भी भक्त अपना पुरुषार्थ इस निमित्त से उठाते हैं और विनय करते हैं, सत् का बहुमान करने हेतु अन्तर से उछल पड़ता है। अपना पुरुषार्थ उठाता हुआ, कषाय मिटाता हुआ, स्वरूपभक्ति का पुरुषार्थ उछालकर, बेहद स्वभाव का प्रमोदभाव व्यक्त करता है कि हे नाथ ! आपने मुझे आत्मा दिया, आप अकषायकरुणा के दातार हो। आप तारनेवाले तीर्थस्वरूप हो। इस प्रकार उपकारी का उपकार हृदय में समझता हुआ, वीतराग के स्वरूप को पहचानकर सत् का बहुमान करता है। अनन्त काल की अशान्ति, भूल मिटी और परमशान्ति का अन्तरवेदन प्रगट हुआ; इसलिये जहाँ देखे, वहाँ ज्ञानी का उपकार देखता है; अन्य कुछ नहीं देखता। विकल्प में बैठा होवे, षट् आवश्यक क्रिया का ज्ञान करता होवे; फिर भी वह सत् का विनय करता है, आदर करता है। शास्त्र में व्यवहार से, निमित्त से वाणी बोली जाती है। जिस प्रकार घी का डिब्बा कहा जाता है, उस प्रकार वीतराग के ऊपर अपने भाव का आरोप करके वाणी में जो आ सके, वह सब कुछ कहा जा सकता है। पुरुषार्थ उठाता हुआ, निमित्त में उपचार करके अपना विनय, भक्तिभाव उठाता है। धर्मात्मा अन्तर में विवेक समझकर तीर्थङ्कर, सद्गुरुदेव आदि वीतराग सत्पुरुषों का बहुमान करते हैं। देव, गुरु, धर्म सत्स्वरूप हैं; निर्दोष वीतराग हैं। सत् का आदर है, वह (वास्तव में तो) अपने इष्टगुण का आदर है। ये तीनों वीतरागस्वरूप हैं। वीतराग की भक्ति प्रशस्तराग है, फिर भी वह राग का राग नहीं है। किसी भी राग को सर्वथा हेय (त्यागने योग्य) मानते हैं, फिर भी जब तक अधूरी साधकदशा है, तब तक प्रशस्तराग हो जाता है। सम्यग्ज्ञान की ऐसी महिमा है कि तीन लोक उसे अनुकूल है; सत्स्वरूप साधक को कोई चीज़ बाधक नहीं है।

शिष्य को सच्चे स्वरूप की, बोधबीज की प्राप्ति हुई; अतः सद्गुरु का महामान करता है, निर्मानता द्वारा पुरुषार्थ का वीर्य उल्लसित होता है और स्वरूपभक्ति में सद्गुरु को ही कल्याणकारी बताता है। '**नमोत्थुणं**' स्तुति में आता है कि हे प्रभु! आप '**जीवदयाणं**' हो, आपने ही मुझ जीव दिया है। इस प्रकार अपने गुण का आरोप करके, सद्गुरु को अनन्त उपकार के करनेवाले बताता है। स्थिरता

के प्रति बहुमान, यह पूर्ण स्वरूप की स्थिरता का प्रेम है और अनन्त काल में आत्मपने का भान नहीं था, वह आपने ही यथातथ्य बताया। मैं जड़ ही था, इस जड़ता को पलटकर आपने ही मुझे जीवत्व, 'आत्मा' दिया। मैं अपने आप को भूलकर, पुण्य-पाप रागादि में अपनत्व की कल्पना करके परवस्तु में चेतनधर्म मानता था। इस भूल को मिटाकर आत्मा को ऐसा जाना कि मैं तो शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन हूँ, स्वाधीन हूँ – इस प्रकार सम्यग्ज्ञान हुआ; वह आपकी करुणा के प्रताप से ही है।

'मैं' आत्मा बना; अतः आप ही '**जीवदयाणं**' हो। स्थिरता, रमणतासहित, पूर्ण स्वरूप का लक्ष्य रखकर, सद्गुरु की शरण में खड़ा रहकर, विकल्प तोड़कर समग्र पूर्ण स्थिरता की भावना करता हुआ, रुचि करता हुआ, स्पर्शन करता हुआ, शिष्य केवलज्ञान के आसार देख रहा है और कहता है कि आपके चरणों के अधीन रहूँ, यानी जैसा स्वरूप है, वैसी श्रद्धा, ज्ञान व ज्ञान की एकाग्रतारूप स्वचारित्र में रमणता करूँ। आपके चरणकमल में रहूँ – यह उपचार है परन्तु उपकारी का अनहद उपकार आये बिना नहीं रहता। अतः शिष्य अनन्त गुण के निधि सद्गुरु समक्ष, अपनी दीनता बताता है। उसी समय साथ में अनन्त शक्ति का भान भी है परन्तु जिसे चैतन्य आत्मा कैसा है, कितना बड़ा है ? – इसकी पहचान नहीं है और कहे कि हम आत्मा हैं, ऐसा हमें क्या पता नहीं होगा? इस तरह झूठा दावा करते हैं। वे आत्मा के नाम से मन, वचन, काय, यानी योग की क्रिया में शुभपरिणाम में धर्म मानकर सन्तुष्ट हो गये हैं; उनको सही बात समझने का अवकाश नहीं रहता। वह भक्ति करता है तो भी राग की, कषाय की भक्ति करता है। बिना भान भक्ति किसकी ? यहाँ पर शिष्य समझने के बाद अन्दर में विवेक, जागृतिसहित सद्गुरु का (सत् का) विनय करता है। हे नाथ ! आपने ही आत्मा दिया। खुद ने जाना कि एक परमाणुमात्र मेरा नहीं है; अतः मन, वचन, काया आदि देहभाव से रहित होकर आपकी आज्ञा में रहूँ। परमात्मा का सेवक परमात्मा – जैसा ही होता है। जिन भावों द्वारा आप पूर्णदशा को प्राप्त हुए, उस भाव से मैं भी आपकी आराधना द्वारा अकेला चला आ रहा हूँ। **१२५.**

यहाँ पर शिष्य प्रभु के अधीन रहने की भावना करता है :-

आ देहादि आजथी, वर्तो प्रभु आधीन;
दास, दास, हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दिन।। १२६।।

यह देहादि आज से, वर्तो प्रभु आधीन।
दास, दास, मैं दास हूँ, आप प्रभु का दीन।।१२६।।

अब, यह देहादि या शब्दादि इत्यादि जो कुछ अपना माना था, उसके ममत्व से छूटकर, मैं उसका साक्षी हूँ। यानी आज से सद्गुरु की आज्ञा के (प्रभु के) अधीन प्रवर्तन करूँ; मैं उन प्रभु का दास हूँ, दीन दास हूँ। पूर्व में अनन्त काल से सच्ची समझ बिना, स्वरूप की सच्ची प्रतीति बिना, अनन्त संसार में भटकना हुआ; वह अपने एक अज्ञान के कारण हुआ और इसलिये **'पाम्यो दुःख अनंत'** आत्मा के नाम से जो कुछ पुण्य, दया, सत्य, दान, ब्रह्मचर्य, व्रत आदि पूर्व में अनन्त बार किये; जो किया, वह सब अन्यथा किया, मात्र एक आत्मा को नहीं जाना; अतः अनन्त भव में अनन्त दुःख पाया। वह परमपद शुद्ध आत्मस्वरूप आपने समझाया, इसलिये भविष्यकाल में मैं अनन्त दुःख को पाता, उसका मूल जिसने छेदा – ऐसे श्रीसद्गुरु भगवान का मैं दास हूँ, दास हूँ, दीन दास हूँ। सद्गुरु की आज्ञानुसार इस परमसत् का निश्चय व आश्रय ही एक कर्तव्य है, ऐसी समझ व समझ का विवेक आत्मा में रहने से परम उपकारी का उपकार स्वीकार करते हैं। **१२६.**

छह स्थानक द्वारा आत्मा भिन्न बताया, इसका उपकार शिष्य जाहिर करता है –

षट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप;
म्यान थकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप।। १२७।।

षट् स्थानक समझाय कर, भिन्न बताया आप।
म्यान जुदी तलवार वत्, यह उपकार अमाप।।१२७।।

छहों स्थानक समझाकर हे सद्गुरुदेव ! जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग खींचकर बताये, उस प्रकार आपने देहादि से आत्मा को स्पष्ट भिन्न, एक परमाणुमात्र के सम्बन्धरहित, (पर से अत्यन्त भिन्न) बताकर अमाप उपकार किया है। मोक्ष व मोक्ष का उपाय, आत्मा चिद्घन है, इसी में बताया है। बाहर से किसी भी साधन का आश्रय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र में नहीं है – ऐसा ही होने से जिसे अनन्त गुण का भान हुआ है, ऐसा शिष्य अपनी पामरता का वर्णन करके पुरुषार्थ उठाता है। यही लोकोत्तर विनय की महिमा है, इसी में अपनी महिमा है। **'चेतनरूप, अनूप, अमूरत, सिद्धसमान सदा पद मेरो।'** मेरा आत्मपद पूर्ण शुद्ध परमात्मा समान है परन्तु उल्टी दृष्टिवाले ने पर के निमित्त से बन्धवाला, उपाधिवाला माना है; सिद्धभगवान समान नहीं माना, अतः वह मिथ्यादृष्टि है। स्वाधीनता भूलकर अपने आप को बन्धवाला या विकारी माने तो विकार स्वभावसिद्ध होवे किन्तु चैतन्यस्वभाव बन्धरूप नहीं है। एक समयमात्र की भूल वर्तमान अवस्था की योग्यता के कारण थी। वह भूल क्षण में पलटकर पूर्ण सिद्धदशा प्रगट हो सकती है। पूर्णता के लक्ष्यपूर्वक जिसका साधकस्वभाव विकसित हुआ, वह अब अन्तरचारित्र की भावना करता है कि मैं अपने ज्ञान-दर्शन-स्वरूपचारित्र में लीन हो जाऊँ। इसमें ऐसा भी आया कि मेरे में पर का एक भी कर्तव्य नहीं है, फिर भी कोई माने तो वह मिथ्या है। मैं सामनेवाले जीव को सुखी कर सकूँ, मैंने दूसरे की दया की, करवायी, मैंने देहादि क्रियारूप चारित्र का पालन किया – ये मिथ्या मान्यताएँ हैं; उसमें धर्म नहीं है, चारित्र नहीं है। कषाय मन्द करे तो वह पुण्य है। धर्मीजीव चारित्र की भावनापूर्वक स्थिरता बढ़ाता है। जैसे सर्वज्ञ वीतराग भगवान हैं और उनका जैसा निर्मल चारित्र है, ऐसा ही मेरा यथाख्यातचारित्र शीघ्र प्रगट हो; इस प्रकार पुरुषार्थ उठाकर सत् का विनय करता है। हे नाथ ! आपने ही आत्मा दिया ! हे प्रभु ! आपका अमाप उपकार है। वह समझता है कि कोई किसी की पर्याय को लेता-देता नहीं है क्योंकि आत्मा स्वयं स्वाधीनतत्त्व है; वह निरपेक्ष व कषायरहित है, निर्विकल्प है।

मन के विकल्प एवं वाणी द्वारा सद्गुरु का विनय किस प्रकार कर सकूँ ? बस! जम जाऊँ, यही एक लक्ष्य है; यह पूर्ण चारित्र की भावना है। **१२७.**

उपसंहार

अब, उपसंहार कहते हैं :-

दर्शन षटे शमाय छे, आ षट् स्थानक मांही;
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांई।।१२८।।

षट् दर्शन गर्भित हुए, इन षट् स्थानक माहिं।
मनन करत विस्तार से, संशय रहे न कोई।।१२८।।

छह बोल की पीठिका शुरू की, तब कहा था कि **'षट् स्थानक संक्षेपमां, षट्दर्शन पण तेह, समजाववा परमार्थने कह्यां ज्ञानीए एह'** – इस प्रकार छह बोल का स्वरूप पूरा होने पर यह गाथा कही गयी है। इन छह पदों से षट् दर्शन का पूर्णस्वरूप क्या ? अखण्ड कैसा होना चाहिए ? एकान्त व विरोध किस प्रकार है ? – यह भी समझाया है। इसका विचार करने से कुछ शङ्का नहीं रहती; जीव निःसन्देह हुआ, इसलिये निःसन्देह तत्त्व की प्रतीति, स्थिरता साथ में लेकर उठा है। आत्मा को पर से भिन्न, स्वाधीनरूप से जैसा है, वैसा जाना; उसने सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा को जाना। परमात्मा जिस प्रकार पूर्ण शुद्ध हैं, वैसा ही मैं हूँ - इस तरह चारों पहलुओं से निर्णय करने के बाद शङ्का नहीं होती। जिस ओर का पवन चले, उसी ओर धजा फहरती रहे; उस प्रकार लोग सही-गलत का निर्णय किये बिना 'जी महाराज !' करके जहाँ -तहाँ अर्पणता करता रहता है; समन्वय करके विनयमिथ्यात्व का पोषण करता है। उसे सच्चा निर्णय किस प्रकार हो ? सच्ची परीक्षा किये बिना बाहर से धर्म माना गया है और इसलिये **'सौ साधन बंधन थयां'** अनन्त काल में जो कुछ किया, वह सब मुफ्त में गया परन्तु इस

प्रकार की विधिसहित, अन्तरतत्त्व की परीक्षा करके, इस कहे हुए मार्ग विषयक, अविरोधरूप से विचार करे तो उसमें कुछ भी संशय न रहे।

'आत्मा सदा सउपयोगी है' अर्थात् स्वज्ञान के व्यापारवाला है। लोग इसे रट लेते हैं, पढ़ लेते हैं परन्तु आत्मा अरूपी, ज्ञानस्वरूप है – उसका अन्तरङ्ग उपयोग क्या ? इसका कुछ पता नहीं लगता और बाहर से उपयोग मानता है। यानी कुछ लेना, रखना, देखकर चलना, पर की दया करना, इत्यादि जड़ की किया और कर्मभाव को आत्मा का उपयोग मानता है और कहता है कि हम वीतराग की आज्ञा को मानते हैं। यह अपनी गलत दृष्टिपूर्वक उपयोग की खतौनी की गयी है; वीतराग को पहचाने बिना वीतराग के नाम से कर्मभाव में धर्म माना है। बहुत पुण्य किये, फिर भी पापानुबन्धी पुण्य होने से संसार बढ़ा; भव कम नहीं हुआ। अत: जो अपने स्वच्छन्दपूर्वक अथवा सत्-असत् की परीक्षा किये बिना आत्मा को मानते हैं, धर्म मानते हैं, – वे गलत हैं।

मैं भवी (भव्य) हूँ या अभवी (अभव्य) हूँ; अल्पभववाला हूँ या ज्यादा भववाला हूँ, – इत्यादि सन्देह रहा करे, तब तक आत्मा की सच्ची परीक्षा हुई नहीं है – ऐसा समझना। हमें पता नहीं पड़ता, केवली भगवान जाने – ऐसा लोग कहते हैं परन्तु भाई रे ! तू कह रहा था न कि हमने देव, गुरु, धर्म को माना है और आत्मा की श्रद्धा है किन्तु सन्देह है, वहाँ सच्ची श्रद्धा ही नहीं है। अपनी भूमिका दृढ़ हुए बिना प्रतीति सच्ची नहीं है और स्थिरता का पुरुषार्थ भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि नि:सन्देह है; आत्मा ज्ञानदशा को प्राप्त हुआ है – यह ज्ञानी जानता है। एक निर्णय यथार्थभान द्वारा आया कि आत्मस्वरूप त्रिकाल ऐसा ही है। यह नि:सन्देह निर्णय आया, इसमें अपना अनन्त ज्ञान, सर्वज्ञ के ज्ञान में स्वीकार हो गया है – ऐसी साक्षी स्वयं को अपने से आती है। जो स्वरूप के भानसहित (मन की धारणा बिना) सहज प्रयत्न से स्वयं जागा, उसे शङ्का नहीं होती। यहाँ कुछेक उल्टे लोग नि:शङ्क होकर पड़े हैं, उनकी बात नहीं है।

श्रीमद्जी छोटी उम्र में कहते हैं कि **'ज्यां शंका त्यां गण संताप, ज्ञान तहाँ शंका नहि स्थाप,'** जहाँ सम्यग्ज्ञान-बोधिबीज प्रगट हुआ, वहाँ अन्तर से सहजस्वरूप आत्मख्याति चैतन्य की घोषणा होती है। बेहद सुखस्वभाव की शान्ति,

तृप्ति, सम्वेदन बढ़ते जाते हैं और पुरुषार्थसहित निर्णय दिखता है। किसी भगवान से पूछे बिना अपने आप को नि:सन्देह पता लगे कि मुझे अब एकाध या इतने भव बाकी हैं; ज्यादा भव नहीं हैं। वह नि:सन्देह हुआ, नि:शल्य हुआ; उसका वीर्य पूर्णता के लक्ष्य से स्थिरता की साधना करता हुआ आगे बढ़ता है। स्वभाव से पर का अकर्ता था, इसलिये वर्तमान में अकर्ता हुआ। आत्मा शुभ-अशुभकर्म का कर्ता है। इस प्रकार शास्त्र में संक्षिप्त भाषा, निमित्त-नैमित्तिक का ज्ञान कराने हेतु कही हो किन्तु घी के घड़े की माफिक उस व्यवहारवचनमात्र को पकड़कर शब्दार्थ का आग्रह करे, वह मिथ्यासिद्ध होता है। अत: परमार्थ, सच्चे अर्थ को ही समझना। जड़ का कर्ता-भोक्ता अज्ञानी भी नहीं है; मात्र अज्ञानी ऐसा मानता है। यदि आत्मा जड़कर्म का कर्ता हो तो आत्मा जड़ हो जाए। योग्यता के कारण कथञ्चित् राग-द्वेष का कर्ता जीव को कहा जाता है; उस अज्ञानभाव को टालकर सम्यग्ज्ञान प्रगट किया जा सकता है।

जिस प्रकार सूर्य की किरणें होती हैं; उस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञानमय सूर्य की आठ किरणें (सद्गुणरूप में) होती हैं। इसमें, (१) मुख्य किरण इस गाथा में कहा हुआ नि:शङ्कितगुण है। आत्मा और सिद्धपरमात्मा में शक्तिरूप से किञ्चित् भेद नहीं है। बेहद ज्ञानशक्ति का पिण्ड, अजर, अमर, पूर्ण कृतकृत्य है। समस्त विरोध-दोषरहित असङ्ग पूर्ण पवित्र मैं हूँ – ऐसी नि:सन्देह प्रतीति पूर्णता को प्राप्त कर लेने के पुरुषार्थसहित रहती है – यही ज्ञान की क्रिया है। अपने नि:सन्देह अभिप्राय में भूल, भय, शङ्का न हो, यह नि:शङ्कितगुण है।, (२) नि:कांक्षितगुण की किरण ऐसी है कि बड़े पुण्यपद इन्द्र, चक्रवर्ती, तीर्थङ्कर का पुण्य भी सम्यग्दृष्टि नहीं चाहता। एक पूर्ण शुद्ध मेरा आत्मपद है, वह प्रगट हो, यही उनकी भावना है।, (३) निर्विचिकित्सागुण की किरण ऐसी है कि अपने पवित्र ज्ञातास्वभाव की अरुचि न होने दे और राग-द्वेष-अज्ञान से बचाये, यह वैद्यपना (ज्ञानचिकित्सा) है।, (४) अमूढ़त्वगुण की किरण ऐसी है कि शुभ-अशुभपरिणाम की वृत्ति उठे, उसकी खतौनी में भेदज्ञान में परेशान नहीं होता कि यह मेरा गुण है या परभाव है; कषाय है या अकषाय है। इस प्रकार स्वभाव-परभाव को बराबर जाने; जानने में परेशान नहीं होता, भूलता नहीं है।, (५) उपगूहनगुण की किरण ऐसी है कि दोष को

टाले और गुण में वृद्धि करे।, (६) स्वरूप की स्थिरतारूप स्थितिकरणगुण की किरण ऐसी है कि राग-द्वेषरूप अस्थिरता को टाले और खुद को अखण्ड शान्तिस्वरूप में ही स्थिर रखे।, (७) वात्सल्यगुण की किरण ऐसी है कि पूर्ण स्वभाव की रुचि होने से पूर्ण वीतरागता, शुद्ध परमात्मपद का प्रेम है; इसमें संसार का प्रेम तनिक भी नहीं है। गौवत्ससमान स्वरूप की सच्ची प्रीति है।, (८) प्रभावनागुण की किरण ऐसी है कि समस्त प्रकार से (सभी पहलुओं से) अपने शुद्धस्वरूप में सावधानी रखने की भावना, चारित्रगुण की खिलवट करके स्वगुण का उद्योत करती है। साधकस्वभाव जयवन्त रहो, विजयवन्त हो ! ऐसा पुरुषार्थ उठाकर आत्मधर्म की प्रभावना ऐसी करनी कि केवलज्ञान के सन्देश आने लगे; अपनी जागृति के अपूर्व आसार आये कि अब भव नहीं है। **१२८.**

आत्मभ्रांति सम रोग नहि, सद्गुरु वैद्य सुजाण;
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान।।१२९।।

आत्म-भ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु-आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान।।१२९।।

अगली गाथा में आठ गुणसहित निःसन्देहपना आत्मा में किस प्रकार से है ? यह कहा। यहाँ पर इससे विपरीत यानी आत्मभ्रान्ति (संशय ? = भ्रमणा) रहना, इसके बराबर गम्भीर और कोई रोग नहीं है, ऐसा बताया। वस्तु का जो सहज स्वभाव है, उसकी प्रतीति नहीं है और बाहर से कुछ करो तो संवर, निर्जरा होगी; इस प्रकार बाह्यक्रिया से आत्मधर्म मानकर, चैतन्य के ऊपर फोड़े बढ़ाकर खुश होता है परन्तु ऐसी उल्टी मान्यता को ज्ञानी भगवन्त मिथ्यादर्शनशल्य कहते हैं। सारे पापों से भी ज्यादा यह महापाप है, स्वयं अपराध है, स्वहिंसा है। सत्रह पाप हैं, वे चारित्र के दोष हैं और यह मिथ्यादर्शनशल्य मूल पाप की जड़ है, जो कि दर्शनमोह है। श्रीमद्जी ने कहा है कि **'जेम जेम मतिअल्पता, अने मोह उद्योत,**

तेम तेम भवशंकना अपात्र अंतर ज्योत' – यह यथार्थ है, कौन जाने क्या होगा ? इत्यादि आत्मस्वरूप में भ्रान्ति। मैं बाहर से ग्रहण-त्यागवाला हूँ, मैं बन्धवाला हूँ, जड़ की क्रियावाला, दयावाला हूँ, पुण्यवाला हूँ – इत्यादि प्रकार से परवस्तु में अपनत्व करता है, यही अनन्त ज़हरीला बीज है। स्वरूप की विपरीत मान्यता, यह एक ही भूल संसार का मूल है।

श्रेणिक राजा को क्षायिकसमकित चौथा गुणस्थान था; एक मिथ्यात्व के अलावा सत्रह पाप मन्द रसपूर्वक थे, फिर भी वे पवित्र धर्मात्मा थे। वे एक भव में मोक्ष जायेंगे। अत: प्रथम मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, कितना बड़ा हूँ – यह यथार्थरूप से समझो। जो आत्मा का धर्म है, उससे अन्यथा करने से अन्य कुछ ही होगा। आत्मा के बारे में तो भ्रान्ति रहे और बाहर से पुण्यादि शुभपरिणाम की क्रिया करे, कायक्लेश करे, यह बालचाल है। दोष पाड़े का और दण्ड भिश्ती को – ऐसी औंधायी है। अन्तरङ्ग स्वरूप का भान नहीं और मन, वचन, काया के प्रयोग में लगे रहे; शरीर की हड्डियों को मैं स्थिर रखता हूँ, इत्यादि अभिमानसहित की क्रिया को सामायिक मानना, यह महा-मिथ्यात्व का पोषण है। दर्शनमोह माने स्वरूप की भ्रमणा, उसकी स्थिति उत्कृष्ट सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की है। जो जीव उसकी ज़हरीली लार के वश है, वह स्वयं अपराधी होता है; वह उल्टा पड़ा हुआ स्वाधीन है। स्वयं ही सुल्टा पड़े और सद्गुरु का आश्रय करे तो ही हित है; वरना उसे कोई जबरदस्ती समझा नहीं सकता। अपने अन्दर अनन्त शक्ति भरी है, उसका दुरुपयोग तथा सदुपयोग स्वयं करता है; बाहर का कुछ कर नहीं सकता। ज्ञान में तो सिर्फ औंधायी करे और अपने आप को अन्यथा माने।

पागल दो प्रकार से कहे हैं। उसमें एक तो भूताविष्ट पागल है। वह तो किसी मन्त्र आदि प्रयोग से ठीक हो जाता है; दूसरा पागल है, वह मोही जीव है। वह स्वयं अपने आप को विपरीतरूप से मानता है; परमार्थ को नहीं समझता और कर्मभाव को अपना गुण मानता है। परिणाम का और स्वभाव-परिणाम का उसे विवेक नहीं है। इस प्रकार स्वच्छन्द में टिका हुआ है, अर्थात् औंधेपन में ऐसा नि:शङ्क होकर संसार में पड़ा है। इसके पागलपन को कोई टाल नहीं सकता।

आत्मभ्रान्ति समान कोई दूसरा महापाप नहीं है। इसकी दया करनेवाला कोई

नहीं है। खुद पात्रता तैयार करके, सरल जिज्ञासु होकर, सत्समागम प्राप्त करे तो ही छुटकारा हो सकता है। अपने माने हुए स्वच्छन्दरूप कुधर्म से कल्याण नहीं है; अतः उस रोग को, भूल मिटाने के लिये सद्गुरु की शरण में जाना क्योंकि वे महासमर्थ, सुजान, स्वभाव के वैद्य हैं। श्रीमद्जी कहते हैं कि आत्मस्वरूप में भ्रमणासमान कोई रोग नहीं है। बाहर से प्रतिकूल दवा करे तो रोग उल्टा बढ़ेगा। सद्गुरु भवरोग मिटानेवाले सुजान वैद्य हैं; उनके बराबर कोई परम उपकारी नहीं हैं। सद्गुरु की आज्ञा अनुसार चलने समान (सत् के आश्रयपूर्वक प्रवर्तन करने के बराबर) अन्य कोई पथ्य नहीं है।

गुरु आज्ञा माने – अखण्ड देशना द्वारा अखण्ड सत् में से ज्ञानी का एक वाक्य यथार्थ श्रुतगत करके, अन्तर में सत् का आश्रय करना। इसमें सत्श्रुत अन्तरङ्ग करके बेहद ज्ञानबल उछालकर, ज्ञान की एकाग्रता में टिकना, खेलना, घोलन करना – वह ध्यान। ज्ञानी के वचनों से अन्तरङ्ग विचार, स्वाध्याय, यथार्थ तत्त्वमनन – वह विचार -ध्यानरूपी औषधि है। भेदविज्ञानरूप विवेक है, वह पथ्य है क्योंकि समझपूर्वक सत् का स्वीकार खुद ने किया, तब गुरुआज्ञा समझा – ऐसा कहा जाता है। समझ अनुसार रुचि, सत् की रुचि करनेवाले को ज्ञान का विवेक होता है; उसकी हित में प्रवृत्ति व अहित में निवृत्ति होगी ही। मैं पर से भिन्न, पूर्ण कृतकृत्य, पर से अक्रिय, त्रिकाल पूर्ण शुद्ध स्थिर, अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में टिका हूँ; परमार्थरूप से मैं शुद्ध एकमात्र उपादेय हूँ। पुण्य-पाप-रागादि विकल्प, देहादि की क्रिया – सारे परद्रव्य हेय हैं; मेरे स्वाधीनतत्त्व में किसी का ग्रहण-त्याग नहीं है – ऐसा मैं निरपेक्ष शुद्ध ज्ञायक हूँ। इस प्रकार अबन्धदृष्टि का विवेक ही सच्चा ज्ञानपथ्य है। इस ज्ञान के आचरण द्वारा स्वरूपस्थिरतारूप ध्यान, मनन ये औषधि है; यही शिवसुख का उपाय है। सत् एवं सत् का आश्रय, इसे ही मुख्य उपाय कहकर लोगों को झूठी मान्यतारूप स्वच्छन्द मिटाने का उपाय बताया है।

(सम्वत् १९९६ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा, समाधिमन्दिर, राजकोट।)

आज श्रीमद्राजचन्द्रजी का जन्मदिन है। आज का दिन रविवार परम माङ्गलिक है और पूर्णिमा है। श्रीमद्जी की जयन्ति है। दूसरी बात, हज़ारों वर्ष पुराना जो सर्वोच्च ग्रन्थाधिराज 'धवल' 'षट्खण्ड आगम' जिसके दर्शन करने हज़ारों लोग जाते

थे और जिसमें सनातन जैनधर्म का रहस्य है, उस शास्त्र के दर्शन आज आनन्दनिकेतन में हुए। इसमें प्रथम 'सिद्ध' लिखा है। समयसार में भी रविवार आया था। समयसारजी के दर्शन भी रविवार को हुए थे। और समयसारजी की स्थापना भी रविवार को हुई है।

श्रीमद्‌जी की देह के समागम में बहुत लोग आये होंगे किन्तु उनके सत्समागम में कोई विरला ही होगा। यहाँ प्रथम माङ्गलिक कहें।

अहो ! श्री सत्पुरुष के वचनामृतं जगहितकरम्,
मुद्रा अरू सत्समागम सूती चेतना जागृतकरम्।

सम्प्रदाय का आग्रह छोड़कर मध्यस्थतापूर्वक सुनना, यह हित की बात है। श्रीमद्‌जी के समागम में बहुत लोग आये थे, उनमें से एक भाई सम्प्रदाय की ओर झुकाववाले एवं मूर्तिपूजा के विरोधी थे किन्तु कुछ सरल थे। उनके गुरु एवं अन्य लोग श्रीमद्‌जी की निन्दा करते थे। यह सुनते ही उन्हें अन्दर से (नाभि में से) नाद आया कि 'अरे ! आप इस पवित्र पुरुष की निन्दा मत करना। मैंने उनको एक बार 'लींबडी' (नगर) में देखा था; महावैराग्यवन्त थे, वास्तव में धर्म की मूर्ति थे। वे सत्पुरुष हैं, उनकी निन्दा मत करना। जैसे भीतर में अत्याधिक, अत्यन्त दर्द हो रहा हो, ऐसी आवाज सहज आयी। उन्होंने कहा कि उस महादेव की, मियाँ के साथ तुलना मत करना। उनकी मुद्रा में जो वैराग्य मैंने देखा है, वैसा वैराग्य मैंने किसी साधु में नहीं देखा।' देखो ! ये उनके शब्द! उनको श्रीमद्‌जी की परीक्षापूर्वक श्रद्धा नहीं थी, फिर भी भीतर से सत् की हकार-हाँ आयी और झूठ का निषेध आया। व्यक्ति के पास मध्यस्थदृष्टि हो तो ही सच्ची परीक्षा कर सकता है। अन्तर की गहरायी से उस वृद्ध सज्जन को सहज, धारणा बिना, नाभि में से आवाज़ आयी कि मैं उनकी निन्दा सुन नहीं सकता। नाभि में से पुकार - रटे बिना, धारणा बिना सहज गूँज उठी थी। सत्पुरुष प्रति का आदर यानी सत् का आदर क्या सूचित करता है ? वह बताता है कि 'उस पुरुष में कोई महान, पवित्र योगबल रहा है कि जिनके स्मृति प्रसङ्ग सुनते ही मुमुक्षु को अति प्रमोद, आनन्द उपजता है।' फिर भी पञ्चम काल है, इसलिये कोई निन्दक कहते हैं कि अपनी पूजा हेतु लिखा है। अरेरे ! ऐसे मतार्थी लोग मताग्रह के वश होकर,

मिथ्याग्रह को पकड़ते हैं। महामोह के वश होकर सत् का निषेध करके, अपने लिये बोधिदुर्लभता बढ़ाते हैं। यहाँ पर जन्म-जयन्ति का जो माङ्गलिक है, जो लोकोत्तर माङ्गलिक कहना है – उस पर से श्रीमद्राजचंद्रजी के हृदय में क्या था, यह मुमुक्षुजन समझ लेंगे।

'अहो ! श्रीसत्पुरुष के वचनामृतम् जगहितकरम्।' एक बार भी प्रत्यक्ष सद्गुरु के भाववचनों का श्रवण करके अन्तर में उतारकर, अन्तर में गहरायी से सहज हाँ आयी और बोधिबीज का अन्तर में (स्वरूप में) टच हुआ; उसे संसार नहीं रह सकता। ज्ञानी मिले, उसे भव नहीं होते, भव का भाव नहीं होता। इसकी गवाही कौन देगा ? अन्दर से भरोसा आता है, किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता। **'भृंगी ईलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।'** पिल्लू को भ्रमरी डंकती है; इसके डंक के स्मरण में, यह क्या है, यह क्या है ? – ऐसी अभिलाषा रहने से वह स्वयं भ्रमरी (भौंरी) बन जाती है; कलेवर को और भव को पलटा देती है। इस प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा अपने आप को भूलकर परभाव में अपना अस्तित्व भूल से मान बैठा है। वह यदि सत्पुरुष के लक्ष्य से, एक वचन की भी यथार्थ गुञ्जार से साथ अन्तरखोज में उतरे तो उसे भगवान त्रिलोकनाथपना (सिद्धपद) प्राप्त हुए बिना रहेगा नहीं। ज्ञानी के एक वचन को जीव ने यदि यथार्थतापूर्वक समझ लिया तो आत्मा द्वारा, आत्मा में से सत् का हकार-हाँ आयेगी ही। साथ में परद्रव्य, परभाव की नास्तिपूर्वक शुभाशुभबन्ध का भी निषेध हो जाता है। जो सत्पुरुष देह होने पर भी देहातीतदशा में रहते हैं, उनके दर्शनमात्र से भी दर्शन करनेवाले की दृष्टिमें से पूरा संसार नष्ट हो जाता है। श्रीपद्मनन्दी आचार्य महाराज कहते हैं कि :-

'तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।।'

अहो ! शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश ज्ञानी के मुख से जिस जीव ने प्रसन्न चित्त से सुना कि 'सभी आत्मा अबन्ध, असङ्ग, स्वाधीन, चिदानन्दस्वरूप हैं' और इसमें निहित वाच्य को जिस जीव ने ग्रहण किया, वह जीव भावि निर्वाण का भाजन है।

'अहो ! श्रीसत्पुरुष के वचनामृतं जगहितकरं।' सत्पुरुष, सद्गुरु का जिसे लक्ष्य हुआ, उसे सद्गुरु और उनकी उपकारी वाणी का बहुमान विद्यमान है। अत: वे कहते हैं कि जगत का हित इस अपूर्ववाणी से ही है; सन्मार्ग का अन्य कोई उपाय नहीं है। जिस जीव ने अन्तर में भाववचनों का गहरायी से आदर किया, उसको ही सत्पुरुष का मिलना सार्थक है। देह के दर्शन तो अनन्त बार हुए परन्तु जिस दर्शन से सत्पुरुष की प्रतीति हो, वही दर्शन सच्चा है; उसे ही सत्पुरुष एवं उनके वचनामृत का सफलपना है। सत्पुरुष की मुद्रा कैसी है ? बिना बोले सौम्यता, वीतरागता का ही दर्शन करा रही है; जो परम उपशमरसभर वैराग्यमूर्ति हैं। अन्दर में से स्वभाव प्रगट हुआ, इसलिये देह की मुद्रा भी वैसी ही प्रगट होती है। जिस मुद्रा के दर्शन अंतरभाव से होने पर आत्मा का दर्शन प्रगट हो, उस प्रकार का भाव कैसा अपूर्व होगा, किस जाति का होगा ? – यह समझना।

तीर्थङ्कर भगवान की देह परम औदारिक, स्फटिक रत्न – जैसी हो जाती है और निकटता से उनके दर्शन करनेवाले को जातिस्मरणज्ञान होता है और सात भव दिखते हैं, ऐसे प्रभु के जन्मदिन को महाकल्याणक कहा जाता है। जिन्हें तीन लोक के नाथ की पदवी मिली है, उनका परमकल्याणक जन्म-उत्सव इन्द्र करते हैं और तीनों लोक में प्रकाश होता है। दो घड़ी के लिये नरक के दु:खी जीवों को भी शाता उपजती है। उस प्रकार **जिन्होंने इस पञ्चमकाल में सद्धर्म की घोषणा की और खुद ने अनन्तभव का अन्त करके, एक ही भव बाकी रहे – ऐसी पवित्रदशा आत्मा में प्रगट की, ऐसे पवित्र पुरुष का अति-अति बहुमान होना चाहिए। उनके जन्मदिन की आज जयन्ति है; धन्य है उनको ! मैं निश्चितरूप से कहता हूँ कि गुजरात-काठियावाड में (सौराष्ट्र में) वर्तमानकाल में मुमुक्षु जीव को परम उपकारी कोई हैं तो वे श्रीमद्राजचंद्रजी हैं। गुजरातीभाषा में 'आत्मसिद्धि' लिखकर जैनशासन की शोभा में अभिवृद्धि की है। इस काल में उनके समान महत्-पुरुष मैंने देखे नहीं हैं। उनके एक-एक वचन में गहरा रहस्य है। वह सत्समागम के बिना समझ में आये, ऐसा नहीं है। उन्होंने एक ही मुख्य बात की है कि आत्मा की पहचान बिना चाहे जो करो परन्तु भव कम नहीं होंगे। आत्मा को समझे बिना किसी**

काल छुटकारा नहीं है।

आज, कल, लाख-करोड़ वर्ष के बाद या उससे पहले तो इस तत्त्व को समझने पर, इसकी श्रद्धा करने पर ही छुटकारा है। **श्रीमद्‌जी का जीवन समझने के लिये मताग्रह से, दुराग्रह से दूर रहकर, उनके पवित्र जीवन को मध्यस्थतापूर्वक देखना चाहिए; ज्ञानी की विशालदृष्टि के न्याय से सोचना चाहिए। उनकी भाषा में अपूर्व भाव भरे हैं; उसमें वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम सब कुछ हैं। बालक से लेकर आध्यात्मिक सत्स्वरूप की पराकाष्ठा तक की पहुँचवाले अत्यन्त गहन न्याय, गम्भीर अर्थ उनके लेख में हैं। व्यवहारनीति से लेकर पूर्ण शुद्धता, केवलज्ञान तक के आसार उसमें है; ज्ञानबल के किसी अपूर्वयोग से ये लिखे गये हैं। उनके अन्तर में वीतराग शासन की प्रभावना हो, सनातन जैनधर्म जयवन्त रहे - इसके लिये निमित्त होने की भावना अन्तर की गहरायी में थी।** पर उस समय में मताग्रही लोगों की गुटबंदी बहुत थी और गृहस्थभेष होने के कारण उनके पास जाने में और परमार्थ पाने में बाह्यदृष्टि जीवों को अपने पक्ष का आग्रह विघ्नरूप हुआ है।

श्रीमद्‌जी को उस समय के द्रव्य, क्षेत्र, काल की खबर थी, इसलिये वे बहुत प्रकाश में (जाहिर में) आये नहीं। उन्होंने कहा कि मेरे लेख, मेरा शास्त्र मध्यस्थ पुरुष ही समझ पायेंगे, सोच सकेंगे। महावीरप्रभु के किसी भी एक वाक्य को यथार्थतापूर्वक समझो, शुद्ध अन्त:करण के बिना वीतराग के वचनों की कदर कौन करेगा? ये सब उनके अन्तर के उद्‌गार थे और **आजकल श्रीसमयसारजी परमागमशास्त्र पढ़ा जा रहा है। उसकी प्रभावना करनेवाले भी श्रीमद्‌राजचन्द्रजी थे। अपनी मौजूदगी में ही उन्होंने परमश्रुत प्रभावक मण्डल की स्थापना की। उनका उद्देश्य महान आचार्यों के आगम, शास्त्र संशोधित करके छपवाने का था। उस मण्डल ने उन्नीस वर्ष पूर्व एक हज़ार समयसारजी शास्त्र, आचार्यवर कुन्दकुन्दभगवानरचित महासूत्र छपवाये। वह शास्त्र (हस्तलिखित) जब सर्वप्रथम (लींबडीनगर में) उनके हाथ में आया, तब दो पृष्ठ पलटते ही रुपयों से भरी थाली मँगवायी। जिस प्रकार हाथ में हीरा आ जाए, उसकी परीक्षा जौहरी करे; उस प्रकार समस्त जिनशासन के रहस्यरूप श्रीसमयसारजी**

हाथ में आते ही पूर्व के संस्कारों का अपूर्वभाव उल्लसित हुआ और इस अपूर्व परमागमशास्त्र लानेवाले भाई को श्रीमद्‌जी ने अञ्जलि भरके रुपये दिये। यह पुस्तक छपे, ऐसी उनकी खास इच्छा थी। इस प्रकार १९ वर्ष पूर्व श्रीसमयसारजी की प्रभावना उनके द्वारा हुई। इस परमागमशास्त्र का लाभ वर्तमान में काठियावाड (प्रदेश) में काफी मात्रा में लिया जा रहा है। इस समयसारजी के कर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर (नग्न) महासमर्थ मुनि थे। वे इस काल में स्वयं महाविदेहक्षेत्र में, साक्षात् त्रिलोकनाथ सर्वज्ञभगवान सीमन्धरप्रभु के पास गये थे। वहाँ उन्होंने आठ दिन तक समवसरण (धर्मसभा) में भगवान की वाणी सुनी। वहाँ से आकर समयसार ग्रन्थ की श्लोकबद्ध रचना की। उस समयसार शास्त्र की इस काल में प्रथम प्रसिद्धि करने वाले श्रीमद्‌राजचन्द्रजी हैं; अत: उनका अनन्त उपकार है। इसका लाभ वर्तमान में बहुत से भाई-बहिन ले रहे हैं, यह श्रीमद्‌जी का ही उपकार है। वर्तमान में उसकी दो ह़ज़ार प्रति गुजराती में छप रही हैं। इसका लाभ लेनेवाले के लिये भी श्रीमद्‌जी ही उपकारी माने जायेंगे।

इस मङ्गलाचरण में ही सम्यग्दर्शन के आसार है। इसमें सत्पुरुष की प्रतीति और उनके सदुपदेशरूप वचनामृतों का बहुमान है। तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि अनन्त उपकारी है। सभी के लिये हितकारी है तथा मुनिराज की मुद्रा शान्त, स्थिर और वीतरागी होती है। अब, सत्समागम का अर्थ बताया जा रहा है। सत् जिसका श्रवण है, सत् जिसका विचार है, सत्सङ्ग का जिसे प्रेम है – उसे 'सुषुप्त चेतना जागृतकरम्' होता है। अनादि काल के अज्ञान अन्धकार में, मोहनिद्रा में सोये हुए चेतन आत्मा को स्वरूप में जागृत करनेवाला है। जिस प्रकार मुरली की धुन में सर्प डोलता है; उस प्रकार आत्मा की बात सुनते ही मुमुक्षु के हृदय डोल उठते हैं। सुषुप्त चेतना किसकी जागृत होवे ? पात्र होवे उसकी। सत्समागम हो और आत्मज्ञान न होवे, ऐसा नहीं बनता। पारसमणि ज़ङ्गवाली डिब्बी में हो, तो ज़ङ्ग लोहे का स्पर्श होने नहीं देगा; उस प्रकार यदि जीव में खुद में पात्रता न होवे तो सत्समागम या सद्‌गुरु क्या करें ?

'सद्‌गुरु मिले पर ज्ञान हुआ नहि, विमल हुई नहि वाणी' – इस न्याय

से जब तक अपनी तैयारी न हो, तब तक साक्षात् सर्वज्ञ भगवान के दर्शन से या वाणी से भी क्या उपकार होवे ? दोनों का एक सा योग बने, यानी सत्पुरुष एवं लायक जीव का योग हो तो ही लाभ होवे परन्तु अपने को गुण प्रगट न हो, इसमें ज्ञानी पुरुष का या अन्य किसी का दोष नहीं है। जब तक जीव को सत्पुरुष की पहचान हुई नहीं है, तब तक उसने देह के दर्शन किये हैं; जड़पुद्गल के दर्शन किये हैं। इसका कारण अपनी ही भूल है, स्वच्छन्द है। सत्समागम का बलवान उपकारीपना बहुत ज्यादा है। उनके पत्रों में देखोगे तो खास शब्दों के पहले सत् प्रत्यय लगाया हुआ दिखेगा; जैसे कि सत्कथा, सद्धर्म, स्शास्त्र, सद्ग्रन्थ, सद्वर्तन, सत्श्रुत, सद्विचार, सत्पुण्य, सन्मार्ग, सत्पुरुष, सद्देव, सद्गुरु, सत्समागम और सद्गुरु के आश्रय की यथार्थता बतायी है। स्वच्छन्द त्याग एवं गुरुआज्ञा इत्यादि पढ़कर कोई माने कि इसमें पराधीनता - जैसा लगता है तो ऐसा नहीं है। सत् का भावार्थ समझे तो उसमें पराधीनता या दूसरा कोई विरोध नहीं आता। सत्समागम क्या काम करता है ? उस सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि '**गिरती वृत्ति स्थिर रखे, दर्शन मात्रसे निर्दोष है।**' शुभाशुभ द्वारा रागादि परिणति में अज्ञानपूर्वक रुकना होता था, उसे टाले - ऐसी सत्समागम की महिमा है। अत: जीव स्वभाव की जागृति में निश्चल रहकर अपना सम्यग्दर्शन निर्दोषतापूर्वक, नि:शङ्कतापूर्वक टिकाये रखता है। देहादि सर्व परद्रव्य की क्रिया से स्वयं भिन्न रहकर जीव अपने नितान्त शुद्धस्वभाव को जानता है। परद्रव्य से खुद असङ्ग है, ऐसे पुरुषार्थ द्वारा भान होने पर निर्दोष आत्मधर्म प्रगट होता है। गिरती वृत्ति को स्वभाव में टिकाये रखे, वह 'धर्म' है; अधोगति में माने परभाव में (विभाव में; प्रमाद में) जाने न दे और स्वभाव में स्थिर रखे, वह धर्म।

'**अपूर्वस्वभाव के प्रेरक, सकल सद्गुणकोष है।**' सत्स्वरूप (सत्समागम) में टिकाकर साधक स्वभाव को पूर्ण करे, ऐसे पुरुषार्थ में सद्गुरु प्रेरक हैं और वे सकल सद्गुणों का अनुपम भण्डार हैं। स्वस्वरूप की प्रतीति दृढ़, दृढ़तर होने पर अधिक पुरुषार्थ उठाकर विशेष साधकपना जीव प्रगट करते हैं और सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं, जो कि पूर्णतया वीतराग निर्विकल्पता का कारण है; अन्त में अयोगीस्वभाव को (चारित्र की पूर्णता को) प्रगट करनेवाले हैं। पूर्ण यथाख्यातचारित्र

प्रगट होकर '**अनंत अव्याबाध स्वरूप में स्थिति करावनहार (करानेवाले) हैं**' इस प्रकार गुणश्रेणी का क्रम बताकर, अप्रमतदशा (मुनिपना) प्राप्त होने के बाद, स्वरूप में स्थिर रहकर, निर्विकल्प वीतरागदशा को साधता है। फिर बाद में बारहवाँ क्षीणमोह और अन्तर में अयोगीदशा प्राप्त करके अन्तिम पूर्ण पवित्रदशा, मोक्षावस्था है। इस प्रकार '**अनंत अव्याबाध स्वरूप में स्थिति करावनहार हैं।**' इस प्रकार सत्पुरुष के समागम की यथार्थता बतायी है। ध्येयरूप जो पूर्ण पवित्र सिद्धस्वरूप है। उसका कारण अयोगीस्वभाव है और उसका कारण सत्समागम है।

विकास की क्रमबद्ध श्रेणी ली है। प्रथम 'दर्शन मात्र से निर्दोष', वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है, फिर साधकस्वभाव की वृद्धि होने पर अप्रमत्त संयम और फिर पूर्णतया वीतराग, यह तेरहवाँ गुणस्थानक – वीतराग भगवान और फिर मन, वचन, काया के सर्व योगरहित का अकम्प, अयोगी चौदहवाँ गुणस्थानक – इस प्रकार समग्र शुद्धस्वभाव का कारण सत्समागम ही है परन्तु जिससे गुण प्रगट न हो, वह सत्सङ्ग नहीं कहा जाता। श्रीमद्‌जी ने प्रत्येक पत्र में अन्तरनाद से पुरुषार्थसहित एक ही झङ्कार बजायी है कि सत्समागम ही एक कल्याणकारी है। लोग अपने स्वच्छन्दपूर्वक शास्त्र पढ़कर उल्टे अर्थ निकालते हैं और वे भवसागर में डूबते हैं। शास्त्रों की जानकारी से मोक्ष होता तो पन्नों (कागजों) का मोक्ष हो जाना चाहिए। कई लोगों ने 'आत्मसिद्धि' याद कर ली है, दिमाग में भरी है, कंठस्थ की है और रोज बोल जाते हैं किन्तु अन्दर से भाव - अर्थ समझे बिना अपनी कल्पना से अर्थ निकालकर धारणाज्ञान में ले लेते हैं किन्तु इस तरह मेल बैठेगा नहीं। अत: सत्समागम द्वारा 'आत्मसिद्धि' का अन्तरभाव, आशय समझने की जरूरत है। अपने आप पढ़ डाले तो समझ में नहीं आता और समझे बिना गुण प्रगट नहीं होता। ज्ञानी का आशय समझे बिना कल्पना करने से क्या होगा ? समयसार में तो साधारण आदमी को बात कठिन लगती है किन्तु इसमें बहुत सरल भाषा रखी है। अत: '**आत्मसिद्धि' सभी को (बाल-गोपाल - सभी भाई -बहिनों को) अन्तरपट में टङ्कोत्कीर्ण हो जाए, उस प्रकार से, मुखपाठ करके धारण कर लेने योग्य है। उसी का रात-दिन मनन करने से खुद का निर्णय होगा।** जिसे मोक्ष की इच्छा हुई है, उसे सत्सङ्ग की ही उपासना करनी चाहिए। सत्समागम की उपासना करनी

हो, उसे बाह्य के साधन अप्रधान करके आत्मा की गवेषणा (खोज) करनी चाहिए, यानी देहादि की, संसार की तथा संसार के सुख की वृत्ति छोड़ देनी और सत्शास्त्र, सत्सङ्ग का बलवानपना समझकर, उसका खूब परिचय करना - ऐसा अनन्त ज्ञानी भगवन्तों ने कहा है।

सत्समागम का माहात्म्य समझ में आये तो जैसे कारण का सेवन करे, वैसा कार्य अवश्य प्रगट होता है। इसलिये कहा कि अनन्त अव्याबाध सिद्धस्वरूप को प्राप्त कराये, ऐसा कारण सत्समागम एवं सत्पुरुष हैं। अब नाम देते हैं, '**सहजात्म, सहजानंद, आनंदघन नाम अपार है, सत्‌देव धर्म स्वरूपदर्शक पारावार है**' जिस किसी ने गुरु में भूल की, वह देव, धर्म और शास्त्र में भूला है। जिसने सच्चे गुरु को पहचाना, उसने सच्चे देव, धर्म व शास्त्र का स्वीकार किया और आत्मा को भी माना है परन्तु यदि भ्रान्ति है तो उसका माना हुआ सब कुछ मिथ्या है। अत: कहते हैं कि '**आत्मभ्रांति सम रोग नहि, सद्‌गुरु वैद्य सुजाण, गुरुआज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान।**' मरीज को अपने रोग की खबर नहीं और अस्पताल में घुसकर बिना पहचान के ही चाहे जो दवायी पीने लगे तो नुकसान ही होगा। अत: श्रीमद्‌जी कहते हैं कि आत्मस्वरूप में भूल के बराबर कोई बड़ा रोग नहीं है। अत: चाहे जैसे हो, एक सत्पुरुष को खोजो और उनके कोई भी एक वचन को मान्य करो, उनकी आज्ञानुसार प्रवर्तन करो। लाख रोग में कई प्रकार की दवायी चाहिए किन्तु इस आत्मस्वरूप में ही भूल, भ्रान्ति मिटाने के लिये कई दवाइयों की जरूरत नहीं है। बाहर से किसी ग्रहण, त्याग की बात नहीं है; केवल जो उल्टी मान्यता है, उस भूल को मिटाना है। इस प्रकार सद्‌गुरुआज्ञा द्वारा स्वच्छन्द मिटाया जा सकता है; अत: ज्ञानी के वचनामृत व सत्समागम उपकारी हैं। सत्समागम द्वारा जिनवचन का उपदेश, तत्त्व का श्रवण, मनन, चिन्तवन, ग्रहण करे तो जीव का विभाव मिट जाता है। राग-द्वेषादि उपाधि या पुण्य-पाप की गन्ध नहीं रहती, सर्व विभाव का रेचन हो जाता है; अत: एक आत्मा को अविरोधरूप से जानना, यह अनन्त ज्ञानी की वाणी का सार है। शब्द के पीछे वाच्य परमार्थ क्या है ? यह गुरुआज्ञा के बिना समझ में आये - ऐसा नहीं है। अत: '**गुरुआज्ञा सम पथ्य नहि**' - ऐसा कहा है। सद्‌गुरु के कहने का महान आशय क्या है ?

इसे समझने की तीव्र व सच्ची जिज्ञासा चाहिए। रुचि बिना काम नहीं होता। जिस प्रकार मरीज से वैद्य कहे कि तू बासठ दिन के लांघन (उपवास) करेगा तो ही तेरा रोग मिटेगा। मरीज जीने की आशा से वैद्य के वचन के ऊपर भरोसा रखके बासठ दिन का लांघन करता है, पर अपनी रुचि बिना (इच्छा बिना) यदि एक समय का भोजन न मिले, चाय-पानी की सुविधा न हो तो आर्तध्यान क्लेश करता है। जीने की कामनावाला जीव यदि पूरी-पूरी हिम्मत रखकर लांघन शुरू करे तो भी कदापि ऐसा भी होता है कि रोग न भी मिटे किन्तु यह गुरुआज्ञा ऐसा पथ्य है कि उसके सेवन से नीरोगता निश्चितरूप से होती ही है। स्वयं को प्रत्यक्ष इसका अनुभव होता है। जिसे सद्गुरु के प्रति प्रेम हुआ, उसे गुण की प्रतीति एवं बहुमान होता ही है। सद्गुरु की वाणी जन्म, जरा, मरण का नाश करके भव का चूरा कर देनेवाली है। भव का अन्त करती है; शाश्वतपद को प्रगट करती है। ऐसे सुजान वैद्य श्रीसद्गुरु हैं। सद्विचार व ध्यान औषधि हैं। स्वाभाविक, निर्मल, पूर्ण, पवित्रस्वरूप आत्मा और सहजानन्द, निराकुल, निरुपाधिक, अचल, शान्तिस्वरूप, सहज आनन्दमय आत्मपद है। लौकिक आनन्दरूप शाता नहीं परन्तु बेहद सुख, स्वाधीन, शाश्वत, अनाकुल आनन्द है। आनन्द का कन्द, आनन्दघन आदि अपार नाम व गुणसहित सद्देव सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा हैं और सद्धर्म स्वरूपदर्शक सद्गुरु का उपकार अपरम्पार है।

दान चार प्रकार से हैं। (१) आहार, (२) औषध, (३) अभयदान, (४) ज्ञानदान। इसमें ज्ञानदान सद्गुरु ही दे सकते हैं। यथार्थतापूर्ण जन्म-मरण की व्याधिरहित का मोक्षपद तथा परमकल्याणस्वरूप सद्धर्म है; उसे दिखनेवाले सद्गुरु हैं। करोड़ों रुपये हों, पर वह जड़वस्तु ज्ञान नहीं देती। इस निश्चयधर्म में सत्पुरुष का आत्मा ही दूसरे आत्मा को उपकारी निमित्त हो सकता है। सद्गुरु सत् की पहचान करानेवाले हैं; अतः प्रथम उपकारी को पहचानना चाहिए। वे ही जीवनदाता हैं। अभयदान में तो कभी एक जीव को तुमने बाहर से रक्षण दिया परन्तु वह मरकर तो संसार में भटकनेवाला है। उसका कुछ कल्याण नहीं हुआ। परन्तु **'प्रवचनअंजन जो सद्गुरु करे, देखे परम निधान।'** आत्मा की पूर्ण स्वाधीन अनन्तशक्ति को प्रगट दिखा दे, ऐसे वे सद्गुरु स्वयं सद्देव और सद्धर्म माने आत्मधर्म का स्वरूप बताते

हैं। उन गुरु की महिमा अपार है। **'आरूग्गं बोहिलाभं'** – भवरोगरहित की भावसमाधि मुझे दो, ऐसा कौन कहे ? जो समझा है कि मेरे में मल, मैल या रोग नहीं है; मैं शुद्ध, सिद्धसमान हूँ – ऐसा समझकर उपकारी सद्गुरु की भक्ति द्वारा पुरुषार्थ उठाते हैं। नियमसार में निर्ग्रन्थमुनि श्रीपद्मप्रभमलधारीदेव सद्गुरु की महिमा करते हुए भक्तिरस के हिलोरे उछालते हैं। स्वयं महापवित्र, नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थमुनि थे, फिर भी कहते हैं कि हे सद्गुरु ! हे नाथ ! आपने अनन्त उपकार किया है। गुरु के चरणकमल बिना शुद्ध आत्मधर्म किस प्रकार प्रगट हो ? केवलज्ञान कैसे प्रगट हो ?

इस पञ्चम काल में साक्षात् सर्वज्ञपरमात्मा का विरह हुआ। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य समान धर्माचार्य का सत्सङ्ग बहुत दुर्लभ हुआ। ऐसे दुषमकाल में ज्ञानी को नहीं पहचाननेवाले लोग निन्दा करते हैं कि श्रीमद्जी ने जगत में अपनी पूजा कराने हेतु ये सब लिखा है। अरेरे ! कितनी अधोमुखदशा ! ज्ञानी को उसकी दया आती है कि अरे ! वे बेचारे महामोह के वश स्वयं अपराधी होते हैं। जिस प्रकार उल्टा घड़ा हो, उस पर सारे घड़े उल्टे ही आते हैं; उस प्रकार जिसे असत् का आदर है, उल्टी श्रद्धा है, वह शास्त्र पढ़े तो भी उसमें से उल्टी ही बात निकालेगा। जगत तीनों काल रहने वाला है। ज्ञानी सब कुछ समझते हैं, फिर भी सभी जीव धर्म प्राप्त कर लें – ऐसी अन्तरकरुणा धर्मात्मा को हो जाती है, यानी मेरा आत्मा जल्दी पूर्ण पवित्रपद को प्राप्त कर ले। संसार के जीवों के प्रति समान करुणा है। सत् की निन्दा करनेवाला, भूल करनेवाले की तो वह क्षणिक सम्वेदना है परन्तु परमार्थ से तो वह आत्मा भी सिद्ध समान है – ऐसी निष्कारण करुणा आती है। ज्ञानी उसे वर्तमान में ही दुःखी देखते हैं और कहते हैं कि भाई ! तेरी औंधायी का फल तू वर्तमान में देख नहीं सकता परन्तु भविष्य में अपना दुःख तू किसी को बता भी नहीं पायेगा; इसलिये दया आती है। गुरुभक्ति की महिमा, **'गुरुभक्ति से लहे तीर्थपतिपद शास्त्र में विस्तार है, त्रिकाल जयंवत वर्तो श्री गुरुराजने नमस्कार है'** सत्पुरुष की भक्ति वही स्वरूपभक्ति है, वह कैसी होगी ? शास्त्र में कहा है कि तीर्थङ्कर की तथा सद्गुरु की भक्ति द्वारा तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है, उस सर्वोत्कृष्ट पुण्य का प्रभाव तीनों लोक में कल्याणकारी माना जाता है।

सौ इन्द्र जिनके चरणों की सेवा करे, ऐसी महिमा गुरुभक्ति की है तो फिर स्वभाव की स्वरूपभक्ति की क्या बात ? तीर्थङ्कर भगवान सर्वज्ञदेव देवाधिदेव हैं; अठारह दोषरहित हैं; तीन लोक के नाथ, पूर्ण वीतराग जिनेश्वर भगवान हैं; उनको उत्कृष्ट पुण्य का संयोग होता है। उनका शरीर परम औदारिक, स्फटिक – जैसा होता है। इन्द्र आकर समवसरण की (धर्मसभा की) अलौकिक रचना करते हैं। यह सब बारम्बार युक्ति-प्रमाण से सिद्ध करने की जरूरत नहीं है; आगे कई बार कहा गया है, इसलिये शङ्का नहीं करनी। वर्तमान में भी पञ्च महाविदेहक्षेत्र में, साक्षात् सर्वज्ञभगवान परमात्मा श्रीसीमन्धर प्रभु विराजमान हैं। यह जो-जो स्थिति कह रहे हैं, वह स्थिति ऐसी ही है; इसमें शङ्का का स्थान नहीं है। उसके बहुत प्रमाण हैं और आत्मा की सर्वोत्कृष्ट पवित्रदशा में ऐसा होना उचित है। इस विषय का शास्त्र में विस्तार है और स्वभाव से सिद्ध स्वयं आत्मा में विस्तार है।

यहाँ जिस प्रकार से श्रीसद्‌गुरु का माहात्म्य कहने में आता है, इसमें ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है। आत्मा का यथार्थस्वरूप समझने पर जो-जो वस्तुस्थिति है, वह समझ में आती है; उसमें विरोध नहीं आता। धर्मात्मा (साधक) गुरुभक्ति विशेषरूप से करते हैं क्योंकि उनको अभी प्रशस्तराग है। उस राग की दिशा बदली है; सत् की प्रीति के सामने असत् को मिटा दिया है। दृष्टि में संसार का अभाव रहता है, मात्र मोक्षमार्ग में प्रयाण है; संसार का (भव का) अवकाश नहीं है – ऐसे साधकभाव को पूर्णता के लक्ष्य से उछालकर कहते हैं कि **'त्रिकाल जयवंत वर्तो, श्रीसद्‌गुरुराज को नमस्कार है।'** अपना वीतरागभाव जयवन्त करके गये हैं। शासन को जब कायम रहना है, इसलिये ऐसे पुरुष होंगे ही और उनको पहचाननेवाले भी अवश्य निकलेंगे ही। पञ्चम काल के अन्त तक ज्ञानी का सद्भाव है, इसीलिये त्रिकाल जयवन्त है। संसार में लिखा जाता है कि **'चिरंजीवी हो,'** उसकी चिरन्जीविता तो देह के निमित्त से है, पर यह अविनाशी चैतन्य नित्य में से जागा, ऐसे निजस्वरूप आत्मा का सद्धर्म विश्व में जयवन्त रहता है। **'त्रिकाल जयवंत वर्तो श्रीगुरुराज ने नमस्कार है।' 'प्रणमुं पद ते वर ते जय ते।'** इस प्रकार **'प्रणमी श्रीगुरुराज के पद, आप-परहित कारणं, जयवंत श्री जिनराजवाणी करुं तास उच्चारणं'**

'भवभीत भविक जे भणे;

भावे सुणे समझे श्रद्धे।'

सत्श्रुत का अभ्यास करे, गान करे, भावना करे, सुने, समझे और माने – उसका फल सम्यग्दर्शन है। जैसा शुद्ध आत्मस्वरूप परमार्थ से है, ऐसा मानना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अभेदता (एकता) करके, अपने शुद्धस्वभाव में पूर्ण स्थिरता की साधना करके जीव निजपद को प्राप्त करता है। श्रीमद्जी की पुस्तक में बहुत अर्थसूचक गम्भीरता भरी है; उसमें 'प्राय:' 'मुख्यतया' इत्यादि शब्द हैं। उसकी अपेक्षा साधारण जीव को समझ में न आये, ऐसा भी किसी जगह पर आता है। अत: सत्समागमपूर्वक पढ़ना व विचार करना।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत 'पञ्चास्तिकाय' संक्षिप्त भाषा में, अद्भुतभाव ग्रहण करके श्रीराजचन्द्रजी ने सूक्ष्म बुद्धि से लिखा है; द्रव्यसंग्रह की गाथा का अर्थ भी लिया है। इस प्रकार महान आचार्यों का अनुभव खुद ने अपनी नोट में लिख लिया है और पढ़नेवाले को सरल लगे, ऐसी रचना बन गयी है, फिर भी उनकी वाणी में इतनी गूढ़ता है कि इसमें 'प्राय:' माने 'कथञ्चित्' (सापेक्षतापूर्वक) समझने को बहुत कुछ रहता है। इसे समझने हेतु मध्यस्थता एवं विशालबुद्धि चाहिए। यदि आगे-पीछे की सन्धि और अपेक्षा मिलाये बिना कोई पढ़े तो भाव में सन्धि टूट जाये और बराबर मेल नहीं मिलता। अत: सत्समागमपूर्वक पढ़ने व विचारने की सीख है। **श्रीमद्जी ने तो मनुष्य जीवन में अपना सुकृत्य किया और आत्मा की अखण्डसमाधि लेकर गये हैं।** इस प्रकार जो कोई मुमुक्षु अपने आत्मा का स्वरूप समझने के लक्ष्य से ही (मात्र मोक्ष अभिलाष; संसार की अंशमात्र इच्छा नहीं) आत्मा की वास्तविक प्रतीति करना चाहे तो इस काल में भी आत्मधर्म की आराधना हो सकती है। **सभी के घर में हर किसी को 'आत्मसिद्धि' मुखपाठ करने लायक है तथा मोक्षमाला जिसमें १०८ मनके के रूप में पाठ है, वह छोटे बच्चों को व वृद्धों को भी पढ़ लेने की सिखावन है। श्रीमद्जी को सातवें वर्ष में तो जातिस्मरणज्ञान के संस्कार प्रगट हुए थे।** मोक्षमाला में जीवतत्त्व की व्याख्या करते हुए दो नय शामिल किये हैं –

(१) द्रव्यार्थिकनय, (२) भावार्थिकनय।

यह तत्त्वबोध पाठ में कहा है; बहुत छोटी-सी उम्र में देखो तो सही ! द्रव्यार्थिकनय

और भावार्थिकनय – इस प्रकार अन्दर से बात निकाली है और कहा है कि भगवान ने दो प्रकार से द्रव्य की पहचान करवायी है – द्रव्यार्थिक एवं भावार्थिक। इसमें बुद्धि व संस्कार का कितना सुन्दर सुमेल बताया है ! भाव व पर्याय एक है। लोगों को अस्सी साल में भी पता नहीं लगता कि द्रव्यार्थिकनय क्या है और पर्यायार्थिकनय क्या होगा ? भावार्थिकनय माने आत्मा की समय समयवर्ती अवस्था दिखानेवाला ज्ञान का पहलू। विश्व में छह स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इसकी पहचान करानेवाली द्रव्यदृष्टि है। सामान्य एवं विशेष अंश को सापेक्षतापूर्वक बतायें, उसे नय कहते हैं। **श्रीमद्जी ने सोलह वर्ष व पाँच महीने की उम्र में मोक्षमाला की रचना की। इसके बाद उत्तरोत्तर उनका जीवन देखोगे तो उसमें लोकोत्तर सुगन्ध देख सकोगे। ये सारे संस्कार पूर्वभव के थे। ऐसे ज्ञानी पुरुष मौजूद थे, तब उनका लाभ लेनेवाले खास ज्यादा लोग नहीं थे। कोई लाओ तो सही कि ऐसा सन्देश कैसे होगा ? एक बार वे पूर्वजन्म के संस्कारों के स्मरण की भावना भाते हैं कि धन्य वह सत्समागम ! पूर्व में जो सत्समागम किया था – क्षेत्र, वह काल और वह भाव याद आते हैं। धन्य उस सत्समागम का आनन्द ! प्रवृत्ति में बैठे होने के बावजूद भी वे निवृत्तिसंयोग व सत्समागम याद आते हैं। ये तो एकान्त वनक्षेत्र में बैठे हैं या जौहरी के व्यवसाय में ?**

धर्मात्मा को पहचानने के लिये अन्तरङ्गदृष्टि विकसित करनी चाहिए। धर्मात्मा के अन्तर की उज्ज्वलता धर्मात्मा ही जाने; साधारण जीवों के छोटे गज (नापदण्ड) द्वारा ज्ञानी के महान हृदय का मूल्य आँका नहीं जा सकता। दृष्टान्त : जिस प्रकार स्कूल में पढ़नेवाला नौ वर्ष का बच्चा रविवार का दिन होने के कारण घर पर था। उसके पिताजी बाजार से अलपाका का थान लाये। उस नौ साल के बच्चे ने कहा, 'बापू ! यह थान कितने हाथ लम्बा है ?' तो पिताजी ने कहा, 'यह अलपाका का थान पचास हाथ है।' बच्चे ने अपने हाथ से नापना शुरू किया तो पचहत्तर हाथ हुआ। तब बच्चे ने कहा, 'बापू ! आपकी बात गलत है; यह थान पचहत्तर हाथ है।' तब पिताजी ने कहा कि 'हमारे लेन-देन के काम में तेरा हाथ का नाप नहीं चलेगा।' तब बच्चे ने कहा कि 'क्या मैं आदमी नहीं हूँ ? मेरा हाथ क्या हाथ नहीं है ?' जिस प्रकार व्यवहार के नाप में बच्चे का

हाथ काम में नहीं आता, उस प्रकार धर्मात्मा के अन्तरङ्ग को बालजीव (अज्ञानी) नाप नहीं सकते किन्तु बालक की बजाय लायक बन जाए तो फिर मेल मिल जायेगा। फिर पूछने क्यों आयेगा ? अतः ज्ञानी को पहचानने के लिये प्रथम उस मार्ग का परिचय करना पड़ेगा। रुचि बढ़ाओ; विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता, जितेन्द्रियता - ये गुण चाहिए। हित-अहित की परीक्षा करना सीखना पड़ेगा। संत की परीक्षा होने पर सत् का आदर होवे और तभी धर्मात्मा का उपकार समझ में आ सकता है और तभी अपने गुणों का बहुमान आता है। वर्तमान में ही अपूर्व शान्ति प्रगट हो जाए; किसी से पूछने नहीं जाना पड़ेगा। ।।इति।।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २७-११-१९३९

(राजकोट - आनन्दनिकेतन)

१२९ वीं गाथा चल रही है। इसका भाव यह है कि सद्गुरु की आज्ञा, उसका विचार और यथार्थ स्वरूप का ध्यान – ये सब जिस प्रकार हैं, उस प्रकार उनका सेवन करे तो अंतर में मोक्षस्वभाव शक्तिरूप से है, वह प्रगट होता है। १२९.

अब सत्य पुरुषार्थ करने के लिये कहते हैं :-

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ;
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहि आत्मार्थ।।१३०।।

यदि इच्छा परमार्थ की, करो सत्य पुरुषार्थ।
भव-स्थिति आदि नाम ले, छेदो नहिं आत्मार्थ।।१३०।।

आत्मा का परम अर्थ माने सच्चा परमार्थ चाहते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो। सच्चा पुरुषार्थ आत्मा स्वयं करे तो हो सके, ऐसा है; किसी के आशीर्वाद से कल्याण नहीं है। पर निमित्त मुझे राग-द्वेष करा दे या गुण करा दे, ऐसा भी नहीं है। यदि वास्तव में परमार्थ की इच्छा रखते हो तो चेतन की जाति का यथार्थ पुरुषार्थ लाओ; वह पुरुषार्थ ही स्वजाति का वीतरागी व्यवहार है। उसमें पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ परिणाम की गन्ध नहीं है। मात्र स्वसन्मुख ज्ञान के पुरुषार्थ को ही ज्ञानियों ने परमार्थभूत व्यवहार कहा है। इस पुरुषार्थ द्वारा ही आत्मा की पवित्र आनन्ददशा खिलती है; अतः ऐसा अद्भुत पुरुषार्थ करो। ऐसा पुरुषार्थ कोई मन, वाणी, देह की क्रिया से नहीं होता। सत्य पुरुषार्थ आत्मा के अधीन है। ज्ञान में ज्ञान का काम करना है; बाह्य का कुछ करना, यह चेतन का कार्य नहीं है। आत्मा सदा चिद्घन ज्ञानमात्र है। अरूपी ज्ञान ही जीव का निश्चय शरीर है; उसका प्रयत्न ज्ञान में अन्दर ही बढ़ता है, उसका साधन ज्ञान में है। सद्वाणी, सत्शास्त्र, सद्भक्ति द्वारा यानी सद्वाणी द्वारा कहे गये शुद्धात्मा के मनन, चिन्तवन द्वारा सर्व विरोधरहित सच्ची श्रद्धा हो सकती है। ज्ञान में ही स्थिरतारूप चारित्र है। लोग शुभपरिणाम को धर्म मानते हैं, पर वह बात झूठी है। पूर्व में भूलपूर्वक जैसा उल्टा भाव किया था, उसे सुल्टा कर, सत्समागम के टच में (समीप में) आये तो आत्मा में जो सुल्टा पुरुषार्थ है, उसे प्रगट किया जा सकता है। श्रीमद्जी कहते हैं कि यदि आत्मा का सच्चा सुख-स्वराज्य चाहिए तो तेरे आत्मा के अन्दर का पुरुषार्थ कर। केवल निरुपाधिक शुद्ध आत्मतत्त्व है; उसमें ज्ञान, आनन्द के अलावा कुछ नहीं है। इस स्वाधीनता का स्वीकार, यह सच्ची श्रद्धा है। इसका पर से भिन्नत्व का ज्ञान और राग-द्वेषरहित, श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक का आचरण (चारित्र), इस सच्चे ज्ञान से होता है।

'भवस्थिति आदि नाम लई छेदो नहि आत्मार्थ।' निमित्त अधीन वृत्तिवाले (निमित्त का) बहाना लेकर नाहक रोना रोते हैं कि इस काल में ज्ञानी पहचाने नहीं जा सकते। क्या करें ? पञ्चम काल है, अन्तरायकर्म का बहुत बल है, ढके कर्मों का किसे पता है ? मोहनीयकर्म रास्ता छोड़े, तब पुरुषार्थ जागे; अतः हम तो कुछ करेंगे तो पायेंगे। इस प्रकार देह आदि की या पुण्य आदि की क्रिया

करने में उत्साहित धर्म के नाम से मूढ़ता का पोषण करते हैं। ऐसा करने में कदापि पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध करें तो भी उसका फल क्या है ? संसार में जो बड़ा कहा जाता है, वह पुण्य के कारण बड़ा है किन्तु संसार में बड़ा माने लौकिक में बड़ा; धर्म में बड़ा, वह धर्मात्मा। ज्ञानी तथा चारित्रवन्त अपने स्वजाति के पुरुषार्थ से हुआ जाता है। पुण्ययोग के कारण कदापि दुर्गुण संसार में बाहर में न भी दिखे किन्तु इस परमार्थ में तो अल्प भूल भी टिक नहीं सकती। अतः इस निर्दोष धर्ममार्ग में तो गुण से बड़ा, वह बड़ा है; पुण्य से बड़ा, वह बड़ा नहीं है।

आत्मधर्म लोकोत्तर मार्ग है। आत्मधर्म में किसी को पुण्य से बड़ा कहना, यह अन्याय है। संसार के पुण्य, वह अजीव का फल है। पुण्य के साथ गुण का कोई सम्बन्ध नहीं है। बाहर से यशःकीर्ति हो, वह नामकर्म की शुभप्रकृति का उदय है; वह धर्म का लक्षण नहीं है। उल्टी-सीधी खतौनी जो करेगा, उसका सब कुछ उल्टा हो जायेगा। धर्मात्मा की भी कोई निन्दा करे, इससे उनको कोई बाधा नहीं है। किसी धर्मात्मा के पास पुण्य का योग होवे तो भी उनकी कीमत उस पुण्य से नहीं है। पुण्य में और गुण में पूर्ण तो साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान हैं। धर्मात्मा को पाँचवे गुणस्थान में अपयशकीर्ति व अनादेयकर्म का बाहर से कदापि योग दिखे परन्तु अन्तर में वेदन नहीं है क्योंकि उनको अशुभ नामकर्म की दुर्भग, अनादेय, अपयशकीर्ति का उदय नहीं है। यह विषय सूक्ष्म है। किसी धर्मी जीव को बाहर में अपयश, तिरस्कार और पाप का उदय भी हो, फिर भी उसका स्वीकार अन्तर में तो आता ही नहीं। ज्ञानी को ऐसा अन्तरङ्ग स्थिरता का शान्त समाधिरूप पुरुषार्थ रहता है। पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक कदापि दो आने की मजदूरी करता हुआ दिखे, फिर भी अन्तरस्वभाव के महासुख में वह तृप्त है। उनकी शान्ति सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अधिक है। अन्तरङ्ग की शान्ति है, आनन्द की स्थिरता है तथा समाधिस्वरूप की बलवान भावना अधिक है; अतः वे सर्वार्थसिद्धि के देवों से ज्यादा सुखी हैं।

संसार में पुण्य की प्रधानता है और धर्म में गुण की प्रधानता है। अतः ज्ञानी पुण्य से दूर रहकर उसमें मालिकरूप से एकत्व नहीं करते हुए निःस्पृहतापूर्वक

जानते हैं और अज्ञानी उसमें तल्लीन हो जाता है। पुण्य एक तत्त्व है; पुण्य से ज्ञानी नहीं हुआ जाता यानी उससे आत्मा का हित नहीं होता। जिस जीव का ध्यान पुण्य-वैभव, यशकीर्ति की ओर है, वह जीव-अजीव के लक्षण की भिन्नता नहीं समझनेवाला होने से अज्ञानी है। ज्ञानी को हित-अहित का यथार्थ विवेक होता है; पुण्य-पाप के जो कोई संयोग हैं, उन्हें वे जान लेते हैं। चाहे जैसे संयोग हो परन्तु ज्ञानी निर्दोषरूप से उसे जानते ही रहते हैं। जानने में रुकना नहीं होता परन्तु जो जीव निमित्त आश्रित रहकर ही टिके हैं, वे जीव केवल बातें करते हैं; पुरुषार्थ करने की बुद्धि नहीं करते। 'भगवान ने देखा होगा सो होगा; उनके ज्ञान में जितने भव दिखे होंगे, उतने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावभ्रमण हुए बिना मोक्ष नहीं होगा; जिस समय काललब्धि पकेगी, उस समय सम्यग्दर्शन होगा' – इस प्रकार भाव में व कथन में निमित्ताधीनता रखकर पुरुषार्थ उड़ा देते हैं। पुरुषार्थरहित होकर द्रव्यानुयोग की बातें करे तो वह निश्चयाभासी है। जिसे केवलज्ञानी का विश्वास हुआ, उसे चारों ओर से समान प्रतीति चाहिए और उसी ने केवलज्ञानी ने जो देखा है, उसका स्वीकार किया है। जिसने केवलज्ञानी को माना है, उसे राग की रुचि, कर्तापनारूप अज्ञान नहीं होता। उसे ऐसी उल्टी श्रद्धा भी नहीं होती कि केवली भगवान ने मेरे भव देखे हैं, इसलिये अब मैं पुरुषार्थ न करूँ। पुरुषार्थ तो अपने आप जागेगा, ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। श्रीमद्जी ने कहा है कि '**भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहि आत्मार्थ**' और कहा कि –

'जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियळ सुखदायी;
भव तेनो नव पछी रहे, तत्त्ववचन ए भाई।'

कोई कहता है कि अनन्त बार नौ प्रकार की मर्यादापूर्वक का ब्रह्मचर्य का पालन किया परन्तु कुछ हित हुआ नहीं, वह मिथ्या मान्यता है। यहाँ तो पुरुषार्थसहित सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य की बात है। सम्यग्दर्शनसहित ज्ञानबल का पुरुषार्थ जहाँ रहता है, वहाँ ब्रह्मचर्य का गुण प्रगट होता ही है। इस प्रकार ज्ञानी अपने उपादान के पूर्ण सामर्थ्य का बल अपनी शक्ति में देखते हैं; तब अज्ञानी उपादान को भूलकर अनन्त काल के कर्म किस प्रकार टूटे, इत्यादि पराश्रितबुद्धि द्वारा निमित्ताधीन रहकर, पुरुषार्थरहित होकर आत्मार्थ का विच्छेद करते हैं। कालमींढ़ (एक प्रकार का

काला और सख्त पत्थर) पत्थर भी टूट जाते हैं तो इस जड़ प्रकृति के मुर्दे की तो क्या ताकत है जो कि चेतन को वह रोक सके ? चाहे जैसा उदय आये, वह ज्ञान में दिखे। जिस प्रकार शीशे में लश्कर दिखे, उस प्रकार ज्ञान में पुद्गल के वर्णादि या रागादि का भेष दिखे तो इसमें राग-द्वेष क्यों होवे ? लोगों की उल्टी मान्यता को बहुत पोषण मिला हुआ है। इसलिये जहाँ-तहाँ पराधीनता को ही देखते हैं; अनन्त शक्तिवाले पूर्ण चैतन्यभगवान की महिमा नहीं दिखती। इस समय भी धर्मकाल है। काल तो जड़ पदार्थ है किन्तु एक ही देह धारण करके मोक्ष में जा सके, ऐसा धर्मकाल (स्वकाल; स्वभावपरिणाम) इस काल में भी है। लोगों को उल्टी गिनती से काम करना है, पर उसका मेल तीन काल में बैठ सके, ऐसा नहीं है। पुरुषार्थ करना नहीं और बातें करनी हैं कि ज्ञानी जाने, अपने से तो कोई निर्णय नहीं होता; केवलज्ञान हो तब जानने में आयेगा। इस प्रकार शङ्का में रहकर उल्टा निर्णय करने से आत्मज्ञान नहीं होता परन्तु ज्ञानी धर्मात्मा पुरुषार्थ द्वारा ऐसा यथार्थ निर्णय पूर्वापर विरोधरहित कर सकते हैं और एक-दो भव में स्वयं को मोक्षदशा प्रगट होनेवाली है, उस प्रकार निःसन्देह तत्त्वमें से निःसन्देह साक्षी लाते हैं।

आत्मा के सामने देखनेवाले को जड़कर्म के सामने देखने का नहीं रहता। कर्म का चाहे जैसा उदय आये, पर वे अपने में स्थिर रहकर जानते हैं कि उसकी हद कितनी है ? सभी (कर्मोदय) खिरने के लिये आते हैं; अतः ज्ञानी स्वानुभव से कहते हैं कि तेरे पुरुषार्थ के अधीन भवस्थिति है। पर में अहंभाव, राग विद्यमान है – वह भूल है। तेरा स्वाधीन स्वभाव किस जाति का है, इसका निर्णय कर ले तो सब कुछ जैसा है, वैसा समझ में आ जायेगा; केवलज्ञानी से पूछने नहीं जाना पड़ेगा। अन्य चार समवायकारण पुरुषार्थ से ही पकते हैं, उसमें काललब्धि भी आ गयी। काल तो जड़ है, वह चेतन की अवस्था को जबरन् परिणमित कैसे कर सके ? नरकादि भवभ्रमण में जाना हो तो भी कालद्रव्य उदासीन सहायता देता है; मोक्षस्वभाव में परिणमित होना हो तो भी सहाय देंवे। अतः चेतन स्वयं जागृत होवे तो ही गुण प्रगट होवे।

'जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ।' जिसे सच्चा हित करना है,

उसे परमार्थभूततत्त्व और उस जाति का पुरुषार्थ प्रथम समझना पड़ेगा। इसे समझे बिना दु:ख का मूल तो विपरीत मान्यता है, वह टलेगी नहीं। जिसका वज़न निमित्त पर ही है, यानी पर के आधार बिना मेरे गुण प्रगट नहीं हो सकते, वह भी निमित्त के घर की ढीली-ढाली बातें लाकर पुरुषार्थ को उड़ा रहा है, जैसे कि आत्मा में कुछ सामर्थ्य ही न हो! कई लोग तो ऐसी बातें सुनकर गरियार बैल की माफिक संसार में ही बैठ जाते हैं। पुरुषार्थरूपी टाँग को तोड़ देते हैं। ऐसी बात सुने कौन ? केवलज्ञानी ने देखा है, वैसा होता है – ऐसा कहने का अधिकार तो सच्चा पुरुषार्थ करे, उसको ही है क्योंकि वह अनुभवपूर्वक, अन्दर में परिणमन को बदलकर कहता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि की वाणी पुरुषार्थहीन नहीं होती। जिसे त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवान परमात्मा की श्रद्धा हो, उसे यथार्थदशा का अनुभव होना ही चाहिए। जिसने केवलज्ञानी का स्वीकार किया, वह तो केवली की जाति का हो चुका। केवली का स्वीकार करनेवाले के भव नहीं रहते। केवलज्ञानी भगवान ने जाना, वैसा ही होनेवाला है, – यह न्याय यदि हृदय में बैठ गया तो उसके साथ ही स्वसन्मुख ज्ञातापने का पुरुषार्थ व वीतरागदृष्टि होनी चाहिए। किन्तु केवल बातें ही करे कि हमें कुछ पता ही नहीं, क्या करें ? अनन्त काल के बहुत कर्म पड़े हैं, न जाने कब किसका उदय होगा ? परन्तु कर्म अन्धे, जड़ – उसकी तो प्रतीति है और चैतन्य भगवान देहदेवल में जागृत ज्योति के रूप में बिराजमान है, उसकी प्रतीति नहीं है तो अज्ञानता कितनी ? ऐसा भाव आना चाहिए कि कर्म का उदय आयेगा तो मैं ऐसा पुरुषार्थ करूँगा कि कर्म का नाश करके दो घड़ी के अन्दर केवलज्ञान लूँगा। तेरा उपादान यदि निमित्ताधीन होवे तो किसी समय मोक्ष होना सम्भव न बने। जिसे दो तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं है, वह अन्यथा मानता है। शास्त्र से न्यायपूर्वक सोचे तो पता लगे कि परमाणु में बन्धस्वभाव है और आत्मा में मोक्षस्वभाव है। प्रकृति का चाहे जैसा उदय आये परन्तु पुरुषार्थ उठाकर सब कर्मों का क्षय करूँ, ऐसे अपूर्व उत्साह में आओ न ! इसके लिये श्रीमद्जी कहते हैं कि यदि आप सच्चा परमार्थ चाहते हो तो सच्चे पुरुषार्थ में आओ; सिर्फ बातें या मन की कल्पनाओं में मत रहो।

लोग कर्म की बातें करते हैं कि कर्म सत्ता में पड़े हैं, क्या होगा ? –

यह तो ज्ञानी जानें, हमें कुछ पता नहीं। इस प्रकार कर्म-कर्म चिल्लानेवाले अपने को ही भूलकर बात करते हैं। कर्म की चुनौती तो बड़ी है और आत्मा में कुछ दम नहीं है, ऐसा वे मानते हैं। परन्तु सत्य पुरुषार्थ के लिये कमर कसकर पल्टा खाय कि मैं बड़ा और मेरे में अनन्त केवलज्ञानशक्ति है, बेहद शक्ति से प्रतिसमय सभर (भरपूर) हूँ, स्वाधीन हूँ, जड़ कर्म ज्ञानी को कैसे रोक सके ? अभी मैं स्वभाव प्रगट करूँगा, ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, उससे पुरुषार्थ नहीं होता। ज्ञानी सब कुछ जयवन्त देखते हैं। लाख मन घास-फूस हो, उसमें अग्नि शब्द लाख बार बोले कि अनन्त मन अग्नि डाल रहा हूँ – ऐसा कागज में लिखो, पढ़ो तो घास नहीं जलता परन्तु सच्ची अग्नि की चिनगारी डालो तो जल जाए। इस प्रकार जैसा आत्मा सर्वज्ञ भगवान ने पूर्ण शुद्ध बताया है, उसकी प्रतीति अपने खुद के विश्वासपूर्वक आये तो पुरुषार्थ काम क्यों न करे ? पुरुषार्थ तो ज्ञान में है; मन, इन्द्रिय, काया, विकल्प, शब्दादि में पुरुषार्थ नहीं है। प्रारम्भ का अङ्क यही है। आत्मा शुद्ध है, स्वाधीन है, असङ्ग है, अबन्ध है। इस बात की हाँ करना लोगों को बहुत कठिन पड़ता है। बन्धवाला, दीन-हीन, विकारी मानना चाहते हैं और जिस प्रकार का विधिवत् पुरुषार्थ चाहिए, उसे करना नहीं है। ज्ञानावरणादि कर्म अपने आप टले तो शक्ति प्रगट होवे, – ऐसी निमित्ताधीनता मानकर अन्तरज्ञान में पुरुषार्थहीन होनेवाले और आत्मा को बन्धवाला या विकारी माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा व पुरुषार्थ साथ ही होते हैं; उनकी वाणी भी पुरुषार्थहीन नहीं होती। जिसे परमार्थस्वरूप की प्राप्ति की श्रद्धा है, उसके अन्दर कैसा विवेक होना चाहिए ? ज्ञानी स्वयं नित्य पूर्ण ज्ञानानन्द के लक्ष्य से निर्भय, निःशङ्क होते हैं।

सर्वज्ञ भगवान के भक्त को भव की शङ्का नहीं होती। देव, गुरु, धर्म तो वीतराग हैं, निर्दोष हैं। उनकी श्रद्धा करके सर्वज्ञ को पहचाने, उसे भव की शङ्का नहीं होती। यथार्थ श्रद्धा के बाद पूर्ण चारित्र होने में कभी देर लगे, राग-द्वेषरूप अस्थिरता जल्दी से न मिट सके, परन्तु उसे पुरुषार्थ का निषेध नहीं होता और भव की शङ्का नहीं होती। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान डंके की चोट पर कहते हैं कि सभी आत्मा सिद्धसमान शुद्ध हैं। इस बात की जिसे श्रद्धा हुई; उसे स्वयं

की नि:सन्देहतापूर्वक प्रतीति होती है; केवलज्ञानी से पूछने जाना नहीं पड़ता। अपनी पर्याय को विकसित करने हेतु साधकस्वभाव का पुरुषार्थ पूर्ण को लक्ष्य में लेकर उठता है, इसमें उसे शङ्का नहीं रहती; उसे भगवान की निश्चयभक्ति रहती है। जिसने भगवान की निश्चयभक्ति की, उसके भव शेष नहीं रहते। जिसे भव की शङ्का है, वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु यह कोई धारणा करने की बात नहीं है, रटने से किनारा आनेवाला नहीं है। इस जाति की पात्रता द्वारा गुण प्रगट होते हैं, वे धर्मात्मा जहाँ-जहाँ देखे, वहाँ सुल्टा देखते हैं और इसलिये ज्ञानी की महिमा व उनका पुरुषार्थ देखता है; पराधीनता के अंश को वह नहीं देखता। इसलिये कहते हैं कि ढीलापन मत करो और आत्मार्थ को मत उड़ाओ। लोगस्स के पाठ में **'सिद्धासिद्धि मम दिसंतु'** ऐसा आता है, उसमें भी पूर्ण सिद्धपद के लिये विनती की है। जीव पूरा पाने के लिये बोले किन्तु भाव में भासन मिथ्या हो, वह क्या माँग रहा है ? – इसकी उसे खबर नहीं है। अपनी रुचि को जँचती हुई चीज़ माँगते हैं। अत: चाहता है मुक्तिपद और सेवन करता है बन्धन का। उसे ज्ञानी कहते हैं कि तेरे अन्दर पूर्ण सिद्धपद भरा है; वह तेरे स्वाधीन है, तेरी अनन्त बेहद शक्ति है, उसकी प्रतीति कर तो वह तेरे से प्रगट होगी। तेरे में एक परमाणुमात्र का सम्बन्ध परमार्थ से नहीं है; वर्तमान कर्मसंयोग दिख रहा है, उसका उदय आये, तब उसे तोड़ देने का पुरुषार्थ तेरे में है। अनन्ते कर्मबन्धन मिट जाएँ, ऐसा सामर्थ्य चेतन की एक समय की अवस्था में है। इस ज्ञानबल, पुरुषार्थ किसी के देने से दिया नहीं जाता, फिर भी धर्मात्मा समझकर उपचार करते हैं कि हे सर्वज्ञदेव ! परमात्मा ! **'सिद्धासिद्धि मम दिसंतु'** इसमें मैं जैसा हूँ, वैसा प्रगट होऊँ – ऐसी भावना है।

सम्यग्ज्ञान में सिद्धपद कैसा होता है, इसका जिसे भान हो, वह गुरु आज्ञा अनुसार चलता हुआ स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ से प्रतिक्षण कर्म को टालता है। राग-द्वेष या विषयवासना में रुचिपूर्वक नहीं जुड़ता क्योंकि उसकी दृष्टि में बन्धभावरूप संसार का आदर नहीं है। उल्टा पुरुषार्थ, उल्टी प्रतीति – यही संसार का कारण है। इस भूल को (बन्धरूपभाव को) मिटाकर, अपने सुल्टे पुरुषार्थ द्वारा अखण्ड ज्ञायकपना टिकाये रखता है; अत: ज्ञायकभाव में बन्धपना टिकता नहीं है, ऐसी

सम्यग्ज्ञान की महिमा है। ज्ञानक्रिया ज्ञान में ही है, ज्ञान ही साधन है। बाह्य की क्रिया चेतन कर नहीं सकता, उस पर चेतन का पुरुषार्थ काम नहीं आता। सर्वज्ञ केवली का वीर्य (बल) जड़ में काम नहीं कर सकता। ज्ञानी हो या अज्ञानी हो परन्तु वह जड़-पुद्गल की क्रिया कर नहीं सकता भोग नहीं सकता, किन्तु स्वस्वभाव में टिके रहने का पुरुषार्थ बढ़ने पर रागादि कषाय को मिटा सकता है और राग टल जाने पर राग का निमित्त बाह्य संयोग भी छूट जाता है, – ऐसा त्रिकाली नियम है। **१३०.**

अब, निश्चय को लक्ष्य में रखकर साधन करने को कहते हैं –

निश्चयवाणी सांभळी, साधन तजवां नो'य;
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय।।१३१।।

निश्चय वाणी श्रवण कर, साधन तजो न कोय।
निश्चय रखकर लक्ष्य में, साधन करने योग्य।।१३१।।

अब, निश्चयपरमार्थ को कथनमात्र धारण कर रखे, (पुरुषार्थहीन होकर) निश्चयकथन करे कि आत्मा अबन्ध है, असङ्ग है, सिद्ध है – ऐसा मात्र मन में धारण कर रखे और परमार्थभूत व्यवहारसाधन, सत्समागम आदि छोड़कर स्वच्छन्द में प्रवर्तन करे, ऐसा नहीं होना चाहिए। आत्मा अबन्ध, असङ्ग, शुद्ध है, वह बात परमार्थ से सच्ची है, पर किसके लिये ? कि जो यथार्थ दृष्टि के भानसहित पुरुषार्थ लाये और स्वसन्मुख ज्ञातापने के बल द्वारा राग-द्वेष को तोड़ता है, उसके लिये। परन्तु जो मात्र शब्द रट लेवे, वह राग की रुचि रखता होने से सच्चा पुरुषार्थ न करे, स्वच्छन्द व अनाचार का पोषण करता है; वह पापबन्ध करता है।

आत्मा में परमार्थ से बन्ध या राग-द्वेष की उपाधि नहीं है, पर वह कब ? कि पूर्ण शुद्धता की दृष्टि से अमुक राग-द्वेष-कषाय की कमी करके सच्ची श्रद्धा लाये, तब। परन्तु जिसे सच्चा पुरुषार्थ करना नहीं है और केवल निश्चय के कथनमात्र

की धारणा करके रखनी है, उसका कल्याण नहीं होता। अतः सर्वप्रथम ही मैं शुद्ध हूँ, इसके लक्ष्य से वैराग्यसहित विषय-कषाय की कमी करनी। देह की आसक्ति कम करके सत्शास्त्र का वाँचन, श्रवण, मनन व सत्समागम करना। क्रोधादि कषाय व देहादि की ममता की कमी न करे तो पूरा आत्मा पर से भिन्न, तृष्णा-रागरहित है, उसकी श्रद्धा, रुचि कैसे होगी ? किसी ने श्रीमद्‌जी को लिखा था कि 'मैं परमात्मा हूँ।' इसका जवाब दिया कि सभी जीवों का परमात्मापना है, इसमें संशय नहीं है। तो फिर आप अपने को परमात्मस्वरूप माने तो वह बात असत्य नहीं है, पर जब तक वह स्वरूप यथातथ्य प्रगट न हो, तब तक मुमुक्षु, जिज्ञासु बने रहना ज्यादा अच्छा है और इसी रास्ते से यथार्थ परमात्मपना प्रगट होता है।

अन्तर में जो कषाय हैं, उन्हें पहचाने नहीं; प्रमाद में सन्तुष्ट रहे और अपने आप को ज्ञानी माने, वह स्वयं अपराधी है। अनन्त बार नहीं प्रगट हुआ अपूर्व आत्मभान होने पर, पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा, विवेक व पुरुषार्थ साथ में रहते हैं। अन्तरङ्ग में अकषाय सुखस्वभाव का अनुभव करने में राग-द्वेषरूप कषाय का अंश भी नहीं पुसाता। धर्मात्मा को पूर्णता को प्राप्त कर लेने का पुरुषार्थ प्रगट हुआ है; इसलिये कषाय की वृत्ति को बराबर पहचान लेते हैं और उसको टालते हैं। आत्मा का ज्ञान हुआ, इसमें विवेक होता ही है। अन्दर में चैतन्य की शान्ति व अविकारीदशा प्रगट हुई, उसे राग-द्वेष या विषय-कषाय में रुचि कैसे हो ? अतः स्वच्छन्दी से कहते हैं कि यदि तुझे सच्ची श्रद्धा हो तो पुरुषार्थ हुए बिना रहेगा नहीं। सत् की श्रद्धा होने पर हित-अहित का विवेक साथ में होता ही है। अतः संसार का राग मिटाकर पवित्र देव, गुरु, धर्म, सद्‌देव तथा सत्समागम का बहुमान, विनय, भक्ति, आदर भी होना ही चाहिए। सत्साधन के आदर में अपना बहुमान है। जिसे सत् का प्रेम है, उसे संसार का प्रेम नहीं होता; उसे सही निमित्त पर सहज प्रेम रहता ही है। अहो ! सत्समागम की महिमा ! इस प्रकार भक्ति उछालकर देव, गुरु, धर्म, सत्शास्त्र इत्यादि सच्चे निमित्तों का बहुमान करता है और विवेकपूर्वक जैसा है, वैसा जानते हैं। परन्तु जो केवल कहनेमात्र, ऐसा मानता है कि आत्मा सिद्धसमान है लेकिन उस जाति का पुरुषार्थ करता नहीं है, उसे वीतराग की भक्ति में प्रेम नहीं आता। दान, प्रभावना, आदि में आरम्भ का दोष लगता है – ऐसा

जो कहता है, वह साधकभाव को पहचान नहीं सकता। उसे देहाध्यास वर्तता है; अतः उसे आत्मा की प्रतीति नहीं है। सत्स्वरूप की जिसे पहचान है, उसे सत्साधन का निषेध नहीं होता किन्तु बहुमान होता है। गृहस्थ धर्मात्मा हो, वे देव-गुरुवन्दन, पूजा, भक्ति इत्यादि सच्चे अभिप्रायसहित अत्यन्त महिमा लाकर करते हैं; पर जो जीव निश्चयाभासी हैं, उन्हें सत्साधन की रुचि नहीं होती। देव, गुरु कुछ दे दें, ऐसे नहीं हैं; वे तो पर हैं। ये सारे साधन बालजीवों के लिये हैं, मुझे इसका प्रयोजन नहीं है, – इस प्रकार सत्समागम, गुरुभक्ति आदि सच्चे साधन की उपेक्षा करने के कारण पुरुषार्थहीन व प्रमादी होकर कई जीव स्वच्छन्दपूर्वक पाप में प्रवर्तन करते हैं; अतः ऐसा नहीं होना चाहिए।

शास्त्र में तो निज शुद्धात्मा का आश्रय कराने के लिये निश्चय की बात कही है – यह ठीक है। आत्मा अबन्ध है; परमार्थ से अबद्ध, अस्पृष्ट है; निर्मल ज्ञानमात्र है – यह बात परमार्थ से बिल्कुल सही है। जीव कोई बन्धनयुक्त नहीं है, उसके अन्दर कोई कर्म घुस नहीं गये हैं। संसारावस्था में उसके साथ कर्म के रजकणों की अवस्था दिखती है। उसके आश्रय से होनेवाली विकारी अवस्था को जीव कल्पना से अपनी मानता है और रागी-द्वेषी बनता है, पर ऐसा हो नहीं जाता; भूल से मानता है। जिस प्रकार दूध व पानी मिश्रित हो गये हो तो अग्नि के बिना अलग हो नहीं सकते परन्तु अग्नि का प्रयोग करते ही पानी जल जाता है और दूध की मिठास बढ़ती है और घना (खोये का) पिण्ड बनता है। इस प्रकार आत्मा में कर्मप्रकृति की, निमित्त की उपाधि घुस नहीं गयी है, भूल से माना था। उस भूल को ज्ञानभाव से, अभूलस्वभाव के भान द्वारा टाली जा सकती है। मैं पर से भिन्न, आनन्दघन शुद्ध हूँ; मेरे में परद्रव्य का, परभाव का प्रवेश नहीं है – ऐसी श्रद्धापूर्वक ज्ञान में स्थिर हो जाए तो कर्म की सब विकारी अवस्था आत्मसमाधि के ध्यानरूपी अग्नि के पुरुषार्थ से जल जाती है और शुद्ध चैतन्यपिण्ड आनन्दघनरूप खोया सहजसमाधि में ढीम (घना) हो जाता है। अशुद्ध अवस्था मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसा माने तो ही अशुद्धदशा मिट सकती है।

'निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय।' पूर्ण ज्ञायकस्वभावरूप मोक्ष, यही मेरा साध्य है। उसमें पवित्र ज्ञानमात्ररूप से टिके रहना, यह मेरा ज्ञानबल साधन

है। पूर्ण शुद्धता का अभेद लक्ष्य रखे बिना पुरुषार्थ उठाता नहीं है। जहाँ त्रिकाल शुद्ध स्वरूप की, (स्वाभाविक तत्त्व माने शुद्धात्मा की) श्रद्धा है और उसके लक्ष्य में एकत्वपूर्वक प्रवर्तन करने का जिसे निर्धार है, उसे शुभ-अशुभ विकारी बन्धभाव में रहने का आदर नहीं होता, (ज्ञानभाव में विकारी कर्मभाव का सहज ही निषेध होता है)। कारण विकारी हो और कार्य अविकारी हो, ऐसा कभी नहीं होता। जिस भाव से बन्ध होवे, उस भाव से अबन्धपना कभी प्रगट नहीं होता। पञ्च महाव्रत तथा दया आदि के परिणाम शुभभाव हैं और उस शुभभाव में बन्ध होता है; अतः वे सब कर्मभाव हैं। उससे अबन्धपना गुण होना मानना, यह स्वहिंसा है, सत् का अनादर है।

जो कोई आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं करता और बाह्य साधन में या पुण्यादि में रुक जाता है, उसे सत् का अनादर अवश्य होता ही है। शुद्ध चैतन्यतत्त्व की श्रद्धा नहीं है, तब तक जीव स्वयं परभाव में रुका हुआ है और इसलिये उन पुण्यपरिणामों में मिठास रहती है। वह कदापि पुण्यबन्ध करे किन्तु वह पुण्य, पापानुबन्धी होने से संसार का कारण बन जाता है। बाह्य चारित्र को परमार्थ में शामिल नहीं किया किन्तु **'प्रेरे जे परमार्थने ते व्यवहार समंत।'** – ऐसा कहा है। आत्मा का साधन आत्मा से भिन्न नहीं हो सकता; आत्मा में ही होता है – यह नियम है। इस प्रकार का साधन अपने में से पुरुषार्थ द्वारा प्रगट होता है। बाह्य साधन से आत्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र नहीं है। आत्मा का चारित्र आत्मा के आधार से है; अतः निश्चय की जाति का व्यवहार (साधकभाव) वह सत्साधन है। निश्चय लक्ष्य में रखकर माने मैं आत्मा पर से निराला, अबन्ध, शुद्ध हूँ; राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि सभी उपाधि से रहित हूँ, – ऐसा निश्चय और उसकी यथार्थ प्रतीतिसहित स्वरूपज्ञान में रागरहित होकर टिकना – वह व्यवहार है। राग को (शुभपरिणाम को) अपना माने, करने लायक माने, वह अपने आप को बन्धनयुक्त मानता है; उसे पर से भिन्नत्व की श्रद्धा नहीं है। बन्ध को उपादेय माने तो भिन्नत्व का पुरुषार्थ लायेगा कहाँ से ? अतः पहले विपरीततारहित सच्चे अभिप्राय की जरूरत है। आत्मा नित्य, स्वाधीन है; अबद्ध, अस्पृष्ट, असंयुक्त है; उसमें परनिमित्त का बन्ध, स्पर्श या मल-मैल नहीं है – ऐसी यथार्थ प्रतीति यही जिनेश्वरभगवान के महासूत्र

की प्रथम सीढ़ी है। इस स्वरूप को समझे बिना ज़रा भी धर्म नहीं है; सत्पुरुष की पहचान नहीं है; अतः उसे सत्समागम का लाभ भी नहीं है। **१३१.**

निश्चय व व्यवहार दोनों साथ में होते हैं, ऐसा अब कहते हैं –

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल;
एकांते व्यवहार नहि, बन्ने साथ रहेल।।१३२।।

नय निश्चय एकान्त से, यहाँ कहा नहिं लेश।
एकान्त नहिं व्यवहार भी, उभयदृष्टि सापेक्ष।।१३२।।

यहाँ एकान्त निश्चय कथन कहा नहीं है। आत्मा अबन्धतत्त्व है; पुण्य-पाप आदि शुभपरिणाम भी आत्मा में नहीं हैं। आत्मा एकदम शुद्ध, असङ्ग, निरपेक्ष है – ऐसा परमार्थकथन यथार्थ है। पर उसे एकांत कब कहा जाता है कि उसकी यथार्थ श्रद्धा व पुरुषार्थ न हो, तब। यह बात शुष्कज्ञानी के लक्षण में कही है। इस शास्त्र में एकान्त व्यवहारपक्ष भी नहीं कहा। आत्मा के लक्ष्य बिना कषाय कम करे, उसे व्यवहार नहीं कहा तथा आत्मा का लक्ष्य करना और कषाय कम नहीं करना – ऐसा भी नहीं कहा। परन्तु निश्चय से अवलम्बित सजातीय (चेतन का) स्वावलम्बी व्यवहार कहा है, वह परमार्थ हेतु का व्यवहार है। मैं पूर्ण शुद्ध – यह निश्चय है और उस अकषाय शुद्धता में राग को मिटाकर स्थिर होने का पुरुषार्थ, वह व्यवहार है। वह निश्चय एवं व्यवहार, दोनों आत्मा में ही; बाह्य में नहीं है। मैं रागरहित, वीतरागी हूँ; राग का अंश भी मेरे स्वभाव में नहीं है; मैं शक्तिरूप से सिद्ध भगवान हूँ – इस दृष्टि के साथ ज्ञान में पुरुषार्थ होवे, उसे देव, गुरु, धर्म की भक्ति, सद्गुरु का विनय, बहुमान करने का शुभविकल्प छद्मस्थावस्था में आये ही। वह समझपूर्वक जागृतिसहित भक्ति करता है। पर जिसे शुद्धस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा नहीं है, वह कदापि भक्ति करे तो भी इसके पीछे उसे विवेक होता ही नहीं है। रागरूप भक्ति से वह गुण मानता है, शुभराग को वह पुरुषार्थ

मानता है। सच्चे विवेक के भान बिना वीतराग की भक्ति नहीं है किन्तु राग की भक्ति है। पुण्यबन्ध होता है किन्तु निर्जरा नहीं होती और भव भी कम नहीं होते।

प्रश्न - प्रथम क्या करना ?

उत्तर - सच्ची समझ, व सत्शास्त्र का मनन, वाँचन, विचार, शुद्धता के लक्ष्य से विषय-वासना, क्रोध, मान, माया, लोभ घटाने का नाम व्यवहार; मैं सिद्धसमान हूँ, – यह निश्चय, – ऐसी सच्ची श्रद्धा करनेवाले को तीव्र कषाय मिटकर मन्दकषाय हुए बिना नहीं रहती। अव्रत के पापपरिणाम मिटकर शुभपरिणाम उसे होते ही हैं। सत् की रुचि जिसे है, वह असत् साधन का आदर कैसे करे ? नहीं कर सकता। वह देव, गुरु, धर्म की भक्ति, सत्समागम, वीतरागधर्म की शोभा, प्रभावना करे; अकषायदृष्टिपूर्वक कषाय को कम करे। चौबीसों घंटे तत्त्वविचारों का ही घोलन चलता रहे, ऐसी दशा चाहिए। पढ़ना, पूछना, पर्यटना आदि सभी साधन स्वाध्याय में निमित्त हैं; धर्मात्मा को इन सबका विवेक साथ में होता ही है। किसी निमित्त के आधार से ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं है; बाह्य निमित्त तो ज्ञेय हैं। अकषायतत्त्व के लक्ष्य से जो पुरुषार्थ हो, वही निश्चयपूर्वक व्यवहार है। अत: प्रथम अनन्त काल में नहीं मिला हुआ तत्त्व क्या है ? यह समझने के लिये अन्तर से वैराग्य, उपशमवृत्ति करनी। इसके लिये दिन-रात तड़पे बिना, उसकी अभिलाषा बिना सत्मार्ग का भान आंशिकरूप से भी होनेवाला नहीं है।

जिसके अन्दर पात्रता प्रगट हुई, उसे सत्साधन, सद्‌गुरु इत्यादि मिले बिना रहे ही नहीं। बाहर से न मिले तो समाधान अन्दर से प्रगट होगा परन्तु प्रथम पात्रता की अपनी तैयारी चाहिए। सर्वज्ञ वीतराग ने जो लोकोत्तर मार्ग कहा है, उसे कैसे भी मुझे प्राप्त करना है – ऐसी जिज्ञासा बढ़ने पर उसे सद्‌गुरु मिले हीं। आत्मज्ञान होने के बाद राग-द्वेष सर्वथा मिट नहीं जाते परन्तु जीव पुरुषार्थ बढ़ाता है, राग मिटाने की उसे भावना रहती है। सच्ची दृष्टि हो, वहाँ पर सर्वथा राग-द्वेष मिटाने का अभिप्राय और राग-द्वेषरहित ज्ञान में स्थिर होने का पुरुषार्थ होता ही है। इस प्रकार निश्चयदृष्टिपूर्वक व्यवहार होता है, वह एकान्त से व्यवहार नहीं है। केवल पुण्य करना, यह आत्मधर्म का व्यवहार है – ऐसा भी नहीं कहा। जो कोई शुभभाव

माने पुण्यपरिणाम को चारित्र मानता है, गुण मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि वह तो कर्मभाव है, बन्धभाव है; उससे संवर, निर्जरा या धर्म नहीं है। धर्मात्मा को अकषायदृष्टि का लक्ष्य और उस जाति का पुरुषार्थ है, उसके साथ पुण्यपरिणाम हुए बिना नहीं रहते। वह उसका स्वामी नहीं बनता किन्तु तीव्रकषाय मिटाकर मन्दकषाय करने का वह पुरुषार्थ करता है और दृष्टि पूर्ण अकषाय पर है। राग जितना मिटा, उतना गुण मानता है; बाकी रहे, उसका निषेध रहता है। अतः पुण्यपरिणाम की क्रिया व्यवहार नहीं है परन्तु साधकस्वभाव का पुरुषार्थ, वह परमार्थहेतु व्यवहार है। बाह्य निमित्त को उपचार से व्यवहार कहा है।

मैं सिद्धसमान पूर्ण शुद्ध हूँ – ऐसी श्रद्धा का नाम निश्चय है और पूर्णता के लक्ष्यपूर्वक शुरूआत करनेवाला साधकस्वभाव का नाम व्यवहार है। निश्चयपूर्वक व्यवहार होवे तो ही सर्वज्ञ भगवान का मोक्षमार्ग है। परमार्थ में बाह्य साधन का स्थान नहीं है। पूर्ण शुद्धस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा; पर से भिन्नत्व का अपना ज्ञान, और उस श्रद्धा व ज्ञान में जमने का अपना बल, चारित्र – ये तीन गुण जिसे आंशिकरूप से प्रगट हुए हैं, उसे सत्समागम का बहुमान रहता ही है। देव, गुरु, धर्म, शास्त्र की भक्ति का विनय व तृष्णा, राग मिटाने का पुरुषार्थ उसे हुए बिना नहीं रहता। पर यदि निश्चय अभिप्राय, यानी सच्ची श्रद्धा (शुद्ध स्वरूप) की पहचान न हो और एकान्त व्यवहार का पक्ष करे तो मात्र पुण्यबन्ध करे; वह पुण्य अज्ञानपूर्वक होने के कारण पापानुबन्धी पुण्य है। उससे एक भव भी कम नहीं होता, वह एकान्तरूप से बन्धभाव को ही साधता है; अतः तत्त्व का निर्णय जैसा है, वैसा यथार्थरूप से जब तक नहीं हुआ है, तब तक प्रतिक्षण अज्ञान का महापाप साथ में ही है। अतः सच्ची दृष्टि और उसका व्यवहार समझो। **'प्रेरे ते परमार्थने ते व्यवहार समंत;'** मैं शुद्ध हूँ, यह निश्चय और राग टालकर, स्थिर होनेरूप पुरुषार्थ की रमणता करने का नाम व्यवहार है। वे दोनों साथ में हैं, कोई एकान्त खींचकर पक्ष करे तो कार्य नहीं होता। आत्मा स्वभाव से पूर्ण शुद्ध है और साधना बाकी है – इन दोनों अपेक्षा दृष्टि को जैसी है, वैसी समझना। जिस प्रकार दहीं को मथकर मक्खन निकालते समय रस्सी के दो सिरे में से एक को खींचे, तब दूसरा ढीला छोड़े तो दही में से मक्खन निकले; दोनों सिरे तानकर रखें अथवा दोनों को छोड़ दे

तो मक्खन नहीं निकलता। इस प्रकार मैं चिदानन्द शुद्ध हूँ, ऐसी श्रद्धा वहाँ निश्चयनय और उसको प्राप्त करने योग्य ज्ञानबल का पुरुषार्थ, वहाँ व्यवहारनय। इस प्रकार निश्चय का कथन आये, तब व्यवहार गौण करे और व्यवहार का कथन आये, तब निश्चय लक्ष्य में रखे। इस प्रकार दोनों नय प्रयोजनभूत हैं। जहाँ साधकस्वभाव है, वहाँ देव, गुरु, धर्म की भक्ति इत्यादि बीच में आता है, वह राग है – ऐसा समझता है परन्तु जो संसार तरफ का राग था, उस राग की दिशा सम्यग्दृष्टि बदलता है। **१३२.**

अब, यहाँ पर निश्चय व व्यवहार जिसके गलत हैं, वह बताते हैं :-

गच्छमतनी जे कल्पना, ते नहि सद्व्यवहार;
भान नहीं निजरूपनुं, ते निश्चय नहीं सार।। १३३।।

गच्छ-मत की कल्पना, वह नहिं सद्व्यवहार।
भान नहिं निजरूप का, वह निश्चय नहिं सार।।१३३।।

सम्प्रदाय, मत की कल्पना – वह कोई सद्व्यवहार नहीं है परन्तु आत्मार्थी के जो लक्षण कहे हैं, उसरूप दशा और मोक्षउपाय में जिज्ञासु के जो लक्षण कहे हैं, वह सद्व्यवहार है। गाथा ३८ तथा १०८ में कहे, वे मुमुक्षु के लक्षण तथा जिज्ञासु के लक्षण हैं। एक मोक्ष के अलावा उसे कुछ नहीं चाहिए। भवे खेद = भव नहीं चाहिए; अन्तरदया = निर्वैरबुद्धिरूप निज अनुकम्पा, इस कहें जिज्ञासु और वहाँ आत्मार्थ का निवास है। वहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ की सहीरूप से मन्दता है। उसे एक आत्मार्थ ही चाहिए।

अनन्तकाल में अपूर्वता प्रगट नहीं हुई, वह अपूर्व भाव कैसा होगा ? उसकी प्राप्ति किस प्रकार हो ? – इसी की सच्ची जिज्ञासा चाहिए। **'आरूग्गं बोहिलाभं'** शुद्धचैतन्य में सदा आरोग्यता है – ऐसा भान होने के बाद एक परमाणु भी नया बँधे तो वह रोग है। कोई इच्छा नहीं है, मात्र अपनी पूर्णता का लक्ष्य है; अतः

जो कुछ पुण्य बँधे या पाप बँधे, वे फोड़े हैं। समकिती ऐसा मानता है कि पुण्य-पाप का भाव – दोनों बन्धभाव हैं। मेरा स्वरूप इससे समस्त प्रकार से सर्वथा भिन्न है; निर्मल, पूर्ण पवित्र है – ऐसी यथार्थश्रद्धा सम्यग्दर्शन है। पूर्ण केवलज्ञान वही मैं हूँ, इस प्रकार पर से भिन्नत्व का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान, और उसमें रागरहित स्थिरता का नाम सम्यक्चारित्र है। तत्त्वदृष्टि व पुरुषार्थ सब कुछ आत्मा में ही है।

लोग अन्तरङ्गकषाय किसे कहे ? – यह समझते नहीं हैं और पुण्यपरिणाम को धर्म मानते हैं। यह रोग अन्दर में बढ़ता है और मानता है कि मैं नीरोगी हो रहा हूँ। इससे बेखबर रहकर बाहर से कुछ करें तो संवर-निर्जरा होगी, धर्म होगा – ऐसा लोग बोलते हैं परन्तु चेतन की क्या जाति है ? और वीतरागी धर्म का व्यवहार कैसा हो सकता है ? यह ज़रा धैर्य रखकर, मध्यस्थतापूर्वक सोचे, तत्त्व का अभ्यास करे तो समझ में आये।

आत्मा का धर्म तीनों काल में एक ही होता है। उसका व्यवहार भी निर्ग्रन्थ वीतरागदशा बतानेवाला होता है। यहाँ तो पञ्चम काल है; इसलिये सम्प्रदाय, मत बहुत बढ़ गये हैं किन्तु वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् श्रीसीमन्धर भगवान समवसरण में (धर्मसभा में) धर्मदेशना दे रहे हैं। इस दिव्यध्वनि के कारण सनातन जैनधर्म एक ही प्रकार से प्रवर्तमान है; वहाँ मतभेद के पक्षपात नहीं हैं। गृहस्थ के भी एक-से आचार हैं और मुनिधर्म बिल्कुल निष्परिग्रही, नग्न, दिगम्बर हैं। वस्त्र का ताना भी नहीं होता। शान्त, वीतरागमुद्रासहित, नग्न, आत्मध्यान में मग्न संत-मुनिवरों के समूह हैं। वहाँ एक ही धर्म है। यह बात मानो, चाहे न मानो किन्तु साक्षात् प्रमाणपूर्वक आयी हुई बात है। सर्वज्ञ के घर की बात है; इसमें किसी साक्षी की जरूरत नहीं है। महान ऐश्वर्यवन्त हज़ारों केवलीज्ञानी भगवन्त भी वहाँ बिराजमान हैं। हज़ारों संतों के समूह हैं। धर्मकाल वहाँ विद्यमान है। वहाँ तीनों काल धर्मकाल होता है। यहाँ की माफिक सम्प्रदाय के मतमतान्तर के विरोध वहाँ नहीं है। सदा सत्प्ररूपणा, तीर्थङ्कर भगवान की वाणी का अमृत प्रपात वहाँ बहता है। वहाँ पर यहाँ जो कही जा रही है, वही सत्बोधप्ररूपणा विद्यमान है। अनन्तज्ञानियों ने आत्मा की जिस प्रकार पहचान करायी है, उस प्रकार साध्य-साधनरूप से, विरोध मिटाकर

शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान व उसमें टिके रहने का पुरुषार्थ करना – वही मोक्षमार्ग है। वहाँ निमित्तरूप से २८ मूलगुण, नग्न, दिगम्बर मुनिदशा होती है; इसमें अपवाद नहीं है। आत्मा को जो यथार्थ शुद्धस्वरूप है; उसी में सावधान रहना, पुण्य-पाप, राग-द्वेषरहित शुद्धस्वरूप की सम्हाल करना – यही धर्म है। इसमें अनन्ता पुरुषार्थ करना समाहित है। यह करना लोगों को कठिन लगता है और बाहर से जो खुद के अधीन नहीं है, वैसा अन्य कुछ करना चाहता है; वह बन्धन चाहता है।

जिसे मोक्ष अभिलाषा हो, उसे यह मानना पड़ेगा। अनन्त ज्ञानी जो कह गये हैं, वही यहाँ कहा जाता है। सारे न्याय के पहलुओं से समझकर, विरोध मिटाकर इसकी प्रतीति करो। दुनिया चाहे जो अन्यथा कहे किन्तु यह बात अटल है। सच्ची श्रद्धा के बिना राग में धर्म माना गया है, पुण्य में धर्म माना गया है; इसलिये चाहे जैसी कल्पना द्वारा पर में अपना अस्तित्व रखकर जीव परभाव में टिका है। अतः स्वभाव में टिकना हो, स्वाधीन होना हो, सच्चा हित करना हो तो सर्वप्रथम सच्चा तत्त्व क्या है ? – यह समझो। सम्प्रदाय, मत की कल्पना है – वह व्यवहार नहीं है परन्तु आत्मा में अन्दर गुण अंशतः प्रगट होवे, वह आत्मा का व्यवहार है। जो पुरुषार्थरूप व्यवहार है, वह मोक्षमार्ग है और '**भान नहि निजरूपनुं ते निश्चय नहि सार।**' यानी मन के शुभ-अशुभ सूक्ष्म परिणाम हैं, वह आत्मा का गुण नहीं है। मन, वाणी, देह की क्रिया, विकल्प, राग-द्वेष, कर्म-नोकर्म – इसके साथ आत्मधर्म का सम्बन्ध नहीं है; स्वाश्रित निश्चय भेदविज्ञान के साथ मोक्षमार्गरूप धर्म का सम्बन्ध है। पुण्य से धर्म नहीं है परन्तु बन्ध है। राग की क्रिया व देहादि जड़ की क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है, फिर भी जो कोई अन्यथा माने तो वह उल्टी श्रद्धा है, मिथ्यादर्शनशल्य है। आत्मा को बन्धनवाला मानना – यह परमार्थ नहीं है किन्तु मिथ्यात्व है। आत्मा और सिद्धपरमात्मा जातिरूप से, स्वभाव से समान हैं। जितने गुण परमात्मा में उतने ही प्रत्येक आत्मा में हैं। यदि बन्धस्वभाव होवे, राग-द्वेष यदि चेतन के घर के हो तो वे मिट नहीं सकते किन्तु पुरुषार्थ द्वारा वे मिटाये जा सकते हैं; अतः आत्मा स्वभाव से अबन्ध है। समस्त परद्रव्यों के सङ्ग से भिन्न, पर के कारण-कार्य से भिन्न है; पूर्ण शुद्ध असङ्ग है; जड़ स्वभाव का अंश भी किसी समय चेतन में नहीं है। ऐसी दो और दो चार जैसी (स्पष्ट) बात है। कौन

इसका इन्कार कर सकेगा ?

आत्मा पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है परन्तु ज्ञान का कर्ता-भोक्ता है। जड़ का मालिक चेतन नहीं बन सकता। यह बात कई न्याय से कई बार स्पष्ट हो चुकी है। यहाँ कोई पूछे कि वर्तमान में तो बँधा हुआ, अशुद्ध है न ? तो उसका उत्तर है कि नहीं। द्रव्यस्वभाव कदापि बन्धवाला या विकारी हो नहीं सकता। जो कोई आत्मा को बन्धवाला या उपाधिवाला मानता है, उसे सच्ची श्रद्धा नहीं है। बन्ध तो वर्तमान मात्र एक समय की अवस्थारूप योग्यता है; वह कोई स्वभाव नहीं है, स्वभाव में कुछ घुस नहीं गया है। आत्मा व आस्रवों के बीच क्या भेदज्ञान ? यह विचार करे तो समझ में आये। जैसी स्पष्ट देह दिखती है, वैसा स्पष्ट जिसे आत्मा नहीं दिखता; अनुभव में भिन्न, असङ्ग भासित नहीं होता, मैं पर से भिन्न, असङ्ग, शुद्ध आत्मा, रजकणमात्र से भिन्न हूँ – इसका जिसे लक्ष्य भी नहीं है और देहाध्यास रहता है, उसे सपने में भी धर्म की गन्ध नहीं है। मैं रजकण, देहादि, राग-द्वेष इत्यादि परद्रव्य से मुक्त, अबन्ध हूँ – ऐसा उसे समझ में नहीं आया तो फिर सच्चा सुख कहाँ से हो ? जिसे परम हित करना हो, उसे सत्समागम व वैराग्य को बहुत बढ़ाना चाहिए। किन्तु जिसके ज्ञान-वैराग्य का कोई ठिकाना नहीं है, विषय-कषाय में आसक्ति है, देहाध्यास रहता है और सत्समागम आदि साधन प्राप्त किये बिना कथनमात्र में निश्चय की पुकार करता रहे कि 'आत्मा शुद्ध है' – वह निश्चयाभासी है। ज़रासी असुविधा का प्रसङ्ग आने पर अशान्ति व क्लेश दिखे, शरीर की सुविधा की बहुत ममता होवे – ऐसे देहाध्यास में रहनेवाले जीवों को संसार, देहादि में सुखबुद्धि होने से सिद्धान्तबोध व अध्यात्मशास्त्र सारभूत नहीं होते। ऐसे लोग आत्मा सर्व से भिन्न है, जड़ मन -इन्द्रियों से भिन्न है; इस प्रकार बातें करे परन्तु जहाँ शरीर की कुछ असुविधा दिखे, वहाँ आकुल-व्याकुल होता है, परेशान हो जाता है। किन्तु भाई रे ! तू तो कह रहा था न कि मैं पर से, देह से भिन्न हूँ ? शास्त्रज्ञान का सहारा लेकर जिसने देहादि की ममता कम नहीं की है, आत्मा में अन्तरङ्ग देहभाव, ममता रहती है और कहे कि हमें सम्यग्दर्शन है, वह मात्र ज्ञानी का द्रोह कर रहा है; अपने आत्मा का घात कर रहा है। उसे निश्चय का भान नहीं है। अतः प्रथम तो सर्वज्ञ, वीतराग कथित तत्त्वज्ञान में

एकमेक (तन्मय) होकर तत्त्वनिर्णय करे और साथ में राग-द्वेष व देहादि विषयों में आसक्ति की कमी करे। बाहर के संयोग में कमी करने की बात नहीं है; राग-द्वेष की कमी माने ममता का त्याग और अन्तर वैराग्य चाहिए; सच्ची जिज्ञासा (मुमुक्षुता) उत्पन्न होनी चाहिए।

कोई शास्त्र के शब्द रट रखे कि आत्मा ऐसा है, इत्यादि मन में धारण कर ले और माने कि मैं ज्ञानी हूँ परन्तु इससे कोई परमार्थपूर्वक ज्ञानीपना नहीं आ जाता। ग्रामोफोन की रेकर्ड भी आत्मा की बातें बोल जाए, उस प्रकार यह भी बोल दे, इससे चेतन को क्या गुण ? चेतन पदार्थ आत्मा पर से तीनों काल निराला है। जड़ के रजकण सदा जड़ में है। आत्मा जड़ से व जगत से हमेशा निराला है – ऐसा अभिप्राय सच्चे पुरुषार्थसहित ले आ। इस प्रकार की पहचान नहीं और निश्चयमात्र से पुकारता रहे – वह निश्चय सारभूत नहीं है। जिसने अनन्त काल के भव का भय जाना है, उसे तो अन्तर में गाढ़ रुचिपूर्वक अकेले चेतन का ही घोलन होता रहे; अतः बातें नहीं, पुरुषार्थ कर ! अन्दर में से मालरूप चैतन्यपिण्ड निकाल और मैं अबन्ध हूँ, शुद्ध हूँ – ऐसी यथार्थ साक्षी कर। इन चार गाथाओं में मनन करने लायक बहुत कुछ है। परमार्थतत्त्व अपने आप से समझ में आये, ऐसा है।

निश्चय व व्यवहार दोनों जैसे हैं, वैसे यथास्थान समझे तो ही दृष्टि सच्ची है। इसमें कहीं किसी के सम्प्रदाय या मत के पक्ष की या विरोध की बात नहीं आयी परन्तु सन्मार्ग की अस्ति की बात आयी है। बाह्य की क्रिया तत्योग्य भूमिका के अनुसार होती रहती है; उसे आत्मा नहीं करता। सम्प्रदाय में तथा बहुभाग बुद्धिजीवी लोग जैसा मानते हैं, उससे दूसरी तरह की बात कह रहे हैं; जिसे समझना हो यह सही समझे। ऐसा नग्न सत्य कौन सुने ? किसे कहें ? परमार्थमार्ग की दुर्लभता तीनों काल है। जिसे परमार्थ पाने की भावना है, वही अपूर्व न्याय के आसार सुन सकता है। अभी वर्तमान में भी धर्मकाल है; जिनशासन त्रिकाल जयवन्त है। जो वीतरागशासन है, वह अलौकिक है। भेष और सम्प्रदाय की कल्पना, परमार्थ की साधक नहीं है। अन्दर से (आत्मा में से) न्याय की सहज पुकार उठती है कि जिस आत्मतत्त्व को अनन्त ज्ञानियों ने कहा है, वह ऐसा ही है। मैं आत्मा

पूर्ण, ज्ञान, आनन्द का घन हूँ – ऐसे भावभासनसहित निःसन्देह निर्णय स्वयं आये, यही श्रद्धा की दृढ़ता है; इसमें किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता। आत्मा का मार्ग, साधक (साधन), साध्य सब कुछ आत्मा में है। शुभराग, पुण्य-पाप तथा देहादि की क्रिया में तथा किसी भेष या सम्प्रदाय में ज्ञानगुण का अंश नहीं है। यह तीनों काल में सिद्ध हुई बात है। वर्तमान में स्वच्छन्द व प्रतिबन्ध का ज़ोर बहुत होने से यह नग्न सत्य कैसे बैठे ? जो अनन्त काल से अनजानी बात है, उसकी यथार्थता तब समझ में आये कि जब सत् का बहुमान आये, सत् का विनय आये, सब कुछ अपने में से जागृत होकर आये तो यथार्थता समझ में आये। वाणी में सब कुछ कहा नहीं जा सकता परन्तु जो कह रहे हैं, वह प्रमाण है – ऐसा समझो। अभी सुकाल है; अतः अलौकिक स्वभाव व प्रकृति का योग ऐसा मिल गया है कि बहुत सारे न्याय आ जाते हैं। बाह्यदृष्टि से देखनेवाले को समझना कठिन पड़े, ऐसा है।

सच्चे जिज्ञासु के हृदय में सत् का बहुमान है। काल इतना अच्छा आया कि समयसार और साथ में रहा योगबल, पूर्व के बलवान संस्कार और साक्षात् सर्वज्ञ भगवान की आज्ञासहित सत्यपद की प्ररूपणा जैसी है, वैसी कही जाती है – ऐसा निःशङ्करूप से समझो ! इसमें किसी फेरफार की गुंजाइश नहीं है। तीनों काल के ज्ञानियों का जो कहना है, वही परमार्थ की प्ररूपणा है। सामान्यबुद्धि से समझ में न आये तो मध्यस्थतापूर्वक विचार करना। ना मत करना, साक्षी चाहिए तो वह आत्मा में है। प्रति समय अनन्त शक्ति पूर्णतया भरी पड़ी है। श्रीअमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्मा ही तेरी रक्षा करेगा; अतः उसको देख, इसके अलावा अन्य कोई सहायक नहीं है। अपनी तैयारी जितनी हो, उस हिसाब से निमित्त मिलता है। पर ये सब बातें सम्प्रदाय के आग्रहवालों को नहीं जँचेगीं। जिसे निमित्त से (निमित्ताधीन दृष्टि से) बात बैठी हो, उसे ऐसा लगे कि ये क्या बातें कर रहे हैं ? ऐसा मानेंगे तो लोग पागल कहेंगे। परन्तु हाँ ! सही बात है; संसार की दृष्टि से तो पागल ही लगे क्योंकि यहाँ पर संसार के भवभ्रमण के नाश की बात है। मोक्षमार्ग में तो उपाधि का अभाव होता है, वीतरागदशा प्रगट होती है। वीतराग सर्वज्ञ भगवान तीर्थङ्कर प्रभु के पन्थ में त्रिकाल एक ही न्याय होता है। वर्तमान

में पञ्च महाविदेहक्षेत्र में मुनिधर्म निर्ग्रन्थ, नग्नदशा में प्रवर्तमान हैं। लाखों संत-मुनियों के समूह महा-वैराग्यवन्त वीतरागदशा की साधना करते हैं। धन्य वह उत्कृष्ट धर्मकाल ! वह महाविदेहक्षेत्र, साक्षात् श्रीतीर्थङ्कर भगवान, उनकी महिमा की क्या बात ? वहाँ हमेशा निर्ग्रन्थमार्ग है। तीनों काल एक ही प्रकार का मोक्षमार्ग है। मुनिदशा में बिल्कुल नग्नवेष होता है। निर्ग्रंथधर्म जयवन्त प्रवर्तमान है। यह बात अनेक बार कही है। जहाँ सच्चा पन्थ हो, वहाँ एक ही मत होता है। अतः श्रीमद्जी ने कहा है कि सम्प्रदाय, मत की कल्पना छोड़कर आत्मा में आओ तो बिल्कुल निष्परिग्रह वीतराग का धर्म व भेष कैसा है ? – यह अपने आप समझ में आयेगा। वह भेष, लिङ्गादि व्यवहार है किन्तु उससे मोक्ष नहीं है। आत्मा में मोक्षवस्था है, वही प्रगट होती है; अतः प्राप्त की प्राप्ति होती है।

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २८-११-१९३९

इस गाथा में निश्चय-व्यवहार की सन्धि है। सम्प्रदाय, मत की कल्पना – यह कोई सद्व्यवहार नहीं है। देहाध्यास वैसा का वैसा बना रहे, विषय-कषाय में कमी न होवे, अन्तर वैराग्य नहीं और निश्चयकथन सुनकर स्वच्छन्दपूर्वक चले – यह निश्चय नहीं है, सारभूत नहीं है। परन्तु अनन्त ज्ञानी, सर्वज्ञ, वीतराग, भगवन्तों द्वारा कथित आत्मधर्म ही त्रिकाल जयवन्त है। **१३३.**

अनन्त ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित धर्म जयवन्त है – ऐसा यहाँ कहते हैं –

आगळ ज्ञानी थई गया, वर्तमानमां होय;
थाशे काळ भविष्यमां, मार्गभेद नहि कोय।।१३४।।

पहले ज्ञानी हो गये, वर्तमान में होंय।
होंगे काल भविष्य में, मार्ग-भेद नहिं कोय।।१३४।।

पर से भिन्न शुद्ध आत्मा की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान, और ज्ञानमय चारित्र की स्थिरता – यही रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग है। तीनों काल में सभी ज्ञानी एक ही प्रकार से मोक्षमार्ग कहते हैं; अन्तरङ्ग परमार्थस्वरूप और उसके साधन में कोई दूसरा प्रकार नहीं होता। शिष्य की योग्यता जिस प्रकार की होवे, उसे देखकर ज्ञानी बात करते हैं। वैराग्य की जरूरत दिखे, वहाँ त्याग-वैराग्य का उपदेश मुख्यरूप से कहे। निमित्त पर वज़न देकर केवल व्यवहार में रुकता हो, उसे निश्चय-परमार्थ समझाएँ। ये सब कहने का आशय, परमार्थ एक ही होता है; मार्गभेद कभी नहीं होता। किसी जीव को अमुक पक्ष का आग्रह हो तो प्रथम उसे परमार्थतत्त्व समझने को कहे परन्तु उसका तिरस्कार नहीं करते। यदि कोई एकान्त निश्चयाभास में, स्वच्छन्द में पड़ा हो, उसे पुरुषार्थ करने का व्यवहार बताएँ। कोई एकान्त व्यवहारकाण्ड, पुण्यकर्म करके धर्म मानता हो तो उससे कहे कि दृष्टिसहित स्वसन्मुख होने में ज्ञान का ही पुरुषार्थ कार्यकारी है; बाह्य योग या क्रिया-काण्ड का ममत्वभाव छुड़ाकर स्वरूप को समझने का उपदेश देते हैं। आत्मसाधना में, परमार्थहेतु में साधन-साध्य में फर्क नहीं होता।

परमार्थभूत व्यवहार में कहीं मतभेद नहीं होता। परमार्थ से तो मार्ग=(आत्मधर्म) एक ही है। जो परमार्थमार्ग प्राप्त कर लेते हैं, उनका व्यवहार एक ही प्रकार का होता है। उसकी भूमिका की योग्यता अनुसार व्यवहार होवे – ऐसा कुदरती क्रम है। कभी-कभी सद्गुरु में विनय-भक्ति पर वज़न ज्यादा होवे और कहे कि संतचरण के आश्रय बिना आत्मा को लाभ नहीं होता; अतः गुरु की सेवा करना और यों भी कहा जाता है कि किसी के आशीर्वाद से कल्याण नहीं होता, तेरा कल्याण तेरे पास है, दूसरे के पास गिरवी नहीं रखा है कि वह तुझे दे दे। देव, गुरु तो पर हैं, शास्त्र -पृष्ठ जो जड़ हैं; अतः पराश्रयपना छोड़। आत्मा का साधन, पुरुषार्थ आत्मा में ही है, आत्मा से भिन्न नहीं है; पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है, यह निश्चय। वस्तुस्वरूप के स्वभाव का वर्णन जैसा है, वैसा ही कहा जाता है परन्तु उस प्रकार का स्वानुभव लाये नहीं और पुरुषार्थ करे नहीं, उसे श्रीगुरु हितबुद्धिपूर्वक व्यवहार का उपदेश कहे और समझाएँ कि अकषायदृष्टिपूर्वक तीव्र कषाय मिटाकर पुरुषार्थ कर। राग मिटने पर अशुभ निमित्त का त्याग हुआ बिना

नहीं रहेगा। अत: वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम की जरूरत है – ऐसा बताएँ। अत: '**सद्गुरुआज्ञा जिनदशा निमित्त कारणमांय।**' ऐसा कहा है। सद्गुरु समागम बहुत उपकारी है; इस प्रकार निमित्त का विवेक बताते हैं; अत: जो जैसा है वैसा, उस प्रकार के विवेकपूर्वक समझना चाहिए।

जिनदशा=शुभ या अशुभराग-इच्छारहित वीतरागस्वभाव का आचरण – यही अन्तरङ्ग परमार्थ में मूल कारण है और उस अन्तर अनुष्ठान द्वारा ही पूर्ण, पवित्र मोक्षदशा प्रगट होती है। **१३४.**

अब, मुमुक्षु का उपादान व उसके निमित्त कैसे होते हैं ? यह बताते हैं –

सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय;
सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय।।१३५।।

सर्व जीव हैं सिद्ध-सम, जो समझे वह होय।
सद्गुरु-आज्ञा जिन-दशा, निमित्त-कारण होय।।१३५।।

'जे समजे' इसमें दर्शनमोह का नाश निहित है। 'ते थाय' – इसमें चारित्रमोह का क्षय तथा सभी कर्मों का नाश कहा है। जिस प्रकार सुवर्ण एक ही प्रकार का है किन्तु लाल, पीला, हरा आदि रङ्गवाले कपड़े तथा मनुष्य, पशु, पक्षी, देव आदि के चित्रवाले कपड़े उस पर लपेट दिये हों, उसे यह मनुष्य के आकारवाला सुवर्ण, देव के आकारवाला सुवर्ण, पशु-पक्षी के आकारवाला सुवर्ण – ऐसा उपचार से कहा जाता है। किन्तु अन्दर सोने को सब में सामान्य देखो तो वह एक ही प्रकार का है, उसमें फ़र्क नहीं है। इस प्रकार इस संसार में मनुष्य, देह, नारकी, तिर्यञ्च आदि गतिनामकर्म के संयोग से शरीर के आकार अनुसार उपचार से कहा जाता है कि यह मनुष्य का जीव, यह देव का जीव, यह नारकी का जीव, यह तिर्यञ्च का जीव; पर वास्तव में (निश्चय से) जाति अपेक्षा से सब कोई समान हैं। प्रत्येक देह में प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है; आत्मा की देह अरूपी ज्ञानघन है।

शक्तिरूप से सभी जीव सिद्ध परमात्मा समान हैं। यदि इस देह में रहा आत्मा शक्तिरूप से पूर्ण शुद्ध न होवे तो भेदविज्ञान के बल द्वारा वह मुक्त(सिद्ध) हो नहीं सकते। जो हो नहीं, वह नया बन नहीं सकता – यह सिद्धान्त है। अत: शक्तिरूप से पूर्ण परमात्मा को बराबर प्रत्येक जीव का सामर्थ्य है।

'जे समजे ते थाय' – शुद्धता को जाने, माने और अनुभव करे और उस जाति का पुरुषार्थ करे तो स्वय शुद्धता प्रगट होवे। अभवी (अभव्य) जीव भी शक्तिरूप से सिद्ध परमात्मा समान है, फिर भी उसे वर्तमानदशा में हमेशा इस प्रकार की हीनता है कि उसे आत्मधर्म प्रगट नहीं होता; मोक्ष नहीं होता। प्रत्येक आत्मा का वास्तविक स्वभाव पूर्ण शुद्ध, असंख्यातप्रदेशी, केवलज्ञानस्वरूप, आनन्दघन है; चैतन्यघन है; अविनाशी, आनन्दमूर्ति है। है, वह सदा है; वह स्वाधीन पुरुषार्थ से प्रगट होता है। **'आतम परमातम विषे, शक्ति व्यक्ति गुणभेद; नहितर उभय समान छे, कर निश्चय तज खेद।'** स्वभाव में कुछ फ़र्क दिखता हो तो राग, द्वेष, मोह और पुण्य -पापरूप संसारदशा के कारण से है। आत्मा, द्रव्यस्वभाव से, शक्ति से, लक्षण से समान है; संख्या से भिन्न व स्वतन्त्र है।

अभवी जीव का दृष्टान्त : सुवर्णपाषाण में दो प्रकार की जाति आती हैं। कनकपाषाण व अन्धपाषाण। इसमें अन्धपाषाण में सुवर्णरज इतनी मजबूतीपूर्वक लिपटी हुई है कि उस पर अग्नि आदि का चाहे जैसा प्रयोग करो, फिर भी शुद्ध सुवर्ण अलग नहीं होता; उसकी राख हो जाती है। अन्धपाषाणमें से सुवर्ण भिन्न करना चाहे तो भी भिन्न नहीं होता, फिर भी उसमें सुवर्णपना है। इस प्रकार अभवी आत्मा में मोक्षस्वभाव, सिद्धत्व है, पर वह अन्धपाषाणवत् अप्रगट है; उसका आत्मधर्म कभी प्रगट नहीं होता। आत्मा में व परमात्मा में जाति-स्वभाव से कोई फ़र्क नहीं है। एक की अवस्था सिद्ध के समान खिलती है, जबकि एक की शुद्ध अवस्था खिलती ही नहीं। इस प्रकार एक जाति भव्य की और एक जाति अभव्य की; यह बात कई न्याय से, युक्ति-आगम -प्रमाण से त्रिकाल सिद्ध है। अभवी जीव राग-द्वेष व शुभाशुभपरिणाम में एकत्वबुद्धि की गाँठ छोड़ने का पुरुषार्थ नहीं करता। जिस प्रकार ठुड्डे मूँग पकते नहीं हैं, बाँझ को पुत्र नहीं होता – ऐसा जड़ परमाणु का परिणमन है। दृष्टान्त तो एकदेशी रहता है किन्तु उससे सिद्धान्त समझ लेना और कुदरती

क्रम ऐसा ही है कि प्रत्येक वस्तु तीनों काल में प्रतिपक्षसहित होती ही है। संसार व मोक्ष, भव्य और अभव्य, जड़ व चेतन, सुख व दुःख, मूर्तिक व अमूर्तिक इत्यादि प्रत्यक्ष दिखते हैं।

लायक प्राणी को पुरुषार्थ उठाने हेतु, बोध लेने हेतु, यह अभवी जीवों की जाति एक निमित्त है। इसकी बात सुनने पर उसे अपने में हीनता नहीं दिखती। बेहद ज्ञायक स्वभाव के सन्मुख होकर पुरुषार्थ उठाता है। मैं पूर्ण शुद्ध ज्ञायक हूँ इसके भानपूर्वक राग-द्वेष, पुण्य-पाप में वह अटकता नहीं है; परेशान नहीं होता। जगत में अभव्य जीव अति अल्प संख्या में हैं। जो लायक (भव्य) है, वह ऐसा सुने, फिर भी उसे शङ्का नहीं होती, अपितु अपने अन्दर से पुरुषार्थ उठाकर मैं सिद्ध, मुक्त हो जाऊँ – ऐसा उत्साह आता है। अपना बेहद सामर्थ्य समझे, इसलिये अखण्डज्ञान में निःशङ्क ही रहता है; कहीं रुकता नहीं है और पूर्णता के लक्ष्य से पुरुषार्थ उठाता है – ऐसी निःसंदेह चैतन्य के ज्ञान की बलिहारी है।

सच्चा समझनेवाले के लिये कितना अवकाश है ? इसके लिये यह न्याय है। सिद्ध के ज्ञान में आया है कि अभव्य जाति के जीव अल्प हैं, वह सही बात है। ऐसा जानकर स्वयं राग-द्वेष में नहीं रुककर, शीघ्र ही यथार्थस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान में टिकता हुआ पुरुषार्थ करता है। सर्वज्ञप्रभु ऐसा कहते हैं कि यह भव्य जीव है, तब सामनेवाला लायक जीव '**लही भव्यता मोटुं मान;**' द्रव्यनिक्षेप से (सत्सन्मुख होकर) स्वीकार करे और कहे कि हाँ मैं परमात्मा जैसा ही हूँ; कोरी धारणा बिना अन्दर से सहज 'हाँ' लाये कि मैं सिद्ध हूँ। बीच का काल गौण कर दो तो कर्मोपाधि है ही नहीं। आत्मा के अचिन्त्य पुरुषार्थ की यह महिमा है।

आत्मा अकारणीय तत्त्व है; स्वयं स्वाधीन है, फिर भी ऐसा जीव निमित्त का उपकार मानता है। जो अपनी पात्रता समझे, प्राप्त करे, वही सिद्ध परमात्मा होता है। इसलिये कहा कि '**सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय**'। 'सिद्धसम' शक्ति, व्यक्ति के न्याय अनेक प्रकार के हैं। एक तो अपने अन्दर पात्रता (तैयारी) द्वारा सत्पुरुष का योग प्राप्त करे और सर्वज्ञ परमात्मा की श्रद्धा करके अपूर्व वीर्योल्लास द्वारा प्रत्यक्ष आत्मलाभ प्राप्त करे। दूसरी बात – कोई सर्वज्ञ के मुख से '**तू भव्य**

है' – ऐसा सुनकर, खुद भावपूर्वक उछलकर अन्दर से हाँ लाये कि हाँ ! ऐसा ही है। 'है' की हाँ जिसे आयी, वह पुरुषार्थ उठाता हुआ स्वभावसन्मुख चला आता है; वह धर्मात्मा छद्मस्थ जीव होते हुए भी भावि नैगमनय से सिद्ध हैं।

केवलज्ञानी ने कहा कि यह जीव दो भव में मोक्ष जानेवाला है; वह भी भावि नैगमनय से सिद्ध ही है। यह सुननेवाला भाव से उछलकर वर्तमान में ही मैं पूर्ण हूँ - इस लक्ष्य से अपने में स्थिर होकर शुद्धपर्याय विकसित करके यथार्थ निर्णय लाये कि मैं त्रिकाल ऐसा ही हूँ। **'जे समजे ते थाय'** – यह सर्वव्यापक सूत्र है। जो लायक होगा, वह समझेगा; समझेगा माने शुद्धपर्याय को विकसित करे (पूर्णता के लक्ष्य से साधक-स्वभाव प्रगट करे)। द्रव्यस्वभाव नित्य शुद्ध है, उसमें शुद्ध सिद्ध अवस्था शक्तिरूप से अनादि की है; नयी नहीं है। सिद्ध समान वह सहज शक्ति है – इस प्रकार प्रगट जाने और उपाय समझे, उसे प्रगट होता है। 'ते थाय' इसमें उपादान का सामर्थ्य कहा। इसमें निमित्तकारण सद्गुरु की आज्ञा है। सद्गुरु द्वारा कथित वीतरागदशा का विचार करना, यह ज्ञानबल का पुरुषार्थ है। इस प्रकार दो कारण कहे। एक मूलकारण और दूसरा संयोगरूप बहिरङ्गकारण। जिसे अखण्ड सत्साधन निजशक्तिरूप निश्चयकारण हो, उसे सद्गुरु, सद्देव, सत्शास्त्र निमित्तसाधन होते हैं। सच्ची दृष्टिसहित पुरुषार्थ हो, तब यह निमित्त कहलाता है। जिस प्रकार दूध मूलकारण, यानी वह उसकी सहज उपादान शक्ति है; उसके आधार से खोया(मावा) बनने की उसमें स्वाभाविक शक्ति है। वही उचित समय पर स्वयं खोयारूप परिणमित होता है; पानी का भाग जल जाता है। इस प्रकार सिद्ध होने का मूलकारण तो जीवद्रव्य स्वयं है। उसका कारण स्वतन्त्र शक्तिरूप है। सिद्धपदरूप पर्याय है, उसे व्यक्त करनेरूप कार्य अपने आधार से है। उसकी योग्यता का पुरुषार्थ जीव ने किया; इसलिये उस प्रकार का व्यवहार और सत्समागम आदि निमित्त अवश्य होते ही हैं।

इस गाथा में बहुत सारे न्याय हैं। इसमें ऐसा भी आया कि अनन्त जीव हैं; एक नहीं है। सभी जीवों में स्वाधीनरूप से बेहद सामर्थ्य है, सभी में समान शक्ति है। समझनेवाले को भव्य कहा; नहीं समझनेवाले को अभव्य कहा। सद्गुरु की बात की, मोक्षमार्ग कहा। जिन आज्ञा वीतरागदशा का विचार, चारित्र की बात

की। इस प्रकार कई न्याय शामिल हैं, फिर भी बहुत कुछ कहना बाकी रह जाता है। जीवों के पुण्य जिस प्रकार के हों, वैसा वाणी का योग होता है। अब, (हमारा) विहार करके जाने का समय नज़दीक होने के कारण संक्षिप्त में कहना पड़ता है। इन सभी न्याय पर बहुत-बहुत विचार करना। मोक्ष का मार्ग जो यहाँ बहुत दिनों से कहा जा रहा है, वही सर्वज्ञ वीतराग का निर्ग्रन्थमार्ग है। वह मार्ग तीनों काल में एक ही है; निश्चय-व्यवहार की सन्धिवाला यह मार्ग है। चारों ओर के न्याय के पहलुओं का जो मेल बिठाये, उसे सही बात समझ में आती है और इसे समझने की शक्ति बाल-गोपाल सभी जीवों में है।

संसार अनन्तकाल तक रहेगा; अतः सही तत्त्व नहीं समझनेवाले जीव भी हैं। प्रत्येक आत्मा में बेहद शक्ति है किन्तु जब वह जितनी प्रगट करना चाहे, तब वह उतनी प्रगट होती है। पुरुषार्थ द्वारा जितनी पात्रता तैयार करे, वहाँ उचित निमित्त भी होता है; इसका विवेक एवं विचार करनेवाले भी होते हैं। अनन्त जीव संसार से मुक्त, सिद्ध परमात्मारूप स्वतन्त्र हैं और अनन्त जीव सिद्ध होंगे। सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान, सत्समागम, संयमादि, मोक्षमार्ग वर्तमान में भी है। इस प्रकार बहुत-से न्याय इस गाथा में मनन, करने लायक हैं। सब कुछ स्वयं समझना पड़ेगा; स्वयं प्रयत्न करे तो ही लाभ हो। निमित्ताधीन दृष्टिरहित देहादि परभावों का पक्ष व लक्ष्य छोड़कर पुरुषार्थसहित साधक जीव आत्मधर्म में प्रवर्तन करता है। शुद्धता का निश्चय व आश्रय ही सच्चा मार्ग है; है, वह त्रिकाल है। यह गाथा बहुत गम्भीर है। इस गाथा में पूरी 'आत्मसिद्धि' का सार समाहित है। **१३५.**

उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त;
पामे नहि सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित।। १३६।।

उपादान का नाम ले, वह तो तजे निमित्त।
पाये नहिं सिद्धत्व को, रहे भ्रान्ति में स्थित।।१३६।।

देखो ! यथास्थान जैसा चाहिए, वैसी क्रमबद्ध गाथाओं की रचना हुई है। सद्गुरुआज्ञा आदि आत्मसाधन में निमित्तकारण हैं – सद्देव, गुरु, धर्म की भक्ति, सत्शास्त्र की भक्ति आदि। किन्तु वे कब निमित्त कहलाएँ ? कि (जब) स्वयं निश्चयशुद्धि करे, तब निमित्त का बहुमान होना – वह अपना बहुमान है। धर्मात्मा को ऐसा प्रसङ्ग सहज ही हुए बिना नहीं रहता। पूर्ण वीतराग न हो, तब तक बहुमान आये बिना नहीं रहता। इसशुभ विकल्प के पीछे अखण्ड सत्स्वरूप की आराधना का पुरुषार्थ रहता है। मुनि, गणधर आदि जो चार ज्ञान के धनी (स्वामी) हैं, वे भी गुरुभक्ति करते हैं। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में श्रीसीमन्धरस्वामी परमात्मा तीर्थङ्कर भगवान बिराजमान हैं। वहाँ गणधरदेव, संतों के नायक, तीर्थङ्करदेव के मन्त्री/वज़ीर हैं। वे भी भक्ति, विनयसहित सर्वज्ञप्रभु का आदर-बहुमान करते हैं क्योंकि ऐसा करने में स्वयं की (सत् की) परमार्थरूप महिमा है। उनका प्रगट ज्ञान अनन्तवें भाग का है; वीर्य भी अनन्तवें भाग का है। केवलज्ञानी भगवान की अपेक्षा से उनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, स्थिरता का विकास अनन्तवें भाग में है। ऐसे गणधरदेव महान योगबल के स्वामी हैं, महापुण्यवन्त हैं। ऐसे गणधर द्वादशाङ्ग श्रुतधर, चरमशरीरी होने के बावजूद सद्गुरु का महामान करते हैं। वे तीर्थङ्कर भगवान के वज़ीर हैं और सर्वज्ञ भगवान तीर्थङ्कर प्रभु तीनलोक के नाथ कहे जाते हैं।

'धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं' धर्म में उत्तम व चार गति का अन्त करनेवाले धर्मनायक, धर्मचक्रवर्ती तीर्थङ्कर भगवान हैं। उनसे निम्न पदवी के धारक, संतों के नायक गणधरदेव, सर्वज्ञ भगवान का व उनकी वाणी का बहुमान करते हैं कि अहो ! धन्य प्रभु ! आपकी वाणी अपूर्व है। उन्हें चार ज्ञान प्रगट हुए हैं, फिर भी अभी परोक्षज्ञान है। पुरुषार्थ उठाकर ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान एकाकार स्थिर होकर निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं; स्थिरता छूटने पर भक्ति करते हैं, श्रवण करते हैं। तो फिर जिन जीवों को अंशमात्र गुण प्रगट नहीं है, वे उपादान का नाम लेकर (भावपूर्वक नहीं) केवल कथनमात्र की धारणा बनाये रखे और सत्साधन तथा सच्चे निमित्त का बहुमान न करे तो भव में डूब जाए परन्तु यदि यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान का भाव ले तो सद्गुरु -भक्ति, वीतरागदेव और सत्शास्त्र आदि निमित्त का उपकार माने हीं। वह सत्साधन का बहुमान विनयपूर्वक करता है।

जितने अंश में शुद्धभाव खिला, उतने अंश में निमित्त का अवलम्बन छूट जाता है। यहाँ पर निम्न सिद्धान्त लागू होता है : '**उपादाननो भाव लई, ए जे तजे निमित्त; पामे ते सिद्धत्वने, न रहे संसारमां स्थित।**' परन्तु जब तक स्वभाव में स्थिर हुआ नहीं है, तब तक निर्मानतापूर्वक निमित्त का उपकार स्वीकार करता है; भक्ति, स्वाध्याय इत्यादि करता है किन्तु पुरुषार्थ किये बिना ही कोई मैं सिद्ध परमात्मा हूँ – ऐसा कहकर सच्चे निमित्त का अनादर करे, स्वच्छन्दपूर्वक माने कि ये सब पर हैं; इनसे मुझे प्रयोजन नहीं है – वह सत्साधन को दूर करता है; अत: वह अपने स्वरूप की अशातना करता है। निमित्त होता है किन्तु निमित्त आश्रित उपादान नहीं है। ऐसा होने पर भी जानते हुए भी, समकिती धर्मात्मा इसका विवेक समझते हैं और समझकर उनका बहुमान करते हैं क्योंकि वे उपकारी हैं। उपादान स्वयं स्वाधीन है, फिर भी गुणी गुणवन्त निमित्त का स्वीकार करते हैं। उपादान का अर्थ : उप=समीप, आदान=ग्रहण करना। जिस समीप कारण से कार्य का ग्रहण हो, वह उपादान है। गुण प्रगट हुआ, इसमें निमित्त का बहुमान आये बिना नहीं रहता। निमित्त कोई दूसरे द्रव्य का गुण प्रगट नहीं कर देता। यदि ऐसा हो तो ज्ञानी के पास सभी जीव धर्म प्राप्त कर लेवे किन्तु ऐसा नहीं होता। जब सत् की समझ और समझ का कार्य हो जाए, तब सद्गुरु निमित्तकारण कहलाते हैं।

मुमुक्षु अपने उपादान को जागृत करके उपकार का स्वीकार करे, तब निमित्त कहा जाता है। जिस प्रकार मिट्टी में घड़ेरूप बनने की मूलशक्ति व योग्यता है। जब मिट्टीपना पलटकर घड़ेरूप होने की जो योग्यता थी, वह प्रगट हुई, तब कुम्हार उसका निमित्त कहा जाता है। निमित्त से जागृत नहीं होता परन्तु तैयारी स्वयं करे, तब निमित्त होता ही है। उपादानशक्ति स्वसत्ता में स्वाधीन है। स्वयं जब प्रगट करना चाहे, तब निमित्त मिले बिना नहीं रहता – यह उपादान की महत्ता है। आत्मा जिस प्रकार से जैसा होना चाहे, शुद्ध या अशुद्ध , तब मूल उपादानशक्ति को निमित्त कारण मिले बिना नहीं रहता। इसीलिये चैतन्य की अनन्त शक्ति का स्वाधीनपना ज्ञानी ने बताया है। जिसके अन्दर पात्रता प्रगट हुई है, उसे सत्साधन मिले बिना नहीं रहता – ऐसा निमित्त -नैमित्तिक योग होता है। शुद्ध श्रद्धा होने पर राग का

अंश भी उपादेय नहीं है, ऐसा जो समझता है, उसे पुण्य के शुभविकल्प की इच्छा भी नहीं है; फिर भी अशुद्ध अवस्था है, इसलिये अकषायदृष्टि से कषाय टालने का पुरुषार्थ करता है। प्रशस्तराग है, इसलिये सत् का व सत्समागम का बहुमान रहता है। संसार का राग मिटाकर सद्देव, गुरु, धर्म, शास्त्रादि की भक्ति का शुभभाव वहाँ रहता है। वीतराग नहीं हुआ, तब तक पूर्णता के लक्ष्य से विनय-विवेक आये बिना नहीं रहता। इस प्रकार सद्गुरुआज्ञा, सत्समागम तथा वीतरागभक्ति, स्वाध्याय आदि आत्मसाधना में निमित्तकारण हैं। आत्मा के गुण ज्ञान-दर्शनादि उपादानकारण है – ऐसा शास्त्र में कहा। इसलिये उपादान का नाममात्र लेकर जो कोई इन निमित्तों को – सद्गुरु आज्ञा, जिनदशा आदि का त्याग करेगा, वह परमार्थ को, सिद्धत्व को प्राप्त नहीं करेगा और भ्रान्ति में (सन्देह में) रहेगा। स्वरूप में प्रमाद (अनुत्साह) रखने से सच्चे निमित्त मिलने के बावजूद भी कल्याण नहीं होगा; अतः सच्चे निमित्त को जानकर विवेकसहित पुरुषार्थ में रहने से ही कल्याण है, ऐसा समझना।

तिल व तेल को देखो। तिल में तेल है किन्तु शक्तिरूप में है, उसका प्रयोग होने पर प्रगट होता है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा में शक्तिरूप से पूर्ण सिद्धत्व है, पर वह यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और ज्ञान के पुरुषार्थ की स्थिरता करने से प्रगट होता है। जिस प्रकार तिल को यूँ ही अग्नि पर कढ़ाई में डालो तो जल जायेगा; पूड़ी तलने के काम नहीं आयेगा। इस प्रकार पुरुषार्थ के बिना, गुण प्रगट हुए बिना 'मैं सिद्ध हूँ' – ऐसी कल्पना करने से हित नहीं होगा, परन्तु अहित होगा। अतः जिसे हित करना हो, उसे गुण का आदर करना। देव, गुरु, धर्म की विनय व सद्गुरु का समागम करे तो अपनी पात्रता द्वारा ये सारे निमित्त अवश्य उपकारी कहे जायेंगे और सत् की समझपूर्वक गुण प्रगट होंगे। जिसे गुण प्रगट हुआ, उसे सद्देव, गुरु, धर्म, सत्शास्त्र आदि का बहुमान आये बिना नहीं रहता। अतः जो कोई सत्साधन व उसके निमित्तों का (देव-शास्त्र-गुरु की पूजा, भक्ति; जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर का) निषेध करता है, वह सत्साधन को नहीं पायेगा और असत्कल्पना में, भ्रान्ति में सन्तोष मानकर राग की रुचि में, बन्ध में रुक जायेगा। सत्श्रद्धा व सत्साधन के प्रेम के बिना उसकी शङ्का दूर नहीं होगी। शुद्धता सद्गुरु प्रगट

कर देंगे या मेरे से प्रगट होगी ? मेरे अन्दर गुण होंगे या नहीं होंगे ? ऐसा सन्देह रहने पर सच्चा निर्णय हो नहीं सकेगा और सच्चे निर्णय बिना नि:सन्देहपुरुषार्थ कहाँ से करेगा ? अपना पुरुषार्थ उठे बिना उसे सच्चा उत्साह आयेगा नहीं। अत: **'मोक्षमार्ग पामे नहि, मटे न अंतर रोग।'** शास्त्र वाँचन, श्रवण भी उत्साहपूर्वक नहीं करेगा। एक बार सुन लिया उतना ही काफी है ! ऐसा वह मानेगा। जहाँ थोड़े में सन्तुष्ट हो गया, वहाँ अपने ज्ञान को मर्यादावाला माना; इत्यादि बहुत प्रकार की भूलें उसे परमार्थ में आड़े आयेगी। शास्त्रवाँचन, उपदेश, भक्ति, श्रवण में अरुचि और अनन्त काल में संसार के काम किये उसमें अरुचि नहीं होती और सत्श्रवण, स्वाध्याय में अरुचि (नीरसता) है, उसे सच्चे निमित्त के प्रति उत्साह नहीं है क्योंकि संसार का प्रेम है।

ज्ञानी धर्मात्मा अधूरीदशा में हैं, तब तक उन्हें षट् आवश्यकक्रिया अकषायपने के लक्ष्यपूर्वक होती है। सत्साधन का, इष्ट निमित्तों का बहुमान आता है। जहाँ सत् का तथा उसे दिखानेवाले साधनों (इष्ट निमित्तों) का आदर है, वहाँ उसकी समझ और विनय-विवेक होगा ही होगा। यह निमित्ताधीनता नहीं है, पर यह तो निमित्त का ज्ञान किया है; साधकस्वभाव की शक्ति का विकास किया है। यही लोकोत्तर विनय की महत्ता है। पुरुषार्थ के साथ जो सद्गुरु आज्ञा आदि शुभविकल्प का आलम्बन है, वह आगे चलने पर सहज छूट जाता है; हठपूर्वक नहीं। श्रीमद्जी ने कहा है कि **'संयमना हेतुथी योगप्रवर्तना, स्वरूप लक्षे जिनआज्ञा आधीन जो, तो पण क्षणक्षण घटती जाती स्थितिमां, अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो; अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?'** जैसे-जैसे निरालम्बन स्वभाव के अन्दर स्थिरता, वीतरागदशा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे निमित्त का अवलम्बन, जिनआज्ञा के विकल्प भी छूट जाते हैं। पहले जो शुभविकल्प पुरुषार्थ के साथ था, वह विकल्प जब टूटता है, तब निमित्त का ज्ञान रह जाता है और अप्रमत्तसंयमभाव में ध्याता, ध्यान, ध्येय एकाकाररूप शुद्धता में लीन हो जाते हैं। ऐसी दशा जब तक नहीं है, तब तक सद्गुरु का विनय, जिनआज्ञा का विचार इत्यादि शुभविकल्प रहते हैं परन्तु जहाँ उस निमित्त का आदर नहीं है, वहाँ निजगुण की अशातना रहती है। अत: जिसे सच्चा हित करना है, ऐसे मुमुक्षु आत्माओं को प्रथम संसार का

राग मिटाकर, राग की दिशा बदलनी चाहिए। अकषाय स्वरूप है, उसमें जाने की दृष्टिसहित उस निमित्त का विनय रहता है। जब तक संसार का राग था, तब तक अघातिकर्म का योग भी ऐसा था कि विषय-कषाय के संयोग ही थे किन्तु जैसे दृष्टि बदली – आत्मा शुद्ध है, असङ्ग है, तृष्णा-ममतारहित है – ऐसा लक्ष्य हुआ, तब राग की दिशा सत् व सत्साधनों की ओर (इष्टनिमित्त की ओर) झुकती है और बाहर के संयोग भी परमार्थ दिखायें, उस प्रकार के ही मिलते हैं।

बाह्य का योग अनुकूल न हो तो अन्दर में भाव से अनुकूलता कर लेता है। पर की क्रिया जीव के आधार से नहीं है, फिर भी जिस प्रकार पूर्व में अज्ञान के कारण राग-द्वेष का सेवन ऐसा किया कि उसे उल्टे पुरुषार्थ में बाहर के संयोग अनुकूल निमित्त हुए – ऐसा दिखता है; इस प्रकार सत् के लक्ष्यपूर्वक सुल्टे पुरुषार्थ में (समझ में) गुण की शक्ति बढ़ाने हेतु निमित्त अनुकूल दिखते हैं।

निमित्त का स्वीकार तो खुद को करना है; निमित्त जबरन् कहाँ कहता है कि तुम राग करो अथवा वीतराग हो जाओ। जीव स्वयं ही अपने आप को भूलकर, निमित्त का आश्रय लेकर रागी-द्वेषी होता है। सुल्टे पुरुषार्थ में (ज्ञान में) रहे तो राग को टालकर निर्जरा होती है। धर्मात्मा के हाथ में शास्त्र के पन्ने आयें, उसमें से वे स्वयं कुछ प्राप्त नहीं करते परन्तु अपने ज्ञान में निमित्त सम्बन्धित ज्ञान करते हैं। ज्ञानी को सारे निमित्त, गुण प्रगट होने में उपकारी होते हैं। राग की दिशा बदलने पर रजकण की दिशा बदल गयी। इस प्रकार योगानुयोग बाह्य के संयोग उपकारी होते हैं – ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; लेकिन मैं ऐसा करता हूँ, इसलिये ऐसा होता है; हाथ-पैर चलाता हूँ, इसलिये चलते हैं – ऐसा नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वतन्त्रता बताता है। राग की दिशा बदलने पर देव-गुरु-धर्म की भक्ति, शास्त्रवाँचन, श्रवण, स्वाध्याय इत्यादि होता है; अतः धर्मात्मा को परमाणु और प्रारब्ध बदल जाते हैं। बाह्य के संयोग भी अनुकूल होते हैं। स्वाधीन खेल तो सारा चैतन्य में ही है। भगवान आत्मा राग द्वारा या ज्ञान द्वारा जड़ की कुछ क्रिया करे, ऐसा कभी सम्भव नहीं है।

जहाँ पुरुषार्थ प्रगट हुआ, वहाँ घातिकर्म तो पलट जाते हैं; नोकर्म की क्रिया भी बहुभाग योगानुयोग शुभजोग में होती है। फिर भी कदापि बाहर में इस अनुसार

न दिखे तो अन्दर में (भाव में) तो इस अनुसार ही होता है और सत्समागम, सत्साधन, परमार्थ को पाने के जो सच्चे निमित्त – गुरुआज्ञापालन, सत्शास्त्र का विनय, बहुमान तथा गुणभक्ति होते ही हैं। जो जीव पुरुषार्थहीन होता है, सत्साधन का निषेध करता है – वह सत् से विमुख रहकर स्वच्छन्द में भटकता है। इसलिये कहा है कि '**पामे नहि सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित।**' अपने निजगुण को प्राप्त नहीं करता हुआ वह भ्रान्ति में रहता है। देव, गुरु, धर्म के साधन का आदर छोड़कर वह स्वच्छन्द में प्रवर्तन करता है। वह भ्रमणा को और घुटेगा और जो कुछ सोचेगा, उसकी खतौनी अज्ञान में ही करेगा। शास्त्र में आत्मा को अकारक स्वाधीन कहा है। वह द्रव्यस्वभाव की पहचान कराने के लिये है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के अधीन नहीं है; यह बात सच्ची ही है किन्तु इससे जो उपकारी निमित्त हैं, उनका निषेध करना – ऐसा कौन से शास्त्र में कहा है ? शास्त्र में उसका निषेध नहीं है। अतः सच्चे देव, गुरु, धर्म का अवलम्बन लेकर, आत्मा के निजगुण द्वारा अपने सच्चे उपादान को सन्मुख करना और पुरुषार्थरहित नहीं होना – ऐसा शास्त्रकार का कथित परमार्थ है और व्यवहार जहाँ जैसा है, वैसा वहाँ पर समझे बिना मोक्षमार्ग ही नहीं है। निश्चय-व्यवहार, साधन -साध्य, पुरुषार्थ व परमार्थ, उपादान-निमित्त, भेद-अभेद, कारण-कार्य जिस प्रकार से है, उस प्रकार से कहकर तीनों काल के मोक्षमार्ग की सन्धि गाथा १३४ में रखी है। गाथा १३५ में शक्ति और व्यक्ति, यानी द्रव्य व पर्याय की सन्धि कही। इस गाथा में उपादान व निमित्त की सन्धि रखी है। सच्चे निमित्त का विवेक व विनय समझाया कि सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा होवे वे सच्चे देव-गुरु का विनय करते हैं, गुरुआज्ञा का अवलम्बन लेते हैं। शास्त्र में कभी ऐसा भी आता है कि पूर्व में अनन्त बार ज्ञानी मिले, फिर भी कल्याण नहीं हुआ। ऐसा सुनकर कोई यदि ऐसा एकान्त माने कि अन्दर से गुरुगम प्रगट होगा, इसलिये सद्गुरु तथा सत्शास्त्र आदि की जरूरत नहीं है तो यह ठीक बात नहीं है। महासमर्थ आचार्यवर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रन्थ को पूर्ण करते हुए कहते हैं कि 'हे गुरु ! आपके उपकार से भव का किनारा आ गया। आपके चरणकमल की सेवा से मेरे भव का अन्त दिखता है – यह आपकी चरणसेवा का फल है।' स्वयं आचार्य थे। ज्ञानबल से भरित नग्न निर्ग्रन्थमुनि

थे, फिर भी सद्गुरु का महामान करते हैं। जिस प्रकार अच्छे फल पके, वह वृक्ष के कारण है, उस प्रकार शास्त्ररचना में जो कुछ महत्ता आयी हो, वह श्रीगुरु का प्रताप है।

पञ्चम काल में भी वे एकावतारी हो गये। वर्तमानकाल में भी यही जैनशासन प्रवर्तमान है। अतः जिसे आत्मधर्म की रुचि है, उसे तो निवृत्ति लेकर सत्समागम तथा देव, गुरु, धर्म व शासन की भक्ति करनी ही चाहिए। संसार की अभिलाषा करनेवाले ज्यादा लम्बे दिन शादी के मण्डप रोपित करते हैं; मण्डप को सजाकर अपने लम्बे -चौड़े अरमान पूरे करने का यत्न करते हैं। तो फिर यह तो लोकोत्तर विनय, यानी मोक्ष का उत्साह रखनेवाले धर्मात्मा अन्तरङ्ग रुचिपूर्वक देव, गुरु, धर्म की भक्ति चिरकाल रहे, यही इच्छा रखते हैं। कोई कहे, आप निमित्त के आश्रय पर बहुत ज़ोर देते हो तो इसका यह मतलब नहीं है। देव, गुरु, धर्म – ये तीनों वीतरागस्वरूप निर्दोष हैं; जिनपद ही निजपद है। इसके समान सुन्दर अन्य क्या हो सकता है ? सद्देव, सद्गुरु, सद्धर्म निमित्त हैं और निश्चय से उपादान स्वयं है। इसका विवेक ज्ञानी समझते हैं, वीतराग का स्वीकार करे, सो वीतराग होवे। प्रभु का भक्त स्वयं परमात्मा हो जाता है।

'उपादाननो भाव लई, ए जे तजे निमित्त,
पामे ते सिद्धत्वने, न रहे संसारमां स्थित।'

निमित्त का विकल्प टूट जाए और स्वभाव में, निर्विकल्पदशा में स्थिर हो जाए, वहाँ शुभविकल्प का भी अवकाश नहीं है। **१३६.**

❖❖ ❖❖

दिनाङ्क - २९-११-१९३९

जो मात्र ज्ञान की बातें करते हैं, वे ज्ञानी के (स्व के) द्रोही हैं – ऐसा कहते हैं :-

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर छूट्यो न मोह;
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह।।१३७।।

मुख से ज्ञान कहें अरे ! अन्तर छुटा न मोह।
वह पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानी का द्रोह।।१३७।।

उपादान का मात्र नाम लेकर जो देव, गुरु, धर्म का विनय छोड़कर पुरुषार्थरहित होकर स्वच्छन्द में प्रवर्तन करता है, वह बन्धत्व को प्राप्त होकर भ्रान्ति में रहता है। वह शान्ति तो प्राप्त नहीं करेगा एवं सत्साधन भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

मुख से निश्चय के वाक्य कहे कि आत्मा, अवस्था में भी असङ्ग, मुक्त, शुद्ध ही है और स्वयं को अन्तर से मोह छूटा नहीं है; परपदार्थ में सुखबुद्धि रहती है, शुभाशुभभाव, विषय-कषाय, रागादि को अपना मानता है – उसे अन्तर में से भ्रमणा गयी नहीं है। वह पामर प्राणी, ज्ञानी का केवल द्रोह ही कर रहा है। पुरुषार्थहीन होकर सच्चे मार्ग से प्रतिकूल रहकर खुद को ज्ञानी कहलाने की कामना में सच्चे ज्ञानी पुरुषों का द्रोह करता है, यानी निश्चय से तो अपना ही महा-अपराध करता है। खुद के अन्दर कितना सामर्थ्य है ? इसका भान नहीं होने से ज्ञानी का द्रोह करता है। ज्ञानी का द्रोह माने वह अपने ही आत्मा का अनन्त द्रोह करता है।

जिसे आत्मज्ञानदशा प्रवर्तमान है, उससे किसी का द्रोह नहीं होता; केवल मोक्ष अभिलाषा रहती है। शुद्धात्मा के अलावा उसे अन्य कुछ नहीं चाहिए। इन्द्र,

चक्री आदि पुण्यपद उसे नहीं चाहिए; इसी क्षण मुक्त हो जाऊँ – ऐसी भावना उसे रहती है और गुरु का विनय, सत्पुरुष की भक्ति और जिनआज्ञा में पुरुषार्थसहित वर्तता है। परन्तु जिसे सच्चे निमित्त के लिये उत्साह नहीं है, वह यों कहता है कि हम अपने उपादान से सब कुछ कर लेंगे। अन्तर में स्थिरता हुए बिना (निर्विकल्प वीतराग हुए बिना) जो सच्चे देव, गुरु, धर्म की भक्ति, विनय, स्वाध्याय आदि का अनादर करता है, वह पापी प्राणी है; स्वयं अपराधी है, जिनशासन का बैरी है। **श्रीमद्जी ने चारों ओर से वर्तमान जीवों की मनोदशा जैसी है, वैसी देखकर, स्वच्छन्द व प्रतिबन्ध टालने के अमोघ उपाय जो कि शास्त्रों में गूढ़तापूर्वक, गहनरूप से निहित थे, उनको सरल रीति से गुजराती गाथा में अंकित किये हैं; इसलिये उनका अति -अति उपकार है।**

एक-एक गाथा में बहुत भाव भरे हैं। लोग मध्यस्थतापूर्वक विचार करें नहीं, कुतर्क करें और सही समझे नहीं, इसमें ज्ञानी क्या करे ? शुरू में आया था कि '**कोई क्रियाजड थई रह्या, शुष्क ज्ञानमां कोई, माने मारग मोक्षनो, करुणा ऊपजे जोई।**' इन दो दोषों में स्वच्छन्द व प्रतिबन्ध समाविष्ट है; अतः इन दोनों दोषों को लोग यथार्थतापूर्वक समझें और पुरुषार्थ करके मिटा दें। इसके लिये **श्रीमद्जी ने गुरु-शिष्य के संवादरूप में इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र' की अपूर्व रचना की है। इसका लाभ हर कोई ले सकता है।** अन्तर में विचार करने से अन्दर में ज्यों -ज्यों पुरुषार्थसहित यथार्थता समझ में आयेगी, त्यों-त्यों अपने बारे में सद्गुण प्रत्यक्ष दिखेंगे; इसमें भूल टिक नहीं सकती। सच्चे कारण का सेवन करने से सच्चा कार्य अवश्य होगा।

न्याय का पिण्ड व सच्चे ज्ञान का सत्त्व है। चैतन्य के आयने में किञ्चित्मात्र छिपा रह सके – ऐसा नहीं है। पुरुषार्थ जितना मन्द, उतना ही उपादान अजागृत रहता है; मात्र बातें करने से या विकल्प से आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता। पुरुषार्थ उठाये बिना कल्पना से खुद को ज्ञानी मान लेना – यह स्वच्छन्द है। सर्वज्ञ वीतराग के धर्म को समझे बिना ज्ञानी के विरुद्ध अपनी दुकान लगाकर सत्य की दुकान को तोड़ना चाहता है। स्वयं मोहदशा में ही रहता है और ज्ञानीपना अपने बारे में मानकर भववृद्धि करता है क्योंकि ज्ञानी जिस प्रकार से आत्मा का स्वरूप

बताना चाहते हैं, उससे स्वयं प्रतिकूल साधन करता है और कहता है कि मैं जानता हूँ; शास्त्र में जो लिखा है, इसका मुझे पता है। इस प्रकार मन की कोरी धारणा से मुफ्त में ज्ञानी बनना चाहता है। वे जीव अनन्त ज्ञानियों का द्रोह करते हैं, यानी अपने साथ छल कर रहें हैं। **इस तरह बहुत प्रकार से लोगों के दोष देखकर निष्कारण करुणा से यह 'आत्मसिद्धि' मुमुक्षु आत्माओं के लिये श्रीमद्जी ने लिखी है।** उस समय तो बहुत-से जीव बिल्कुल साधारण थे।

अनुकम्पा का लक्षण ऐसा है कि कोई महापापी हो अथवा कोई चाहे जैसा मूर्ख हो, फिर भी मुमुक्षु को उसके प्रति निर्वैरबुद्धि रखनी चाहिए। स्वयं सोचे के मैं भी पूर्व में तीव्र मोहदशा में था, तब महा-अपराधी व मूर्ख था, ऐसा सोचकर सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखे, राग-द्वेष न करे। मैं ज्ञान हूँ ऐसा माना, वहाँ ज्ञान का धैर्य टिकाने का बल साथ में ही होता है। **१३७.**

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग वैराग्य;
होय मुमुक्षु घट विषे, एह सदाय सुजाग्य।।१३८।।

दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य।
होय मुमुक्षु घट विषे, ये सब सदा सुजाग्य।।१३८।।

जिसे मोक्ष की अभिलाषा है, वह मुमुक्षु आत्मा सदा सुजाग्य रहता है। भान होने पर ज्ञाता-दृष्टा में सदा जागृत पुरुषार्थ करता है और सत् की प्राप्ति के लिये सत्समागम, मनन, चिन्तवन करने में सदा जागृत रहता है। ज्ञानी, धर्मात्मा या जिज्ञासु – कोई भी हो, सभी मुमुक्षु कहे जा सकते हैं; उन सभी में ये सारे गुण होने चाहिए। जिसके अन्दर ये गुण नहीं हैं, उसके अन्दर मुमुक्षुता नहीं है। दया, शान्ति, अन्दर की समता, धीरज, अकषाय, करुणा, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य - पहले 'चित्त में' ये गुण बताये थे, यहाँ 'घट में' कहा है। बाहर से त्याग-वैराग्य दिखे, वह तो अघातिकर्म की प्रकृति का उदय है। अन्दर में पुरुषार्थसहित त्याग-वैराग्य हो,

वह सच्चा त्याग-वैराग्य है।

मुमुक्षु आत्मा को *पापी के प्रति दया रहती है क्योंकि वे जीव भविष्य में दुर्गति में, नरक-निगोद में जायेंगे; अतः उसका बीच का समय गौण कर दो तो वर्तमान में ही उसे नरक के भयङ्कर दुःख भोगता हुआ देखकर ज्ञानी को उसके प्रति अनुकम्पा आती है। अरे ! तेरे आत्मा का क्या होगा ? तेरे दुःख देखनेवाले को दया आयेगी। मुमुक्षु के अन्तर में दया रहती है; पापी दिखनेवाले के प्रति द्वेष नहीं होता। अन्तर में अधीरज नहीं होनी चाहिए। 'समता' माने अन्तर में क्षोभ नहीं होना चाहिए। अनुकूलता का राग व प्रतिकूलता का द्वेष ज्ञानी को अन्तर में नहीं होता है। लक्ष्य, शान्तिस्वभाव का है, जिसकी सँभाल रखते हैं। कोई प्रतिकूलता देने हेतु आये, स्वयं निर्दोष होवे, फिर भी कोई अपयश आदि अशुभ नामकर्म के उदय से इस देह का अपमान करे, उसमें दुःख न माने, उन सभी के प्रति क्षमा है; ज्ञानी को दोषदृष्टि है ही नहीं। अपने दोष मिटाने नहीं और पराये दोष देखने, यह महादोष है। सत्य माने आत्मा। उसे पाने के लिये जिसके पास व्यवहारसत्य भी नहीं है तथा सत् के प्रति झुकाव भी नहीं है, वह नितान्त निर्दोष परमसत्य की प्रतीति, लक्ष्य व अनुभव कैसे कर पायेगा ?

धर्म के नाम से एक झूठ को निभाने के लिये लाख झूठ जीव खड़े कर लेता है और उस प्रकार अनन्त अधर्म की परम्परा बढ़ाता है। पर जिसे अन्तर में सत् का आदर है, उसे व्यवहारसत्य का, प्रामाणिकता का आदर होता ही है। त्याग माने आसक्ति की कमी। राग-द्वेष व कुसङ्ग का त्याग होने पर पुरुषार्थसहित वैराग्यदशा (संसार से उदासीनता) होती ही है। अपूर्वतापूर्वक सम्यक्त्वरूपी कार्य प्रगट करे तो ये सारे लक्षण कारण हैं। कोई कहे कि हमने बहुत कुछ किया, पूरे दिन हम क्या करें ? किन्तु यह ठीक नहीं है। मुमुक्षु के हृदय में ऐसे गुण सदा जागृत रहते हैं। मैं अशरीरी ज्ञानमात्र हूँ, उसकी सहज सम्हाल का पुरुषार्थ

*शुद्ध निश्चयनय से संसारी जीव भी सिद्ध परमात्मा समान है; पापी नहीं है परन्तु वर्तमान पर्याय का ज्ञान कराने के लिये श्रीगोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा - ६२२ में सम्यक्त्व तथा सम्यक्व्रतसहित जीव को **पुण्यजीव** कहा है और उससे विपरीत, अर्थात् मिथ्यादृष्टि को **पापजीव** कहा है।

करता ही रहे।

कई लोग दिन-रात असत्समागम का राग और उसमें निमित्तरूप व्यापार-धंधे आदि में रचे-पचे रहते हैं और एकाध घण्टे की निवृत्ति लेकर शास्त्र पढ़ें और याद करें कि मैं आत्मा हूँ किन्तु इससे क्या ? आत्मधर्म की रुचिवाले को निरन्तर ज्ञान व अपनी शान्ति की सम्हाल सहजभाव से लगातार रहनी चाहिए। घर, व्यवसाय के असतराग की दिशा बदलकर सत्समागम के प्रति झुकाव व उसी में ही निरन्तर उत्साह रहना चाहिए, – यह मुमुक्षु का लक्षण है। **१३८.**

ज्ञानी की दशा कैसी होती है, यह अब बताते हैं –

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत;
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी कहीए भ्रांत।। १३९।।

मोहभाव क्षय हो जहाँ, अथवा होय प्रशान्त।
उसे कहें ज्ञानी-दशा, बाकी कहिए भ्रान्त।।१३९।।

इस पद में प्रथम दर्शनमोह के क्षय की बात बतायी। अतः इसमें श्रीमद्जी का एकावतारीपना, अप्रतिहत जैसा बलवान पुरुषार्थ और स्वरूप की जागृति की झलक दिखती है। मोहभाव का जहाँ क्षय हो अथवा मोहदशा बहुत क्षीण हो गयी हो, वहाँ ज्ञानदशा कहलाती है। इसके अलावा जिसने अपने बारे में ज्ञानदशा मान रखी है, उसे भ्रान्ति कहेंगे। प्रथम, मुमुक्षुदशा का वर्णन किया और यहाँ पर ज्ञानी की दशा का वर्णन किया। **१३९.**

ज्ञानी की दशा का विशेष वर्णन करते हैं –

सकळ जगत ते एठवत्, अथवा स्वप्न समान;
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान।। १४०।।

सकल जगत अच्छिष्टवत्, अथवा स्वप्न समान।
उसे कहें ज्ञानी-दशा, बाकी वाचा ज्ञान।।१४०।।

गुजराती भाषा में 'आत्मसिद्धि' की अपूर्व रचना की है। सभी घरों में इसका प्रचार होना चाहिए। जो कहा गया है, वह बहुत से जीवों को उपकार का निमित्त होवे, ऐसा सरल है। भादों शुक्ला सातम से इसके व्याख्यान (प्रवचन) शुरू किये हैं, जिसे आज ७२ दिन हुए हैं। इसमें निष्पक्षपाततापूर्वक सब कुछ कहा गया है। लोग मध्यस्थ होकर विचारपूर्वक बारम्बार इसका घोलन करे तो उन्हें आत्मख्याति (आत्मसिद्धि) हुए बिना नहीं रहे। उत्तम भोजन से भरा हुआ थाल मिले और भूखा रह जाए, वह जीव दुर्भागी है। कई तरह से बात कही गयी है। कुलधर्म का आग्रह इत्यादि बहुत से विरोध मिटाकर, अविरोध तत्त्व को समझने की यह अपूर्व रचना निर्मित्त है। इसमें सरल भाषा में विस्तारपूर्वक बहुत कहा गया है। किसी धर्मी, पुण्यवन्त आत्मार्थी जीवों के भाग्यवश यह अपूर्व योग हुआ है। किन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ न करे और प्रमाद करे, संसार का प्रेम दूर न करे और तत्त्व का अपूर्वरूप से महिमा, विचार, अभ्यास, मनन न करे तो वह जीव दुर्भागी है, यानी सच्चे सुख का अर्थी नहीं है। इस 'आत्मसिद्धि' की रचना मध्यस्थतापूर्ण रहकर मोक्षमार्ग के उद्देश्य से तथा शुष्कज्ञानी व क्रियाकाण्डी – दोनों को समझाने हेतु कही है।

अब कहते हैं कि आत्मार्थी धर्मात्मा का वैराग्य कैसा होगा ? कि वे सकल जगत को झूँठन जैसा अथवा स्वप्नसमान जानकर निर्मम रहते हैं। असङ्गतापूर्वक जाने कि आत्मा अनादि अनन्त है; आठ कर्म की प्रकृति, उसके अनन्ते रजकण (परमाणु) अनन्त बार देहरूप में, कार्मणशरीररूप में, एक आकाशक्षेत्र में इस आत्मा के समीप आ गये। जीव ने देह को व सुन्दर दिखनेवाले देव के भव इत्यादि को भला समझकर देखे हैं, भोगे हैं और उसमें सुख-दु:ख की मिथ्या कल्पना

करके उसे अपना माना है; उसमें चैतन्यगुण नहीं है। शुभाशुभभाव अशुचिमय है; चैतन्य की शान्ति के योग के सामने ये सब पुण्य-पाप के संयोग, देहादि परद्रव्य, सर्व पुद्‌गल झूठनवत्‌ हैं; अशुचिमय हैं। उसका सङ्ग करने से पराधीनता है, उपाधि है, दुःख है। पुण्य हो या पाप हो – दोनों बन्धन हैं।

ज्ञानी धर्मात्मा आत्मज्ञान द्वारा संसार से, यानी पुण्य-पाप से वैराग्य पाकर सद्‌बोध चन्द्रोदय का पान करते हैं और समस्त शुभ-अशुभभाव मिटाकर उससे मुक्त होते हैं; निराकुल शान्ति, अनहद आनन्द को भोगते हैं। ज्ञानी, पुण्य को हेय समझते हैं, जबकि अज्ञानी उसे आदरणीय मानते हैं। अतः उस अशुचिमय वस्तु को पुद्‌गल का विकार जानकर संसार की मोहदशा को हे भव्य जीवों ! छोड़ो ! अनन्त ज्ञानी भी यही कहते हैं। उसका उपाय आत्मा की सच्ची समझ है; अन्य कोई उपाय नहीं है।

'अपूर्व अवसर' काव्य में कहा है कि '**रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे मान्या पुद्‌गल एक स्वभाव जो।**' इस प्रकार मुमुक्षु आत्मार्थी पुण्य को भी नहीं चाहते। सड़ा हुआ काला श्वान हो, उसके शरीर में अनेक पिल्लू पड़ गये हों और मल मैल भरे हों, उस पर द्वेष या ग्लानि न करे और इन्द्राणी जैसी सुन्दर रूपवान स्त्रियाँ दिखें, उसमें राग न करे। उन दोनों में राग-द्वेष या अन्तर क्षोभ नहीं होता। वे दोनों समान है; एक ही प्रकार के जड़ परमाणु की रचना हैं। क्षणभर में वे सड़े हुए कुत्ते के रजकण गुलाब के फूल की सुगन्धरूप हो जाते हैं। अतः हे चेतन ! अपनी परम सुन्दरता की महिमा भूलकर (अनादर करके) अशुचिमय पुद्‌गल परमाणु में मोह क्यों करता है ? आत्मा पूर्ण ज्ञानघन, पवित्र है। उसे पुण्य के साधनवाला मानना, पुण्य से सुखी मानना – यह भूल है। भगवान का भक्त प्रीतिपूर्वक पुण्यरूप मैल को क्यों चाहे ? ज्ञानी धर्मात्मा परभाव की उपाधि को नहीं चाहते, फिर भी पूर्व प्रारब्ध के योग से बाहर से क्रिया दिखे, पर उसमें उन्हें रुचि नहीं है। चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा को हज़ारों स्त्रियाँ, राज्य इत्यादि का योग बाहर से दिखे, फिर भी वे महा -वैराग्यवन्त हैं; संसार से छूटने का उपाय करते हैं। जिस प्रकार कूड़े के घूरे में विष्टा या गुलाब का ढ़ेर दोनों समान हैं; उस प्रकार ज्ञानी अन्तर में सकल जगत को झूँठन के बराबर मानते हैं और मोक्षमार्ग

में प्रवर्तन करते हैं। समस्त जगत जिसने झूठन के बराबर जाना है, वह किसी का वमन किया हुआ क्यों खायेगा? रजकणों का अनन्त बार आत्मप्रदेश से संयोग हुआ, फिर भी वे तेरे नहीं हुए; वे तो ज्ञेय मात्र हैं। जगत में संसार एकान्त दुःखपूर्वक जल-भुन रहा है। इस भयङ्कर संसार का भय (भव का भय) जिसके हृदय में लगा है, उसे संसार का परमाणुमात्र कैसे पसन्द आये ? अनित्य, ऐसा संसार केवल दुःखमय है। दुःख पर के कारण नहीं है किन्तु अपने में भूलवाली मान्यतारूप अपना अज्ञान ही दुःख (संसार) है। संसार स्वप्न समान है। वह असार, स्वप्नवत्, क्षणिक जगत, जो ज्ञानी के ज्ञान में उदासीनभाव से दिखे, वह ज्ञानी की दशा है; बाकी तो कथनमात्र केवल ज्ञानधारणा है। **१४०.**

अब, मोक्ष कौन पाता है, वह कहते हैं –

स्थानक पांच विचारीने, छठ्ठे वर्ते जेह;
पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहि संदेह।।१४१।।

स्थानक पाँच विचार कर, छठवें में जो होय।
पावे स्थानक पाँचवाँ, संशय नहिं है कोय।।१४१।।

आत्मा है, नित्य है, अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कर्ता और हर्ष-शोक का भोक्ता है और स्वभाव के भान में निर्दोष ज्ञान का कर्ता और शान्ति, सुख, सहज आनन्द का भोक्ता है, मोक्ष है – इस प्रकार यथार्थ न्याय से ये पाँचों स्थानक सोचकर जो छठे में रहे अर्थात् मोक्ष के उपाय में रहे, वह पाँचवाँ स्थानक (मोक्ष) प्राप्त करता है। अन्तर विचार यही ज्ञान की क्रिया है, वह अन्तर का साधन है। कई जगह गूढ़ रीति से 'विचार' शब्द श्रीमद्जी ने बताया है – **'कर विचार तो पाम' 'औषध विचार ध्यान,' 'अंतर विचार,' 'विचारवा आत्मार्थी ने,' 'एम विचारी अंतरे,' 'ते बोधे सुविचारणा,' 'ज्यां प्रगटे सुविचारणा,' 'ऊपजे ते सुविचारणा' 'जुओ विचारी मर्म।' 'पूछ्यां करी विचार,' 'विचारतां विस्तारथी संशय रहे**

न कांई,' इत्यादि प्रकार से विचारदशा कही है। विचार है, वह अन्तर की क्रिया है; वह मन, वाणी व देह की क्रिया से पर है। जिस विचार में रागांश को ज्ञान द्वारा भिन्न करके तत्त्वमनन होता है, वह ज्ञान की क्रिया है। यहाँ सुविचारदशा की बात कही है; अत: ज्ञानी के एक-एक वाक्य पर बहुत विचार करना।

तत्त्वविचार बिना मार्ग हाथ में आये, ऐसा नहीं है। विशालबुद्धि व मध्यस्थता द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। अनन्त ज्ञानियों ने कहा और कह रहे हैं, वह तो उनके अन्दर रहा परन्तु तेरा सत्त्व तेरे पास है; अत: अपने आप विचार करना है, किसी के आशीर्वाद से कल्याण नहीं होता। अनन्त ज्ञानी हो गये, उनको बहुत जीवों का उद्धार होने का विकल्प आने पर भी किसी परद्रव्य का परिणमन कराने का, समझाने का सामर्थ्य उनके अन्दर भी नहीं है। सामनेवाला जीव तैयार होकर पात्रता लाये तो ज्ञानी निमित्त होवे। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, पर से निराला है; अत: स्व और पर वस्तु को यथार्थरूप से जाननी पड़ेगी; उसकी अनेक न्याय से सिद्धि (निर्णय-प्रमाण) करनी पड़ेगी। वस्तुस्वभाव जैसा है, वैसा समझे बिना सच्चे निमित्त के मिलने पर भी क्या उपकार हो ? अत: प्रथम शास्त्र वाँचन, मनन व सत्समागपूर्वक आत्मा का विचार करना। इसका विचार न करे, वह आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकेगा। ज्ञानी पुरुष कह गये हैं, वही श्रीमद्जी ने 'आत्मसिद्धि' में कहा है कि **'कर विचार तो पाम।'** शास्त्र में जो आज्ञा समकित कहा है, वह व्यवहारवचन है। आज्ञाप्रधान से परीक्षाप्रधान, निर्णयप्रधान खास काम का है। अत: नित्य सत्समागम व तत्त्व की भावना बढ़ानी और वस्तुतत्त्व का यथार्थ निर्णय करना। श्रीसर्वज्ञभगवान कहते हैं कि आज्ञा ही धर्म है, आज्ञा ही तप है, आज्ञा ही हमारा धर्म – यह उत्तम बात जगत के जीवों के लिये उन्होंने कही है। पर वह आज्ञा कैसी है ? यह जाने बिना वह आज्ञा लागू नहीं होती; अत: वाक्य के पीछे वाच्य क्या है ? – यह समझने की मेहनत स्वयं को करनी चाहिए।

केवल वाणी का विचार मत करो परन्तु वीतराग प्रभु का कहना क्या है ? – उस भाव का विचार करो। सर्वज्ञ वीतराग की वाणी, भाववचन, वाच्य क्या है ? – उसका गहरायी से निर्णय करो तो सच्ची श्रद्धा, सम्यग्दर्शन प्रगट होगा ही। इसलिये यहाँ पर कहा है कि **'स्थानक पांच विचारीने छट्ठे वर्ते जेह, पामे स्थानक**

पांचमुं, एमां नहि संदेह' सब कुछ अपने पर निर्भर रखा है और कहा है कि जो निश्चयरत्नत्रय में प्रवर्तमान रहे, वही अनन्त सुखस्वरूप मोक्षपद को प्राप्त करता है। खुद विचारकर देख; तू ही निर्णय करके अन्तर में से साक्षी ला; निःसंदेह जाति का निर्णय कर। स्वरूपनिर्णय, सम्यग्दर्शन होने पर **'छट्ठे वर्ते जेह'**, यानी जो कोई पाँच स्थानक का विचार करके मोक्ष के उपाय में (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में) रहे, वह साधकभाव है। **'जे वर्ते ते पामे।'** सच्चे देव, गुरु की प्रतीति, श्रीअरिहन्त ने जो मार्ग बताया, वह मार्ग क्या है ? - उसे मानकर (स्वीकार करके), समझकर उसमें आत्मार्थी साधक को खुद को प्रवर्तन करना है, खुद को ही मार्ग काटना है।

रागरहित शुद्धस्वचतुष्टय में (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव में) स्थित आत्मा जैसा है, वैसा अविरोध विधि से बताया परन्तु जो जीव यथार्थ विचारपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में अविरोधरूप से प्रवर्तन करेगा, वह शुद्ध आत्मा को पायेगा। **'एक होय त्रण काळमां परमारथनो पंथ, प्रेरे ते परमार्थने ते व्यवहार समंत।'** जिस जाति का निश्चय-परमार्थ है, उसी जाति के पुरुषार्थरूप व्यवहार ही मोक्षमार्ग है। तीनों काल के ज्ञानियों ने जो निःसंदेहमार्ग बताया है, उस निःसंदेहतापूर्वक जो मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे, वह परमार्थ को प्राप्त करता है। **१४१.**

अब, अन्तिम मङ्गल कहते हैं :-

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत;
ते ज्ञानीना चरणमां, हो वंदन अगणित।।१४२।।

देह रहते जिनकी दशा, वर्ते देहातीत।
उन ज्ञानी के चरण में, हो वन्दन अगणित।।१४२।।

'अगणित' शब्द कहकर महा-माङ्गलिक कहा है। अन्तिम व उत्कृष्ट देह होने पर भी सर्वज्ञ वीतरागदेव की अन्तरदशा पूर्ण शुद्ध है; अतः वे देहातीत हैं।

नीचे की भूमिका में सम्यग्दर्शन हो, वहाँ पर अन्तरङ्ग अभिप्राय से ज्ञानदशा प्रवर्तमान रहती है। सम्यग्दर्शन होने पर एक न्याय से (भावि नैगमनय से) मोक्ष हुआ - ऐसा भी कहा जाता है। पूर्ण शुद्ध, असङ्ग आत्मतत्त्व कैसा है, कितना बड़ा है, किस प्रकार प्राप्त हो, कितना बाकी? - यह सब ख्याल में आ गया। पूर्व प्रारब्धयोग से जिसकी देह विद्यमान है, पर उस देह से अतीत, यानी भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म के आश्रय से रहित केवल शुद्ध आत्ममय जिसकी दशा रहती है, उन ज्ञानीपुरुष के चरणों में अगणित वन्दन हो। जिस प्रकार पानीवाले श्रीफल में नरेली के साथ नारियल का गोला चिपका हुआ दिखता था; उसका रस, चिकनाहट सूख जाने पर वह गड़गड़िया आवाज़ करनेवाला नारियल बन जाने पर गोला बिल्कुल अलग दिखता है; इस प्रकार देहात्मबुद्धि से देहादि तथा राग-द्वेष में पहले एकता मानी थी, उसे टालकर, भिन्नत्व जाना, अनुभव किया - वह आत्मा देहातीत है। अपना सहज आत्मस्वरूप शुद्ध है, स्वाधीन है - ऐसा यथार्थरूप से माना, उसे राग-द्वेष की भावना कैसे हो सकती है ? देह मेरे हैं; पुण्य-पाप मेरे हैं; राग-द्वेष मेरे हैं; करने लायक हैं - ऐसी श्रद्धा जिसको ज़रा भी नहीं है, ऐसी दशावाली देह होते हुए भी देहातीत भी कहे जाते हैं। पवित्र, वीतराग सर्वज्ञदेव ने '**हो वंदन अगणित**' - यह बेहद, अपरिमित, अमाप, अनन्त-अनन्त वन्दन, द्रव्य और भावनमस्काररूप है।

वन्दन का विकल्प टूटकर बेहद अपरिमित शुद्धस्वभाव में स्थिर हो जाऊँ - ऐसा आशय यहाँ पर है। जिसे पूर्ण शुद्ध साध्यदशा प्रगट हुई है, ऐसे ज्ञानी को वन्दन हो 'अगणित' ! इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट अप्रतिहतभाव का आदर करके महा-माङ्गलिक किया है। अति आदर अनन्तगुण का है, पूर्ण स्वभाव का आदर है; उसमें तनिक भी अपूर्णभाव का आदर नहीं है। जिसकी हद नहीं है, ऐसे पूर्ण, पवित्र, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य हैं - उन्हें प्रगट करने के लिये उस ज्ञानी को वन्दन करके क्षायिक केवलज्ञान तक पहुँचने के लिये यह 'आत्मसिद्धि' जयवन्तता को प्राप्त होती है। इति। **१४२.**